श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

भावपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता:—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी,
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

सम्पादक—
सुमेरचंद जैन
१५, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

प्रकाशक.—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण १०००]
सन् १९७७

[लागत बिना जिल्द ८) रु०
[जिल्दका पृथक् १) रु०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला देवी, ध० प० ला० महावीरप्रसादजी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् ला० लालचन्द विजयकुमार सर्राफ, सहारनपुर
(४) श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी सर्राफ, सोनीपत
(५) श्रीमती सुवटी देवी जैन, सरावगी गिरीडीह
(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भंवरीलाल जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया

नवीन स्वीकृत संरक्षक

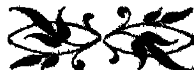
(७) श्रीमती रहती देवी जैन ध० प० श्री विमलप्रसादजी जैन, मंसूरपुर
(८) श्रीमती श्रीमती जैन ध० प० श्रीनेमिचंदजी जैन, मुजफ्फरनगर
(९) श्रीमान् शिखरचंद जियालाल जी एडवोकेट, ,,
(१०) श्रीमान् चिरंजीलाल फूलचंद बैजनाथजी जैन बड़जात्या नई मंडी, ,,

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिरके संरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमंदरदासजी जैन आढ़ती, सरधना
(२) श्रीमती सरलादेवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाश जी विनेश वस्त्र फैक्टरी, सरधना

सहजानन्द-साहित्य-उद्घोष

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। अत स्याद्वाद द्वारा समस्त विवाद विरोध समाप्त कर वस्तुका पूर्ण परिचय कीजिए और आत्मकल्याणके अनुरूप नयोंको गौण मुख्य करके अभेदपद्धतिके मार्गसे आत्मलाभ लीजिए।



सम्पादकीय

प्रिय पाठक वृन्द ! इस 'भावपाहुड' ग्रन्थके मूल रचयिता श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य हैं तथा इस ग्रन्थपर प्रवचनकार अध्यात्मयोगी श्री सहजानन्द जी (मनोहर जी वर्णी) महाराज हैं। इसमें मुनिराजोंको सम्बोधा है कि यथाजात रूप दिगम्बरी मुद्रा धारण कर उन्हें अन्तरंग में भी यथाजात रूप होना चाहिये। भावशुद्धिके बिना बाह्यक्रियाकाण्ड अर्थकारी नहीं है। जैसा आत्माका सहज स्वरूप है उसके अनुरूप भीतरी परिणमन होना भावशुद्धि है। आत्मा का सहजस्वरूप अविकार ज्ञायकस्वभावमात्र है सो विषय कषायके विकार न आना अर्थात् मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना यह मुनित्वकी साधना है। इसी अन्तः साधनाके अविरुद्ध बाह्य मुद्रा होना अर्थात् निःसङ्ग होना द्रव्यलिंग है। सांसारिक वाञ्छाकी पूर्तिका भाव व प्रयत्न करना मुनिलिङ्गमें बड़ा पाप बताया गया है। सो श्रामण्यका निर्दोष साधन हो यही प्रयोजन इस ग्रन्थमें दिये गये उपदेशका है।

अध्यात्मयोगी सहजानन्द जी महाराज द्वारा रचित लगभग २५० ग्रंथ तथा प्रवचन किये गये २५० ग्रंथ हैं। इन ५०० ग्रन्थोंके सहजानन्द-साहित्य सेटमे सैद्धान्तिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक व आचार-व्यवहारोपयोगी ग्रंथ हैं।

जिज्ञासु व मुमुक्षु जनोंसे निवेदन है कि व निष्पक्ष सयुक्तिक आर्षानुसारी इस सहजानन्द-साहित्यका अध्ययन व मनन करके अपने इस दुर्लभ नर-जीवनको सफल करें।

१५ प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

सुमेरचंद जैन

* आत्म-रमण *

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूं ।। टेक ।।

हूं ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूं सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूं सत्य सहज आनंदधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद० ।।१।।

हूं खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं।
परका न प्रवेश न कार्य यहां, मैं दर्शन०, मैं सहजा० ।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रससे सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा० ।।३।।

—•—

गाथानुक्रमणिका

*** मंगल-मन्त्र ***

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूं ।

मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं ।

मैं सहज आनंदमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूं ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

विषयानुक्रम

•••०O०•••

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ टेक ॥ ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ

परसम्बध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहु गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन सचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरोपर पढ़ी जाती है—

१– मन्दिर आदिमे आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमें ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमगमें टेकका व किसी छंदका पाठ ।
४– सभाओंमें बोलकर या बुलवाकर मंगलाचरण करना ।
५– यात्रा वदनामें प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

भावपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥

(१) ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा जिनवरेन्द्रको नमस्करण एवं भावपाहुड-रचनाका संकल्प—इस ग्रन्थके प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण और अपना संकल्प बताते हैं। मनुष्य देव भवनवासी आदिक एकशत सभी इन्द्रोंके द्वारा बंदनीक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके मैं इस भावपाहुड ग्रन्थको कहूंगा। यहाँ प्रथम नमस्कार जिनेन्द्र देवको किया है, और कहते हैं कि सभी प्राणी, संज्ञी पंचेन्द्रिय देवादिक जो जाननहार हैं उन सबके द्वारा बंदनीय सिद्ध भगवंतको नमस्कार करके भावपाहुड ग्रन्थ कहूँगे। तीसरी वंदनामें कहते हैं कि शेष बचे हुए संयमी जीव उनको सिर झुकाकर प्रणाम करके भावपाहुड ग्रन्थको कहेंगे। इस प्रकार संयतजनसम्बोधक इस भावपाहुड ग्रंथके प्रारम्भमें आचार्यने अरहंत सिद्ध और संयत तीनकी बंदना की है। अरहंतमें अरहंत परमेष्ठी हैं, सिद्धमें सिद्ध परमेष्ठी है और संयतमें आचार्य उपाध्याय और साधु, ये तीन परमेष्ठी आ गए। इस प्रकार पंच परमेष्ठियोंको इसमें नमस्कार किया है। भावकी साधना करके प्रभु अरहंत बने हैं इसलिए भाव पाहुडमें भावोंकी विशेषतायें बतायी जायेंगी। वे सब भाव पूर्ण हुए हैं, विकसित हुए हैं अरहंत प्रभुके, इसलिए अरहंतको नमस्कार किया है और सिद्ध प्रभु अरहंतके बाद और निर्मलताको प्राप्त हुए हैं और सिद्धप्रभु अरहंतके बाद और निर्मलताको प्राप्त हुए हैं। यहाँ भावोंकी निर्मलताका अन्तर नहीं है, किन्तु अघातिया कर्म और उनका निमित्त पाकर शरीरादिकका संबंध जो कुछ भी द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रह रहा था उससे भी रहित हो गए। यह आत्यंतिक विकास इस भावपाहुडका लक्ष्य है सो सिद्धको नमस्कार किया है और भावपाहुडमें बताये हुए प्रकरणका सीधा संबंध संयमीसे है, आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंको ही सब बात इसमें बतायी जायगी कि वे किस भावकी साधना करें, और अपने भाव विकसित करें, उनकी बहिरङ्ग प्रक्रिया और अन्तरङ्ग प्रक्रिया सभी कुछ बतायी जायगी तो भावपाहुडके वाच्यसे संयमी जनोंका सम्बंध अधिक है, सो संयमी जनोंको नमस्कार किया है। इस प्रकार पंच परमेष्ठियोंकी वंदना करके भावपाहुड ग्रंथको कहेंगे, ऐसा आचार्य कुंदकुन्ददेव अपना संकल्प कर रहे हैं।

भावो हि पढमलिंग ण दव्वलिंग च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥ २ ॥

(२) **भावलिङ्गकी परमार्थता**—भाव है सो पहला लिङ्ग है और इस ही के कारण द्रव्यलिङ्गमे जैसा कि यथाजात रूप बताया है इस प्रथम लिङ्गकी साधना की जाती है तो वास्तवमे परमार्थ रूप तो भाव ही है, पर द्रव्यलिङ्ग परमाथ नही है। वह तो केवल एक भाव लिङ्गकी साधना करने वालेकी बाह्य परिस्थिति क्या होती है, उसकी मुद्रा है द्रव्यलिङ्ग। गुण-दोषका कारणभूत तो भाव ही है। यदि किसी साधकसे भावकृत दोष हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त विशेष है और जहाँ वचनकृत कोई अपराध हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त कम है, क्योकि जीवका होनहार तो भावके अनुसार है। जब भाव विशेष शिथिल हो जाते हैं तो काय आदिकमे भी शिथिलता आती है, पर मुख्य तो भाव है। इस भावपाहुड ग्रन्थमे गुण और दोषका कारणभूत भाव होनेसे सर्वप्रथम गाथामे भाव गुण जिनके पाया गया है उनको नमस्कार किया था और नमस्कार किया था भावप्रधान आत्माओको। पहला नमस्कार था अरहत परमेष्ठीको, सो उनके भाव इतने विशेष थे मुनि अवस्थामे साधक अवस्थामे कि गुण-श्रेणी निर्जरासे कर्मोंकी निर्जरा बढ़ती चली जाती है और ऐसे साधक मुनिजनोमे श्रेष्ठ होते हैं गणधर, इनमे भी श्रेष्ठ हैं तीर्थंकर। तीर्थंकर भावके फलको जो पहिचान चुका है, घातियाकर्म का जिसने नाश किया है वह सब भावोके द्वारा ही तो है, जो गुणश्रेणी निर्जरा रूप भाव है वह है क्या ? आत्माके अविकार इस ज्ञानस्वभाव उपयोगका दृढ़ हो जाना, फिर विचलित न हो सके, ऐसा जो ज्ञानमे ज्ञानका एकमेक हो जाना है वह है भाव। जो कर्मोंकी निर्जराका कारणभूत हैं।

(३) **धर्मका बीज परमार्थभाव**—धर्मके लिए शान्तिके लिए करना क्या है ? अपने ज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्माको निहारें और ऐसा अनुभव बनायें कि ऐसा जो ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानउपयोगका रमना है वह है उत्कृष्ट भाव जिससे कर्म कटते हैं और कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है परमार्थभूत भावलिङ्गका इस ग्रन्थमे वर्णन चलेगा और इस ही भावलिङ्गीके धारक हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये इन भावोंका पालन करते हैं और अन्य जनोंको इन शुद्ध भावोकी शिक्षा दीक्षा देते हैं, तो ऐसे इस प्रथम भावलिङ्गका इस ग्रन्थमें वर्णन होगा जिनेन्द्र देवने बताया है कि प्रधान भावलिङ्ग ही है। जो पुरुष द्रव्यलिङ्गपर दृष्टि देकर यह मैं मुनि हू और उस द्रव्यलिङ्गके नातेसे बड़े बीवरक्षा आदिक कार्योंमें भी चले तो भी उसके मोक्षमार्ग जरा भी नही है यदि भावलिङ्ग नहीं है तो। गुण तो है स्वर्ग मोक्ष, उत्तम गुण तो मोक्ष है, पर जो मोक्ष जाता है प्राय करके ऊँचेसे ऊँचे स्वर्ग और स्वर्गसे ऊपरके अहमिन्द्र पद उसे प्राप्त होते हैं। यद्यपि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिङ्ग धारण कर और अंत

कषायसे तपश्चरण करके नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। मगर यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवोंकी बात कही जा रही है वह भी स्वर्गोमें और ग्रैवेयकोंके एवं उससे ऊपरके अहमिन्द्र पदमें रहते हैं। तो जो एक रास्ता जा रहा है उसके बीच जो पगडंडियाँ आती हैं उनका भी उसके साथ महत्त्व बन जाता है।

(४) भावोंकी दोषगुणकारणभूतता—दोष है नरकादिक, तो जैसे स्वर्ग और मोक्षका कारण भाव है ऐसे ही नारकादिक दुर्गतियोंका कारण भी भाव है, वह सद्भाव है, यह दुर्भाव है। तो भाव जो है वह गुण और दोषका कारण है, इसलिए भावकी शुद्धि करना चाहिए जीव को। बाह्यमें क्या गुजरता है, किसका कैसा परिणाम है इस ओर यदि विकल्प जरा भी न रहे और अपने इस सहज ज्ञानस्वभावका ही उपयोग रहे तो इस जीवका कल्याण है। कितने भव गुजर चुके। उन भवोंमे भी तो बहुतसा समागम था, लोग थे, जनता होगी, इज्जत चलती थी तो वे कैसे स्वप्न थे इस जीवके? ऐसे ये भी स्वप्न हो जायेंगे। तो थोड़े दिनोंके मिले हुए इन समागमोंमे अपने आपको बहा देना यह अपने लिए उचित बात नहीं है। तो भावको ही गुण दोषका कारण जानें, उनमे उत्तम भाव तो गुणके कारण हैं और खोटे भाव दुर्गतिके कारण हैं। मतलब इस जीवका जो कुछ होनहार है वह भावोंके आधारपर है, इस कारण यहाँ भाव लिङ्गको प्रधान कहा है। जो साँचा मुनि और श्रावक है उसके उस योग्य भावलिङ्ग रहता है सो द्रव्यलिङ्गको परमार्थ न जानना। भावलिङ्गको परमार्थ जानना। जैसा संतोंने द्रव्यलिङ्ग धारण किया है याने सही जैनी दीक्षा ग्रहण की है, दिगम्बर मुद्रा जिस शरीरकी है वह मुनि भावलिङ्गी है, तो उसकी द्रव्यलिङ्गपर दृष्टि न रहेगी। द्रव्यलिङ्ग चलता है, पर द्रव्यलिङ्गमें ममता नहीं। द्रव्यलिङ्गको देखकर यह मैं हू, ऐसा भाव ज्ञानियोंके नहीं आया।

(५) छह द्रव्योंमें जीव और पुद्गलमें ही विभावकी संभवता—भावलिङ्गीको तो अपने भाव ही दृष्टिगत रहते है। जगतमे ६ प्रकारके द्रव्य है—(१) जीव, (२) पुद्गल (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल, जिसमें जीव तो अनन्तानन्त हैं। पुद्गल उससे भी अनन्तानन्त गुने हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है, कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन अनन्तानन्त पदार्थोंमे जो जीवनामक पदार्थ है वह है चैतन्यस्वरूप। पुद्गल है रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, यह अमूर्त द्रव्य है, इसका परिणमन निरन्तर समान चलता है, क्योंकि ये चार द्रव्य कभी अशुद्ध नहीं होते, ये अमूर्त हैं, समान परिणमन हैं, सदैव शुद्ध हैं इस कारण इन द्रव्योंमे अधिक कहने लायक कुछ नहीं है। शेषके जो दो प्रकारके द्रव्य हैं जीव और पुद्गल, ये अशुद्ध होते है। इनका जो भव भवान्तर परिणमन चलता है वह भी ध्यानमें आता है। पुद्गलका तो यह सब आँखोंसे दृष्टिगत हो रहा है

और अनन्तानंत पुद्गल आदिक ऐसे हैं जो आँखोंसे दृष्टिगत हो ही नहीं सकते। पुद्गलका एक भावसे, एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणम जाना यह तो पुद्गलका भाव है, और जीवमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिक गुणोंके परिणमनसे जो परिणमन होता रहता वे सब जीव के भाव कहलाते हैं।।

(६) विभावसे हटकर स्वभावमें उपयुक्त होनेमें आत्माकी भलाई—जीव केवल अकेला परसंसर्गके बिना हो तो उसकी सिद्धिमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र भाव होते हैं। और पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर कर्ममे मोह राग द्वेष होना यह विभाव परिणमन होता है। तो विभाव परिणमन तो प्रकट समझमें आ जाते हैं कि यह क्रोध है, मान है, यह माया है, लोभ है और उसकी जो बदल है वह झट समझमें आती है कि देखो यह जीव कैसा बदलता है, किन्तु जो अनैमित्तिक सहजभाव है सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूपी भाव हैं,ज्ञान का ज्ञान रूपसे परिणत रहना सो ये भाव भी प्रति समयमे नाना प्रकारके चलते हैं, मगर पूर्णतया समान होनेसे इनकी लोगोंमें प्रसिद्धि नही हो पाती कि ये भी कोई भाव हैं और इस तरह यह परिणम रहा है। तो भाव ऐसे जीव और पुद्गलमें बनते जाते हैं। कुछ प्रति बोधके लिए सोचें—इनमे से जो पुद्गलके भाव हैं उनसे पुद्गल आदिकको कोई नुक्सान नही, क्योंकि वे जड हैं। काठ जड है तो जल जाय उससे उन स्कंधोमे क्या नुक्सान है ? राग हो गया, उनके वेदना तो नही है। परिणमन मात्र है, पर जीवको इन परिणमनोमें आकुलता निराकुलता, शान्ति अशान्ति बर्तती है इस कारण जीवोंके लिए उपदेश है कि ऐसे भावोसे अलग होओ, जो दुर्गतिके कारण हैं और ऐसे भावोमें आवो जो भलाईके कारण हैं, तो भावो को एक सक्षेप रूपसे ऐसा विचार करें कि जितने इसमे औपाधिक भाव होते हैं वे तो सुख दुःख आदिक रूप बनते हैं और जो अनैमित्तिक सहज आत्माके स्वरूपमे परसगरहित होता है वह सब आनन्दस्वरूप भाव होता है। तो सक्षेप रूपमे यह ही आदेश है कि नैमित्तिक भावो से तो हटना और स्वभाव भावमे आना। नैमित्तिक भाव जब हटें तब हट जायेंगे पूर्णतया, पर नैमित्तिकभावोमे श्रद्धा तो न रखें कि ये मेरे स्वरूप हैं। नैमित्तिक भावोंमे अपना उपयोग तो मत रमावें, उनसे विरक्ति करें और उनसे हटे हुए रहें, यह तो किया जा सकता है। सो नैमित्तिक भावसे तो हटना और स्वभाव भावके अभिमुख होना, जो आत्माका सहज चैतन्य स्वरूप है वही मैं हू ऐसा अपने आपमें अभिमुख होना यह कहलाता है भावलिङ्ग।

(६) देहकी सकलसकटबीजता—एक देह शरीर ऐसा विकट सम्बंध है कि यह बाह्य पदार्थोंकी तरह न्यारा नही है जो इस देहको अलग छोड दे और देहसे अलग होकर ध्यान करने बैठ जावे। ऐसा जैसे बाह्य पदार्थोंको छोडा जाता है उस तरह देहको नहीं छोडा जा

सकता और देह जीवका है नहीं। यह तो चिमगादडकी तरह लिपटा हुआ गंदा देह है। इसका सम्बन्ध भी इस जीवके लिए अहितकर है। एक चिमगादड की कथा है कि एक बार पशु और पक्षियोंमें विद्रोह हो गया। दो पार्टी हो गई इस विषयपर कि पशु पक्षियोंसे मिल जावे और पक्षी पशुओंसे मिल जावे। तो वहां चिमगादडने क्या सोचा कि अपना ऐसा रूप बनावें कि मौका पड़े तो मेरी शुमार पशुओंमें हो जाय और मौका पड़े तो पक्षियोंमें शुमार हो जाय तो ऐसी चिमगादडकी शकल बन गई कि वह पशु जैसा भी लगता और पक्षी जैसा भी। जैसे चार पैर और दांत होना तो पशु जैसी बात बन गई और पंख होना चिडियो जैसी बात बन गई। तो ऐसी चिमगादडके माफिक जो देह है इसका बाह्य परिग्रहकी तरह आत्मदेवसे अत्यंत भिन्न स्वरूप है। यों तो अत्यन्त जुदा है देह मगर यह जीवके प्रदेशोंमे एक क्षेत्रावगाह है कि यह जीवसे हट नही सकता। तो ऐसा चिमगादडकी तरह कठिन चिपका हुआ देह है। जितने भी कष्ट होते हैं वे सब इस जीवके सम्बन्ध और ख्यालसे होते हैं। किसी भी प्रकार का आप कष्ट आलोचनाके लिए रखें, आपको देहका सम्बन्ध उसका कारण मिलेगा। क्षुधा तृषा आदिक तो शरीरके ही कष्ट हैं, पर सम्मान अपमान आदिकके जो कष्ट हैं सो देहमे जब आत्मबुद्धि है और यह सोचे देहको निरखकर कि इस मुझको कहा गयाहै तो उसका सक्लेश हो जाता है।

(८) देहका व आत्माका तथ्य विज्ञात होनेपर शान्तिमार्गका दर्शन व वर्तन—यदि तथ्य जान ले कोई कि देह तो देह है, लोग देखते हैं देहको और जो कुछ कहते हैं वह देहको। मैं तो अमूर्त दर्शन, ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व हू। मेरा तो पहिचाननहार ही नही है। इसको कौन क्या कहेगा? उसको अपमान नही महसूस होता। ज्ञानियोका और बल है ही क्या, जिस बलके कारण वे किसी भी विपत्तिमे अधीर नही होते। वह है सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व की दृष्टिका बल। तो ये तो सब दुर्भाव—सद्भाव स्वभाव विभाव जीवके व पुद्गलके भाव कहलाते हैं, और द्रव्य कहलाता है प्रदेशरूप। जैसे पुद्गलके जो परमाणु हैं वे पुद्गलके द्रव्य हैं, जीवके जो प्रदेश हैं वे इस प्रदेशमे जो जीव अस्तिकाय है वह है जीवका द्रव्य। सो पुद्गलमें तो सम्बध हो होकर स्कंधरूप द्रव्यका बनाव होता है और जीवोमे कर्मका सम्बंध पाकर नारकादिक तिर्यञ्च मनुष्य रूप द्रव्यका बनाव होता है। सो असमानजातीय द्रव्य पर्याय है इसलिए केवल जीवकी बात नहीं बतायी जा सकती। हां जिस भवमें यह जीव मोक्ष पाता है, मोक्ष अवस्थामें पूर्ण देहमें जो आत्माका फैलाव है, ऐसा द्रव्य भावका स्वरूप जानकर न तो द्रव्यके प्रदेशके ख्यालमें आत्माके भावोकी प्रगति है और न जीवके विभावोके ख्यालमे आत्माके भावो की प्रगति है, और परद्रव्यके ख्यालमें तो कहना ही क्या है। तो इन भावोंसे हटकर एक सहज

ज्ञान स्वभावमे उपयोगको लगावें । यह ही भावलिङ्गका आधार है ।

(९) द्रव्यलिङ्गमुद्रामें रहकर मुनिके भावलिङ्गकी विशुद्धिका उद्यम—मुनिके भावलिङ्ग है, इसका अर्थ क्या है कि इन मुनियोका उपयोग अविकार सहज ज्ञानस्वभावके अभिमुख रहा करता है, बस इसकी ही बढवारी द्रव्यलिङ्गमें रहती है कोई वस्त्र पहने हो, घरमें रहता हो, कुटुम्ब बना हो और वह चाहे कि अविकार ज्ञानस्वरूपमें अपने उपयोगकी दृढ़ताका आनन्द लिए रहा करूँ, यह उससे नहीं बन सकता । जो इस धुनमें बढ़ेगा, उसको यह चित्तमें होगा कि यह घरका संबंध, कुटुम्बका सम्बंध, वैभवका संबंध आत्माके लिए अहितका करने वाला है, इसलिए उनका त्याग करता ही रहेगा। उसकी द्रव्यलिङ्ग मुद्रा बन जायगी, और वहाँ इस सहज ज्ञानस्वभावकी आराधनाकी साधना बनायगा । तो कर्म किससे कटे ? भावोसे कटे, द्रव्य से कर्म नही कटे । द्रव्यलिङ्ग तो एक शरीरकी स्थिति है, वह भी प्रयोगमें आयी है, मगर कर्म कटनेका निमित्त कारण शरीरका भेष नही है, किन्तु जीवका निर्मल भाव है । तो जो कर्मक्षय का कारण भाव है, ऐसे भावका वर्णन इस भाव पाहुडमे चलेगा । उन भावोमें दो विभाग बने—(१) विभावभाव और (२) स्वभावभाव । विभावभाव दुःखरूप हैं, वे पुद्गल कर्मके सम्पर्कका निमित्त पाकर हुए हैं । यदि ये अनैमित्तक भाव हो विभाव, तो अरहत सिद्धमे भी आ बैठे । ये स्वभाव भाव नही है । स्वभाव भाव ही जीवका आनन्दमय भाव है, मोक्ष कहते ही हैं स्वभावके अनुरूप विकासको । तो यदि स्वभाव विकास चाहिए तो स्वभावकी जानकारी श्रद्धा और स्वभावमे रमणका प्रयत्न यह अत्यन्त आवश्यक होता है । तो स्वभाव भावकी सिद्धिमे कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । जिसका मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शनके होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बनता है और चारित्र सम्यक्चारित्र बनेगा, सो ये तो हैं मोक्षके हेतुभूत । विभाव हैं ससारके कारण । विभावोसे हटना है, स्वभावमे आना है, इसका पूरक इस भावपाहुड ग्रन्थमें स्वभावभाव रूप भावलिङ्गका वर्णन चलेगा ।

भावविसुद्धिणिमित्तं बहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुतस्स ॥३॥

(१०) भावविशुद्धिके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग—आत्मकल्याणमें प्रगति पानेके लिए अथवा मोक्ष लाभके लिए जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण की जाती है याने समस्त बाह्य परिग्रहोंका त्याग किया जाता है वह भावकी निर्मलताके लिए किया जाता है, यदि किसी जीवके भीतरी परिग्रह तो छूटा नही, मोह रागद्वेषादिकमें तो लिप्त है और बाह्य परिग्रहोंका त्याग करे तो उसका बाह्य पदार्थोंका त्याग करना निष्फल है । अंतरग परिग्रह है मोह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदिक याने जिनसे

जितने विकारभाव हैं, जो पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं ऐसे इन जीवविकारों में ममता होना, यह ही मैं हूं, इसमें ही मेरा महत्व है ऐसे अपने आपके विकारमें ही ममता, उसे छोडनेका भाव न होना, उससे उपेक्षा न करना, हटना नहीं विकारोंसे ये ही सब कहलाते हैं अंतरंग परिग्रह। जिनके यह अंतरंग परिग्रह लगा हुआ है उनके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग क्या फल दे सकता है? बल्कि यह बाह्य परिग्रहका त्याग करके जो भेष बना है, जो स्थिति हुई है उसमे अहंबुद्धि करके और भी तीव्र पाप बंध किए जाते हैं। तो बाह्य परिग्रहोका त्याग तो अन्तरङ्ग परिग्रहके त्यागके लिए है। भावोंकी निर्मलताके लिए है। यदि कोई भावोकी निर्मलता तो पाये नही, भीतरी परिग्रहसे तो युक्त रहे और बाह्य परिग्रहोंका त्याग करे तो उसका वह त्याग निष्फल है।

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तव चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

(११) भावरहित पुरुषके करोड़ों जन्मों तक तपश्चरण करनेपर भी असिद्धि—जो साधु भावरहित होता है याने अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण ये १२ कषायें जिसके नहीं हैं, मात्र सज्वलन कषाय है सो भी मंद, और ऐसी स्थितिमे सम्यग्दर्शनके कारण आत्माकी ओर जो दृष्टि रहती है उससे जो अविकार ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभवन चलता रहता है, अलौकिक आनन्द मिलता रहता है, ऐसी निर्मलता जिसके प्रकट ही नही हुई ऐसा भावरहित साधु कोडाकोडी जन्मों तक बडा तेज तपश्चरण करके अपने शरीरको सुखाये तो सुखा ले, मगर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। वह जन्म जन्मान्तर पाता ही रहेगा। चाहे बाह्य तप कितने ही कठिन हो। एक कायोत्सर्गसे खडा है, रात्रिभर खडा है, लम्बे हाथ करके खडा है, वस्त्र त्याग दिया है, कैसा ही कठिनसे कठिन तप करे कोई, पर भावरहित मुनि मुक्ति नही पा सकता। इसका कारण यह है कि मिथ्यादर्शन, ज्ञान और मिथ्याचारित्र इनमें वह पग रहा है, जो बाह्य नग्न भेष है उसमे तो अहकार है। यह मैं हू, मैं मुनि हू, मैं इतना बड़ा हू, ऐसा मुनिपना तो अहकार है और उसके अनुकूल फिर मिथ्याज्ञान चलता रहता है। ये भक्त हैं, ये मुझसे छोटे हैं, मैं पूज्य हू, ये पुजारी हैं। इन्होने यह क्यो नही किया आदिक बहुत सी अटपट बुद्धियां चलती रहती हैं और आत्मस्वरूपमे मग्नता तो हो ही नही सकती मिथ्यादृष्टि जीवके। सो वह मग्न होता है बाह्य इन्द्रिय और मनके विषयोंमें, तो ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके विभावोंमे जो पग रहा है और इसी कारण रत्नत्रयमे जिसकी प्रवृत्ति संभव नहीं है वह कोडाकोडी भवो तक कायोत्सर्ग करके नग्न मुद्रा मे खडा रहेगा, तो भी मुक्ति प्राप्त नही होती, बल्कि अनेक जन्म मरण करता ही रहता है।

तो सम्यग्दर्शन एक ऐसा मौलिक उपाय है कि जिस उपायके पाये बिना यह जीव धर्मके नाम पर कितने ही परिश्रम कर डाले, पर व्यर्थ है।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥

(११) अशुद्ध परिणामके होनेपर बाह्यपरिग्रहत्यागसे सिद्धिकी असंभवता—कोई मनुष्य साधु तो हो गया, मगर परिणाम उसके अशुद्ध ही चल रहे हैं व ऐसे भावके होनेपर वह परिग्रहको छोडता है, धन धान्य मकान आदिक बाह्यपरिग्रहोंका त्याग करता है, सो यह बाह्य परिग्रहका त्याग भावरहित मुनिका क्या लाभ कर सकता है? परिग्रह तो वास्तव में मूर्छाको कहते है। कहा भी तो है—मूर्छा परिग्रहः। प्रमाद और कषायके वश किन्ही भी बाह्यपदार्थोमे अहकार, ममकार होनेके कारण जो आत्माकी एक बेहोशी होती है, जिसमे आत्मस्वरूपका कुछ भी भान नही रहता, मात्र बाह्य परिग्रहकी ओर ही आकर्षण रहता है, ऐसी स्थितिको कहते हैं मूर्छा। मूर्छा ही परिग्रह है। किसीने बाहरी परिग्रह तो त्यागा, मगर देहका परिग्रह विकट बाँध लिया। देह यद्यपि छोडने योग्य वस्तु नहीं है उस समय, लेकिन देहमें ममता हो, देहमे आत्मबुद्धि हो, यह तो होती है अज्ञानकी स्थिति और देहको पुद्गल आदिका अणय समझे और आत्माको अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला देखे, ऐसा देखनेसे जो देह के प्रति उपेक्षा है यह ज्ञानीके होती है। तो देह छोडा नही जा सकता, फिर भी इस देहको देह ही जानें। अमूर्त चिदानन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न जानें व जड मूर्तिक, रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड समझें। इसे तो किया जा सकता है, पर अज्ञानी जीव जिसने बाह्य परिग्रहको त्याग दिया, पर देहमे विकट आत्मबुद्धि है। धर्मका आयतन है दिगम्बरी मुद्रा, उसको धारण करके भी जिसके ममता बन रही हो देहमे, भेषमे, यह ही मैं सब कुछ हू, वह तो विकट मूर्छा है। तो ऐसे अन्तरग परिग्रहको जब यह जीव छोडता नही, तो बाह्य परिग्रहोंका कैसा ही त्याग किया हो उमका फल याने कल्याणकी बात नही मिल सकती। सम्यग्दर्शन आदिक परिणाम हुए बिना कर्मनिर्जरा ही ही नहो सकती, फिर कल्याण कहांसे हो? इससे भावोकी निर्मलता बढे, उसके लिए ज्ञानाभ्यास व अविकार ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी उपासना बढ़ावें।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय ! सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥६॥

(१२) शिवपुरपंथ प्रथमलिङ्ग परमार्थ भावसे रहित पुरुषोंके द्रव्यलिङ्गकी व्यर्थता हे मुने, शिवपुरीका जो पथ है वह तो भाव ही है, ऐसा जिनेन्द्र देवने बताया है याने मोक्षमार्ग भाव है, जिस भावमें समस्त बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा है और अपने निज अंतस्तत्त्वमें उपयोग

है, तो वह भावस्थिति मोक्षमार्ग है, इस कारण हे मोक्षपुरीका पथिक अर्थात् मोक्षमार्गमें चलने वाले पुरुष ! तू भावको ही प्रथम बातको जान। परमार्थभूत बात जान। जीव है केवल भावस्वरूप। तो भावोंकी विशुद्धिसे ही जीवको शुद्धि हो सकती है। भावरहित मुनि द्रव्यलिङ्ग मात्र धारण करे, उससे उसको कुछ सिद्धि नहीं। इससे हे कल्याणार्थी जनो मोक्षमार्ग जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उनकी आराधना करना, क्योंकि केवल द्रव्यलिङ्गसे कुछ भी सिद्धि नहीं। यद्यपि द्रव्यलिङ्ग कल्याणमार्गमें चलने वालेके आता ही है, क्योंकि वह बाह्य पदार्थका संबंध रखता, संयोग रखता तो वह विकट विकल्पका ही कारण बनता है और मोक्षमार्गमें चलनेकी कोशिश करने वाला निकट भव्य विकल्प मात्रको हेय मान रहा। सारे विकल्प छूटें और अपने आपमें अपना ज्ञानस्वरूप ही समाया रहे ऐसी स्थिति चाहने वाला भव्य पुरुष द्रव्यलिङ्गमें आयगा ही, मगर जो लोग इस द्रव्यलिंगमें ममता रखते हैं, इसको ही साधन जानकर इन वचन कायकी क्रियावोंमें ही लगे रहते हैं और उस ही के अनुरूप मनको जुटाये रहते हैं उनको सिद्धि नहीं होती।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसारे।
गहि उज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥७॥

(१४) भावरहित पुरुषोंद्वारा बाह्यनिर्ग्रन्थमुद्राओंका अनगिनतेबार ग्रहण कर डालने की निष्फलता—हे सत्पुरुष, आत्मभावना बिना इस जीवने अनादिकालसे अब तक इस अनंत संसारमे निर्ग्रन्थ मुद्रायें बहुत बार धारण की हैं और छोडा भी है। अगर द्रव्यलिंगसे सिद्ध होती तो उन्हे कभीके मोक्ष चले जाना चाहिए था। यह बताया जाता कि इस जीवने इतनी बार मुनिपद धारण किया, द्रव्यलिंग धारण किया कि यदि एक भवका एक कमण्डल, प्रत्येक भव का एक एक कमण्डल जोडा जाय तो मेरु पर्वत जैसे अनेक पहाड खडे हो जायेंगे। तो यह तो एक मनकी हवस है, इच्छा है, शौक है। किसीने इसी तरहसे मनका विषय जोडा कि इस तरह रहना चाहिए, दुनियामें बडप्पन इसी भेषसे है। तो अपने मनके विषयोंके पोषणके लिए द्रव्यलिंग धारण किया, पर भावरहित होनेके कारण इसने असंख्याते बार द्रव्यलिंग धारण किया हो तो भी भावरहित होनेके कारण कुछ लाभ नहीं होता। इससे अपने आपमें शान्ति चाहिए तो एक इस ज्ञानस्वभावका आदर करिये। यह मैं स्वयं आनन्दमय हूं, किसी भी बाह्य पदार्थसे आनन्द नहीं आया करता। यह तो जीवका भ्रम है कि अमुक बाह्य पदार्थ मिले तो आनन्द आये। आनन्द तो आत्माका स्वयं गुण है और आनन्दमय अन्तस्तत्त्वका कोई आश्रय करे तो उसके आनंद प्रकट होगा। तो हे सत्पुरुष, उस भावका आदर करो जिस भाव के कारण ही मोक्षमार्ग मिलता है।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेव मणुगइए ।
पत्तोसि तिव्वदुक्ख भावहि जिणभावणा जीव ॥८॥

(१३) **चतुर्गतिदुःखका स्मरण करा कर जिनभावना भानेका उपदेश**—हे आत्मन् ! अब तक शुद्ध आत्माकी पहिचान बिना भीषण भयकारी नरकगति, तिर्यञ्चगति, कुदेव, कुमनुष्यगतिमे जन्म ले लेकर तीव्र दुःख पाये । नरकगति तो कुगति है ही, पूरी तिर्यञ्चगति भी दुर्गति ही है । देवगतिमे कुछ विवेकी देव होते, सम्यग्दृष्टि देव होते । तो ज्ञानी देवका भव नहीं पाया इस जीवने । पाया होता तो यह भी कुछ ही भव पाकर मोक्ष चला जाता, इसलिए कुदेवकी बात कही है । यहांके कुदेवोमे तीव्र दु.ख पाये । इसी तरह कुमानुष । भले मानुष होना, सम्यग्दृष्टि होना, भाव तपस्वी होना, ऐसे भव नही पाये । खोटे मनुष्य ही बने । जो अज्ञानी जीव हैं वे सब खोटे ही तो हैं । तो ऐसी दुर्गतियोमे तीव्र दु ख प्राप्त किया है । उन दुःखोसे छूटना है तो इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना भावो, इससे ही ससार मिटेगा । आत्माके स्वरूप को देखो तो यह ससाररहित है । यह जीव ससारसे अलग नही है । अभी ससारभावका आक्रमण चल रहा है, मगर स्वरूप ससाररहित है । यदि आत्माका स्वरूप ही ससारी हो जाय तो कभी मुक्ति नही हो सकती । तो ऐसे नि.ससार ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपासनामे वह माहात्म्य है कि इसका ससार टलेगा । यह ही है आत्मतत्त्वकी भावना और आत्मतत्त्व की भावनामे अपनी सही पहुच रहे, उसके लिए जब जब आत्ममग्नता न हो तो परमात्मस्वरूपका स्मरण करो, भक्ति करो और और प्रकारसे भी ध्यान तपश्चरण करो, मगर प्रतीति आत्मतत्त्वकी रहे कि मैं तो केवल ज्ञानानन्द स्वभावमात्र परम पदार्थ हू । तो ससार सकटो से छुटकारा पानेके लिए हे भव्य जीव ! तू शुद्ध आतस्तत्त्वकी भावना कर ।

सत्तसुणरयावासे दारुण भीसाइ असहणीयाइ ।
भुत्ताइ सुइरकाल दु खाइ णिरतर सहिय ॥९॥

(१६) **सप्तसुनरकावास**—आत्मतत्त्वकी भावनाके बिना इस जीवने कैसे-कैसे दु ख सहे हैं । उनमे से नरकगति सबधी दु ख बताये जा रहे हैं । नरकके आवास ७ जगह हैं, ७ पृथ्वियोंमें ७ नरकके आवास हैं । जिसपर हम बैठे हैं, चलते फिरते हैं, यह पहली भूमि है, यह भूमि बहुत मोटी है और इस भूमिके नीचे तीन खण्ड विभाग हैं । तीन जगह तीन तरह की रचनायें हैं । ऊपरके दो भागोंमें भवनवासी और व्यन्तर देवोके भवन हैं, इन देवोका वहाँ निवास है और नीचेके तीसरे खण्डमें पहला नरक है । उसमे भी १३ पटल हैं, याने ऊपरसे नीचे १३ पटलोमे उन नरकोके बिल हैं, जो बिल बहुत लम्बे चौड़े हैं, आजके परिचित विश्वसे भी बड़े हैं, ये वैज्ञानिक लोग जितनी भी बड़ी दुनिया कहते हैं

उससे भी बड़े-बड़े बिल हैं। दुनिया इतनी ही नहीं है। ३४३ घनराजू प्रमाण लोक है। जितना आज पता है वैज्ञानिकोंको यह तो समुद्रके एक बूँद बराबर है। ऐसे नरकोंमें वे नारकी जीव रहते हैं। इस पहली भूमिसे नीचे कुछ आकाशके बाद दूसरी भूमि है, उसमें ११ पटल हैं याने ११ जगह ऊपरसे नीचे नारकियोंके बिल हैं, उनमे नारकी बड़े कठिन दुःख सहते हैं, ऐसे ही आकाश छोड़कर नीचे तीसरी भूमिमें वहाँ तीसरा नरक है, उसमें ९ पटल हैं, उससे आकाश छोड़कर फिर एक भूमि है, फिर छोड़कर एक भूमि है। इस तरह ७ भूमियाँ हैं और दो दो कम हो हो कर पटल है। उन नरकोंमें रहने वाले नारकी जीव बहुत कठिन दुःख सहते हैं।

(१७) नरकोंमें प्राकृतिक दुःख—नरकोंमें भूमिके छूनेसे ही इतने दुःख होते हैं कि हजार बिच्छुवोंके काटनेसे भी नहीं होते। वहाँ फिर अन्य दुःखोंका तो अनुमान ही किया जा सकता है। ये पुद्गल परमाणुओंके स्कंधोंके इस तरहके परिणमन हुआ करते हैं। बिजली भी तो पुद्गल स्कंध है, यहाँ ठीक अगर बिजलीका करेन्ट फर्शपर आ जाय तो उस फर्शपर पैर रखते ही कितनी झनझनाहट आ जाती है। भीतमें यदि करेन्ट आ गया तो उसपर हाथ पैर नही रखे जा सकते, क्योंकि करेन्ट मार देता है। तो वह भी पौद्गलिक है, नरकोंकी सारी भूमि इस तरह है कि मानो बिजली जैसी करेन्ट चल रही हो। वहाँ जो नारकी पहुंचता है सो पहुंचते समय ही घोर दुःख सहता है और देखिये पापका उदय देवोंके नहीं सो जहाँ नरक भूमिपर कोई देव जाता है समझानेके लिए उस देवको दुःख नही होता। जैसे कहीपर करेन्ट लगा हो भीतपर या फर्शपर और कोई रबड़के जूता पहने हुए खड़ा रहे तो उसको करेन्ट तो नही लगता। तो यह भी सब जुदे जुदे पुद्गलोंके स्कंधोंकी परिणतिकी बात है। जिनके पापका उदय है उनको सब दुःखरूप हो जाता है। ये नारकी उत्पन्न होते हैं तो इस तरह जैसे कि छतमें से कोई चीज गिरी हो। नारकियोंका उत्पत्ति स्थान ऊपरी भाग है, समझिये छत जैसा। वहाँसे उत्पन्न होते ही जमीन पर गिरते हैं और गिरकर कई सौ बार गेंदकी तरह उछलते रहते हैं। ऐसे नरकोंके दुःख इस जीवने आत्माकी सुध बिना, बाह्यपदार्थोंकी आसक्तिके कारण सहे।

(१८) नरकोंमें आकुलताकुल अतीघात—उनके वहाँ भूखप्यास अत्यन्त तीव्र है, इतनी है कि कितना ही खायें पियें फिर भी तृप्त नहीं हो सकते। खानेको न तो एक दाना है और न एक बूंद पानी, और ठंड इतनी है नरकोंमें कि वहाँ मेरुपर्वत बराबर लोहा भी गल जाय। जिन नरकोंमें गर्मी है, सो इतनी तीव्र है कि मेरुके बराबर लोहा गल जाय। इसके अतिरिक्त नारकी एक दूसरेको देखकर हमला करते हैं। इनका शरीर ऐसी खोटी विक्रिया वाला है कि

जो भी नारकी चाहे कि मैं इसे कुल्हाड़ा मारूं तो उसका हाथ ही कुल्हाड़ा बन जायगा और इस के अतिरिक्त वहाँ भिड़ानेकी प्रकृति वाले असुर जातिके देव उन नारकियोंको भिड़ाते हैं। जैसे, किया था, तू खड़ा क्यों है? वह दुश्मन सामने तो आ गया। कहीं वह कुछ चैन सी माने, तेरा उस भवमें इसने ऐसा माना खूब लड़ लड़कर थक जाता है तो वह थोड़ा दम खाता है। ऐसे ही नारकी भी आपसमे लड़ लड़कर कुछ थक जाते है तो बैठ भी जाते हैं, पर वहाँ असुर जातिके देव जाते हैं और भिड़ाते हैं। मतलब यह है कि नरकोंमे अनेक तरहसे दुःख हैं और वे दुःख ३३ सागर पर्यन्त हैं। १ सागरमे अनगिनते अरब खरब वर्ष आजाते हैं, बहुत काल पर्यन्त जीव नरकमे दुःख सहते हैं, इसका कारण है कि उन्हें आत्माकी सुध नहीं रहती।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेदणाणिरोहं च।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥

(१६) तिर्यञ्चगतिके छहों कायमे नाना प्रकारके दुःख— भावरहित मुनि दुर्गतिको प्राप्त होता है। इस प्रकरणमे नरकगतिके दुःखोंका वर्णन किया गया था। अब इस गाथामें तिर्यञ्च गतिके दुःखोंका वर्णन कर रहे हैं। तिर्यञ्चगतिके जीव छहों कायमें मिलते हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। त्रसकायमें विकलत्रय अर्थात् दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय और पशु पक्षी, ये सब तिर्यञ्च कहलाते हैं। तो इसमे जब यह जीव पृथ्वीकायिक हुआ तो उसका खोदना, नीचे पत्थरोमे सुरंग लगाना, फोड़ना आदि ये सब दुःख सहे गए है, एकेन्द्रिय जीव है, उसके रसना आदिक नहीं हैं। वह किसी तरह अपना दुःख किसीके सामने प्रकट नहीं कर सकता। चेतना वहाँ भी है, स्पर्शन इन्द्रिय केवल है, तो स्पर्शनइन्द्रियके होते सन्ते जैसी संज्ञा होती है उस संज्ञाके माफिक उनको कष्टका अनुभव चलता है, तो जब पृथ्वीकायिक हुआ तो कुदाल आदिकसे खोदनेका दुःख इसने पाया। अब यह जीव जलकायिक हुआ तो अग्निको तपाना, ज्यादह पानी ढोलना, किसी शीशी आदिकमे पानीको बंद कर देना आदिक नाना प्रकारके दुःख उस जलकायके जीवोको हैं। अग्निकाय हुए तब यह जीव उस अग्निको फूकना, जलाना, बुझाना, बंद कर देना, आदिक दुःख उस अग्निकायिक जीवने सहे। जब यह वायुकायिक हुआ तो पंखेसे चलना, बिजलीके पंखोसे चलना, हवाको फाड़ देना, रबड़ आदिकमें रोक देना, नाना प्रकारके कष्ट वायुकायिक जीवने सहे। जब यह जीव वनस्पतिकायिक हुआ तो फूल पत्ता, फल आदिकको बिदारना, करना, फाड़ देना फोड़ देना, रौंधना, साग भाजीके ढगसे उसे काटना आदिक दुःख वनस्पतिकायिक जीवने सहे, जब यह जीव विकलत्रयमें आया। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव हुआ तो किसीको गर्मीमें पानीमे छोड़ देना, मार देना, जला देना आदि कितने ही कष्ट

सहे। कितने ही हिंसक लोग तो मछली पकड़नेके लिए बंसीके डोरके कोनेपर केंचुवा बाँध देते हैं, जलमें डाल देते हैं इसलिए कि मछली खावे और उन केचुवोंको खाये। कैसी वेदना मे वे कीडे रहते हैं। तो नाना प्रकारसे कष्ट इस जीवने सहे। कुछ लोग तो इन जीवोंको चोंथ कर मार करके इन्जेक्शन बनाते या अन्य प्रयोग करते हैं तो अनेक प्रकारसे इन विकलत्रयों की हिंसा होती है। कभी यह जीव पशु पक्षी जलचर हुआ तो वहाँ पर दुःख तो परस्परके घातका है। एक दूसरेको मार डालते हैं। छिपकली कितने ही कीडोको खा जाती। और वे जीव एक दूसरेको मार डालते। तो ऐसे इन पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोमें एक तो परस्पर घात करने का दुःख है, दूसरे—मनुष्यादिक इनको वेदना पहुचाते हैं। भूखा रखें, प्यासा रखें, बाँध दें, रोक दें, बहुत बोझा लाद दें, कितनी ही तरहके दुःख पहुचाये जाते हैं, शिकारी लोग अपना मन बहलानेके लिए या मांस खानेके लिए शिकार करते हैं। निरपराध जीवोकी निर्मम हत्यायें करते हैं। तो कितने कठिन दुःख तिर्यञ्चगतिमे होते हैं। तो ऐसे नाना प्रकारके दुःख इस जीवने तिर्यञ्चगतिमे जन्म ले करके पाये सो यह सब किसका परिणाम है? भावरहित होकर प्रवृत्ति करनेका परिणाम है। इस भावपाहुडमे मुख्यतया मुनियोको समझाया गया है कि अविकार सहज ज्ञानस्वभावका बोध, अनुभव हुए बिना द्रव्यलिङ्गसे पार नही हो सकते। बल्कि जब अपने आपके स्वरूपमे यह मैं हू ऐसी भावना नही बनती तो इसकी तो प्रकृति है कि किसी न किसीमे मैं का अनुभव करके रहेगा। जब निज स्वभावमें मैं का अनुभव नही बनता तो कर्मोदयज विभावोमे मैं का अनुभव चलेगा और उस ही को व्यक्त करने के लिए देहमे मैं का अनुभव चलेगा। तो जहाँ देहात्मबुद्धि है और धर्मकी मुद्रा रखकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण करके उसमे अहकार करे, उसमे मैं का अनुभव करे तो वह तो घोर मिथ्यात्वका अनुभव करता। ऐसे जीव खोटी गतियोमे दुःख पाते हैं, सो हे भव्य जीव एक अपने भावको विशुद्ध करो और फिर जिस तरह उसमे प्रगति हो, अभ्यास बने, संयम बने उस तरह आगे आचरण पालन करें।

आगतुक माणसियं सहज सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणतय काल ॥११॥

(२०) मनुष्यगतिमें नाना प्रकारके दुःख—भावरहित क्रियावोंके अहंकारसे दुर्गतियोमे जन्म होता है और कष्ट होता है उन कष्टोंके बतानेके इस प्रकरणमें नरकगति और तिर्यञ्चगतिके कष्टोंका निरूपण तो कर चुके। अब इस गाथामे मनुष्यगतिके दुःख बतला रहे हैं। मनुष्यगतिमे नाना प्रकारके कष्ट हैं और उन कष्टोंका यदि कुछ बँटवारा किया जाय तो

चार भागोंमें मिलेगा। (१) आगंतुक (२) मानसिक (३) सहज और (४) साधारण। आग-तुक दुःख वह कहलाता है जो इस जीवके किसी कारण हो जाता है, चलते जा रहे हैं, कारसे एक्सीडेन्ट हो गया, किसी मोटरसे साइकिलका एक्सीडेंट हो गया, चलते चलते किसी भीडमें किसी भागते हुए पुरुषके द्वारा चोट पा ले या कहीं लड़ाई छिड रही है उसमें फस जानेसे कहीं कोई छुरा लग गया या लाठी लग गई या अचानक कहीं बिजली गिर गई, कोई करेन्ट आ गया आदिक नाना प्रकारके आगतुक दुःख होते हैं, जिसके बारेमे कोई हिसाब नही है कि अब ऐसा होगा, न किसीको विदित हो पाता है, ऐसा अकस्मात् जो कष्ट आता है वह सब आगंतुक दुःख कहलाता है। मनुष्यको ऐसा चिन्तन करके धीर रहना चाहिए कि इस मनुष्य पर न जाने कब कैसा आगंतुक दुःख आ सकता है। थोडा यदि मौज है या थोडा कुछ लोक मे प्रतिष्ठा है तो उसमें भूलें नही, क्योंकि यह मनुष्य और यह ससार तो सब दुःखोका घर है। कोई भी आगंतुक दुःख आ सकता है, अचानक ही कोई लकवेका रोग हो गया, अचानक ही कोई आँखका अधापन आ गया, चलते चलते कहीं कोई पैरमें मोच आ गई, ऐसा गिरे कि हड्डी टूट गई। कितने ही लोग तो कहो खाटपर पडे हैं और कोई एक हाथ ऊँचेसे गिर गए और हाथ पैर टूट गए। तो जहां कितने ही आगंतुक दुःख हैं उनको विचारकर कभी अपनेमे विकल्प न लाना चाहिए। उत्तेजना, अधीरता, दूसरोको अपने आधीन समझना आ-दिक बातें ये दुर्भाव हैं। ये न आने चाहिए। आगतुक दुःखों पर ध्यान देनेसे यह हो तो जीवों को सद्बुद्धि जगती है। इस मनुष्यगतिमे अनगिनते आगंतुक दुःख हैं।

(२१) मनुष्योंके मानसिक दुःख—दूसरे दुःख मानसिक ढगके हैं, कोई भी कष्ट नही, बस मनने विचार लिया। बडे दुःखी हो रहे हैं। ये पुरुष मेरेसे उल्टे क्यों चल रहे? अरे उल्टे चलें चाहे बिल्कुल टेढ़े चलें हमारा उसमे क्या गया या ये पुरुष मेरी तरफ सीधी नजर क्यो नही दिखते? हाथ जोड कर क्यों नही मेरे पास आते, आदिक कुछ भी व्यर्थ विचार ले तो उससे मानसिक दुःख ही बढा लिया और जब एक मानसिक दुःखका वेग आता है और अपनी एक कल्पना बनाता है तो उस कल्पनामें भली भी बात हो तो वह पूरे रूपमे दुःख करती है। तो इस मनुष्यको मानसिक दुःख भी अनेक प्रकारके लगे हैं, जिससे कुछ मतलब आनन्दका नहीं रहता। यदि अपने ज्ञानस्वभावको निरखकर आनन्दघन हूं, ज्ञानमात्र हूं, समस्त परसे निराला हूं, केवल मुझमें मैं ही हूं, और इसका महत्त्व समझ कर स्व स्व ही रहे, इसमें कल्पनायें न जगें तो इसको कष्टका क्या काम? मगर यह बात तो नही विचार कर पाता यह संसारी जीव, किन्तु ऐसा सोचकर कि इन पर जीवोंपर मेरा तो प्रभुत्व है, अधि-कार है, सो जरा जरा सी बात पर इसको मानसिक दुःख होता है। मानसिक दुःख होनेका

कारण है अज्ञान। अज्ञानमें बुद्धि विरुद्ध होती है। जहाँ ऐसा अज्ञान चलता है—मैं इनमें बड़ा हूं, इनका मैं मालिक हूं इनको मेरी पूरी आज्ञामें चलना चाहिए जब ऐसा चित्तमें भाव दौड़ आता है तो इसको बौखलाहट होती, मानसिक कष्ट होता और यह दुःखी होता। वह पुरुष यह नही सोच पाता कि ऐसे विरुद्ध भावोंके कारणसे जो मेरे पुण्यका नाश होगा, और पापका रस बढ़ेगा उस पापरसके उदयकालमें जो मुझपर विपदा पड़ेगी वह तो कई गुना दुःख वाली विपदा होगी। वह आगा पीछा कुछ नही देखता, न वस्तुके स्वरूपका ध्यान रखता। किन्तु अन्य जीवोंपर अपना कुछ अधिकारसा मानता है और उस विपत्तिमे रहनेके कारण नाना ढंगका मानसिक दुःख बना बनाकर बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त विषयोंकी वाञ्छा वाली वेदना तो यह मोही निरन्तर बनाये रहता है। परवस्तुकी आशा रखना, निदान करना यह निरन्तर इसके बनी रहती है। तो विषयोंकी इच्छा और पर जीवोंपर प्रभुत्व माननेसे अनुकूल बात न होनेके कारण वेदना, ये सारे दुःख, मानसिक दुःख इस मनुष्यको अभिभूत कर डालते हैं। तो यह सब क्यों हुआ ? हे मुने! आत्माका जो स्वभावभाव है, शाश्वत स्वरूप है उस रूपसे अपनेको न निरखा इस कारण स्वरूपसे चिगकर ऐसे कष्टमें आना पड़ा। तीसरे प्रकारका दुःख है सहज दुःख। दुःख तो सहज नहीं होता, सहज तो आनन्द हुआ करता है क्योंकि आत्मीय आनन्द अनैमित्तिक होता, मगर सहजका यहाँ अर्थ बिना विशेष खटपटके साधारण बातोंमे जो दुःख होता है उनको बताया गया है। माता पिता आदिकको जो सहज उत्पन्न हुआ है। जैसे बच्चेको माता पिता जरा जरासी बातमे डाँट दें, बुरा बोल दें, ललकार दें, झकोर दें यह उनका सहज दुःख है, ऐसे ही जो कुटुम्बमें या किसी सभामें रहता है तो जब निरन्तर रहता है तो परस्परका ऐसा कोई व्यवहार हो ही जाता कि जिससे कोई न कोई तरहका कष्ट अनुभवा जाता है। वहाँ कोई खास घटना नही हुई, न कोई लड़ाई होती है, न कोई बात हुई किन्तु अनेक दुःख ऐसे सहज मान लिए जाते है। तो अनेक दुःख तो साधारूपसे होते ही रहते हैं। चौथे प्रकारका कष्ट है शारीरिक कष्ट। शरीरमें कोई रोग हो गया, बुखार हो गया या खून खराब हुआ, फोड़ा फुंसी हुआ, करोड़ों प्रकारके रोग हुआ करते हैं। कोई बड़े रोगका वेग हो गया तो वहाँ शारीरिक दुःख हो गया। कोई लोग तो इससे ही दुःख मान लेते कि हमको भूख कम लगती। तो भूख कम लगना अच्छा ही तो हुआ। भगवानके तो बिल्कुल ही भूख लगनेकी बात खतम हो जाती। भूख कम लगनेका अर्थ तो यह समझिये कि भगवानके निकट पहुंचने लगे। लोग तो अनेक प्रकारके ऐसे उपाय करते हैं कि जिससे भूख लगे। तो कितनी तरहके कष्ट इस मनुष्यगतिमे लगे हुए हैं। इन दुःखोंके अलावा अन्य भी दुःख हैं जिन्हे इस गाथामें च शब्द डालकर निर्दिष्ट किया है। जैसे मेरे रहनेको बढ़िया

संकाम नही है, अनेक प्रकारके भय भी उत्पन्न होते हैं। जैसे कोई ऐसा कानून न बन जाय कि हमारी सम्पत्ति छुडाली जाय। यदि ऐसा हो गया तो फिर हमारी जिन्दगी कैसे चलेगी ? मेरे घरमें कोई रक्षाका साधन नहीं है। कहीसे भी चोर आ सकते हैं। मेरा कहीं मरण न हो जाय। पता नही मैं कब तक जीऊँगा। यो कितनी तरहके अटपट दुःख बना डालते हैं वृद्ध हो गए फिर भी किसे पूछेंगे कि अभी मेरी उम्र कितनी है ? कुछ पता ही नही पडता कि कहता क्या है, मनमें क्या है ? कितनी तरहके जाल हैं इस संसारमे, वे सब दु:खरूपी हैं। तो ये सब दु:ख क्यों मिले ? हे मुने, भावरहित होकर जो द्रव्यलिंग धारणकर आजीविकाको बनाये, उस सबका फल है कि ऐसे खोटे दुःख सहने पडते हैं, सो परमार्थभूत अतस्तत्त्वकी उपासनाके बिना जो मन, वचन, कायकी वृत्तियाँ बनाया है उन प्रवृत्तियोंके कारण ऐसे मनुष्यभवमें अनन्त काल तूने दुःख पाया यानि अब तक अनन्तकाल व्यतीत हुआ। भले ही वहाँ मनुष्यभव पानेके बहुत कम बार हैं पर कितने ही कम बार हो, यदि यह जब चाहे मनुष्य होता आया है तो यह अनगिनते बार मनुष्य हो चुका और उनमे कठिन दु:ख भोगा है।

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणस तिव्वं।
सपत्तोसि महाजस दु:ख सुहभावणारहिओ ॥१२॥

(२१) देवगतिमें मानसिक दुःख—इस गाथामे देवगतिका दिग्दर्शन कराया गया है। हे मुने, शुभ भावनासे रहित होकर तूने देव बनकर भी कठिन मानसिक दु:ख पाये। यहाँ महा-महाराज कहकर मुनिका यो सबोधन किया है कि तूने साधु परमेष्ठीका बाना रखा था जिसके आदर सत्कारके कारण धर्म बन्धुवोंमे तेरा महान यश फैल गया है, सबने पूज्य दृष्टिसे देखा है। इतना बडा यश पाकर भी यदि तू अपनी भावना शुद्ध नही रखता और कुछ थोडा बहुत बाह्य पापोंसे बचकर उस साधनामे लग रहा है तो उसका फल यह होगा कि तू देवगतिमें उत्पन्न होगा, मगर वहाँ भी तू पा क्या लेगा ? ऐसे ऐसे अनेक बार द्रव्यलिंग धारण करके भावशून्य होनेके कारण अनेक बार देवगतिमे उत्पन्न हुए, वहाँ भी बहुत प्रकारके मानसिक दु:ख हैं। जैसे यहाँ जो गरीब पुरुष हैं दिन भर मेहनत करें तेज, तब आधा पौन घंटा भोजन पा सकें ऐसे पुरुषोंका शारीरिक दुःख ही विशेष है मगर कोई ऐसा रईस हो, जिसे कुछ कमाना भी नहीं पडता, स्वयं सब मुनीम लगे हैं, कमा रहे हैं, वह कहीं एक गद्दीपर पड़ा मौज कर रहा है, ऐसा कोई रईस रह रहा है, उस रईसको मानसिक दुःख इतने हैं कि तुलना अगर की जाय तो उस गरीबके शारीरिक दुःखोंमे जो वेदना है उससे कई गुनी वेदना है। मानसिक दुःख बहुत बेतुका दु:ख है। अरे तुझे खानेकी तकलीफ नही, रहनेकी तकलीफ नहीं, मौजसे सब कुछ चाल बन रही है अब मनको बडा बढाकर, मनके अनुकूल कुछ न देखकर कष्ट मानना,

यह बहुत वेतुका दुःख है अर्थात् देवगतिमें सारे वेतुके दुःख हुए। वहाँ मुख्य दुःख है देव और देवोंके उपयोगके संबंधका। बाकी दुःख तो सारे ऊट पटांग हैं, मानसिक हैं, किसीके ऋद्धि, विहार बहुत अधिक है तो उसीमें मानसिक दुःख हो जाता कि हाय ऐसा क्यों न हुआ ? इसके बहुत वैभव है, वहाँ जो बड़े देव हैं, इन्द्र अहमीन्द्र हैं और इस प्रकारके जो प्रधान देव हैं वे तो दूसरोंको आज्ञा दे देकर दुःखी रहते हैं और जो छोटे प्रकारके देव हैं वे आज्ञा मानकर दुःखी रहते हैं। आज्ञा माननेमें, आज्ञा मानकर चलनेमें जितने कष्ट अनुभवे जाते हैं, भैया उससे कई गुना कष्ट आज्ञा देने वालेके रहता है, क्योंकि उसके बहुत विकल्पन, बहुत उलझन पापारम्भ, बहुत बडा काम, और उसमें दूसरोंपर हुकूमत करनेका संकल्प उसमें कठिन दुःख होता है। तो इस देवगतिमें यद्यपि शारीरिक कोई दुःख नही है लेकिन ठाली बैठे रहनेके कारण मन जो बिढगा चलता रहता है उससे यह मानसिक कष्ट बढ़ जाता है। उन देवी देवताओंका वैक्रियक शरीर है, क्षुधा, तृषा आदिककी कोई वेदना होती नहीं है। हजारों वर्षमें क्षुधा, तृषा आदिककी वेदना होती है सो उनके कंठसे ही अमृत झडता है और वेदना शान्त हो जाती है। जहाँ खाने पीनेका कोई कष्ट नहीं वहाँ कमानेकी क्या आवश्यकता ? वस्त्राभूषण उनको कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हो जाते हैं। जब उनको कमाई करनेका कोई कष्ट नही करना पडता तो अब सोच लीजिए कि वे २४ घंटे ठलुवा ही तो रहा करते हैं और जो ठलुवा रहेगा उसके मन नाना प्रकारके चलते रहेंगे और वह अपनेमे कष्टका अनुभव करेगा। तो देवगतिमें नाना प्रकारके मानसिक तीव्र दुःख प्राप्त होते हैं। वियोगकालमें तो कठिन ही दुःख है। खुद के मरनेका कठिन दुःख। ६ महीना पहलेसे माला मुरझा जाती है और वह जान जाता है कि अब मैं मरूंगा। मनुष्योंको तो कुछ पता नहीं रहता अचानक ही अगले सेकेण्डमें मरण हो सकता। यदि विदित हो जाय कि ६ माह बाद हम मर जायेंगे तो उसे तो रोज रोज कष्ट बढ़ता ही रहता है। तो एक तो खुदके मरणका दुःख, दूसरे देवीके रहते हुए देव गुजर गया या देवके रहते हुए देवी गुजर गई तो बहुत समयके व्यवहारके फलमे वियोगके समय कष्ट तो होगा ही। तो हे मुने, शुद्ध भावोंसे रहित होकर तूने कुछ अकाम निर्जराके बलसे देवगतिको प्राप्त कर लिया तो ऐसे भी वहाँ नाना प्रकारके दुःख भोगे हैं।

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥१३॥

(२३) भावरहित द्रव्यलिंगी मुनिकी अशुभ भावनाओंके कारण हीन देवोंमें उत्पत्ति— भावरहित द्रव्यलिंग मुनि कांदर्पी आदिक अशुभ भावनाओंके कारण हीन देवोंमे उत्पन्न होते है। चूंकि वह द्रव्यलिंगी है, कुछ तो व्रत तपश्चरण आदिक करता ही है। प्रतिक्रमण आदि

भी करता है मगर परमार्थभाव नही है, याने अविकार सहज ज्ञानस्वभावमें रुचि नहीं है इस कारण वह अपना समय खोटी भावना, खोटे शब्दोंके प्रयोग करता रहता है, जिसका फल है कि वह भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी, ऐसे खोटे देवभवमें उत्पन्न होता है, और यह ही नहीं, किल्विष जातिके जैसे देवोंमें उत्पन्न होता है, वे खोटी भावनायें हैं—कान्दर्पी, किल्विष, सम्मोही, दानवी, अभियोगी। इन भावनाओंमें ऐसे खोटे शब्दोका प्रयोग होता है जो एक धर्मात्मा गृहस्थके भी उचित नहो है ज्ञानविषयक दूसरोका सम्मोहन आकर्षण करने वाले अथवा किसी के प्रति द्वेष भाव वाले किसीको किसी प्रकारका कलक लगाने वाले ऐसे अनेक प्रकारके खोटे शब्दोका प्रयोग करता है। वह द्रव्यलिंगी मुनि किल्विष आदिकके देवोमे उत्पन्न होता है, और खोटे देवोमे उत्पन्न होकर मानसिक दुःखोको सहता रहता है। जब यह खोटा देव देखता है कि मुझे ये लोग निरादरसे देखते है तो उसके मानसिक दुःख बहुत बढ जाते हैं। देवोमे १० जातियां होती हैं—१–इन्द्र २–सामानिक ३–त्रायस्त्रिंश ४–पारिषद ५–आत्मरक्ष ६–लोकपाल ७–अनीक ८–प्रकीर्णक ९–आभियोग्य और १०–किल्विष। जिनमे इन्द्र तो जैसे यहांका राजा होता उस तरह प्रताप प्रभाव आज्ञा आदेश देनेवाला होता है, सामानिक देवोका राजाके कुटुम्बकी तरह आराम आदि सब एक समान हैं, पर आज्ञा नही चलाते। त्रायस्त्रिंश उनको सलाह करने वाले मन्त्रियोकी तरह हैं। ये ३३ होते होमे इसलिए त्रायस्त्रिंश नाम रखा है। तो ३३ होना भला है। जिसमे कोरम भी ११ मंगल संख्यापर पड़ना है। आत्मरक्ष, जैसे यहाँ अंगरक्षक होते हैं ऐसे ही इन्द्रोके अंगरक्षक होते हैं। यद्यपि इन्द्रको कोई मार नही सकता, आयु बीचमे किसी भी कारण छिदने वाली नही होती मगर ऐश्वर्य ऐसा है कि जिसमें एक प्रभाव बनता है। लोकपाल कोतवालकी तरह होता है। कोतवालका पद बहुत ऊंचा है क्योंकि वह प्रजाका पिता तुल्य है। प्रजामे कोई अनीति न हो, कोई दुःखी न हो, उसके सकट दूर किए जायें, यह सब कर्तव्य है कोतवालका और इसी कारण लोकपाल एकभवावतारी होता है। यहाँ ऐसा निरखा जाता कि जिसका हृदय क्रूर हो सो ही कोतवाली निभा सकता। वास्तवमे कोतवाल तो प्रजाका पिता तुल्य है। अनीक सेवककी तरह, प्रकीर्णक जनताकी तरह, आभियोग्य जो हुक्म पाते ही हाथी घोड़े आदिक सवारीका रूप रख लेते, जिनपर बैठकर बड़े देव चले वे आभियोग्य हैं और किल्विष जैसे यहाँ चाण्डाल अथवा सफाई करने वाले लोग गाँवके अन्तमे रहते हैं ऐसे ही ये देव उस देवलोकमे आखिरी सेवाओमे रहा करते हैं। तो जो मुनि जिन मुद्रा धारण करके खोटी भावनाओका आदर करते हैं, वे देव होवें तो किल्विष आभियोग्य जैसे खोटे देवोमें उत्पन्न होते हैं और जहाँ बडे देवोके द्वारा कोई अपमानकी बात सुनी जाती है अथवा स्वयं ही ऐसा महसूस करते हैं कि मैं इन सबसे पतित हूं। तो उनको मनका

बहुत बड़ा कष्ट होता है। यह सब भावरहित द्रव्यलिङ्ग धारण करनेका प्रभाव है।

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणा भावबीएहिं ॥१४॥

(१४) मुनि वेष धारण कर, खोटी क्रिया करनेसे दुर्गति—हे आत्मन्! तूने पार्श्वस्थ आदिक भावनाओंके कारण अनादि कालसे अनेक बार खोटी भावना भानेके कारण दुःखको प्राप्त किया है। जो लोग दिगम्बर मुद्रा तो धारण कर लेवे, लोकमें अपनेको साधु परमेष्ठीका प्रचार करावे और ऐसी ही खोटी क्रियायें करें तो वे जीव भव-भवमें दुःख प्राप्त करते हैं। कोई मुनि द्रव्यलिङ्गी ज्ञानी पार्श्वस्थ भेषधारी होते हैं जो वसतिका बनाकर आजीविका करें वे पार्श्वस्थ भेषधारी हैं। जो कोई द्रव्यलिङ्गी अज्ञानी मोही कुशील हुआ करते हैं जो कषायवान हो और व्रतादिकसे भ्रष्ट रहें, संघका अविनय करें वे मुनि कुशील कहलाते हैं पद-पद पर कषाय करें, गुस्सा आये, अपनेमे उच्चता जनावें, अपनी प्रशंसाके लिए नाना प्रकारके मायाचार करें और आरामका लाभ करें, व्रतादिकको निभायें ही नहीं और बात-बातमे संघके किसी भी मुनिका अविनय करें या समस्त संघका अविनय करने वाले शब्द कहे वे कुशील साधु कहलाते हैं। कोई अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी संसक्त साधु होते हैं जो वैभवके प्रयोग द्वारा अपनी आजीविका बनावें, भोजनपान खूब मिले, आराम सत्कार भी मिले। प्रयोजनसे दवायें बताकर एक यह ही मुख्य प्रोग्राम रख लिया और उससे फिर अपनी आजीविका करें याने भोजनपान सुन्दर प्राप्त करनेका प्रयत्न करें या जीवनकी आवश्यक बातोंकी प्राप्तिका उपाय करें तो वे संसक्त साधु हैं। इसी प्रकार ज्योतिषकी बातें बताकर कुण्डली बनाना, गृहफल बताना आदिक ज्योतिषकी बातों द्वारा अपने आपकी प्रतिष्ठा करायें, भोजन पान आदिककी सुगमता प्राप्त करें तो वे हैं संसक्त साधु। ऐसे ही विद्या मंत्रो द्वारा मंत्र प्रयोग करके तंत्र गंडा ताबीज आदिक करके जो अपना महत्त्व बढ़ायें, भोजन पानकी सुविधा बनायें वे संसक्त साधु हैं, इसी प्रकार राजा धनिक आदिक पर पुरुषोंका प्रशंसक बनकर याने शब्दों द्वारा उनकी प्रशंसा करके जो अपने जीवनकी महिमा बढ़ायें वे संसक्त साधु हैं। कोई अज्ञानी मोही द्रव्यलिङ्गी अवसन्न साधु कहलाते हैं, याने जिनागमके वचनोंसे प्रतिकूल चलें, चारित्रसे भ्रष्ट रहें, अपने कर्तव्योंमें आलसी रहें ऐसे भेषधारी साधु अवसन्न साधु कहलाते हैं। कोई मोही अज्ञानी मृगचारी साधु कहलाते हैं। मृगकी तरह अकेले स्वच्छन्द फिरना, गुरु का आश्रय संग तज देना, जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका लोप करना, ऐसे भेषधारी अकेले ही रहना पसंद करने वाले मोही साधु मृगचारी कहलाते हैं। जो इस प्रकारकी वृत्तिमें रहें और ऐसी ही भ्रष्ट भावना रखें सो अनेकों बार इस संसारमे जन्म ले लेकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं।

कोई अज्ञानी मोही द्रव्यलिंगी अवसन्न साधु कहलाते हैं। याने जिनागमके वचनोंसे प्रतिकूल चलें, चारित्रसे भ्रष्ट रहें, अपने कर्तव्योंमे आलसी रहें ऐसे भेषधारी साधु अवसन्न साधु कहलाते हैं। कोई मोही अज्ञानी मृगचारी साधु कहलाते हैं। मृगकी तरह अकेले स्वच्छंद फिरना, गुरुका आश्रय संग तज देना, जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका लोप करना, ऐसे भेषधारी अकेले ही रहना पसद करने वाले मोही साधु मृगचारी कहलाते हैं। जो इस प्रकारकी वृत्तिमें रहें और ऐसी ही भ्रष्ट भावना रखें सो अनेकबार इस संसारमे जन्म ले लेकर घोर दु.ख प्राप्त करते हैं।

देवाण गुण विहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठु।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणस दुक्ख ॥१५॥

(२५) **द्रव्यलिंग धारण करहीन देवोंमें उत्पत्ति**—हे आत्मन्! तूने अनेक बार द्रव्यलिंग धारण किया, किन्तु परमार्थ जो ज्ञानभाव है, जो आत्माका सहज स्वरूप है उसकी दृष्टिके बिना कुछ तपश्चरण व्रत आदिके प्रतापसे अकाम निर्जराके प्रभावसे तू इन देवोंमे उत्पन्न हुआ तो ऐसे हीन देवोंमे उत्पन्न हुआ कि जहाँ यह अहर्निश कष्ट ही कष्ट मानता रहता है। अपनेसे महान ऋद्धिधारक देवोकी विभूति देखकर, उनके ऋद्धि ऐश्वर्यको देखकर यह मनमे जलता ही रहा। तो ऐसे हीन देव बनकर अनेक मानसिक कष्टोको सहता रहा। सो हे आत्मन्! तू आत्मस्वभावका आदर कर जिस भावके प्रतापसे उत्तम वस्तुकी प्राप्ति होती है, अन्यथा भावरहित द्रव्यलिंगके प्रभावसे स्वर्गमे हीन देव होगा और वहाँ देखेगा दूसरे देवोंकी ऋद्धियां कि इसमे अणिमा महिमा आदि अनेक ऋद्धियाँ हैं। इसके आज्ञाकारिणी देवागनाओंका बहुत बडा परिवार है। इसकी आज्ञा अन्य देवोपर चलती है। इसका ऐश्वर्य महान है मैं पुण्यरहित हू यह बडा पुण्यवान है, मेरी तो बडी तुच्छता है, ऐसा निरखकर तू मानसिक दु:खोसे सतप्त रहेगा।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ ॥१६॥

(२६) **बाह्य परिग्रहके त्यागका लक्ष्य**—हे मुने, जहाँ बाह्य परिग्रहका त्याग किया है। अनेक प्रकारके सुलभ आरामोको छोड़ दिया है तो अब अपने विशुद्ध भावोकी भावनामे निरन्तर बढ़ते रहनेका उद्यम कर। अन्यथा तू खोटे देवोंमे उत्पन्न होकर अनेक मानसिक दुःख पायगा और अब तक ऐसी खोटी भावनाओंके ही कारण द्रव्यलिङ्ग धारण करके भी हीन देवोंमें उत्पन्न होकर अनेक दुःख प्राप्त करता रहा। चार प्रकारकी विकथाओंमें आसक्त होकर। यह जीव अनेक बार द्रव्यलिंगमें होने वाले कुछ व्रतके प्रतापसे देव तो हुआ मगर कुदेव हुआ। इन विकथाओंके कहनेमें या तो कोई रागका प्रयोजन है या द्वेषका प्रयोजन है या अपने आपकी महिमा जतानेका प्रयोजन है। सो ये तीनो ही प्रयोजन इस जीवके विकट

अशुभ भाव हैं सो ऐसी स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, राजकथा, इन चार कथाओंके कहनेमें आसक्त परिणाम वाले हुए और जाति आदिक आठ मदोंकर उन्मत्त हुए क्योंकि उस भेषमें अनेक भक्तोंके द्वारा विनय प्राप्त हुई, पूजा प्राप्त हुई, तो वह मदसे उद्धत हो गया और विकल्पोंका भाव आनेमें जाति कुल आदिक आश्रयभूत बन गए। पूजा हुई तो उसका तो अभिमान हुआ ही मगर साथ ही अपने आपका यह भी ख्याल किया कि मैं ऊँची जातिमें उत्पन्न हुआ, ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुआ ऐसा अपना मूलभाव रखकर वहाँ अभिमानका भाव करता है। इसी प्रकार रूप ज्ञान, पूजा, शारीरिक बल ऋद्धि तपश्चरण आदिकके ख्याल कर करके अपने विकल्पोंको पोषता है तो ऐसे शुभ भाव रखकर यह जीव अनेक बार नीच देवपनेको प्राप्त हुआ इस कारण हे भव्य निर्ग्रन्थ भेष धारण कर भीतरमें निर्ग्रन्थता प्राप्त कर। यह आत्मस्वरूप समस्त बाह्य पदार्थोंसे रहित है। समस्त परभावोंसे विविक्त है। भाव अपने आपमे अपने आपके स्वरूपका अनुभवने वाला जीव समस्त संकटोंको दूर करता है और स्वभाव भावनासे रहित परभावोंके लगावमें आये हुए सारे संकटोंको सहता है। इस तरह मन, वचन, कायको सभालकर अपने आपके स्वरूपकी भावनामें अपना उपयोग कर।

असुईबीहत्थेहिं य कलिमल बहुलाहि गब्भवसहीहिं।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥१७॥

(२७) कुयोनियोंसे निकलकर अनेक बार गर्भमें आया—हे मुनि श्रेष्ठ, पहले अनेक बार भावरहित मुनिलिङ्ग धारण करके खोटे देव, खोटी योनियोंमे अनेक बार उत्पन्न हुआ अथवा अब तक अनन्तानन्त काल अनन्तानन्त भवोमे व्यतीत हो गया। सो उन कुयोनियोंसे निकलकर अनेक बार तू गर्भमे आया और मनुष्य बनकर अनेक बार ऐसे ही द्रव्यलिङ्गमे भावरहित बनकर कुयोनियाँ प्राप्त करता रहा, इतनी बार तूने यह मनुष्यभव पाया जिसमे द्रव्यलिंग धारण कर अपनी खोटी भावनाओंसे संसारमें रुलता रहा, सो बतलाते हैं।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस ! सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१८॥

(२८) कल्याणका उपाय अपने सहज स्वरूपकी जानकारी—हे महायश मुनि, तूने अनन्त गर्भवासोंमें, अन्य अन्य जन्मोंमें अन्य अन्य माताके स्तनका इतना दूध पिया जो समुद्र के जलसे भी अधिक संचय हो सकता है अर्थात् तू ने अनेक बार जन्म लिया। माताके दूध पीनेका मतलब जन्म लेना है। जैसे कि कहते हैं कि हे प्रभो अब मुझे माताका दूध न पीना पड़े अर्थात् निर्वाण हो जाय। यहाँ बतला रहे कि तू ने ऐसे ऐसे इतने मनुष्य जन्म पाये अनादि कालसे अब तक कि एक एक भवका माताके दूध पीनेका बूँद बूँद भी जोड़ा जाय तो समुद्र

भी अधिक वह सम्भव होगा। तो ऐसा अनेक बार मनुष्य हुआ और द्रव्यलिंग भी धारण किया मुक्ति पानेकी इच्छासे मगर वह परमार्थभाव न पा सका, इस कारण संसारमें रुलता ही रहा। वह परमार्थ भाव क्या है? अपने आपका सहज ज्ञानस्वरूप। यह आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान ही ज्ञानसे रचा हुआ है। तो जो स्वयं ज्ञानमय है उसकी सहज वृत्ति केवल प्रतिभास स्वरूप ही होती रहती है, किन्तु पर और परभावोंके सम्बधसे इसके ज्ञान दर्पणमें कलुषताओंका प्रतिबिम्ब इतने समूचेमें पड गया है कि अब तक अपने स्वरूपकी सुध नही रहती और जहाँ स्वरूपकी सुध नही है वहाँ किन्हीं न किन्ही बाह्य पदार्थोंमे ही चित्त जाता है। कल्याणका उपाय तो अपने सहजस्वरूपकी सुध रहना है और जहाँ स्वरूपकी सुध नही है वहाँ किन्ही न किन्ही बाह्य पदार्थोंमे ही चित्त जाता है। कल्याण उपाय मात्र अपने सहजस्वरूपकी सुध लेना है, मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ नही हू, यह अभ्यास इतना दृढ होना चाहिए कि अन्य कुछ समझनेके लिए कुछ परिश्रम करना पडे और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवनेके लिए अनवरत वृत्ति जगे, ऐसा अपनेको ज्ञानमात्रपना अनुभवनेका दृढ अभ्यास होना चाहिए। मेरा सर्वस्व ज्ञानस्वरूप है, अन्य कुछ नही है। इसका इतना दृढ अभ्यास बने कि अन्य स्वरूप माननेमे अपनेको कुछ विशेष कोशिश करनी पड़े और मैं ज्ञानस्वरूप ही हू यह प्रतिभास ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा अनुभवना अत्यन्त सुगम हो जाय। मैं ज्ञानमात्र तत्त्वको ही करता हू। परिणमनेवाला ही करने वाला कहलाता है। मैं हू ज्ञानस्वरूप और निरन्तर परिणमता रहता हू सो ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता रहता हू, ज्ञानके परिणमनके सिवाय कुछ नही करता और न अब तक ज्ञानपरिणामके सिवाय कुछ किया, किन्तु फर्क यह रहा कि विकल्परूपसे ज्ञानको परिणमाया। ज्ञानकी जैसी सहज वृत्ति है जाननमात्र, केवल जाननमात्रके रूपसे ही यह ज्ञान परिणमता रहता, तब तो इसका भला था, किन्तु यह विकल्परूपसे परिणमता रहा, पर तब भी ज्ञानके परिणमन सिवाय और कुछ नही कर सकता। यह बात चित्तमे दृढतासे समायी हो कि अन्य बातके करनेके लिए बडा श्रम और यत्न करना पडे और ज्ञानभावका ही करने वाला हो, इस प्रकार की समझ इसके स्पष्ट रहे। मैं ज्ञानमात्र भावको ही भोगता हू। प्रत्येक पदार्थ अपनी ही पर्याय को अनुभवते हैं, कोई भी वस्तु किसी दूसरे पदार्थकी पर्यायको नहीं अनुभव सकता। मैं हू ज्ञान स्वरूप, यहाँ ज्ञानका ही परिणमन चलता है। तो मैं भोगता हू मात्र ज्ञानके परिणमनको। अन्तर यह पड़ा कि मैंने इस ज्ञानको ऐसा अनुभवा कि जिसमे सुख दुःखके विकल्प जगे। यह पदार्थ इष्ट है, यह अनिष्ट है इस तरहके विकल्प रूपसे उसने ज्ञानको अनुभवा। यदि इन कलुषताओंसे रहित होकर केवल ज्ञानवृत्तिको ही निरखकर उस रूपसे अनुभवनेका ही उसका अनुभव बनता तो यह उसके लिए भला था। कैसा ही अनुभवना किंतु ज्ञानको ही अनुभवना। मैं

हे आत्मन् ! तू यही श्रद्धा कर, ऐसा ही अपना उपयोग कर कि सिर्फ ज्ञानको ही अनुभवता हूं, अन्य किसी पदार्थको नहीं अनुभवता । यदि ऐसा अपने सहज ज्ञानस्वरूपका भाव रखा तो संसारसे तिरकर निर्वाण पाय ।। और फिर पुनः माताके दूध पीनेका अवसर न आयगा, अर्थात् संसारमें न रुलेगा ।

तुह मरणे दुक्खेण हि अण्णण्णाण अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ।।१९।।

(२८) भावके बिना क्रिया झूठ है—इस भावपाहुड ग्रन्थमें यह सिद्ध किया जा रहा है कि भावके बिना क्रिया झूठ है । वह भाव कौन सा ? अपने आपका जो सहज स्वरूप है, अपनी ही सत्ताके कारण जो अपने आपका स्वभाव है उस स्वभावमे यह मैं हूं, इस प्रकारका निर्णय जिसके है उसे कहते हैं कि भाव ठीक बना है और अपने स्वभाव भावको छोड़कर अन्य परवस्तुओंमे ये मेरे हैं, परभावमे यह मैं हूं, इस प्रकारका जिसके निर्णय बना हो उसके अज्ञान कहा जाता है । जिस ज्ञानसे मोक्ष मिलता है उसे कहते हैं ज्ञान और जिस ज्ञानसे ससार बढ़ता है उसे कहते हैं अज्ञान । तो एक भावके बिना द्रव्यलिंग भी धारण किया मुनि भी बने, किन्तु भावरहित होनेसे यह चारो गतियोंमें जन्म मरणके दुःख पाता रहा । इसका वर्णन पहले आ चुका है । अब जन्म सामान्यको चित्तमे लेकर कह रहे हैं कि हे मुने ! तूने भावके बिना बड़े-बड़े तपश्चरण भी किये फिर भी इतने जन्म धारण करने पड़े कि यदि इस तरह निरखा जाय कि माताके गर्भमे बसकर तूने जन्म ले लेकर इतने जन्म मरण किये कि तेरे मरनेसे अन्य अन्य माताओंका जो रुदन हुआ है, ऐसा एक-एक भवका उन माताओंका एक-एक आंसू जोड़ा जाय तो रुदन करके उन रोनेके जलसे समुद्र बराबर जल भर जायगा, इतने जन्म मरण किया । कोई मरता है तो लोग रोते हैं, मातायें रोती हैं, तो उन माताओं के एक भवके रोनेका अगर एक एक आंसू रखा जाय तो इतने भवोंमे तूने माताके जन्म लिया कि एक-एक बूंद जोड़ा जानेपर भी समुद्र भर जाय । इतनी बार तेरा जन्म हुआ, मरण हुआ । अब इस वर्तमान पर्यायमे मोह करके तू पर्यायबुद्धि कर रहा कि मैं मुनि हूं, मैं तपस्वी हू, इस लिंगसे मोक्ष पाऊंगा । यहां यहां हो रम रहा और तू उस ज्ञानमात्र भावकी सुध नहीं लेता कि जिस ज्ञानमात्र अनुभूतिके बलसे कर्म कटते हैं, मुक्ति मिलती है । यह निमित्तनैमित्तिक भाव अटल है । अगर भाव रागद्वेषमयी रखेंगे तो कर्मका बन्ध होगा । भावसे रहित होकर उपयोगमे केवल ज्ञानस्वरूपको ही बसायेगा । अपने आप कर्म खिरा होंगे । धर्मके लिए यहां अनेक परिश्रम करते हैं लोग, उन्हें यह ध्यानमे रखना चाहिए कि इस भाव के बिना ये सारे परिश्रम करना, महात्मा होना, मंदिर जाना, पूजा पाठ करना, व्रत तप उप-

बाल आदिक करना ये सब व्यर्थ हैं। अपने अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बने बिना कर्म नही कट सकते यदि एक यह कुञ्जी प्राप्त कर ले कोई, अपने सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव पा ले कोई, तो उन प्रत्येक क्रियावोंमें रहकर यह जीव अपनेको सुरक्षित समझेगा। अन्तः इस ज्ञानस्वरूपकी आराधना बिना इतने जन्म मरण होते हैं कि जिसकी कोई गिनती नहीं।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी।
पुजइ जइ कोवि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥

(२१) मुनिभेषसे ही मुक्ति न होनेसे मुक्तिके वास्तविक उपायका कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा वर्णन — हे मुने, कुन्दकुन्दाचार्य समझा रहे हैं अपने संघ वाले अन्य अनेक मुनिराजोको कि मुक्तिके मार्गमे जो बढ़ता है सो यह मुनिभेष तो आता है, मगर मुनिभेषसे मोक्ष नही मिलता। मुनिभेष आये बिना कर्म नहीं कटते, पर मुनिभेषसे कर्म नही कटते। कर्म कटते हैं ज्ञानस्वरूपका ज्ञानमे ज्ञान रखनेसे। सो एक इस भावके बिना हे मुने इस अनन्त ससारमे तूने इतने जन्म लिये कि एक एक भवका केश, नख, नाल और अस्थि, इनका अगर कोई ढेर करे तो मेरुपर्वतसे भी कितना ही अधिक ढेर बन जायगा। मेरुपर्वत एक लाख योजन का ऊँचा है। और एक योजन होता है दो हजार कोशका। कितना महान ढेर है? वह मेरु पर्वत, फिर उसकी मोटाई, लो उतनेसे भी बड़ा ढेर बन जायगी यदि उन नख केशोके एक एक भवके नख केश जोड़े जायें लो, इतने जन्ममरण तूने किये हैं। क्यो हुए कि ज्ञानस्वरूप पर दृष्टिपात नही। कितना सुगम उपाय है धर्मका। बैठे हैं, तबियत ठीक नहीं, बिस्तरसे उठा नही जाता तिसपर भी वह धर्म कर सकता है। एक अन्दर ही उपयोग दिया और ज्ञान स्वरूप आत्मापर उपयोग जमाया, मैं यह ज्ञानमात्र हू, शारीरिक वेदना भी उसकी घट जायगी, महसूस न होगी और आत्मामे अलौकिक आनन्द जगेगा। कोई मनुष्य अच्छे शरीर वाला है, कोई दुर्गन्धित शरीर वाला है, किसीको कैसा ही शरीर मिला है। यह किसकी महिमा है? यह किसका प्रताप है? तो सीधा कहो कि कर्मका प्रभाव है। अच्छा तो ऐसे कर्म बने कि जिस कर्मोदयसे ऐसा शरीर मिलता है तो वह तो कर्मोदय तो कर्म बँधनेसे ही हुआ। तो ऐसे कर्म बँधे यह किसका प्रभाव है? यह है आत्माके भावोका प्रभाव। तो भावोमे वह सामर्थ्य है कि शरीरमें भी अनेक खटपट दिखा दे और ससारसे तिरा भी दे। सब भावोकी ही महिमा है। तो ऐसे मुक्ति योग्य भावोको त्यागकर जो संसारमें रुलनेका भाव बनाये तो उसने कितने जन्म मरण किये कि एक एक जन्मके नख केश जोड़े जायें तो मेरुपर्वतसे भी कितने ही गुने राशिके ढेर बन जायेंगे। तो एक भावोका माहात्म्य जान। हे आत्मन्! तू अपने भावोंका आदर कर। कोई ज्यादह व्याकरण नही जानता, साहित्य नहीं जानता और केवल एक अपने

आपके इस सहज ज्ञानस्वरूपको जानता है, इसका अनुभव करता है, यह तो खुदकी चीज है; खुदको देखना है, तो ऐसी सुगम स्वाधीन बात कोई खुद कर सके और नहीं जाना उसने व्याकरण तर्क वगैरह तो भी वह ज्ञानी है, संसारसे पार है । और एक अपने स्वरूपका दर्शन न कर सका तो वह चाहे कितना ही बडा तपश्चरण करले, लेकिन वह संसारमें ही रुलता है; तपश्चरणकी विधि क्या है और उसकी आवश्यकता क्यों बताई गई ? ग्रन्थोंमें तपश्चरण धारण करनेका उपदेश क्यो किया गया ? उसका कारण यह नही है कि तपश्चरण करनेसे मोक्ष मिल जायगा । उसके कारण तपश्चरणके द्वारा ऐसा वातावरण बनाना है कि जिससे इसका चित्त पापमें न जाय, अशुभ भावमे न जाय । इतना ही प्रयोजन है । इन बाहरी तपश्चरणसे यह जीव सुरक्षित हो गया याने इसका मन पापमें नहीं जाता, अशुभमें नहीं जाता । दुर्भावना नही जगती । तो यह आत्मा उन पापकार्योंसे तो सुरक्षित हो गया । अब ऐसी सुरक्षित स्थिति मे यदि कोई अपने ज्ञान द्वारा अपने ज्ञानस्वरूपको निहारता रहे तो उसका संसार पार हो जाता है, और बाह्यतपश्चरण किया और एक अंतरंगकी सावधानी नहीं, तो वहाँ यह नियम भी नही है कि वह सुरक्षित हो जायगा । वह वासनामें भी चल सकता है । तो बाह्य तपश्च-रणका प्रयोजन है कि पापकी वासनासे इसका चित्त हट जाय, मोक्षमें चले । यह तपस्या नही कर सकता मगर ज्ञान तो कर सकता है । अपना ज्ञान अपने ज्ञानमें मग्न रह रहा है तो यह अपना मोक्षमार्ग बनाता है, मगर जो अनादि कालसे पापकी वासनामें लगा है तो कितना ही वह ज्ञानमे बढे, मगर बार बार उसको वह वासना सताती है, दुर्भावना आती है और यह अनेक बार पतित हो जाता है । तो इसके लिए उपाय बताया है कि यह तपश्चरण करे यह उपदेश निरर्थक नही है । मगर श्रद्धा उनको बनाना है कि जिन्होंने परमार्थ भावको तो छोड दिया और देहकी क्रिया, और तपश्चरणसे ही मोक्ष माना उनके लिए अनर्थक नही है । जैसे कोई योद्धा ढाल लेकर तलवारके बिना खाली ढाल लेकर युद्धमें जाय और सोच ले कि मेरे पास तो यह ढाल है, मैं शत्रुका संहार करूंगा तो क्या कोई शत्रुपर विजय प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता और कोई पुरुष खाली तलवार लेकर जाय कि मैं आज शत्रुका संहार करूँगा और ढाल उसके पास नहीं है तो वह एक विकट युद्धकी जगह है । सैंकडो योद्धा उसपर टूटेंगे तो कोई कहींसे वार करेगा कोई कहींसे । तो प्राय: यह सम्भव है कि वह अपना कार्य न कर सके और प्राण भी गमा दे । तो जैसे किसी योद्धाको युद्धमें दोनोंकी आवश्यकता होती है, ढालकी और तलवारकी, मगर ढालसे लड़नेकी श्रद्धा तो नही होती सुभटको । वह जानता है कि ढालका काम और है, तलवारका काम और है । ढालका काम दूसरेका वार रोकना है और तलवारका काम शत्रुका संहार करना है । तो ऐसे ही

जो ज्ञानीसंत मुनिजन होते हैं वे जानते हैं कि ये व्रत तपश्चरण वगैरह तो उसका काम कर सकते हैं और यह ज्ञान अपने लक्ष्यमें पहुंचे, ज्ञानस्वरूपका ज्ञान बनाये तो यह उसका काम कर सकता है कर्मके नाश करनेके लिए। आवश्यकता दोनोंकी है अगर जिसने प्रयोजन विपरीत समझ लिया उसके लिए अनर्थक है। तो समझा रहे मुने तूने अपने अपकार्य भावको त्यागकर जो अनेक बार वह व्रत तपश्चरण किया, दिगम्बर मुद्रा धारण की तो भी तेरा जन्म मरण नहीं कट सका। इतने जन्म मरण पाये कि एक एक भवके नख केश इकट्ठे किए जायें तो मेरुपर्वतसे भी महान उनकी राशि बन जायगी।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ।
वसिओसि चिर आल तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥

(३०) अज्ञानवश तीनों लोकोंमें सर्वत्र जन्मका तांता—हे मुने, इन तीनों लोकोंमें तूने न जाने कहाँ कहाँ जन्म मरण नहीं किया। मध्य लोकमे जलका स्थान अधिक है, क्योकि जहाँ असंख्यात द्वीप समुद्र हैं और सबके बीचमे जम्बू द्वीप है, उसका एक लाख योजन प्रमाण है और उसको घेरे हुए समुद्र है। उसके एक ओर ही दो लाख योजन प्रमाण है, फिर ऐसा चारो ओर है। उसे घेरकर द्वीप है और समुद्र है, और दूने दूने विस्तार वाले चले गए हैं, और अन्तमे है समुद्र। तो उस आखिरी समुद्रका जितना विस्तार है, सारे द्वीप समुद्र का भी मिलकर उतना विस्तार नहीं है। जैसे यही घेरा लेकर देख लो, आखिरी घेरेका विस्तार सारे क्षेत्रसे अधिक है, नाप तौलकी बाँटमे ही देखलो— मानो सबसे छोटा बाट छटाँक है तो उससे दूना आधपाव है, उससे दूना एक पाव है, उससे दूना आधसेर और उससे दूना सेर। तो एक सेर बराबर भी वे सारे बाँट नहीं हो जाते। तो ऐसे ही दूने दूने विस्तारमे असख्याते द्वीप समुद्र है, उसमे जलका स्थान सर्वाधिक है। तो इस जलके मध्य अनेक बार तू ने जन्म मरण किया।

(३१) पृथ्वीकायादिमे अनन्तोंबार मोही जीवके जन्ममरणोंकी संतति—पृथ्वीकायमे अनेक बार जन्ममरण किया, अग्नि जीव अनेक बार जन्म मरण किया। अग्निमें जीव आया तो अग्निमें जन्म मरण अथवा कुछ जीव ऐसे मूल ढंगके हैं कि जिनको गर्मी ही प्रिय होती है, ऐसा अनेक बार अग्निमें जन्म लिया, पवनमें जन्म लिया। हवा खुद जीव है, आकाशमें जन्म लिया। जहाँ यह पोल दिख रही है यहाँ अनन्तानन्त निगोद जीव भरे पड़े हैं आकाशमें ही उनका जन्म है, पर्वतमें जन्म लिया, पेड हुए, पौधा हुए, स्थावर मिट्टी पर्वतमें भी जन्म लिया। नदियोमें जन्म लिया, नदी खुद जलका समूह है और जलकायिक जीव है। पर्वतकी गुफाओमे जन्म लिया, वृक्षोमे जन्म लिया। तीन लोकमें कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ अनन्त

बार जन्म मरण न किया हो। और इस ढाई द्वीपके अन्दर जहाँ हम आप रह रहे हैं कोई ऐसा स्थान नहीं जिस जगहसे अनन्त जीव मोक्ष न गए हों जहाँ आप बैठे हैं वहाँसे भी अनन्तानंत जीव मोक्ष गए। सारा ढाई द्वीप सिद्ध तीर्थस्थान है, सिद्ध क्षेत्र है। तीन लोकमें कोई भी प्रदेश ऐसा नही है कि जहाँ जीवने अनन्तबार जन्म मरण न किया हो।

(३२) **जन्म और मरणोंका कारण अपने स्वरूपकी बेसुधी**—ये जन्ममरण क्यों हुए कि जन्मरहित सहज जो ज्ञानस्वरूप है उस रूप अपनेको नहीं मान पाया। जीवपर सबसे बडी विपत्ति मोहकी है। तो मोहमे बाधा हो, परद्रव्यको अपना मान ले, ये ही मेरे सब कुछ हैं और वह विपत्ति सुहाती नही है, दुःख सुहाये नहीं तो दुःखोंसे छूटनेका उपाय भी जीव कर रहा, ऐसा अंधा है प्राणी कि मोहकी बडी विपत्ति सह रहा है और उस विपत्तिको सुख मान रहा। जैसे अपने कुटुम्बके लोग, मित्र लोग बडे सुहावने लगते कि ये मेरे हैं, ममता भी रहती है कि मेरे ही तो हैं ये। ऐसा भाव बनता है और ये सुहाते हैं, देखकर अच्छे लगते हैं मगर इस मोहभावमें कितना पाप बन रहा है, कितना कर्मबंध हो रहा है यह इस जीवकी दृष्टिमें नही है, तो सबसे बडी सुरक्षा यह है कि भीतरमे शंका न रहनी चाहिए। मेरा मात्र मैं ही हू, मैं अकेला हू। अब भी अकेला हूं, आगे भी अकेला रहूगा और ऐसा अकेला हू कि कर्मसे भी निराला हू। पर विकारसे भी निराला हूं, ऐसा यह मैं एकाकी ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं, अगर इस बातपर अडे रह गए, यह बात चित्तमें समायी रहेगी, ऐसा भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगता रहेगा तब तो इसके क्षण सफल हैं और एक यह ही ज्ञान न मिल पाया और पुण्योदय मे चाहे कितने ही ठाठ मिल गए उनका कोई अर्थ नहीं। तो यह जीव अपने शुद्ध आत्माकी भावना न होनेसे कर्मके आधीन रहा और कर्मवश होकर तीनों लोकोमें सर्वत्र जन्म मरण करता चला आया।

> गसियाइ पुग्गलाइ भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
> पत्तोसि तो ण तित्ति पुणरुत्तं ताइ भुंजंतो ॥२२॥

(३३) **अनन्तबार ग्रसकर उज्झित भोगोंका मोही द्वारा ग्रसण**—अभी यह बताते आये थे कि एक भावके बिना, निजस्वरूपके ज्ञानके बिना द्रव्यलिंग धारण किया, बड़े व्रत तपश्चरण भी किया तो भी यह जन्ममरणकी परम्परा न टूटी। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि उन जन्मोंमें उस जीवने क्या किया ? जन्म हुआ जीवन चला, मरण हुआ और उसकी प्रथामें जन्ममरण चल रहा तो इसको क्यों बुरा कहा जा रहा, इसमें इस जीवने क्या किया। तो बुरा तो स्पष्ट यह है कि जन्ममें भी दुःख, मरणमें भी दुःख, रह गया यह जीवनका संबंध सो जीवनमें इस जीवने भोगोंको भोगा और दूसरी कोई धुन न रही। स्पर्शन इन्द्रियके विषय

मिले तो उसमें आनन्द माना। रसना इन्द्रियका विषय रहा, अच्छे भोजन पकवान मिले, उसमें मौज माना। घ्राण, चक्षु, कर्णके विषय मिले, उसमें मह रमा। एक रसना इन्द्रियकी ही बात सुनो। इन पुद्गल स्कंधोंमे जो लोकमें रह रहे हैं उन सबको तूने अनेक बार तो खाया, भोगा और बार बार छोड़ा तो छोड़ छोड़कर फिर भोगा। अगर कोई इसी समय कोई चीज खा ले और खाकर उगल दे तो उस उगले हुए भोजनको फिर नही खाया जा सकता। मगर भव भवमे तूने इन सब भोगोंको भोगा, छोड़ा तो उगाल तो हो ही गया। तूने उन उगालोको बड़ी रुचिसे खाया, खाता जा रहा। वह ही तो उगाल है जो पहले विकल्पोंसे भोगा था, फिर भोगा फिर छोड़ा। यह जो एक परभावकी चक्की चल रही है, जिसमे विषय कषायोंके परिणमन चल रहे, यह हो इस जीवको जगतमे रुलाने वाली करतूत है। तो इस जगतके सर्वपदार्थोंसे उपेक्षा रखकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमे रमो।

(३४) **इन्द्रियविषयोंमें आसक्त न होनेका अनुरोध**—भले ही खाये बिना नही चलता, खा ले, पर उस खायेमे ऐसा अनुभव तो नही करना कि अहो मेरी जिदगी आज सफल हो गई। बहुत मीठा खा लिया, बडा मौज मिला, बडा मधुर भोजन मिला, इस प्रकारका विकल्प और आशक्ति बनती। तो यह तेरे लिए भयकर परिणाम देने वाला है। खाते हुएमे भी यह समझो कि यह खाना पड़ रहा है, पर मेरा स्वरूप खानेसे रहित है। भोजन ग्रहण करनेसे पहले और भोजन कर चुकनेके बाद सिद्धभक्ति क्यो की जाती है? अनेक गृहस्थ भी तो णमोकार मत्र पढ़कर भोजन शुरू करते हैं और भोजन करनेके बाद कुल्ला करके फिर णमोकार मत्र पढ़ते हैं, ऐसा तो बहुतसे साधारण गृहस्थ भी करते है, फिर मुनि त्यागी तो सिद्ध भक्तिसे पाठ पढ़कर णमोकार मत्र पढ़ते हैं, फिर भोजन करते हैं, ऐसा क्यो किया जाता है कि यह ज्ञानी गृहस्थ यह एक त्यागी मुनि यह जानकर प्रभुका स्मरण करता कि हे प्रभु मै अब ऐसा काम करने जा रहा हू कि जिसमें मैं अपनी सुध भी भूल सकता हू और उन भोगोमे आसक्त होकर बिकट कर्मबध कर लूंगा, ऐसा काम मैं शुरू करने वाला हू, तो इस बिकट काममे मैं अपनी सुध न खो दू इस लिए प्रभुका पहले स्मरण किया। खाते भी रहे और क्षुधा शान्ति बिना निर्वाह न होगा, अत. मुझको मेरी सुध रहे कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, अमूर्त हू। मेरा काम भागनेका नही है, खानेका नही है। यह समय समयपर इस बीच भी सुध आती रहे, इसके लिए णमोकार मत्र पढ़ते हैं और भोजन कर चुकनेके बाद फिर क्यो पढ़ते हैं कि उस समय फिर पूरी सुध आती है भोजन कर चुकनेके बाद कि मैंने इस तरहके भावमे इतना समय गुजार दिया, स्वाद लिया, मौज भी मान, लेकिन उसमे मैंने अपनेको खो दिया था। हे सिद्ध प्रभो तुम तो इस रागसे दूर हो, निर्लेप हो, ज्ञानस्वरूप हो, वही मेरा स्वरूप है। इस स्वरूपकी जो सुध लेता

है वह भोजन समाप्तिके बाद सिद्ध प्रभुकी स्मृति करता है। तो यह भोग भोगना भी बहुत ही भयंकर परिणाम वाली बात है। तूने इन भोगोंको अनन्त बार भोगा। अब उन छोड़े हुए झूठे भोगोको क्यों बार बार भोगता है? अपने ज्ञानमात्र आत्माकी सुध ले, इससे ही संसार संकट कटेंगे।

सिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाइ पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चितेह भवमहणं ॥२३॥

(२५) त्रिभुवनसलिलपानसे भी संसारीके तृषाच्छेदका अभाव—हे जीव संसारमें तू कभी तृप्त न हो सका। जहाँ भोग मिले वहाँ तृष्णाके कारण तू तृप्त न हो सका और जहाँ भोग न मिले वहाँ भी तू तडफ तडफ कर अतृप्त रहा, औरकी तो बात क्या है। बाहरमें पानी मिलनेसे तृप्ति मानी जाती है मगर नरकोमे इतनी तेज प्यास लगी कि तीनों लोकोंका सारा पानी भी पी लेवें तो भी प्यास नही बुझ सकती। इतनी तेज तृषाके होने पर भी एक बूँद भी प्राप्त नही हुआ अथवा अन्य अन्य भवोमे भी तृषा तृष्णा करके तू व्याकुल रहा। किसी भी प्रकार शान्त न रहा। तो अब तू इन बाह्यपदार्थविषयक विकल्पोको छोड दे, किसी भी प्रकार बाह्य समागमोमे तृप्ति नही हो सकती। तो तेरा जैसा संसारका भव होवे वैसा ही तू चिंतन कर याने निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र ये परमार्थ रत्नत्रयभाव संसारका मंथन करने वाले हैं अर्थात् जन्ममरणरूप संसार दूर हो जाता है इस कारण अब बाह्य पदार्थोंमे तू तृप्तिकी बात मत ढूँढ़, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें परम आनन्ददायक जो परमार्थ रत्नत्रय भाव है उसकी ही उपासना कर।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताण णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥ २४ ॥

(२६) देहममत्व छोड़नेके लिये मुनिवरोंको संबोधन—हे मुनिश्रेष्ठ, हे धीर वीर तुमने इस अनन्त भवसागरमें इतने शरीर ग्रहण किये और छोड़े जिनका कोई परिमाण नही है, मगर जिस शरीरमे गया उस ही शरीरसे तूने स्नेह किया। इस भवसे पहले जो शरीर था, जिसे छोडकर यहाँ आये तो इसके लिए उस शरीरका कोई महत्त्व भी है क्या? कुछ भी महत्त्व नही है, तो ऐसे ही जो वर्तमानमे शरीर है इसे भी छोड़कर जायगा तो इस शरीरका भी कोई महत्त्व है क्या? कुछ भी महत्त्व नहीं, मगर मोहका अँधेरा ऐसा विकट छाया है कि जिस शरीरमे पहुचता है उसही शरीरको तू अपना सर्वस्व मान लेता है। तो जिस शरीर से तू स्नेह करना चाह रहा है ऐसा शरीर तो तूने अनन्त बार छोड़ा और अनन्त बार ग्रहण किया। इस अनन्त भवसागरमे याने जब कालकी कोई आदि नहीं कि कबसे समय लग

रहा है और जीवकी सत्ताकी भी आदि नहीं कि अमुक क्षणसे यह जीव बना है। अनादिकाल से जीव है, अनादिकालसे यह सबंध है और अनादिकालसे भवभ्रमण है। तो अब समझ लीजिए कि कितने भव इस जीवने पाये। अनन्तानन्त भव इस जीवने पाये। तो अनन्तानन्त भवोंमें अनन्तानन्त शरीर पाये और छोडा तो उस शरीरसे अब क्या ममत्व करना? क्या स्नेह करना? यह शरीर तेरा कुछ नहीं है। शरीरसे निराला जो ज्ञानमात्र अतः पदार्थ है उसकी ही उपासनामें रहना है।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसकिलेसाण।
आहारुस्सासाण णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥
हिमजलणसलिल गुरुयर पव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणणपसगेहिं विविहेहिं ॥ २६ ॥
इय निरिय मणुय जम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्ख तिव्व पत्तोसि त मित्त ॥ २७ ॥

(३७) अपमृत्युका परिचय—इन तीन गाथाओंसे पहले की गाथामे यह बताया गया कि हे जीव तूने इस अनन्त ससार सागरमे अनन्त बार अनन्ते शरीर ग्रहण किया और उन शरीरोंको छोडा और ग्रहण करता चला आ रहा है। तो उन शरीरोमे यह जीव अपने उस भवकी आयुपर्यन्त रहता है, पर अनेक अनन्तभव ऐसे गुजरे कि जिन भवोमे यह जीव अपनी आयुप्रमाण पूरा न रह सका, बीचमे ही मरण हो गया याने अपमृत्यु हो गई, अकालमृत्यु हो गई। इस सम्बन्धमे कुछ लोग ऐसा ख्याल करते हैं कि जिस समय सर्वज्ञदेवने जाना उस समय वही होता है। मृत्यु भी ज्ञात हुई तो जिस समयमें मृत्यु हुई ज्ञात है उस समय हुई, अकाल मौत कैसे? तो समाधान यह है कि अकाल मौतका यह अर्थ नही है कि भगवानने जिस समय जाना है उससे पहले मृत्यु हो जाय। जब मृत्यु होनी है तब ही तो ज्ञात हुआ है मगर जो ऐसी मृत्यु होती है कि जहाँ आयुकर्मके निषेक तो इतने होते कि १०० वर्ष तक निकलते जाये। आयुके निषेक एक एक समयमे एक-एक खिरते हैं और जैसे मानो किसीकी १०० वर्षकी आयु है तो १०० वर्षमे जितना समय लगता है उतने निषेक बँधे होते हैं। तो एक-एक समयके एक-एक निषेक खिरनेका नाम आयुका खिरना है। अब किसी जीवके निषेक तो इतने भरे कि १०० वर्ष तक निकलेंगे मगर ४० वर्षकी उम्रमे ही कोई टक्कर लगी, किसी ने शस्त्र मारा या खुद जहर खा लिया कोई ऐसे कारण बन गए तो उसकी मृत्यु तुरन्त हो जाती है। तो तुरन्त होनेके समय होता क्या है कि शेष जो ६० वर्षके निषेक हैं, बची आयुके निषेक हैं वे सब अन्तर्मुहूर्तमे खिर जाते हैं। तो शेष निषेकोका अन्तर्मुहूर्तमें खिर जाने

का नाम अकालमृत्यु है, क्योंकि आयुके निषेक तो बहुत थे, पर ये ४० वर्ष ही व्यतीत हो पाये कि शेष ६० वर्षके निषेक खिर गए तो यह कहलाती है अकालमृत्यु। अब यह बात रही कि भगवानने जाना है, जैसा होना था सो जाना है। सो जो जाना है सो ही तो हुआ है। तो इसके मायने हैं कि भगवानने यह जाना है कि इस ढंगमें इसकी मृत्यु इस समय ही जायगी। उन्होंने अकालमृत्युका उस समय होना जाना है, सो मृत्यु तो हुई मगर वह अपमृत्यु ही कहलाती ? तो ऐसी अकाल मौत, अपमृत्यु अनेक घटनाओंके कारण हो जाया करती है।

विष, वेदन, रक्तक्षय, भय, शस्त्रप्रहार द्वारा अपमृत्यु—हे जीव तुझे जीवनका लाभ क्या रहा ? अनन्त तो भव धारण किये और उन भवोंमे भी आयु प्रमाण ही रह ले सो नियम रहा नही। अनेक बार आयु बीचमें ही नष्ट हो गई, किन कारणोंसे ? विषका भक्षण करनेसे। विष खा लिया बस मर गए। होते होंगे कोई विष। सुनते हैं कि कोई अफीम भी अधिक खा ले तो वह भी विषका ही काम करता है। और भी अनेक चीजें विष वाली होती हैं जिनका भक्षण कर लेनेके कुछ ही क्षणमे यह जीव शरीरसे निकल जाता है, तो विषके भक्षणसे आयु क्षीण हो गई। किसीके कोई कठिन वेदना हुई, शारीरिक रोग हुआ, जैसे हार्टफेल हुआ या वायुगोला बडा तेज उठा या लकवा बना या कोई नस फट गई, ऐसी कोई वेदनाके कारणसे आयु क्षीण हो जाया करती है। रक्तक्षयसे आयु क्षीण हो जाती है। रक्त गिरने लगा अथवा रक्त किसी अन्यरूप परिणमने लगा, जलोदर आदिक रोग हो गए, रक्त अब नही बन पा रहा, तो इस कारणसे भी आयु क्षीण हो जाता है। किसीकी भयके ही कारण आयु क्षीण हो जाती है कोई तेज आवाज आये, कोई कठिन भयकी बात सुननेमें आये, मानो किसीके इष्ट वियोग की बात एकदम सुननेमें आयी तो उस भयसे भी आयु क्षीण हो जाती है, शस्त्रके प्रहारसे, विघातसे, किसीने तलवार मार दी, बरछी छुरी आदिक घुसेड दी, और और नाना प्रकारके प्रहार किये, उन प्रहारोंसे आयु क्षीण हो जाती है, जीव शरीर छोडकर चला जाता है। ऐसे-ऐसे अपमृत्यु होती है इस भवमे भी होती और अनेक भवोंमे भी होती। तो हे जीव, तूने संसारमे शान्ति और आनन्द पाया ही कहाँ है ?

(३६) संक्लेश आहारनिरोध व श्वासनिरोधसे अपमृत्यु—कभी संक्लेश परिणामसे आयु नष्ट हो जाती है। कोई तीव्र दुःख आया, कठिन संक्लेश परिणाम हुआ तो उस संक्लेश परिणामके कारण आयुका क्षय हो जाता है। श्वासके निरोधसे भी आयुका क्षय हो जाता जैसे पशु पक्षियोंको बंद कर देना, अब उनको आहारका निरोध हो गया, नही मिल सका तो उनका प्राणघात हो जाता है। किसी पर धर्मका बहाना लेकर कि हमने अब दूध छोड दिया अब पानी छोड़ दिया यों छोडता जाय तो उसमें भी संभव है, होता ही है कि जितनी आयु

है उससे पहले आयु क्षीण हो जाय। तो यों आहारके निरोधसे भी आयु क्षीण हो जाती है। एक बारकी ऐसी घटना हुई कि कोई छोटासा ४-५ वर्षका बालक किसी विद्यालयमें पढ़ता था। वह बडा ऊधमी था, सो उसे यों ही किसी अध्यापिकाने कुछ भय देनेके लिए ऐसा दण्ड दिया कि एक कमरेमे बद कर दिया और बाकी बच्चोंको पढ़ाना शुरू कर दिया। इसी प्रसंग में उसे कमरेसे निकालनेका ध्यान न रहा और छुट्टी हो गई कोई तीन चार दिनकी। वह बालक कुछ लिखना पढ़ना भी सीख गया था। सो जब उसको तेज भूख लगी तो वह बहुत बहुत चिल्लाने लगा, आवाज देने लगा सर हमे निकाल लो, हमको भूख लगी है, अब ऊधम नही करेंगे। पर उसकी उस आवाजको सुनने वाला वहाँ कौन था? वह इन्ही बातोको दीवारपर लिखता भी गया, पर उसे कौन देखने वाला था? आखिर वह बालक उसी कमरेके अन्दर मर गया। तीन चार दिन बाद जब विद्यालय खुला तब उसका पता पडा। तो यों कितनी ही अपमृत्यु अनेक कारणोसे हो जाया करती हैं। जैसे कही बद कर दिया गया, श्वांस लेनेको जगह न रही तो वह वही घुट घुटकर मर जाता है। सो इन अनेक कारणोसे आयुका पहले ही विनाश हो जाता है। तो अनन्त तो जन्म मरण किया और वहाँ भी ऐसी वेदनामे मरण हुए तो हे जीव! अब इस शरीरका क्या मोह करता, मोह छोडकर आत्माके सहज स्वभावकी उपासना कर।

(४०) हिम, अग्नि व जलके मध्यमे अपमृत्यु—अन्य भी अनेक कारण हैं जिन कारणों से आयु बीचमे ही नष्ट हो जाती है। जैसे बडी तेज ठड पड रही है, शीत लहर चल रही है तो प्रायः अनेको जीव उसमे मरण कर जाते है।। भैया, ठंडकी वेदना गर्मीकी वेदनासे भी कठिन वेदना होती है। यद्यपि जब गर्मी आती है तो लोग कहते हैं कि गर्मीसे तो ठड अच्छी होती है, मगर जब ठडी होती तो कहते कि ठडसे तो गर्मी अच्छी होती है। अगर कोई तुलनात्मक अध्ययन करे तो वह जान सकता है कि गर्मीके समयके दुःखसे ठडके समयका दुःख अधिक कठिन होता है। उसका एक सैद्धान्तिक प्रमाण यह है कि ऊपरके ३-४ नरकोमे वह गर्मीकी वेदना बतायी गई और नीचेके नरकोमें उत्तरोत्तर कठिन कठिन शीतकी वेदना बतायी गई है। ७वें नरकमे जो कुछ नारकी रहते हैं वे महा शीत वेदनायें सहते रहते हैं। ७ वें नरकमे प्रकृत्या ही दुःख सबसे अधिक हैं, तो उससे यह ज्ञात हुआ कि शीतकी वेदना कठिन वेदना होती है, तो अनेक लोग शीत, पाला पडनेसे मर जाया करते हैं, अनेक लोग अग्निसे मर जाया करते हैं। घरमे अग्नि लग गई, निकलनेका कोई रास्ता ही नहीं है, निकल ही नही सकता है, अथवा रास्ता भी है, देखते भी है मगर अग्नि तो लगी पडी है, उसमें निकल ही नही सकता है। जंगलमे अग्नि लग गई, उसमे फस गए, इस तरहसे मर जाते हैं, अनेक पशु-

पक्षी मर जाते हैं। मनुष्य भी फसे हों तो मर जाते हैं, तो कोई अग्निदाहसे भी मरण कर जाते हैं। कितने ही लोग तो स्त्री या पतिके वियोगपर दाह संस्कारमें कूदकर मर जाते हैं, इस प्रकारके मरणको सती होना कहते हैं, तो यह बात गलत है, क्योंकि इस तरहके मरणसे आत्मा का कुछ भी कल्याण नही है, अकल्याण है, खोटी गति मिलती है। और इतना मोह किस कामका पर जीवसे कि अपने आत्माका भी घात कर लिया जाय। सब परद्रव्य हैं, कोई जीव किसीका नहीं है। ज्ञानमे, ध्यानमे, विवेकमें आना चाहिए, मगर कुबुद्धि होनेसे ऐसी प्रथा थी, तो वह भी अपघात है, अपमृत्यु है। तो अग्निसे आयु बीचमें ही नष्ट हो जाती है, जलमें पड़-ने से भी आयु नष्ट हो जाती है। किसीको समुद्रमे गिरा दिया या नदीमें जा रहे थे तो एक दमसे बाढ़ आ गई, तो उस बाढ़में मर गए। तो जलमें पड़नेसे भी अपमृत्यु हो जाती है।

(४१) **पर्वतारोहण, गिरिपतन, वृक्षपतन अंगभंग आदिसे अपमृत्यु**—किसीकी अप-मृत्यु पर्वतपर चढ़नेसे हो जाती है, चढ़ रहे हैं, हांफते जा रहे हैं, कहीं श्वांस चलते चलते ही रुक गया तो वही अपमृत्यु हो जाती है। कितने ही लोग पर्वतसे गिरते समय मर जाते हैं, गिरतेमे भी श्वांस तेज चली और दम टूट गई, अथवा अनेक लोग पर्वतसे गिरनेमें धर्म मानते हैं। जैसे काशी करवट कुछ दिन बहुत प्रसिद्ध रहा याने ऊँचे पहाड़पर चढ़ गए और नीचे कूद गए, जहाँ नीचे कूदते ही शरीरके टुकडे टुकडे हो जाते हैं, तो पर्वतसे गिरनेमें आयुका बीचमें विनाश हो जाता है। वृक्षपर चढ़ने और गिरनेसे आयुका बीचमें ही विनाश हो जाता है। शरीर भग हो जानेसे आयुका विनाश हो जाता। किसी तरह शरीरका भंग हो गया तो प्राण भी निकल जाते हैं। कभी रससयोगसे पारा या कोई रस खा लिया तो उससे ही मरण हो जाता है। किसीका अन्याय कार्य व्यभिचार चोरी आदिकके निमित्तसे आयुका विच्छेद हो जाता है, लडाई हुई अथवा चिंता ही चिंता कर रहा तो दिल धडक गया या रक्त बंद हो गया या किसीने मार डाला तो ऐसे इन कारणोसे बीचमे आयुका विच्छेद हो जाता है और इस तरह कुमरण हो जाता। इस संसारमे भ्रमण करके अनन्त जन्म तो पाये, मरण किया और वह भी खोटे मरणसे मरे तो अब उस शरीरमें अब तू स्नेह क्यों करता? जो शरीर रहनेका नहीं, जो शरीर तेरे स्वरूपसे अत्यन्त विरुद्ध है उस शरीरके प्रति ऐसी ममता करके तू शरीर को पाता रहता है और अपनी मृत्यु करता रहता है बुरी तरहसे। इस कारण हे मित्र, ऐसे तिर्यञ्च मनुष्य जन्ममे तू बहुत काल उत्पन्न हो होकर कुमरणको प्राप्त किया सो अब इस शरीरमें ममत्वबुद्धि न कर।

(४२) **देहके ममत्वमें शान्तिकी असंभवता**—अपमृत्यु होती है दो भवोंमे मनुष्य और तिर्यञ्चमें। मनुष्योंमें भी भोगभूमिके मनुष्योंकी अपमृत्यु नहीं होती जो ऊँचे शलाका पुरुष हैं

उनकी अपमृत्यु नही होती । जो मोक्ष जाने वाले पुरुष है उनकी अपमृत्यु नहीं होती । और तिर्यंचोंमें भोगभूमियां तिर्यंचोंकी अपमृत्यु नही होती । इसके अतिरिक्त सभी मनुष्योंकी और सभी तिर्यंचोंकी अपमृत्यु संभव है । हाँ देव और नरकभवमें अपमृत्यु कभी नहीं होती । वे पूर्ण आयुको भोगकर ही मरण करेंगे । सो वहाँ भी देखो नारकी तो यह चाहते हैं कि हम जल्दी मर जायें क्योंकि उनसे वहाँका दु ख सहा नही जाता । वे मरण चाहते हुए भी नही मर पाते अंतिम आयुसे पहले । वे यों देख रहे और देव लोग चाहते कि मेरी कभी मृत्यु न हो, देवोके कितना सुखसाधन है कि जहाँ विक्रियाका शरीर है खान पानका कोई कष्ट नही । भोजन करते नहीं । हजारो वर्षोंमे कभी भूख लगती है तो कठसे अमृत झड जाता है । शारीरिक कोई वेदना होती नही, तो ऐसे सुन्दर जीवनको देव क्यो छोडना चाहेगा ? तो वे देव चाहते हैं कि मेरी मृत्यु न हो, लेकिन समय उनका आ जाता है, बीचमे वे नही मरते, फिर भी समय तो आ ही जाता है और उस समय जब मृत्यु होती है तो उससे पहले से ही इनके बडी वेदना चलती है कि हाय अब हम मरने वाले हैं और मर करके हमको मनुष्य या तिर्यंचोके खोटे शरीरमे जन्म लेना पडेगा । वे जानते है कि खून पीप, मल, मूत्र आदिक महा अपवित्र चीजोसे भरे देहमे रहना पडेगा । वे इस तृष्णासे दुःखी रहा करते हैं । तो चारो ही गतियोमें कोई भी जीव अपनेको सुखी शान्त अनुभव नही कर पाता । इन सबका कारण क्या है कि जो शरीर पाया है उस शरीरमे ममता बसायी है, यह मैं हू, सो यह आत्मा तो स्वयं परमेश्वर है, तो अपने उस ऐश्वर्यके प्रतापसे जब यह शरीर चाहता है तो इसको शरीर मिलते रहते हैं ।

(४३) **आत्मीय ऐश्वर्यके दुरुपयोगमे शाश्वत आनन्दकी अनुपलब्धि**—इस जीवने अपने ऐश्वर्यका दुरुपयोग किया । यदि यह शरीरसे निराले ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वकी सुध लेता और इस ही सहज ज्ञानस्वरूपमे यह मैं हू ऐसा अनुभव करता तो इसको फिर शरीर न मिलते, मुक्त हो जाता । सदाके लिए आत्मीय आनन्दका अनुभव करता । तो यह अपराध किसका है जो ससारके अनेक शरीरोका ग्रहण करना पडता और उन शरीरोसे बिदा होना पड़ता वह अपराध मूलमे जीवका है, सो इस ससारमे इस प्राणीकी आयु तिर्यंच और मनुष्य पर्यायमें अनेक कारणोंसे बीचमे ही छिद जाय, कुमरण हो जाय तो उस मरणसे जीवको तीव्र दुःख होता है । खोटे परिणामसे मरा तो दुर्गतिमे जायगा । तो ऐसे यह जीव जन्म लेता, मरण करता, बारबार दुःख पाता रहता है । इसी कारणसे तो दयाके वश होकर आचार्यदेव बार बार यह समझाते हैं कि तू संसारसे रत्नत्रयके प्रताप द्वारा मोक्ष जायगा, सो अपने आपके उस सहज सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्रभावको अपना और अपने स्वरूपमे मैं यह हूं, यह ही मेरा

सर्वस्व है, यह ही मात्र अनुभव कर। इस अनुभवके प्रतापसे तेरे कर्म अपने आप ही खिरेंगे और जन्म मरण भी कटेंगे। सर्वकर्मविमुक्त होकर अनन्तकालके लिए तू सिद्ध प्रभु रहेगा जहाँ किसी भी प्रकारका कष्ट नही हो सकता। तो संसारसे मुक्त होनेका उपाय है भावोंकी विशुद्धि। उसीका ही भावपाहुड ग्रन्थमें वर्णन किया जा रहा है।

छत्तीसं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥ २८ ॥

(४४) परमार्थभावके अग्रहणमें निगोदवासके जन्ममरणके कष्ट—पहले कुछ गाथाओं में कुमरणका वर्णन चला था। जो जीव परमार्थ ज्ञायकस्वभावसे अनभिज्ञ है और बाह्य देहादिकमें आत्मत्वका अहकार रखकर व्रत तप आदिक भी करते हैं वे जीव नरक निगोद आदिक चतुर्गतियोके दुःखको भोगते हैं। अब यहाँ उस निगोदिया जीवके जन्ममरणके दुःखका वर्णन किया जा रहा है। हे आत्मन्! निगोदवासमे एक अतमुंहूर्तमे ६६३३६ बार जन्म मरण किया है। इस गाथामे निगोद शब्द दिया है और जिसकी संस्कृत छाया निगोत शब्द बताया है। उस से ही सिद्ध होता है। निगोद तो साधारण बनस्पतिका नाम है और निगोत कहनेसे जितने भी लब्ध्यपर्याप्तक जीव है दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रियमें, वे सब निगोत मे आ जाते हैं। तो निगोदमे एक श्वासमे १८ भाग प्रमाण आयु पाते हैं और ऐसी ही आयु सभी लब्ध्यपर्याप्तकोकी होती है। इससे इस गाथाके अर्थमे निगोत शब्द कहकर सिर्फ साधारण बनस्पति लिया जाय तो वह भी युक्त है और निगोत शब्द कहकर सभी लब्ध्यपर्याप्तकोको लिया जाय तो वह भी युक्त है। तब साधारण वनस्पतिमे कितने ही वर्ष रह सकते है। रहेगे वे एक श्वासमे १८ बार जन्ममरण करने वाले, मगर उसकी परम्परा चले तो अनन्त काल तक चलती है। अनादिसे अब तक कितने ही जीव साधारण वनस्पतिमें रहकर निगोदका दुःख पा रहे है। तो निगोदमे एक श्वासके १८ वें भाग प्रमाण आयु है। तो एक मुहूर्तमे कितने कहलाये? ६६३३६ बार क्योंकि एक मुहूर्तमे ३७७३ श्वास निकलते हैं। ये श्वास मुखसे लिए जाने वाले नही हैं किन्तु नाडीके एक बारके फड़कनेको एक श्वास बोलते हैं, अब उन ३७७३ श्वासोमे जो एक अन्तर्मुहूर्त बनता है उनमें ३६८५ श्वास निकलते हैं और एक श्वासका तीसरे भागसे ६६३३६ बार निगोदमे जन्म मरण होता याने ये जो जन्म मरण बतलाया है सो पूरे मुहूर्तके नहीं है, किन्तु एक श्वासमें कुछ कम रह जाते हैं उतने बार यह जीव सम्यग्दर्शनका भाव पाये बिना मिथ्यात्वके उदयवश दुःख सह रहा है। यहाँ जो ६६३३६ बार एक अन्तर्मुहूर्तमे जन्ममरण कहा है सो पूरा अन्तर्मुहूर्त लेकर सिर्फ ८८ श्वास घटाकर मुहूर्त लेना। ऐसी सूक्ष्म अन्तरको भी तो बात है इसलिए यह बात प्रसिद्ध है कि एक

अन्तर्मुहूर्तमें निगोदका ६६३३६ बार जन्म मरण होता है।

वियलिंदए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स ॥२९॥

(४५) निकोतके अन्यक्तातिक जन्ममरणोंका विवरण—ऊपरकी गाथामें निगोद शब्द कहा है, उसका अर्थ निगोद लिया जाता है, तो उसमे सभी लब्ध्यपर्याप्तकोंके जन्ममरण शामिल किए जाने चाहिए और इस तरह एकेन्द्रियके कितने और दो इन्द्रियके आदिकके कितने जन्म मरण है उस हिसाबसे गणना बतलाते हैं। अन्तर्मुहूर्तके इन भवोंमे जो ६६३३६ कहा गया है उनमे दो इन्द्रियके क्षुद्रभव ८०, तीनइन्द्रियके क्षुद्रभव ६० और चार इन्द्रियके क्षुद्रभव ४० और पञ्चेन्द्रियके क्षुद्रभव २४ शामिल है। शेष साधारण वनस्पतिके हैं। तो अब सिद्धान्तके अनुसार यह बात रही कि क्षुद्रभव एकेन्द्रियमे ६६१३२ होते हैं और वे ११ स्थानोमे एक एकके ६-६ हजार भव हैं। ११ स्थान बताये गए है—(१) वादर पृथ्वी (२) सूक्ष्मपृथ्वी (३) वादर जल (४) सूक्ष्मजल (५) वादर तेज (अग्नि) और (६) सूक्ष्म अग्नि। (७) वादर वायु (८) सूक्ष्म वायु (९) वादर साधारण निगोद अथवा साधारण वनस्पति और (१०) सूक्ष्म साधारण निगोद और (११) सप्रतिष्ठित वनस्पति। तात्पर्य यह है कि लब्ध्यपर्याप्तककी दृष्टिसे यह प्रकरण चल रहा है। केवल निगोदकी बात कही जाय तो वह तो सिर्फ साधारण वनस्पतिमे मिलती है। साधारण निगोद है, पर लब्ध्यपर्याप्तककी दृष्टिसे इस वर्णनको करें तो उसकी व्यवस्था इस प्रकार है। केवल साधारण वनस्पतिकी दृष्टिसे भी ऐसी ही व्यवस्था चलती है। क्योकि उसमे यदि अनन्तकाल व्यतीत हो जानेपर सभीको मिलाया जाय और इस तरह अनेक भव बदल जायें तो किस तरहसे ये जन्म मरण होते हैं उसका सकेत यहां दिया गया है।

रयणत्तये अलद्धे एव भमिओसि दीहससारे।
इय जिणवरेहिं भणिय त रयणत्त समायरह ॥३०॥

(४६) रत्नत्रयकी अप्राप्तिसे दीर्घसंसारमें संसरण—हे आत्मन्, ऐसे ऐसे खोटे भवो को इस जीवने क्यो धारण किया, क्यो इतना कठिन दुःख भोगा? तो उसका कारण है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयका अलाभ। उस रत्नत्रयके न पानेसे इस दीर्घ अनादि ससारमें यह जीव ऐसा कुमरण करके भ्रमण करता है। सो अब हे विवेकीजनो, उस रत्नत्रयका आचरण करो जिसके प्रसादसे, ये कुमरण सब दूर हो जाते हैं। जीव है उपयोग मात्र तब यह उपयोग जब अपने आपके स्वरूपके अभिमुख चलता है, मैं हू यह और उस ही को जानना और उस ही ओर उपयुक्त रहना, ऐसे रत्नत्रयकी विधिसे उपयोगकी प्रवृत्ति

होती है तब वह कुमरणसे दूर होता है और जब यह उपयोग बेहोश हो जाता देहादिक बाह्य पदार्थोंमें ही यह मैं हू ऐसा ही अनुभव करता है तब यह जीव दुःखी रहता है और नाना कुमरण करता रहता है। सो हे भव्य जीव अब उस रत्नत्रयको धारण कर जिस रत्नत्रयके पाये बिना ऐसे खोटे मरणोसे मरण कर जन्म लेकर अनन्तकाल दुःखमें व्यतीत किया सो वह रत्नत्रयका स्वरूप क्या है और उसके पालनेकी विधि क्या है सो यह सब जिनवर देवके आगममे समझ लेना क्योंकि प्रभुने जो कुछ दिव्यध्वनिमें बताया, जिसे गणधरोने गूंथा और जो गणधरोंने गूँथा उसी परम्पराका अब तक आचार्यदेवने वर्णन किया सो उमसे स्वपर स्वरूप समझकर, परसे उपेक्षाकर स्वके अभिमुख होना यह ही रत्नत्रयका पालन है।

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति ॥३१॥

(४७) निश्चयरत्नत्रयका निर्देशन—इस गाथामे रत्नत्रयका स्वरूप बताया है। रत्नत्रय मायने सारभूत तीन बातें, आत्माके लिए सारभूत अपना आत्मा ही हो सकता है, क्योंकि इसका जितना भी भविष्य है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा किसी भी प्रकारका दर्शन, ज्ञान, चारित्र हो, उसपर निर्भर है। यदि मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप प्रवर्तन हो तो उसका खोटा भविष्य है और सही प्रवर्तन हो तो उसका समीचीन भविष्य है। तो यहाँ इस रत्नत्रयका स्वरूप बतला रहे कि जिस तरहसे जीवके जन्म-मरणके संकट टल जाते हैं। जो आत्मा आत्मामे रत होकर यथार्थ स्वरूपका अनुभव कर आत्मरूप होता है याने आत्मस्वरूपकी श्रद्धा करता है, ज्ञानमात्र ही अपनेको अनुभवता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है। और उसके इस आत्माभिमुख दृष्टिको सम्यग्दर्शन कहते हैं, इस आत्माको जानना सम्यग्ज्ञान कहते व ज्ञानमात्र आत्माको जानकर ज्ञानमात्र ही आचरण चलना, रागद्वेष न समा सकें, किंतु केवल जाननहार ही रहे, इसे कहते हैं सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र परमार्थतः क्या है, इसका वर्णन इस गाथामे किया है। यह है निश्चयरत्नत्रय।

(४८) निश्चयरत्नत्रय व उसका कारणरूप व्यवहाररत्नत्रय—निश्चयरत्नत्रय जीवको सहसा प्राप्त नहीं हो पाता। उससे पहले कैसी योग्यता बनती है, क्या भूमिका होती है जिससे कि निश्चय रत्नत्रय पाया जा सके? तो उस भूमिकाको कहते हैं व्यवहाररत्नत्रय। व्यवहाररत्नत्रय पाये बिना निश्चयरत्नत्रय न हो सकेगा। ऐसा प्रत्येक जीवको क्यों होता कि सभी जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंकी ओर गडी हुई है। तो कुछ तो भाव उनके बदलेंगे। पौरुष करें, ज्ञानाभ्यास करें, चिंतन मनन करें, पर उपदेश सुनें, ये बातें तो आती ही हैं। अशुभोपयोगके बाद रत्नत्रय किसीको नहीं हुआ। जिसको रत्नत्रयका

लाभ हुआ है तो शुभोपयोगके बाद हुआ। यद्यपि शुभोपयोग ही रत्नत्रय नहीं है, किन्तु शुभोपयोगसे गुजरे बिना रत्नत्रयका लाभ भी किसीको नही हुआ है। तो इसी कारण व्यवहार रत्नत्रय होता है और वह निश्चयरत्नत्रयका कारण है। निश्चयरत्नत्रय होनेपर जो प्रवृत्ति होती है उसे भी व्यवहार कहते हैं। किन्तु यहाँ व्यवहाररत्नत्रयके कारणत्वमें उस व्यवहार रत्नत्रयकी चर्चा नही की जा रही है। जो प्रवृत्ति श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय होनेसे पहले हुआ करता है उसे व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं। तो व्यवहाररत्नत्रय कारण है और निश्चयरत्नत्रय कार्य है। कारण और कार्य उपादान कारणमे कहा गया है उसके सद्भावरूप से शुद्धोपयोग न होगा, किन्तु उसके अभावरूपसे शुद्धोपयोग होगा, भैया, ऐसी वार्ता सभी जगह की जा सकती है। घडेका उपादान कारण वह मिट्टी है। तो कोई कहे कि मिट्टीका परिणमन तो और तरहका है, घडेका परिणमन और तरहका है, उसका मिट्टी कारण कैसे बन जायगा ? तो जो उपादान कारण होता है उसकी जो विशिष्ट पर्याय है उसका अभाव होकर नवीन पर्याय हुआ करती है, इसीको कहते है गुजरना। शुभोपयोगमे गुजरे बिना रत्नत्रय नही मिलता है। रत्नत्रय भाव शुद्धभाव है। शुभोपयोग भाव अन्य भाव है, मगर जो अनेक अज्ञानवासनामें लगे हुए जीव हैं उनकी प्रगति ही उस ढंगसे होती है। उसमे कुछ खण्डन बताकर आग्रह करना उचित नही है। यह तो एक विधि बतायी जा रही है कि जो जीव अज्ञानी है और अनेक वासनाओमे रह रहा है वह किस-किस प्रकारसे निश्चयरत्नत्रयमे पहुचता है। तो व्यवहाररत्नत्रय होता है कारण और निश्चयरत्नत्रय हुआ आगेका कदम।

(४९) **कार्यरूप व्यवहाररत्नत्रय व कारणरूप व्यवहाररत्नत्रय**—जीवादिक ७ तत्त्वों के सम्बन्धमें श्रद्धान होना, देव, शास्त्र, गुरुके बारेमे श्रद्धान होना, यह सब व्यवहारसम्यग्दर्शन है, और जीवादिक पदार्थोंका ज्ञान होना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है और ६ कायके जीवोकी हिंसा टालना, विषय कषायके साधनोको दूर करना यह व्यवहार सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार रत्नत्रय है। निश्चयरत्नत्रय होनेपर भी इस जीवका मन, वचन, काय कुछ न कुछ तो चलता ही है, सो इस निश्चय रत्नत्रयधारीका जो मन वचन कायका परिवर्तन है वह भी व्यवहार रत्नत्रय है। मगर कारणभूत व्यवहाररत्नत्रय अन्य है, और निश्चयरत्नत्रयका कार्यभूत अथवा उसके होने वाली प्रवृत्तिरूप व्यवहाररत्नत्रय अन्य है। सो यहा पूर्वभावी व्यवहाररत्नत्रयकी चर्चा लेकर समझना कि निश्चयरत्नत्रय तो प्रधान है और व्यवहाररत्नत्रय उस निश्चयरत्नत्रयको पानेके उपायका प्रयत्न है। यह व्यवहाररत्नत्रय जब तक है तब तक उसके सम्यक्त्व नहीं, निश्चय सम्यक्त्व नही। वह भाव भी अभी संसारस्वरूप भाव है और इसलिए वह व्यवहार है, लेकिन वह निश्चयरत्नत्रयका साधन स्वरूप है। जैसे निश्चयरत्नत्रयके [illegible]

व्यवहाररत्नत्रय संसारस्वरूप है, ऐसे ही यह भी समझ लीजिए कि व्यवहाररत्नत्रय पाये बिना निश्चयरत्नत्रयकी व्यक्ति होती नहीं है। और निश्चयरत्नत्रय पा लेनेसे फिर व्यवहार रत्नत्रयमें जो कुछ वृत्ति चलती थी वह वृत्ति रहती नहीं है।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव! ॥३२॥

(५०) परमार्थज्ञानभावके अभावमें कुमरणोंकी उपलब्धियां—परमार्थस्वरूप भाव है आत्माका ज्ञानभाव। अपने आपके स्वरूपमे बस यह मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान सिवाय इसका कुछ स्वरूप नही है, ऐसा समझकर ज्ञानरूपमे ही अपने आपको समझना यह है परमार्थ ज्ञानभाव की पकड़। यह परमार्थ ज्ञानभाव न रहा जिसके उसके कैसे-कैसे जन्ममरण चलते हैं इसका वर्णन किया जा रहा था। तो बताया गया था कि परमार्थ ज्ञानस्वरूप भावके माने बिना इस जीवके निगोद जैसे दुःख होते रहते हैं और इस तरहसे अनेक जन्म जन्मान्तर पाकर अनेक कुमरण प्राप्त करते रहते हैं। तो हे जीव, तू परमार्थ ज्ञानभावके पाये बिना अनेक जन्ममरण कर रहा। अब उस भावको प्राप्त कर जिस भावके पा लेनेसे जन्ममरण नही हुआ करते। वह भाव क्या है? वह भाव है शाश्वत जन्ममरणरहित याने न था और हो गया ऐसा वह भाव नही अथवा है और मिटा ऐसा वह भाव नही है। उस भावका आश्रय करके जीवके जन्म मरणके संकट दूर होते हैं। ज्ञानशक्ति ज्ञानस्वभाव सदा है, उसपर जिसकी दृष्टि है उसका जन्म मरण अब भी न समझिये, भले ही जन्ममरण चल रहे हैं, मगर जन्ममरण रहित मात्र एक ज्ञानस्वभावका ही जिनके बोध चल रहा है उनको अमरपनेका अनुभव चल रहा है। सो इस अजर अमर परमार्थ ज्ञानभावके पाये बिना अनेक कुमरण किया।

(५१) सप्तदश मरणोंमें से कुमरणको त्याग कर जन्मजरामरणविनाशक सुमरण-मरणकी भावनाका अनुरोध—हे मुने! अब उस परमार्थभावको प्राप्त कर जिसके प्रतापसे कुमरण दूर होता है और सही मरण प्राप्त होता है। सम्यक् मरण याने समाधिमरण और असमाधिमरण है कुमरण। तो असमाधिमरण हटे, समाधिमरण बने जिससे यह जीव सदा जन्म-मरण रहित हो जाय, यह बात समझनेके लिए सभी मरणोंका ज्ञान करना होगा। तब उसमें यह छटनी बनेगी कि यह मरण तो समाधिमरण है और यह मरण खोटा मरण है। तो भगवती आराधना आदि आदिक ग्रन्थोमें मरण १७ प्रकारके बताये गए है। उन मरणोंमें प्रथम मरण तो आवीचिका मरण कहा है, समुद्रके लहर जैसा मरण। याने प्रति समय जो आयुके निषेक गल रहे, जिसे लोग बड़े मौजसे कहते हैं कि अब हमारी इतनी बड़ी उम्र हो गई है, ऐसा जो प्रतिसमय आयुका गलना हो रहा, वह है आवीचिका मरण अर्थात् जीवका

प्रतिसमय मरण चल रहा है। चाहे ऐसा कहा जाय कि यह १८ वर्षका बालक हो गया या यों कहा जाय कि यह १८ वर्ष मर चुका है, इन दोनोका एक ही अर्थ है। तो ऐसा आवीचिका मरण सभी जीवोंके चल रहा। ऐसा ज्ञान करनेसे भी लाभ है कि मुझे प्रति समय समाधि चाहिए क्योंकि मेरा प्रतिसमय मरण हो रहा है। अब इस आवीचिका मरणके सिवाय जो और मरण कहे जायेंगे वे सब तद्भव मरणसे संबंध रखेंगे। प्रसग यह चल रहा है कि इस संसारमें जीवने अनेक बार जन्म मरण किया, अनेक कुमरण किया। अब इस गाथा मे कुमरण और सुमरण दोनोका सकेत किया गया है और मरणके १७ भेद बताये, तो आवीचिका मरण तो सर्व जीवोके प्रतिसमय होता रहता है। जो आयुके निषेक खिर रहे हैं, प्रतिसमय एक एक निषेक खिरते है तो जो खिरा वह उस कालमें मरण है। इस तरह प्रत्येक जीव चाहे देवगतिका जीव हो चाहे नरकगतिका जीव हो, चाहे मनुष्य या तिर्यंच हो सबके आवीचिका मरण चल रहा है।

(५२) तद्भवमरण, अवधिमरण, आद्यन्तमरण व बालमरण—दूसरा मरण है तद्भव मरण, उस भवका मरण। मनुष्यभवमे हैं तो इस शरीरसे जीवका निकल जाना यह मनुष्यभवका मरण है। जिस भवमे जीव है उस भवके देहको छोडकर जीवके चले जानेको तद्भव मरण कहते हैं। तीसरा मरण है अवधिमरण। जैसे वर्तमान पर्यायका मरण हुआ ऐसे ही अगली पर्यायका मरण होवे तो अगले भवके मरणसे अवधि मरण होता है। वह यदि वर्तमान भवके बराबर है तो वह कहलाता है सर्वावधिमरण और यदि वर्तमान भवमरण कुछ कम बेशी ढगका है तो वह कहलाता है देशावधि मरण। चौथे मरणका नाम है आद्यत मरण, याने वर्तमान पर्यायका आयुकर्मका जैसी स्थिति आदिक थी वैसी अगली पर्यायें न आवें तो वह आद्यन्त मरण है। ५ वां मरण है बालमरण। इन मरणोका विवेक बालमरण और पंडित मरणमें चलता है। बालमरण ५ प्रकारके हैं—(१) अव्यक्त बालमरण, (२) व्यवहार बालमरण, (३) ज्ञान बालमरण, (४) दर्शन बालमरण और (५) चारित्र बालमरण। बालमरण नाम है बालकका, और बालकका अर्थ शरीरकी अपेक्षा भी होता है, तथा ज्ञानदर्शन आदिककी अपेक्षा भी होता है।

(५३) बालमरणके प्रकार—बालक कहते हैं अपूर्णको। जिसका शरीर मामूली है, जवान न हो, अपूर्ण है तो वह शरीरसे बालक है, मगर ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञानसे बालक है। इसी प्रकार जो-जो गुण नहीं है वे वे उस गुणकी अपेक्षा बालक हैं। व्यवहार बालमरण का अर्थ है कि धर्म, अर्थ, काम इन कार्योंको जो न जान सके और इनका आचरण करनेमें जो समर्थ न हो ऐसा शरीर वाला जीव अव्यक्त बाल कहलाता है और अव्यक्त बालके मरण

को अव्यक्त बालमरण कहते हैं। व्यवहार बालमरण किसे कहते हैं? जो लोकको नहीं जानता, लोकव्यवहारको नहीं जानता, तथा बालक अवस्था हो तो वह व्यवहार बाल है। यह बालक अवस्था न सही, किन्तु लोकव्यवहारमें अथवा शास्त्रमें अज्ञान है तो वह कहलाता है व्यवहार बाल और ऐसे प्राणीके मरणको व्यवहार बालमरण कहते हैं। बालमरण क्या हैं? जो पुरुष ज्ञानमें बच्चा है याने वस्तुके यथार्थ ज्ञानसे रहित है वह ज्ञानबाल कहलाता है और ज्ञानबालके मरणको ज्ञानबालमरण कहते हैं। दर्शनबालमरण क्या है? जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, तत्त्वज्ञानसे रहित हैं वे कहलाते हैं दर्शनबाल। याने सम्यक्त्वके बारेमें तो वह बच्चा है, ऐसे दर्शनबालके मरणको दर्शनबालमरण कहते हैं। चारित्र बालमरण क्या है कि जो मनुष्य चारित्रसे रहित है वह चारित्रमें बाल कहलाता है। यों चारित्ररहित प्राणीके मरणको चारित्रबालमरण कहते हैं। तो यहाँ अवस्थासे बालकके मरणका कोई प्रकरण नहीं है, किन्तु जो इन गुणोमें बाल है वह बाल कहलाता और उसका मरण बालमरण कहलाता। उक्त इन गुणोंमे भी प्रधानतया दर्शनबालमरणका प्रकरण चलता है। जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है वह अज्ञानी पुरुष बाल कहलाता और जिसके सम्यक्त्व नही है वह सभी दृष्टियोंसे बाल है। चारित्रका ज्ञानका कोई प्रसग ही नही। तो जो सम्यक्त्वहीन है ऐसे बालके मरणको बालमरण, दर्शन बालमरण कहते हैं। बालमरण मायने अज्ञानी जीवका मरण दो तरहसे होता है— (१) अनिच्छाप्रवृत्त और (२) इच्छाप्रवृत्त। कोई उपद्रव हो आ गया—अग्निका, शास्त्रका, विषका, जलका, कहींसे गिर पडनेका या बडी तेज सर्दी गर्मीका कि जिसमें मरण करना पड़ रहा तो उस मरणको चाह नही रहा यह जीव, फिर भी कर रहा है तो यह कहलाता अनिच्छाप्रवृत्त मरण। और कभी अज्ञानी जीव इच्छा करके मरे तो वह कहलाता है इच्छाप्रवृत्तमरण।

(५४) पंडितमरण व पंडितमरणके प्रकार—छठवें मरणका नाम है पंडितमरण। पंडितमरण चार प्रकारका है—(१) व्यवहारपंडितमरण, (२) सम्यक्त्वपंडितमरण, (३) ज्ञानपंडितमरण और (४) चारित्रपंडितमरण। जो पुरुष लोकव्यवहारमें प्रवीण हैं अथवा दर्शनशास्त्रमें प्रवीण हैं वे हैं व्यवहारपंडित, और व्यवहार पंडितके मरणको व्यवहार पंडितमरण कहते हैं। यहाँ अज्ञानी और ज्ञानीका कोई भेद नही है। व्यवहारपंडित है चाहे वह ज्ञानवान हो अथवा ज्ञानरहित हो, जो लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमें चतुर है उसके मरणका नाम है व्यवहारपंडितमरण। सम्यक्त्वपंडितमरण क्या है कि जो जीव सम्यक्त्व सहित है, विवेकी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है उसके मरणको सम्यक्त्व पंडितमरण कहते हैं। जो जीव सम्यग्ज्ञान सहित हो वह ज्ञान पंडित है और ज्ञानपंडितके मरणको ज्ञानपंडित मरण कहते

प्रतिसमय मरण चल रहा है। चाहे ऐसा कहा जाय कि यह १८ वर्षका बालक हो गया या यों कहा जाय कि यह १८ वर्ष मर चुका है, इन दोनोका एक ही अर्थ है। तो ऐसा आवीचिका मरण सभी जीवोंके चल रहा। ऐसा ज्ञान करनेसे भी लाभ है कि मुझे प्रति समय समाधि चाहिए क्योंकि मेरा प्रतिसमय मरण हो रहा है। अब इस आवीचिका मरणके सिवाय जो और मरण कहे जायेंगे वे सब तद्भव मरणसे संबंध रखेंगे। प्रसंग यह चल रहा है कि इस संसारमें जीवने अनेक बार जन्म मरण किया, अनेक कुमरण किया। अब इस गाथा मे कुमरण और सुमरण दोनोंका सकेत किया गया है और मरणके १७ भेद बताये, तो आवीचिका मरण तो सर्व जीवोके प्रतिसमय होता रहता है। जो आयुके निषेक खिर रहे हैं, प्रतिसमय एक एक निषेक खिरते है तो जो खिरा वह उस कालमें मरण है। इस तरह प्रत्येक जीव चाहे देवगतिका जीव हो चाहे नरकगतिका जीव हो, चाहे मनुष्य या तिर्यंच हो सबके आवीचिका मरण चल रहा है।

(५२) **तद्भवमरण, अवधिमरण, आद्यन्तमरण व बालमरण**—दूसरा मरण है तद्भव मरण, उस भवका मरण। मनुष्यभवमे हैं तो इस शरीरसे जीवका निकल जाना यह मनुष्यभवका मरण है। जिस भवमे जीव है उस भवके देहको छोडकर जीवके चले जानेको तद्भव मरण कहते हैं। तीसरा मरण है अवधिमरण। जैसे वर्तमान पर्यायका मरण हुआ ऐसे ही अगली पर्यायका मरण होवे तो अगले भवके मरणसे अवधि मरण होता है। वह यदि वर्तमान भवके बराबर है तो वह कहलाता है सर्वावधिमरण और यदि वर्तमान भवमरण कुछ कम बेशी ढगका है तो वह कहलाता है देशावधि मरण। चौथे मरणका नाम है आद्यंत मरण, याने वर्तमान पर्यायका आयुकर्मका जैसी स्थिति आदिक थी वैसी अगली पर्यायें न आवें तो वह आद्यन्त मरण है। ५ वां मरण है बालमरण। इन मरणोका विवेक बालमरण और पंडित मरणमें चलता है। बालमरण ५ प्रकारके हैं—(१) अव्यक्त बालमरण, (२) व्यवहार बालमरण, (३) ज्ञान बालमरण, (४) दर्शन बालमरण और (५) चारित्र बालमरण। बालमरण नाम है बालकका, और बालकका अर्थ शरीरकी अपेक्षा भी होता है, तथा ज्ञानदर्शन आदिककी अपेक्षा भी होता है।

(५३) **बालमरणके प्रकार**—बालक कहते हैं अपूर्णको। जिसका शरीर मामूली है, जवान न हो, अपूर्ण है तो वह शरीरसे बालक है, मगर ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञानसे बालक है। इसी प्रकार जो-जो गुण नहीं है वे वे उस गुणकी अपेक्षा बालक हैं। व्यवहार बालमरण का अर्थ है कि धर्म, अर्थ, काम इन कार्योंको जो न जान सके और इनका आचरण करनेको जो समर्थ न हो ऐसा शरीर वाला जीव अव्यक्त बाल कहलाता है और अव्यक्त बालके मरण

को अव्यक्त बालमरण कहते हैं। व्यवहार बालमरण किसे कहते हैं ? जो लोकको नहीं जानता, लोकव्यवहारको नहीं जानता, तथा बालक अवस्था हो तो वह व्यवहार बाल है। यह बालक अवस्था न सही, किन्तु लोकव्यवहारमें अथवा शास्त्रमें अज्ञान है तो वह कहलाता है व्यवहार बाल और ऐसे प्राणीके मरणको व्यवहार बालमरण कहते हैं। बालमरण क्या हैं ? जो पुरुष ज्ञानमें बच्चा है याने वस्तुके यथार्थ ज्ञानसे रहित है वह ज्ञानबाल कहलाता है और ज्ञानबालके मरणको ज्ञानबालमरण कहते हैं। दर्शनबालमरण क्या है ? जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, तत्त्वज्ञानसे रहित हैं वे कहलाते हैं दर्शनबाल। याने सम्यक्त्वके बारेमें तो वह बच्चा है, ऐसे दर्शनबालके मरणको दर्शनबालमरण कहते हैं। चारित्र बालमरण क्या है कि जो मनुष्य चारित्रसे रहित है वह चारित्रमें बाल कहलाता है। यों चारित्ररहित प्राणीके मरणको चारित्रबालमरण कहते हैं। तो यहाँ अवस्थासे बालकके मरणका कोई प्रकरण नहीं है, किन्तु जो इन गुणोंमें बाल है वह बाल कहलाता और उसका मरण बालमरण कहलाता। उक्त इन गुणोंमें भी प्रधानतया दर्शनबालमरणका प्रकरण चलता है। जिसके सम्यग्दर्शन नही है वह अज्ञानी पुरुष बाल कहलाता और जिसके सम्यक्त्व नही है वह सभी दृष्टियोंसे बाल है। चारित्रका ज्ञानका कोई प्रसग ही नही। तो जो सम्यक्त्वहीन है ऐसे बालके मरणको बालमरण, दर्शन बालमरण कहते हैं। बालमरण मायने अज्ञानी जीवका मरण दो तरहसे होता है—(१) अनिच्छाप्रवृत्त और (२) इच्छाप्रवृत्त। कोई उपद्रव ही आ गया—अग्निका, शास्त्रका, विषका, जलका, कहींसे गिर पडनेका या बडी तेज सर्दी गर्मीका कि जिससे मरण करना पड़ रहा तो उस मरणको चाह नही रहा यह जीव, फिर भी कर रहा है तो यह कहलाता अनिच्छाप्रवृत्त मरण। और कभी अज्ञानी जीव इच्छा करके मरे तो वह कहलाता है इच्छाप्रवृत्तमरण।

(५४) पंडितमरण व पंडितमरणके प्रकार—छठवें मरणका नाम है पंडितमरण। पंडितमरण चार प्रकारका है—(१) व्यवहारपंडितमरण, (२) सम्यक्त्वपंडितमरण, (३) ज्ञानपंडितमरण और (४) चारित्रपंडितमरण। जो पुरुष लोकव्यवहारमें प्रवीण हैं अथवा दर्शनशास्त्रमें प्रवीण हैं वे हैं व्यवहारपंडित, और व्यवहार पंडितके मरणको व्यवहार पंडितमरण कहते हैं। यहां अज्ञानी और ज्ञानीका कोई भेद नही है। व्यवहारपंडित है चाहे वह ज्ञानवान हो अथवा ज्ञानरहित हो, जो लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमें चतुर है उसके मरणका नाम है व्यवहारपंडितमरण। सम्यक्त्वपंडितमरण क्या है कि जो जीव सम्यक्त्व सहित है, विवेकी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है उसके मरणको सम्यक्त्व पंडितमरण कहते हैं। जो जीव सम्यग्ज्ञान सहित हो वह ज्ञान पंडित हैं और ज्ञानपंडितके मरणको ज्ञानपंडित मरण कहते

हैं। जो सम्यक्चारित्रसे युक्त है वह चारित्रपंडित है, चारित्रपंडितके मरणको चारित्रपंडित मरण कहते हैं। यहाँ पंडितमरणके चार भेद किए हैं जिनमे व्यवहार पंडितमरण तो बाल-मरणमें भी शामिल हो सकता है। एक तो था लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमे अनभिज्ञ और यह है लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहारमे कुशल, किन्तु यदि सम्यक्त्व नही है व्यवहार पंडितके तो इसमे और बालमरणमें कोई अन्तर नही आया, सो व्यवहारपंडितमरणको यहाँ प्रकरणमे नहीं लेना है। शेष तीन प्रकारके पंडितमरण प्रकृत पंडितमरणमे अभीष्ट हैं।

(५५) आसन्नमरण, बालपंडितमरण, सशल्यमरण, पलायमरण व वशार्तमरण—७ वें मरणका नाम है आसन्न मरण। जो मुनिसंघसे छूट गया, संघभ्रष्ट हो गया और स्वच्छंद अवसन्न स्वेच्छाचारी भी हो गया जिसके कि पार्श्वस्थ स्वच्छंद कुशील और संसक्त भी भेद हैं। ऐसे ५ प्रकारके भ्रष्ट मनुष्यका जो मरण है उसे आसन्नमरण कहते हैं। ८ वें मरणका नाम है बालपंडित मरण। जो श्रावक सम्यग्दृष्टि हैं और व्रतवान है उसके मरणको बालपंडित मरण कहते हैं। ९ वा मरण है सशल्यमरण। जहाँ मिथ्यादर्शन मायाचार और निदान इन शल्यों सहित मरण होता है उसे कहते हैं सशल्य मरण। १० वें मरणका नाम है पलाय मरण। जो मनुष्य शुभ क्रियावोमे आलसी हो, व्रत तप आदिक क्रियावोमे शक्तिको छिपाये अर्थात् उनका पालन न करे और ध्यानादिकसे दूर भागे तो मोक्षमार्गके रास्तेसे वह दूर भागा, इसे पलायमरण कहते है। ११ वें मरणका नाम है वशार्तमरण, जो इन्द्रियके वश होकर मरण करे अर्थात् रागद्वेषके भावोमे मरण बने तो वह है इन्द्रियवशार्तमरण। और जो साता असाताकी वेदनाके वश होकर मरण करे तो वह है वेदनावशार्तमरण। जो क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोके वश होकर मरण करे तो वह है कषायवशार्त मरण और हास्य विनोद कषायके वश होकर मरण करे तो वह है नोकषाय वशार्तमरण। पराधीन होकर विषय कषायके भावोके व बाह्य परिग्रहोके आधीन बनकर ऐसा वशीभूत बन-कर मरण करनेको वशार्तमरण कहते हैं।

(५६) विप्राणसमरण व गृद्धपृष्टमरण—१२ वें मरणका नाम है विप्राणसमरण। जो पुरुष ऐसे समय जब कि अपने व्रत क्रिया चारित्रमे उपसर्ग आये, विघ्न आये और वहाँ भ्रष्ट होनेकी शंका आवे ऐसे समयमे भ्रष्टता हो सकती है। तब विवश होकर अशक्त होकर अन्न जलका त्याग कर दिया तो वह विप्राणसमरण है। अचानक कठिन उपसर्ग आ गया, ऐसी स्थितिमे अन्न जलका त्याग करके जो मरण किया जाता है उसे विप्राणसमरण कहते हैं। १३ वें मरणका नाम है गृद्धपृष्टमरण। शस्त्र ग्रहण करके जो मरण होता है वह गृद्धपृष्ट मरण है। जैसे शस्त्र लेकर चल रहे है, किसीको मारनेके इरादेसे चल रहे है, शस्त्र बांधे

किसीने इसपर हमला बोलो या स्वयंका हार्टफेल हो गया व वह मर गया अन्नको ग्रहण करने की ही स्थितिमे, तो उस मरणको गृद्धपृष्ठमरण कहते हैं।

(५७) भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण प्रायोपगमनमरण व केवलिमरण—१४वें मरणका नाम है भक्तप्रत्याख्यानमरण। यह संन्यास मरणमें शामिल है। क्रम क्रमसे विधि सहित अन्नका, जलका त्याग कर देनेको भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। भक्त मायने भोजन आहार उसका प्रत्याख्यान मायने त्याग करना। जैसे पहले अन्नका त्याग, फिर दूधका त्याग फिर छाँछका त्याग फिर जलका भी त्याग, इस तरह क्रमसे विधिवत् आत्मध्यानकी वृद्धिके लिए जो आहार जलका त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। १५ वें मरणका नाम है इंगिनीमरण। जो संन्यासमरण धारण करे याने संन्याससे मरण करनेका नियम ले, उस त्याग पूर्वक भी चले, पर दूसरोंसे वैयावृत्य कराये ऐसे मरणको इंगिनीमरण कहते हैं। १६वां मरण है प्रायोपगमनमरण। जो जीव प्रायोपगमन संन्यास लेता है और किसीसे वैयावृत्य नही करता है और स्वयको वैयावृत्ति नही करता बताया गया है कि वहाँ काष्ठ लक्कडकी तरह देह पडा रहता है, उसके लिए कोई भाव भी नही करता। भाव है आत्मस्वरूपमे, तो ऐसे पुरुषके मरणको प्रायोपगमनमरण कहते हैं। १७वें मरणका नाम है केवलिमरण। केवलज्ञान जिसे उत्पन्न हुआ, ऐसे अरहत भगवानके चार अघातिया कर्म नष्ट होते ही मुक्ति प्राप्त होती है। उस मरणको कहते हैं केवलिमरण अर्थात् निर्वाण। ऐसे ये १७ प्रकारके मरण बताये गए हैं।

(५८) सर्व मरणप्रकारोंका पञ्च प्रकारोंमें गर्भितपना—इन मरणप्रकारोको और भी सुगम विधिसे समझना है तो ५ प्रकारके मरणोको समझ लेना, वे ५ प्रकार क्या हैं—(१) बालबालमरण, (२) बालमरण, (३) बालपडितमरण, (४) पडितमरण और (५) पंडितपडितमरण। बालबालमरण तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंके मरणका नाम है। पहले जो १७ मरण बताये गए, उनमे कई मरण बालबालमरणमे आते हैं। जो अज्ञानी जन हैं, मिथ्यादृष्टि हैं उनके मरणको बालबालमरण कहते हैं। निपट बाल। बिल्कुल अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों को बालबाल कहा गया है। बालमरण जो सम्यग्दृष्टि तो है, ज्ञानी है, विवेकी है, मगर किसी भी प्रकारका संयम नही ले सका है तो ऐसे पुरुषको कहते हैं बाल। बालबाल तो न रहा, क्योंकि उसके मिथ्यात्वभाव नहीं है, पर संयम न होनेसे वह पंडित भी नहीं कहलाता। तो उसे कहते हैं बालमरण। बालपंडितमरण जिसके सयम पूर्ण नहीं है इस कारण तो वह बाल है, पर सयमासंयम हो गया है, इस कारण वह पडित है। तो जो सम्यग्दृष्टि श्रावक गृहस्थ है वह कहलाता है बालपंडित और उसके मरणका नाम है बालपंडितमरण। पंडितमरण—

जो विद्वान् है जिसको सम्यक्त्व भी हुआ है। ज्ञानके प्रकाशको भी सम्हाले हुए है, ऐसे पुरुष को पंडित कहते हैं। और उसके मरणको पंडितमरण कहते हैं। पंडितपंडितमरण केवली भगवानके आयुक्षयको कहते हैं। पंडितमरण—जो सकल संयमी मुनि है वह पंडित कहलाता है। वहाँ बालकपन जरा भी नही रहा याने व्रत अधूरा कुछ नहीं है इसलिए सयमी मुनिको पंडित कहते हैं और उस पंडितके मरणको पंडितमरण कहते हैं। पंडितपंडितमरण केवली भगवानके आयुक्षयको कहते हैं। वह पूर्ण पडित है, चारित्रमे भी पडित है और केवलज्ञान हो जानेसे वह पूर्ण पंडित है, समस्त विद्याओमे विशारद है, ऐसे केवली भगवानके आयुक्षय को याने निर्वाणको पडितपंडितमरण कहते हैं। इन ५ मरणोंमे बालबालमरण तो अत्यन्त हेय है। वह अज्ञानका मरण है। शेष चार ज्ञानियोंके मरण हैं। सो उसमे भी बालमरण अव्रती सम्यग्दृष्टिके है। बालपंडितमरण पचम गुणस्थान वाले श्रावकके है। पडितमरण छठवें गुण-स्थानसे लेकर ११वे गुणस्थान तकके जीवके है और पडितपडितमरण केवली भगवानके निर्वाण पहुचनेका नाम है।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥३३॥

(५६) भावलिङ्गकी प्राप्तिके बिना त्रिलोकमे सर्वत्र अनन्ते जन्ममरणोंका क्लेश—जैसे कि लोकभावनामे कहते हैं कि ज्ञान बिना यह जीव लोकके सर्वप्रदेशोमे जन्ममरण कर चुका, वही बात यहाँ दर्शाते हैं कि जिसने परमार्थ भाव नही पाया, अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावका परिचय जिसको नहीं मिला, ऐसा जीव व्रत तप आदिक भी बहुत कठिन कर ले, लेकिन शरीर और वचनकी क्रियाका निरोध नही होता, किन्तु ज्ञानस्वरूपमे ज्ञान ही बस जाय, ऐसी स्थितिको परमार्थभाव कहते हैं। सो परमार्थ भावके बिना द्रव्यलिङ्गको धारण करके मुनिपना अपना प्रकट करते रहनेपर भी वह तीनों लोकके सर्वस्थानोंमे जन्ममरण करता है। ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे कोई ऐसा प्रदेश नही बचा जहाँ इस जीवने अनन्त बार जन्ममरण न किया हो। सो यहाँ यह बात दर्शायी गई है कि कोई जीव द्रव्यलिङ्गको भी धारण कर ले और भावलिङ्ग नही है अर्थात् अविकार ज्ञानस्वभावमें आत्मत्वकी स्वीकारता नही है, परपदार्थ और परभावमे ही जिसको आत्मत्व जच रहा है वह पुरुष द्रव्यलिङ्गकी, मुनिभेषको धारण करके भी भावलिङ्ग न होनेके कारण द्रव्यलिङ्गसे भी मुक्तिको प्राप्त न कर सका। सो यहाँ यह अपनेमे प्रयोग करना और समझना है कि चाहे धर्मके नामपर कितने ही पूजन, विधान उत्सव कर लिए जायें, पर यदि भावलिंग प्राप्त नहीं हुआ है अर्थात् अपने अवि-कार सहजस्वरूपमे आत्मत्वका परिचय नही बना है तो लोकमे सर्वस्थानोपर इसका जैसा जन्म

मरण चलता रहा, वैसा ही भविष्यमें भी चलता रहेगा। खुद खुदको न समझ सके तो वहाँ बड़ी विपत्तियोंका साधन जुट जाता है। तो हे आत्मकल्याणके इच्छुक जनो, अपने आपके स्व-रूपको समझ अवश्य ही बना लेना चाहिए, जिसके प्रतापसे जो भी व्रत तप आदिक आचरण में आये तो वे सरल रीतिसे सुगम विधानतया पालन किए जा सकें।

> कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्ख।
> जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥३४॥

(६०) भावलिङ्गकी प्राप्ति बिना जन्मजरामरणपीडाओंमें अनन्तकालयापन—इस संसारमें इस जीवके परम्परया भावलिङ्ग न रहा अर्थात् जैसे अनेक निकट भव्य जीव इस परमार्थ ज्ञानस्वभावको पाकर सिद्ध हुए उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि नही हुई, इससे अनन्त काल पर्यन्त जन्म जरा मरणसे पीडित होता हुआ दुःखी ही अब तक चला आया है। द्रव्यलिङ्ग तो धारण किया, पर वहाँ भावलिङ्गकी प्राप्ति न हुई, इस कारण द्रव्यलिङ्ग धारण करनेका, व्रत तप आदिक क्लेशोंका श्रम करनेका व्यर्थ ही समय गया। यद्यपि द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्गका साधन है याने निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह दशामें ही आत्माके ज्ञानमात्रभावकी दृष्टि और अनुभूति बनती है तो भावलिङ्गका साधन है द्रव्यलिङ्ग। तो भी काललब्धि पाये बिना, आत्माके विशुद्ध परिणामोकी लब्धि हुए बिना भावलिङ्गकी प्राप्ति नही हुई तो द्रव्यलिङ्ग निष्फल ही तो रहा। इससे यह समझना चाहिए कि मोक्षमार्ग तो भावलिङ्ग ही है, कभी ऐसा नही हुआ कि द्रव्यलिङ्ग रखकर भावलिङ्गके बिना कोई कुछ भी मोक्षमार्गमें कदम रख सका हो। तो होता यही है, द्रव्यलिङ्ग पहले धारण हो वहाँ भावलिङ्ग आता है। कोई प्रश्न कर सकता कि द्रव्यलिङ्ग पहले किस कारण धारण किया जाता ? उसका उत्तर यह है कि द्रव्यलिङ्ग धारण न हो तो व्यवहारका लोप होगा। और द्रव्यलिंगसे हो सिद्धि नही है यह भी समझना जरूरी है इसलिए भावलिङ्गको प्रधान मानकर उस प्रधानभावकी ओर ही दृष्टि रखकर द्रव्य-लिंगको सफल करनेका संदेश दिया गया है। अनेक मुनिजन द्रव्यलिङ्ग धारण कर भी अज्ञानी हैं, पर किसी समय उनके ज्ञानदृष्टि जगे तो भावलिङ्ग बन जाता है। कितने ही बहुतसे सम्य-ग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हैं ऐसे जिनके वैराग्य जगा और उस भावलिंगके बाद जो कुछ वैराग्य आदि के वेगके कारण गुरुके पास जाना, उनसे निवेदन करना, इस प्रकारकी जो वृत्ति अभी बह हो रही है और गुरु महाराज भी कृपा करके उसे दीक्षा दे रहे हैं तो जहाँ वस्त्र उतारे, केशलोंच किया उस क्रियाके अन्दर ही वहाँ भावलिंग हो जाता है अर्थात् ७वें गुणस्थानके परिणाम हो जाते हैं। तो इस प्रकार द्रव्यलिंग वीतरागताका स्थान है और भावलिंग प्रधान मोक्षमार्गका अमोघ स्थान है, इससे द्रव्यलिंगकी भी आवश्यकता है और भावलिंगकी तो अनिवार्य आव-

सकता है ही ।

पडिदेससमयपुग्गलग्राउगपरिणामणामकालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीवो ॥३५॥

(६१) भावलिङ्गकी प्राप्तिके बिना अनन्तभवसागरमें अनन्त पुद्गलढेरोंका अनन्ते बार गृहीतो ज्झितपना—इस जीवने इस अपार संसार समुद्रविषे अनन्तकाल अनन्तानन्त परमाणुओंको अनन्तबार ग्रहण कर-करके छोड़ा है, याने भावलिंग पाये बिना जितने जगतमें पुद्गल स्कंध हैं उन सबको अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा । कितने ही श्रम कर डाले तो भी दु.खोसे मुक्ति प्राप्त न हुई । कितने हैं ये पुद्गलस्कध, जिनका कोई परिमाण नही । लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उन प्रत्येक प्रदेशोपर और पर्यायोके आयुप्रमाण व कालके सब समयोमे परिवर्तनसे जैसा योग और कषायके परिणमनका परिणाम मिला वैसी ही गति जाति आदिक नामकर्मके उदयसे इसने अवस्था पायी और ऐसा भ्रमण करते करते अनन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल व्यतीत हुआ । इतने समयमे परमाणु स्कधोको अनन्तबार ग्रहण किया और छोड़ा, लेकिन अब तक भी इसको मुक्ति प्राप्त न हो सकी । इसका कारण यह है कि अपना अविकार जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसपर इसकी दृष्टि नही हुई । उसको अपने रूपमें अपनाया नही ।

तेयाला तिण्णि सया रज्जूण लोयखेत्तपरिमाण ।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥३६॥

(६२) भावलिङ्गकी प्राप्ति बिना समस्त लोकके समस्तप्रदेशोंपर अनन्तशः जन्म-मरण—यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण क्षेत्र वाला है । इस समस्त लोकके बीचमे गोस्तन के आकार याने गायमे थनोंके ढगके ८ प्रदेश मध्यके बैठते है याने सब युगल दिशाओसे दो प्रदेश बीचमें बैठते हैं । यों इन ८ प्रदेशोको छोड़कर कोई प्रदेश ऐसा नही रहा जिसमे यह जीव अनत बार नही जन्मा, नही मरा । उन ८ प्रदेशोपर बीचके ८ प्रदेश अवगाहकर उत्पन्न हुए हैं । तो परिवर्तनमे अन्य-अन्य प्रदेशोकी बात निरखी जाती है । तो यहां कहा गया है कि सर्व प्रदेशोमे यह जीव अनन्तबार जन्मा और मरा । उसका कारण यह है कि भावलिङ्ग उत्पन्न न हो सका । भावलिंगमें प्रधानता है इस स्थितिकी कि जहा उपयोगमे अविकार सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें यह मैं हु यह प्रतीति रहे, और इस प्रकृतिकी दृढ़तासे, अनुभवसे समस्त बाह्य पदार्थोंका ख्याल दूर हुआ, विकल्प दूर हुआ, ऐसी निर्विकल्प समाधि नही प्राप्त की इस जीवने, इस कारण ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें यह अनन्त बार उन प्रदेशोंपर जन्म मरण करता रहा । इस कथनमें क्षेत्र परिवर्तनका संकेत मिलता है । क्षेत्र परिवर्तनमें लोकके मध्यके

८ प्रदेशोंपर जघन्य अवगाहनामें आत्माके मध्यके ८ प्रदेश रहते हैं और उस प्रकार फिर क्षेत्र परिवर्तनमें आगे आगे बढ़ाया जाता है तो क्षेत्र परिवर्तनकी याद दिलानेके लिए यहाँ यह कहा गया है कि लोकके मध्यके ८ प्रदेशोंको छोड़ सभी प्रदेशोंपर इस जीवने अनन्तबार जन्म मरण किया। परिवर्तनमें भी पुनरुक्त अन्य सब प्रदेशोंकी गणना नहीं बतायी गई है।

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं।

अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तया भणिया ॥३७॥

(६३) भावलिङ्गकी प्राप्तिके बिना अनन्ते व्याधिमंदिर देहोंको उपलब्धियाँ—इस जीवने भावलिङ्ग नहीं पाया इससे अनन्त शरीर धारण करता रहा और इस शरीरमें बड़ी व्याधियाँ सही। एक मनुष्यके शरीरमें कितने घनांगुल प्रमाण क्षेत्र है। सो एक साढ़े तीन हाथका ही शरीर लीजिए, जैसा कि आजकल होता है। तो एक हाथमें २४ अंगुल होते हैं और २४ × ३ = ७२ + १२ = ८४ अंगुल हुए। यह तो एक ओरकी लम्बाई है, और शरीर की चौड़ाई २४ अंगुल ही मानो तो ८४ × २४ = २०१६ अंगुल हुए और उसकी मोटाई नापी जाय तो मानो १० अंगुल भी रखा तो करीब हजार अंगुल प्रमाण शरीर रहा और एक एक अंगुलमें ९६-९६ रोग होते हैं तो सारे शरीरमें कितने रोग होते हैं? करोड़ोंकी संख्यामें रोग निकलेंगे। ऐसे करोड़ों रोगोंसे भरा हुआ यह शरीर है, जिस शरीरको लोग अनन्त बार ढोते फिरे। यह जीव स्वभावतः विशुद्ध ज्ञानमात्र परमात्मतत्त्व है। पर अपने आपके स्वरूप को न जाननेके कारण निमित्तनैमित्तिक भाववश ये सारे उपद्रव बन गए हैं। तो इन उपद्रवों से मुक्त होना है तो उसका उपाय मात्र आत्मस्वरूपका परिज्ञान है।

ते रोया वि य सयला सहियाते परवसेण पुव्वभवे।

एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

(६४) परवश मोही जीवों द्वारा अमित रोगोंके दुःखोंका सहन—शरीरमें करोड़ों की संख्यामें रोग हैं। वे समस्त रोग पूर्वभवमें परवश होकर तूने सहे। आज जो भी छोटासा रोग आता है उसे यह जीव पहाड़सा समझ लेता है, पर इससे भी भयानक कठिन-कठिन रोग कितने भवोंमें इस जीवने सहे। उनके सामने यह क्या रोग है अथवा रोग क्या है आत्मामें? शरीर पाया है, पुद्गल स्कंध है, उस ही का यह सब परिवर्तन है। आत्मा तो उससे निराला ज्ञानमूर्ति है, पर ऐसी बात कहना गप्प क्यों कहलाने लगती कि श्रद्धा नहीं है निजके ज्ञानमात्र स्वरूपकी और उस तरहकी बुद्धि नहीं बनती, उपयोग भी नहीं बनता, इस कारण अनुभूति रहित, उपयोगरहित आत्माके स्वरूपकी बात कहना कि छल से विषयभोगोंको भोगनेकी उमंग रखना जो उसकी बात गप्प कहलाती है। तो इस शरीरमें करोड़ों रोग हैं। उन रोगोंको है

मुने ! तूने पूर्वभवमें परवश सहे हैं। जैसे मुनिको कोई रोग हुआ हो, कठिन वेदना हुई हो तो उसको याद दिलाया जा रहा है कि यदि शरीरमें अहंबुद्धि की, शारीरिक रोगोंसे घबड़ाया, संक्लेश परिणाम हुआ तो ऐसे ही रोग तू फिर सहेगा। बार-बार सहेगा, इस कारण तू शरीर से दृष्टि हटाकर ज्ञानमात्र निज अन्तस्तत्त्वमें यह मैं हूं, ऐसा अनुभव कर। पराधीन होकर तो तू सारे दुःख सह लेता है, और यदि ज्ञानभावना करेगा, जो दुःख आया है उससे चिगेगा नहीं तथा आये हुए दुःखको स्ववश सह लेगा तो कर्मोंका नाश करके मुक्त हो जावेगा। इससे कोई दुःख आये, रोग आये तो उसमें घबड़ा जाना यह बिल्कुल ही अनुचित है। कितने ही कठिन दुःख हों, कितने ही कठिन रोग हो, जिस कालमें देहरहित ज्ञानमात्र इस परमात्मतत्त्व को देख ले कोई तो उसकी सारी व्याधियाँ उपयोगसे तो तत्काल खतम हुई और पापरस खिर जानेसे उनमें भी खोटापन मिटकर भलाई आ जायगी। इससे हे मुने, रोग आनेपर तू इन नाना रोगोंके आधारभूत देहसे भी निराले अपने आपको देख ले।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमि जाले।
उयरे वसिओसि चिर नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३६॥

(६५) जीवोंका अशुचि गर्भमें आवास—हे मुने ! तू ऐसे अशुचि उदरमें ९-१० महीने बसकर रहा है। माँ के पेटसे निकला तो यह तो निकलना कहलाया, मगर जन्म तो तब ही से कहलाया जबसे माँ के उदरमें यह जीव आया। सो कोई ८ माह, कोई ९ माह, कोई १० माह, इस प्रकार गर्भमें रहता है, सो वहाँ किस जगह रहा, जो कि सुननेमें भी एक रोमांच करता है। फिर रहनेकी बातका तो कहा ही क्या जाय ? वह उदर मलिन अपवित्र है जिसमें पित्तकी मलिनता, आँतड़ियोंसे भरा हुआ जहाँ मूत्रका झरना, रुधिरका झरना है, रुधिर न हो, मेद फूल जाये, ऐसा फेफसका होना है और जिस पेटमें कलेजा रहता है याने दक्षिण भागमें जलका आधारभूत जो मांसकी थैली है सो उस कलेजेमें यह जीव बसा। रुधिर और बहुतसा अपक्व मैला उससे मिला रहा और कफ रुधिर आदिक, लट आदिक जीवोंके समूह वे सब वहाँ पाये जायें, ऐसे पेटमें तू ८-९ माह बसा। तो इस देहसे तू क्या मोह रखता है ? यह देह ही दुःखरूप है। इसके ही कारण नाना जन्ममरण करने पड़ते हैं, सो ये ही सब कष्ट हैं, उन कष्टोंसे तू हट और अपने अविकार ज्ञानस्वरूपको निरख।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥४०॥

(६६) उदरवासमें अशुचिताका पुनः दिग्दर्शन—हे आत्मन् ! तू माताके पेटमें गर्भ-विषे रहा, सो माताका और पिताका जो मल है वमनका अन्न, अपक्व मल, रुधिरसे मिला

ऐसे, पेटमें तू बसा। सो माताने अपने दाँतोंसे चबाया और उन दाँतोंमें लगा ठहरा जो कुछ भोजन था वह माँके उदरमें गया। उसका ही तूने रसास्वाद किया। माने गर्भमें रहकर तू ने खाया क्या ? वह चीज केवल उच्छिष्ट है। कुछ खानेकी नहीं मिल रहा, भुखसे भी नहीं खाया गया। बाहरसे अशुच अपवित्र वस्तु है, वही इसके नसाजालसे इसका प्रवाह होता गया तो उदरमें रहकर तेरा जो आहार रहा वह ऐसा अशुचि अपवित्र आहार रहा। परवश होकर कुछ भी जीवको सहना पड़ता है तो सह लेता है। आज बड़ी उम्र होने पर शरीरका बल प्राप्त होनेपर ऐसी बातको कोई नहीं सहन कर सकता। अभी जरा सा कूड़ा पड़ा हो कमरेमें तो झट नाक भौं सिकोड़कर अपना मन मलिन कर लेते हैं, और परवश उस माताके पेटमें कैसा अपवित्र स्थान फिर भी बैठा रहा और वहाँके दुःख सहा। सो जो देहमें ममता रखना है वह पुरुष ऐसे शरीरोंको पाने मिटानेका सिलसिला बनाये रहता है और उस जन्ममरणमें ऐसे कठिन-कठिन दुःख भोगने पड़ते हैं, इस कारण हे मुने तू सर्व दुःखोंके आधारभूत इस देह से ममता तज। यह देह तुझसे प्रकट भिन्न है, तू ज्ञानमात्र है, यह देह मूर्त है, इस मूर्त पदार्थसे हटकर तू ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमें आ और अपना यह दुर्लभ मानवजीवन सफल कर।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुणिवर ! बालत्तपत्तेण ॥४१॥

(६७) शिशुपनके क्लेशोंका दिग्दर्शन—हे मुनिवर ! बहुत कठिनाईसे बड़े दुःखके साथ तू माँके पेटसे निकला, छोटी शिशु अवस्था पायी तो उस शिशु अवस्थामें, उस अज्ञानदशा मे तेरेमे कुछ विवेक ही न रहता था। अगर सामने कोई अशुचि अपवित्र चीज मिले तो उसी को उठाकर खा लेता था या उस अशुचि चीज पर लेट जाया करता था, इससे और अज्ञानताकी बात क्या दिखाई जाय ? बिल्कुल असक्त था, कुछ भी कार्य न कर सकता था, अत्यन्त पराधीन था। तेरा ही कुछ पुण्यका उदय हुआ तो लोग तेरी संभाल करने लगे, अगर नही है पुण्योदय तो पड़े पड़े चिल्लाता रहा और छोटी मौतसे मरण हो जाय तो तूने इस भवमें भी कौन सा आनन्द प्राप्त किया ? जब शिशु रहा तो शिशु अवस्थामें भी तू ने कठिन दुःख पाया। यहाँ मुनिवर करके सम्बोधन किया गया है, सो उपदेश मुनिराजको प्रधानतया दिया जा रहा। जो लोग भावलिंगको छोड़कर, भावलिंगकी सुध ही न रखकर द्रव्यलिंगमें ममता रखते हैं और द्रव्यलिंगके नातेसे व्रत तपकी साधना करते हैं उन मुनिराजोंको यहाँ सम्बोधा गया है कि हे मुनिजन, तू बाह्य आचरण कर रहा है तो यह कौनसा बड़ा कार्य है, क्योंकि भाव बिना ये बाह्य आचरण सब निष्फल होते हैं और भावलिंग न पानेसे अनेक बार द्रव्यलिंग धारण करके भी वे ऐसे निष्फल रहे कि जिससे जन्ममरण रंच भी न कट सके और

जन्ममरणका तांता बराबर चलता रहा। और वह कैसा जन्ममरण था सो एक इस मनुष्य-भवके जन्ममरणसे ही बताया जा रहा कि देखो—इस भवका ही जन्म कैसा रहा? जब माँ के पेटमें आया तो चारों ओर अपवित्र घिनावना स्पर्श रहा। वह होता ही इस प्रकार है, पर बताया जा रहा है कि संसारमें भ्रमण करते हुए कैसी कैसी घटनायें घटती हैं। और यह भ्रमण बना है भावलिंगके पाये बिना, सो द्रव्यलिङ्गमें ममताको तज। यद्यपि द्रव्यलिङ्ग पाये बिना भावलिंगका ग्रहण नहीं बन पाता। उपयोगमें अविकार सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति नहीं बन पाती, लेकिन द्रव्यलिंग तो एकदम परद्रव्य है। मूर्तिक शरीर है, पुद्गल स्कंध है, उसको अपनानेसे, उसकी ममता रखनेसे तो कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। इससे द्रव्यलिंग एक बाह्य साधन मात्र जान और अपने आपके अन्तःस्वरूपका ग्रहण करनेमे उपयोगको जुटा। इस ज्ञानस्वरूपके ध्यानसे ही ये कर्म सब टूट जायेंगे। यह देह भी सदाके लिए विमुक्त हो जायगा और अनन्तकालके लिए यह जीव सहज परम आनन्दका भोगने वाला बनेगा। इससे एक ही निर्णय रखना कि यह देह तो मेरे लिए कलक है। इस देहमें फस गया है। छोडा जा सकता नही। तो अब अन्य सर्व बातोको त्यागकर इस देहसे भी ममता त्यागकर अपने सहज अविकार ज्ञानस्वरूपमें उपयोगी होना चाहिए।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं।
खरिसवसपूर्यखिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

(६८) अतिदुर्गन्धमय देहमे प्रीतिकी निरर्थकताका उपदेश—हे मुने, तू इस देहरूपी घरको ऐसा विचार कि यह देह घर, यह देह कुटी अत्यन्त अपवित्र है। मांस, हाड, वीर्य, खून, पित्त उष्ण विकार आंतडियाँ उतरना आदिक कर मृतक पुरुषकी तरह दुर्गन्ध वाला देह है। जैसे देहमे खूनसे मिला हुआ कच्चा मल है। पीप और मेदासे भिडा हुआ लोहू और खून है, ऐसी इन मलिन वस्तुओसे भरा हुआ यह देह है, ऐसे इस दुर्गन्धित देहसे ममताको छोड दो। सवेग और वैराग्यके लिए ससारका स्वभाव और शरीरका स्वभाव विचारा जाता है। सवेगके लिए, ससारसे हटनेके लिए और धर्ममें लगनेके लिए जगतका स्वरूप विचारना होता है और वैराग्यके लिए शरीरका स्वरूप, विचारा जाता है यह शरीरकी बात कही जा रही। जो शरीर ऊपरसे बड़ा सुन्दर रूपवान दिखता है, वह शरीर अत्यन्त ग्लानियुक्त वस्तुओसे भरा हुआ है। सर्वप्रथम तो इसमें हड्डियाँ हैं, जैसी श्मशानमें हड्डियाँ दिखती हैं वे ही हड्डियाँ इस शरीरमें हैं और उन हड्डियोपर मांस लिपटा हुआ है, खून आदिक लिपटा है और ऊपर से चाम ढका है। यदि चामसे यह देह मढ़ा हुआ न होता तो यह तो प्रकट भयावना लगता और इन सब वस्तुओमे बुरी दुर्गन्ध होती। तो ऐसे दुर्गन्धित पदार्थसे भरा हुआ यह देह कुटी

कुष्ट हो और जिसमें आतें उतर जावें, अनेक प्रकारके रोग हो जावें, कठिन रोग, जो ग्लानि करने वाले रोग हैं वे भी इसमें होते हैं। ऐसा यह दुर्गंधमय देह है। मनुष्य खाता है तो वह खाना कुछ कच्चा रहा या कुछ पक्का रहा, उससे मिला हुआ सारा देह है अतः उससे दुर्गन्ध और भी बढ़ जाती है। ऐसे दुर्गन्धमय वस्तुओंसे भरे हुए इस देहमें हे मुनि तू क्या ममता करता है? जो मुनि साधु होकर अपने देहमें ममता करे कि मैं साधु हूं इस देहको निरखकर अपनेमें साधुपन सोचकर मौज मानना, भला समझना यह देहकी ममता है। और जीव भी तो इसी तरह ममता करते हैं देहको देखकर मैं इसका पिता हूं, मैं इस घर वाला हूं, मैं इस पदका हूं, मैं इतने धन वाला हूं, यह देहको देख कर ही तो सोचा जाता। यही तो देहकी ममता है। तो कोई साधु हो जाय और उस देहमें ऐसी बुद्धि रखे कि यह मैं साधु बन गया तो वह देहकी ममता ही कर रहा है, सो जब तक देहमें ममता है तब तक मोक्षकी सिद्धि नहीं होती इससे हे मुने तू इस द्रव्यलिङ्गसे ममत्वको त्याग दे और अपने अविकार ज्ञानस्वरूप भावलिङ्गकी सम्हाल कर।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

(६९) भावसहित परिग्रहत्यागकी सार्थकता—जो मुनि भावके विकारसे अन्यविकार आदिकसे मुक्त हुआ है उसे ही मुक्त समझना चाहिए और जो मात्र बाह्य बान्धव परिवार मित्रादिकसे मुक्त हुआ तो वह वास्तवमें मुक्त नहीं है। यदि तद्विषयक मूर्छा त्याग दी तो वह मुक्त कहलायगा। वह बाह्य बांधव कुटुम्ब मित्रादिकको छोडनेसे और निर्ग्रन्थपद धारण करने से मोक्षमार्गी न कहलायेंगे किन्तु अपने भीतरका ममत्वभाव न रहे, खोटी वासना न रहे तो उसे निर्ग्रन्थ कहियेगा और अगर रागद्वेष नहीं छूटा तो वह साधु नहीं, निर्ग्रन्थ नहीं, भीतर की वासना छूटनेसे ही निर्ग्रन्थ कहलाता। इस कारण हे मुने द्रव्यलिंग तो धारण किया ही है याने सब परिग्रहोंको त्याग करके इस मुनिभेषको धारण किया ही है। अब भीतरमें रागद्वेष का परिहार करके तू वास्तविक मुनि बन।

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥४४॥

(७०) महंतपुरुषोंके भी [illegible] बिना कषायविजयका अनुपालन—अब यहीं उदाहरण देते जा रहे हैं कि जिसने समस्त बाह्य पदार्थोंका तो त्याग कर दिया किन्तु भीतरमें विषय कषायोंकी वासना नहीं मिटी तो कितना ही काल व्यर्थ गया और वह भी यदि कोई [illegible] गया तो उसने अपना सुधार कर लिया और यदि कोई सम्हला ही नहीं, तो उसने अपना

विजय कर लिया। यहाँ पौराणिक उदाहरण दे रहे हैं बाहुबलि स्वामीका, इस क्षेत्रका नाम है भरतक्षेत्र या भारतदेश। इसका भारत नाम क्यों पड़ा? तो ऋषभदेवके पुत्र भरतचक्रवर्ती हुए उनके नामपर भारतदेश या भारतवर्ष नाम पड़ा। उस समय भरतचक्रवर्तीका इस भारत क्षेत्रमें छहों खण्डोंपर राज्य था। ऋषभदेवके पुत्र भरत और बाहुबलि थे। भरत तो बड़े थे और बाहुबलि छोटे थे। भरत दूसरी रानीसे थे और बाहुबलि दूसरी रानीसे थे। वे दोनों अलग अलग अपने देशका राज्य करते थे। अब भरतको चक्रवर्तीपना सिद्ध हुआ? उनके आयुधमें चक्ररत्न पैदा हुआ। यह महान सम्राट होनेकी पहिचान हुई। अब उन्होंने अपनी सेना सहित छहो खण्डोंमे विहार किया और जो शत्रु वशमें न हुए थे उन्हें वश किया। छहो खण्डमे विजय प्राप्त करके जब वह अयोध्यामें आये तो उनका चक्ररत्न अयोध्यानगरीमे प्रवेश ही नहीं कर रहा था। वहाँ पूछा गया कि अभी कौन सा राजा जीतनेके लिए बचा है क्योंकि चक्ररत्न अयोध्या नगरीमे प्रवेश नही कर रहा तो वहाँ बताया गया कि अभी आपके भाई बाहुबलि शेष रह गए हैं जिनको आपने जीता नही। तब भरतने बाहुबलिके पास पत्र भेजा कि तुम मेरी शरणमे आओ। तो बाहुबलिने उत्तर दिया कि हम भी ऋषभदेवके पुत्र हैं और तुम भी। इसमे एक दूसरेके आधीन होनेकी बात ही क्या है? हाँ बडे भाई होनेके नातेसे हम आपके सामने नम्रीभूत हैं, मगर राज्यपदके नातेसे हम आपके आगे नही झुकेंगे। बस दोनोंमें युद्धकी तैयारी हो गई। उस समय दोनों राजाओंके मन्त्रियोंने मिलकर विचार किया कि इस युद्धमे तो हजारोंकी जान जायगी सो कोई ऐसा उपाय बनाया जाय कि इन दोनोंके बीचमे युद्ध भी सिद्ध हो जाय और लोगोंका खून भी न बहे। तो एक उपाय सोचा कि भरत बाहुबलि ये दोनो परस्परमे युद्ध करें और उस युद्धमे जो विजय प्राप्त करे बस उस के विजयका निर्णय सुनाया जाय। आखिर यह बात तय हो गई और तीन तरहके युद्ध रखे गए—(१) दृष्टियुद्ध (२) मल्लयुद्ध और (३) जलयुद्ध। मानो पहले जलयुद्ध किया, तो भरतचक्रवर्तीका शरीर बडे होकर भी छोटा था और बाहुबलिका शरीर उम्रमें छोटे होकर भी भरतसे कुछ ऊंचा था। तो जब जलयुद्ध करने चले मानो सरोवरमें प्रवेश करके पानीके छींटे एक दूसरेकी आंखोमे फेंकने लगे तो बाहुबलिके छींटे भरतकी आंखोमे तेज पडते और चूंकि बाहुबलि कुछ ऊंचे थे सो भरतके छींटे बाहुबलिकी आंखोंमे कम पडते। तो उस जल युद्धमें बाहुबलिकी जीत हुई। फिर हुआ दृष्टियुद्ध। एक दूसरेकी दृष्टिमें दृष्टि मिलाये जिसकी पलक पहले झँप जाय वह हारा माना जायगा तो बाहुबलि बड़े थे तो उनको आंखें बहुत ऊँचे नहीं उठानी पड़ती थी। उनकी दृष्टि नीचेकी ओर रहती थी और भरतको अपनी दृष्टि ऊँचे उठानी पडती थी छोटा बड़ा होनेसे तो यह प्राकृतिक बात है कि ऊँचा मुख उठाकर

पलक उठायें तो वह बहुत देर तक स्थिर न रहेगा आखिर उसमें भी बाहुबलिकी जीत हुई। तीसरा युद्ध हुआ मल्लयुद्ध। सो उस मल्लयुद्धमें भी बाहुबलि लम्बे थे, पुष्ट भी थे सो झट भरत चक्रवर्तीको अपने दोनों हाथोंसे उठा लिया और कंधेपर रख लिया और एक ही चक्र घुमा करके दुनियाको बता दिया कि बाहुबलिकी विजय हुई उस समय भरत बहुत शर्मिन्दा हुए और क्रोधमें आकर जो उनको चक्ररत्नकी सिद्धि हुई थी सो वह चक्र बाहुबलिपर घुमा दिया। चक्रकी ऐसी नीति रीति होती है कि जिसपर घुमाया जाय उसका सिर कट जाता है, मगर कुटुम्बपर जाय तो वह चक्ररत्न तीन प्रदक्षिणा देकर वापिस हो जाता है। बाहुबलि की तीन प्रदक्षिणा देकर वह चक्र भरतके हाथमें आया। भरतका बड़ा अपमान हुआ।

(७१) बाहुबलिका वैराग्य व तपश्चरण एवं कषायविघ्नकी हैरानी—कषायके समस्त दृश्य देखकर बाहुबलिको बड़ा वैराग्य जगा कि एक इस भिन्न असार पौद्गलिक ठाट बाट के लिए भाई भाईमें भी ऐसा जंग छिड़ जाता है। यह राज्यपद बेकार है, इस प्रकारके विरक्तिके भावमें वह बढ़े हुए थे। आखिर सारा राज्य छोड़कर बनमें जाकर निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर मुनि हो गए। बाहुबलि मुनि होकर एक वर्ष तक अडिग तप करते रहे, जहाँ खड़े वहीं खड़े रहे। वहीं बरसात बीती, ठंड बीती, गर्मी बीती। वहाँ बाम्बी लग गई, बेल चढ़ गई बाम्बीसे सर्प भी निकलकर उनके शरीरपर चढ़ गए। एक वर्षमें जो हालत हो सकती है सो हुई और बाहुबलि चूंकि वज्रवृषभ नाराचसंहननके धारी थे सो जरा भी डिगे नहीं। मगर एक वर्ष तक तप करते हुए भी उन्हें केवलज्ञान न जगा। इसका कारण तो एक कविने यह बतलाया है कि बाहुबलिके चित्तमें ऐसा अभिमान था कि मैं भरतकी भूमिपर खड़ा हुआ तप कर रहा हूं। क्योंकि उस समय भरत चक्रवर्ती थे, भूमि उनकी ही थी, जैसा कि लोकव्यवहारमें माना जाता है और यहाँ उस घटनाके कारण विरक्त हुए थे। यह ध्यानमें रहा। इस ध्यानके कारण उनको केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। दूसरा कवि यह कहता है कि बाहुबलिको यह अफसोस रहा कि मेरे द्वारा मेरे बड़े भाईका अपमान हुआ है। इस अफसोसके कारण उनको केवलज्ञान नहीं जगा।

(७२) ज्ञानद्वारा कषायविघ्नका प्रक्षय और बाहुबलिजीको कैवल्यलाभ—और बाहुबलिजीके आत्मविकासमें बाधक कारण कुछ भी हो। जब भरतचक्रवर्ती बाहुबलिके सामने आये और भरत सम्राट्ने अपना मुकुट नीचे रखकर बाहुबलिके चरणोंमें नमस्कार करके स्तवन किया और कहा कि हे प्रभु यह भूमि किसकी है? जो आया सो छोड़कर चला गया। भूमि भूमिकी है और यह मैं आपका सेवक हूं और गुणोंकी स्तुति की तो वहाँ बाहुबलिस्वामी का शल्य दूर हुआ। यदि अभिमानका शल्य रहा हो कि मैं भरतकी भूमिपर तप कर रहा हूँ

की, वह भी शल्य दूर हो गया और यदि अपमानका शल्य रहा हो तो भाईको सामने नम्री-भूत होते देखकर वह भी शल्य दूर हुआ। उस समय उनको केवलज्ञान हुआ। मगर यह तो देखो कि जब तक सही भाव नही बना एक वर्ष तक तप करनेपर भी, जब तक कषाय भाव नही गया तब तक उनको कैवल्यकी प्राप्ति न हुई। जब कलुषता मिटी तब केवलज्ञान जगा, इस कारण आचार्य संत उपदेश करते हैं कि बड़ी शक्तिका धारक भी कोई महान पुरुष हो तो भावकी शुद्धिके बिना सिद्धि नही प्राप्त कर सकता, तब अन्य छोटे लोगोकी तो कथा ही क्या करना ? इस कारण अपने भावोको शुद्ध कीजिए।

(७३) भावलिङ्ग बिना सिद्धिकी असंभवता—भावोकी शुद्धि हुए बिना तन, मन, वचनकी कुछ भी क्रिया हो क्रोधादि वाली क्रियासे मुक्ति नहीं प्राप्त होगी और मुक्तिका लाभ करनेके लिए क्या करना सो देखो, अपने आपको ऐसी मुक्ति चाहिए कि मुक्त होनेपर भी मैं ऐसा अकेला रहूगा, सो वह अकेला आत्मा अब भी अकेला ही है। भले ही कुछ कर्मका संयोग है, कुछ अन्य जीवोका संयोग है, शरीरका संयोग है तो रहो, यह भी कोई घटना है मगर स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा अपनेमे स्वतंत्र केवल ज्ञानवृत्ति वाला यह स्वयं पर-मात्मस्वरूप है। सो जो अपनेमे अनादि अनन्त काल तक प्रकाशमान विशुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको देखता है उसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है और मुक्तिका लाभ होता है। और जो अपने को ऐसा केवल नही निरख पाता किन्तु कोई परसयोगी मानता है, मैं अमुक हू बाह्यपदार्थमे, तो वह पुरुष ससारमें भटकता है। मुक्तिमे रहता है यह जीव अकेला सो यहाँ भी अकेला स्वरूप देख पाये तो यह अकेला बन सकेगा। और जब दुकेला देखता है। अपनेको शरीर वाला देखता है तो यह दुकेला ही रहता चला जायगा याने इसका जन्म मरण होता ही चला जायगा इससे इन बाहरी वस्तुओको गौण कर अन्य पदार्थोंके सयोगको गौण करके अपनेमें केवल सहज ज्ञानमात्र ही अपनेको निरखना चाहिये और ऐसा ही ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवना चाहिये। मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ नही हू, अन्य कुछ मेरा है नही। अन्य किसी घटनासे मेरा सुधार बिगाड़ है नहीं। अपने स्वरूपको देखूं तो अपना सब सुधार ही है। ऐसा निरखने से द्रव्यलिंग भी सार्थक हो जाता है और एक भावसे विमुख होनेसे यह द्रव्यलिंग भी निरर्थक हो जाता है, सो एक भावसे विमुख होनेसे यह द्रव्यलिंग धारण करना केवल परिश्रम ही है।

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो।
सवणत्तणं ण हत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥

(७४) कषायावेशमें मधुपिंगल मुनि द्वारा निदानबन्ध—प्रसंग यह चल रहा है कि भावलिंगके बिना द्रव्यलिंगसे कोई सिद्धि नही है। उसके विषयमें यहाँ एक उदाहरण दिया

कथा है मधुपिंगल नामक मुनिकी। मधुपिंगल नामक मुनिकी कथा पुराणोंमें है, जिसका संक्षेप यह है कि इस ही जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें सुरम्य स्थान पौदनापुर नगरका राजा तृणपिङ्गलका पुत्र मधुपिंगल था। वह मधुपिंगल एक बार चारणयुगल नगरके राजा सुयोधनकी पुत्री सुलसाके स्वयंवरमें गया था। स्वयंवर एक ऐसा विवाह निर्णयकी सभा होती है कि जहाँ किसी राजपुत्रीका स्वयंवर रचा हुआ होता है, वहाँ सब राजपुत्र एकत्रित होते हैं और वह पुत्री जिसको पसंद करे, वर चुने उसके साथ सम्बन्ध निर्णीत होता है। तो ऐसी स्वयंवर सभामें वह मधुपिंगल गया था और उस स्वयंवरकी सभामें सभी देशोंके राजपुत्र आया करते हैं सो वहाँ साकेतपुरीका राजा सगर भी आया था और वहाँ सभी राजपुत्र ऐसा सोचते हैं कि कोई उपाय बनावें कि दूसरोंसे इस पुत्रीका चित्त हट जाय और मेरेको ही पसंद करे। सो वहाँ राजा सगरके मन्त्रियोंने और सगरने मिलकर विचार किया कि इस मधुपिंगलसे इस पुत्रीकी दृष्टि हट जानी चाहिए। सो इस षड्यन्त्रमे जल्दी ही एक शकुनशास्त्र बना डाला, सामुद्रिक शास्त्र बना दिया जिसमें यह भी लिख दिया कि जिसके पीले नेत्र हों, पिंगलकी तरह हों, और उसे यदि कोई कन्या वरे अर्थात् अपना पति बनावे तो वह कन्या विधवा होगी, यह भी उसमें स्पष्ट लिख दिया। मधुपिंगलके नेत्र पिंगल थे, सो ऐसी ही बात लिखी जिससे मधुपिङ्गलकी निन्दा चले। जब यह बात प्रसिद्ध की, तो उस कन्या सुलसाने मधुपिङ्गलके गले मे जयमाला न डालकर सगरके गलेमे जयमाला डाल दिया। और यहाँ तक कुछ भी पता न चला। मधुपिंगलको वैराग्य जगा और विरक्त होकर मुनि हो गए। अब मुनि हुए बाद सगर के मन्त्रियोके कपटका पता पड गया। तब तक कुछ भी पता न था। सही ढगसे दीक्षा हुई थी, किन्तु जब सगरके मन्त्रियोके कपटका पता पड़ गया तो उसे बडा क्रोध आया। उस मधुपिङ्गल मुनिने उस क्रोधमे निदान बाँधा कि मेरी तपस्याका फल यह हो कि अन्य जन्ममे मैं सगरके कुलको निर्मूल कर दूं अर्थात् इसके कुलका कोई न बचे, सबका संहार करूँ।

(७५) कार्तिक किया मधुपिंगलमुनिको बरबादी—वह मधुपिंगल मरकर महाकालासुर नामका देव हुआ। तब उस असुरने सगरका और मंत्रीका सबका मरणका उपाय सोचा और उपाय यह मिला कि जिसके प्रयोगसे उनकी बरबादी तो हुई मगर आगे परम्परा चलकर लोगोकी भी बरबादी होती आ रही है। उस असुरने और कदम्ब ब्राह्मणके पुत्र पर्वतको देखा कि यह पापी भी है और यह अर्थ भी ऐसा ही कर रहा है वेद मन्त्रका कि बकरा आदिकको यज्ञ होमना चाहिए, तब उस यज्ञका सहाई बन गया वह देव, जिस यज्ञमें पशु होमे जाते थे। उस यज्ञमे सहाई किस तरह बना कि पहले तो सगर राजाको यज्ञका उपदेश दिया और देखो राजन् तेरे यज्ञका मैं सहाई होऊँगा, फिर पर्वत सगर राजाके पास गया और वहाँ यज्ञ होम करवाया

और उस यज्ञमें इस असुर देवने अपनी मायासे उन पशुओंको स्वर्गमें जाते हुए दिखाया। यह सब षड्यंत्र ही था। उससे अपरका उस पशुहिंसाके काममें बड़ा मन रमा। तीव्र रौद्रध्यान बनाया जिस पापके कारण सगर ७वें नरक गया और इसी तरह उसके कुटुम्बका भी विध्वंस हुआ। तो तात्पर्य कहनेका यह है कि मधुपिंगल नामक मुनिने निदान करके महाकालासुर कुदेव बनकर महापाप उत्पन्न किया। मुनि हो गया, पहले द्रव्यसे मुनि हुआ था किन्तु पीछे भाव बिगड़े और वह खोटी लाइनमें पड़ गया। उसने सिद्धि प्राप्त न की। तो द्रव्यलिंग धारण करले से क्या होगा यदि भावलिङ्ग न हो तो। मोक्षमार्गमे भावलिङ्गकी ही प्रधानता है और भाव-लिङ्गकी सिद्धि सम्पूर्णतया द्रव्यलिङ्ग पाये बिना होती नही है, इसलिए द्रव्यलिङ्ग तो बाह्य साधन है और भावलिङ्ग कर्मोंके प्रक्षय करनेका मूल साधन है।

अण्णं च वसिट्ठमुणि पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥४६॥

(७६) परमार्थभाव बिना वशिष्ठ मुनिकी अवगतिमूलक प्रगति—आत्माका अविकार सहज ज्ञानस्वरूप ही इस जीवका सारभूत तत्त्व है, जिसके आश्रयसे कर्मोंका विध्वस होता है, मुक्ति प्राप्त होती है। इस अविकार सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पाये बिना यह जीव मुनि-व्रत धारण करके मुनिमुद्रा द्रव्यलिङ्ग अगीकार करके कितने ही तपश्चरण करले, किन्तु पर-मार्थ भावके बिना मोक्षमार्ग नही बनता। इसके लिए एक यह उदाहरण दिया गया है वशिष्ठ मुनिका। वशिष्ठ मुनिने निदान बाँधकर दुःख ही पाया सो ऐसा एक ही क्या अनेको उदाहरण हैं जिससे यह सिद्ध है कि इस जीवने भावलिङ्ग पाये बिना इस संसारमे सर्व प्रदेशोपर अनन्त बार जन्म मरण किया। वशिष्ठ मुनिकी कथा इस प्रकार है कि गगा और गधवती इन दो नदियोंका जिस जगह संगम है वहाँ एक जठर कौशिक नामका तपस्वी रहता था। उसके संघ में एक वशिष्ठ नामका भी तापसी था। वह पचाग्नि तप तप रहा था। वहाँ गुणभद्र और वीर भद्र ऐसे दो चारण मुनि आये। उन चारण मुनियोने वशिष्ट तापससे कहा कि तू अज्ञान से कुतप तप रहा है, इससे कोई सिद्धि नही है, इसमे जीवोकी प्रत्यक्ष हिंसा है। तब तापसीने प्रत्यक्ष हिंसा देखकर विरक्त होकर जैनीदीक्षा अगीकार की और उस वशिष्ट तापसीने एक माह का उपवास लेकर आतापनी योग अगीकार किया, जिसके माहात्म्यसे ७ व्यन्तर देव आये और बोले कि हम तुम्हारी तपस्यासे तुम पर बहुत प्रसन्न हैं और जो आज्ञा हो सो तुम कहो। तब वशिष्ट मुनिने कहा कि इस समय तो हमें कुछ प्रयोजन नहीं है, पर किसी जन्ममें यदि मैं तुमको याद करूँ तो वहाँ हमारी सहायता करना।

(७७) परमार्थज्ञानके अभावमें वशिष्ट मुनिका निदानबन्ध—कुछ सिद्धिलाभके बाद

वशिष्ट मुनि मथुरापुरीमें आये और एक माहका उपवास लेकर आतापन योग धारण किया। उसे मथुरापुरीके राजा उग्रसेनने देखा, उसकी बड़ी भक्ति उमड़ी और यह सोचा कि मैं इनको आहार कराऊँगा, सो अपने आहार करानेकी दृष्टिसे उस उग्रसेन राजाने नगरमें ऐसी घोषणा कराई कि इस मुनिराजको दूसरा कोई आहार न देवे। और खुद राजा आहारकी विधि बना लेता था ताकि कहीं रुकावट न हो और मेरे यहां ही आहार हो जाय। सो मासोपवास जब पूर्ण हुआ तो पारणाके दिन वह वशिष्ट मुनि नगरमे आये तो वहां एक दिन अग्निका उपद्रव देखा। कहीं अग्नि लगी हुई थी। उसे देखकर अन्तराय मानकर वह उल्टा फिर गया। इसके बाद फिर मासोपवास धारण किया। फिर पारणामे आये सो नगरमें जैसे ही आये सो वहाँ हाथीका क्षोभ देखा। हाथी मस्त लड रहे थे, प्रजामें कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ तो अन्तराय जानकर लौट गए। इसके बाद फिर मासोपवास किया, फिर पारणाके दिन नगरमें आये तो वहां राजा जरासंधका एक पत्र आया था जिसमें कोई कडी बात लिखी थी। उसे पढ़कर राजा व्यग्र चित्त था। सो राजा मुनिको पडगाह न सका सो वह अन्तराय हो गई। ऐसे तीन बार मासोपवास किया, बीचमे पारनाके दिन आये सो प्रजाको मना कर दिया था कि कोई चौका न लगाये, और राजाके यहां आहार हो न सका, इसलिए तीन माह तक आहार न हो सका। अन्तराय जानकर उल्टा वनमें जा रहे थे कि लोग यह कह रहे थे कि यह राजा कैसा है कि खुद मुनि महाराजको आहार देता भी नहीं और दूसरोंको आहार देनेके लिए मना कर देता। ऐसे जब लोगोंके मुखसे वचन सुने तो वशिष्ठ मुनिको राजापर क्रोध उमड़ा और निदान किया कि मैं यहासे मरकर इसी राजाका पुत्र होकर इस राजाका विनाश करूँ और मैं राज्य करूँ, मेरी तपस्याका यह फल प्राप्त होवे।

(२८) वशिष्ठ मुनिकी कंसभवमे क्रूरदृष्टिता—वह वशिष्ठ मुनि निदानसे मरकर राजा उग्रसेनकी रानी पद्मावतीके गर्भमे आया और जन्म लिया। उग्रसेनका यह बालक बड़ा क्रूर प्रकृतिका था। पहले भवमे तो मुनि था और मासोपवासका बडा घोर तप कर रहा था और उग्रसेनको मारनेके लिए क्रोधमे आकर यह निदान बांधा था, सो वह भाव कहाँ जाता? जैसे ही वह बालक कुछ सयाना हुआ तो उसकी दृष्टि बड़ी क्रूर थी। तो उस राजाने इसकी क्रूर दृष्टिको देखकर कांसीकी मंजूषामे रखकर और इसका वृत्तान्त लेख लिखकर इसे यमुना नदीमे बहा दिया था। अब यमुना नदीमे बहती-बहती वह मंजूषा कोशांबीपुरमें एक मंदोदरी नामकी कलालिनीको प्राप्त हुई। उस कलालीने उस पुत्रको अपना पुत्र मानकर पाला पोषा और उसका नाम कंस रखा। जब वह कंस बडा हुआ तो जिसमे जैसी प्रकृति है वह कहाँ जायगी? पूर्व भवका वह मुनि था, राजा उग्रसेनका ध्वंस करनेके लिए निदान बांधा था, सो

क्रूरता उसमें प्राकृतिक थी। जब वह बालक बड़ा हुआ और अन्य बालकोंके साथ खेला करे तो सभी बालकोंको वह कहीं पीटता, कहीं झकझोरता, कहीं घसीटता। तो उस मंदोदरीके पास बड़े उलहने आने लगे कि हमारे बालकको तुम्हारा बालक पीटता है। बहुत उलहने सुन सुनकर मंदोदरी हैरान हो गई और उस कंस बालकको अपने घरसे बाहर निकाल दिया।

(७९) वशिष्ट मुनिका कंसभवमें अतिरौद्रपना और आत्मविघात—वह कंस शौर्यपुर पहुंचा और वहाँ वसुदेव राजाके यहाँ पयादा बनकर रहने लगा, एक मुख्य चपरासी बनकर रहने लगा। यह वसुदेव श्रीकृष्णके पिता थे। कुछ दिन बाद जरासंघ प्रतिनारायण हुए। उसका पत्र आया कि पोदनपुरका राजा सिंहरत्न उद्दण्ड हो गया उसको जो बाँधकर लायगा उसको आधा राज्य दिया जायगा और पुत्री भी पाणिग्रहण दी जायगी। यह पत्र वसुदेवके पास आया तो वसुदेव कंस सहित वहाँ युद्धमे गया और सिंहरथको बाँधकर जरासंघको सौंप दिया जरासंघने अपनी पुत्री जीवयशा और आधा राज्य वसुदेवको देना चाहा, किन्तु वसुदेवने यह बताकर कि यह सब करामात इस कंस पयादेकी है, सो जरासंघने उस कंसके कुलकी थोड़ी जानकारी करके अपनी जीवयशा पुत्रीको कंससे ब्याहा और कंसको आधा राज्य दिया। अब तो कंसकी खूब बन बैठी। अपने राज्यका विस्तार भी बढ़ाया। तो यह कंस मथुराका राज्य लेकर एक समर्थ राजा बना और अपने पिता उग्रसेनको व पद्मावती माताको बंदीखानेमे डाल दिया। इसके बाद फिर बहुत वृत्तान्त है। कृष्ण पैदा हुए, उनके द्वारा यह कंस मृत्युको प्राप्त हुआ। तो यह कंस वशिष्ट मुनिका ही तो जीव था, जिसने बड़े उपद्रव किये और अन्तमें बुरी मौत मारा गया। तो यह सब ज्ञानस्वरूप आत्मीय भावोंके पाये बिना व्रत, तप आदिकमे बढ़नेका और सामर्थ्य मिलनेका यह परिणाम है। तो वशिष्ट मुनिने निदान बंध करके आत्माकी कोई सिद्धि नही पायी। इससे यह जानें कि भावलिङ्गसे सिद्धि होती है।

(८०) भावलिङ्ग बिना द्रव्यलिङ्गकी अप्रयोजकता—भावलिंगका अर्थ है आत्माके ज्ञानस्वभावकी आराधना। जहाँ किसी भी प्रकारका अंतरंग परिग्रह नही है और उपयोगमे यह ज्ञानस्वरूप ही समाया है। ऐसी आराधनाको भावलिङ्गकी साधना कहते हैं। और द्रव्यलिंग है शरीरकी साधनारूप। किसी भी प्रकारका परिग्रह शरीरपर नही है। न शस्त्र है, न वस्त्र है और न किसी प्रकारका शृंगार है, न भस्म है न कोई प्रकारके शङ्ख आदिक आडम्बर हैं। केवल शरीरमात्र है। शरीर कहाँ छोड़ा जा सकता था? जो जो कुछ छोड़ा जा सकता था वह सब कुछ छोड़ दिया गया। केवल शरीर ही रह गया। सो अब शरीरकी रक्षा भी आवश्यक हो गया। सो जीवन रहे, परिणाम ढंगसे रहे तो यह रत्नत्रयकी साधना भी बन सकेगी, तो जीवनरक्षाके लिए आहार करना भी आवश्यक हो गया। सो आहार एक-

णा समितिसे किया जाता है। जब शरीर साथ है तो एक जगह रहकर भी अनेक पदार्थोंसे राग होना सम्भव है इसलिए साधकको किसी भी जगह बहुत समय न रहना चाहिए। तो विहार करना भी आवश्यक हो गया। तो विहार करनेके लिए ईर्यासमितिकी साधना बनी। जब यह शरीर है तो बोलचाल करना भी आवश्यक हो गया। तो जो कुछ बोला जायगा वह भाषासमितिसे बोला जायगा। जब शरीर साथ लिए हुए हैं, अन्य अन्य साधनायें करना आवश्यक हैं तो वहाँ स्वाध्याय करना भी आवश्यक है। तो स्वाध्याय करनेके प्रसंगमें विहार करनेके प्रसंगमे कमण्डल उठाना, शास्त्र उठाना धरना यह भी आवश्यक है। सो पीछीसे यत्न पूर्वक शोधकर स्वाध्याय आदिक करना होता है। उसमें आदान निक्षेपण समिति बनती है। जब आहार किया तो शरीरमें मलमूत्र भी होते हैं तो उनका फेंकना भी आवश्यक है तो उनका प्रतिष्ठापन निक्षेपण किसी निर्जन्तु भूमिपर करना चाहिए। उसके लिए प्रतिष्ठापना समितिका पालन होता है। तो द्रव्यलिंगमे इस निर्ग्रन्थ मुद्रामें ५ महाव्रत, ५ समितियोंका पालन, आवश्यक कार्योंका पालन और शरीरका शृंगार रहित रखना, स्नानका भी त्याग, दंतमंजनका भी त्याग, एक बार आहार लेनेका ही प्रयोजन, वह भी खड़े खड़े और थोड़ा सा ही भोजन, भूमिपर सोना, केश लोच करना आदिक क्रियावोंसे आसन्न रहते हैं। तो ये सब द्रव्यलिंगसे संबंधित बातें हैं। कोई पुरुष द्रव्यलिंगकी साधनासे तो बड़ा संतोष बनाये और उसमें अहंभाव होनेसे कोई गल्ती न होने दे, ऐसा अपना खूब परिश्रम बनाये और आत्माके सहज ज्ञान स्वरूपकी कोई सुध ही न हो, उस ओर दृष्टि ही न जाय, उसका अनुभव ही न बने तो ऐसे भावलिङ्ग रहित द्रव्यलिङ्गमें तेज गमन करने वाले पुरुषोंको कुछ भी सिद्धि नहीं होती। इस भावपाहुड ग्रन्थमें आत्माके सहज ज्ञानभावकी उपासनाका महत्त्व बताया जा रहा है। उसके बिना व्रत तप आदिक धारण पालन सभी निरर्थक होते हैं।

सो णत्थि त पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥४७॥

(८१) पदार्थपरिणमनविधि—इस लोकमें जो कुछ भी विविध विशिष्ट परिणमन होते हैं वहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव अवश्य है। जो परिणमन पहले न था वह परिणमन अब हुआ है तो इसमें कोई निमित्त अवश्य है। हाँ समान परिणमन चलता रहे तो उसमें निमित्त नहीं होता। जैसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य, कालद्रव्य शुद्ध जीव और शुद्ध परमाणु, इनमें समान समान परिणमन चलते है, उसमें कोई विषम परिणमन नहीं है, पर विषम परिणमन हुआ, मायने पहले और भाँति है अब और भाँति परिणमा है तो वहाँ कोई निमित्त अवश्य होता है। यही पद्धति जगतके सब पदार्थोंमें घटित कर लीजिए। ऐसे ही आत्माके सम्बन्धमें बात

है, आत्माकी जो सृष्टि चल रही है, जो रचना बन रही है, कभी नारकी हुए, कभी पशु बने, पक्षी बने, मनुष्य बने, देव बने, ये जो नाना प्रकारके परिणमन चल रहे हैं और भावोंमें क्रोध मान माया लोभ शान्ति अशान्ति जो भी परिणमन चल रहे सो ये परिणमन कोई बाह्य निमित्त पाकर हो रहे हैं, जिसमें बाह्य निमित्तका अभाव होनेपर जो परिणमन है वह तो स्वभाव परिणमन है और दूसरे निमित्तके सद्भाव होनेपर जो परिणमन है वह विभाव परिणमन है। जो इस जीवने अब तक क्रोध मान, माया लोभ मोह, अज्ञान इन भावोंको ही किया जिसका फल यह है कि यह संसारमें डोलता रहा। यदि यह अपने उपयोगमें परमार्थ ज्ञानस्वरूपको ग्रहण कर लेता कि मैं यह हूं तो इसका सब कुछ बदल जाता, मुक्तिकी सम्मुखता होती, शान्त जीवन रहता, और शान्त होनेका एक यह ही उपाय है। अपने आपमे आपको समझ लें कि वास्तवमे अपनी सत्तासे अपने आपमे यह हू ज्ञानज्योति मात्र। बाकी जो हो रहा है सो निमित्तनैमित्तिक भावसे हो रहा है।

(८२) निज व अन्य सभी पदार्थोंके परिणमनकी सबकी समान रीति व उसके जाननेसे शिक्षाकी उपलभ्यता—जो बात हम बाहरके पदार्थोंमे निरखते हैं वही विधि तो हमारी दृष्टिमे है। बाहर सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक योग देख रहे हैं, दीपक जल रहा है। बाती वहाँ निमित्त है, तैल वहाँ निमित्त है या तैलकी बूंद ही उपादान है, वही दीपक रूप बन रहा। दीपक उसका आधार है बाहरमे, और निरखते जाइये महिलाका जैसा हस्तादिकका व्यापार होता वेसी ही रोटी बनती, लड्डूकी शक्ल बनती। अग्निका सबध पाकर कडाही गर्म हो गई। उस गरम कडाहीका सम्बन्ध पाकर तैल गरम हुआ। उसका निमित्त पाकर पूडी सिकी। यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव दिख रहा। यह ही बात तो अपनेमे है। हम जैसा परिणाम करते हैं उस प्रकारका कर्मबंध होता है और उस कर्ममे जैसी आदत बन गई उसका उदय होने पर मुझमे वैसा विकार छा जाता है। अब यह जीव अज्ञानी है। उसने विकारको अपना स्वरूप मान लिया। अब वह अपनी सुध छोडकर विकार रूप अपनेको अनुभवता, और यह ही कारण है कि इसके रागादिक होते रहते हैं। किसीने दुर्वचन बोल दिया तो यह अपनेमे यह भाव लाता कि इसने मुझे बोल दिया, अब तो मैं गया। अरे ज्ञानमात्र अमूर्त मैं हू सो उसे तो दूसरेने पहिचाना ही नही, उसे बोलेगा कैसे ? जो जिसको जानता नही वह उसको कहेगा क्या ? ये जगतके लोग इस अमूर्त ज्ञानमात्र मुझको जानते ही नही हैं तो मुझको ये खोटे बोल बोल ही कैसे सकते हैं, और जिसको देखकर यह खोटा खरा बोला है वह मैं हू नहीं, तो मुझे बोला ही क्या है ? मैं हूं सहज ज्ञानज्योति मात्र। यदि इसका दृढतासे अभ्यास बन जाय तो आनन्दके लिए फिर किसीको पूछना नही। आनन्द हो ही गया।

(८३) सहज आनन्दको जगाते हुए ही परमार्थताका अनुभव—समयसारमें बताया है—एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि, एदेण होहु तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ एक ज्ञानमात्र तू है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, तू इस ज्ञानमात्र आत्मामें ही रत हो जा। यह ज्ञानमात्र आत्मा ही प्राचीन है। इसमें ही तू सन्तुष्ट हो जा, इसमें ही तू लीन हो जा। फिर तुझको अलौकिक आनन्द तुरन्त ही मिलेगा। फिर किसीसे पूछनेकी जरूरत नही कि मैंने धर्म तो किया पर आनन्द नही मिल रहा। न जाने कब मिलेगा ? जो लोग धर्मके नाम करते हुए भी दुःखी रहते हैं और शंका करते हैं कि मुझको धर्म करते इतने वर्ष हो गए पर दुःख ही मुझपर आ रहे हैं तो उन्होंने दोनो ही बातें नही समझी। एक तो धर्म क्या चीज है इसे समझा ही नहीं और दूसरे—दुःख क्या चीज कहलाती यह भी उन्होने नही समझा। जो लोग यह शंका रखते हैं कि १० वर्ष मदिर आते रहे, पूजा करते रहे, हम ने खूब धर्म किया, मगर न तो कोई विशेष संतान हुई न धनिक बने, न हम राजा बन सके और कोई परिवारमे गुजर गया, दरिद्र भी हो गए तो कहने लगते कि यह कैसा धर्म है। धर्म करनेसे तो कष्ट होता है ऐसी शङ्का रखते हैं, पर उन्होने न धर्मको समझा न दुःखको समझा। धर्म क्या है ? आत्माका जो सहज अविकार ज्ञानस्वरूप है उस मात्र अपनेको अनुभवना यह है धर्म। ऐसा धर्म किया क्या उन्होने, जो यह शङ्का रखते ? अगर किसी क्षण अपनेको अविकार ज्ञानमात्र ही निरखते कि मैं यह ही हू, इतना ही हूं और इसकी जो सहज वृत्ति चलती है वही मेरा काम है इस तरहसे अगर कोई अनुभवे तो उसे तत्काल शान्ति है।

(८४) सहजात्मस्वरूपके अनुभवीको तत्काल सहज आनन्दका लाभ—सहजात्मरूपके अनुभवीको क्यो तत्काल शान्ति है ? अशान्तिका कारण है परपदार्थका लगाव, वह उस क्षण मे है नही, तो शान्ति कैसे न आयगी ? यह सहज शान्त स्वरूप है, ज्ञानानन्दमय है, परमार्थ धर्मस्वरूप है, तो जिन्होने धर्मका स्वरूप समझा है उनको कभी अशान्ति नहीं हो सकती। अच्छा उन धर्मका भ्रम करने वालोने आत्माका स्वरूप भी नही समझा। दुःख क्या है ? यह उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपसे हटकर बाह्यपदार्थोंमे लगे यह है दुःख। यह उन्होंने समझा क्या ? उन्होंने तो यह समझा कि रोज अच्छी आमदनी नही होती इसका बड़ा दुःख है, या अमुक बीमार है यह बड़ा दुःख है। यो बाहरकी बातोंमे उन्होने दुःख समझा। परन्तु दुःख है यह जो कि अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थोंकी ओर उपयोग लगा है। धर्म करने वालेको यह दुःख नही है। उसका तो अपने स्वरूपमें ही रमण है। उसको आनन्द तत्काल है। ज्ञान आनन्दको जगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। ज्ञान सही बने और आनन्द न पाये ऐसा हो नहीं सकता। जहाँ झूठा ज्ञान चलता है वहां कष्ट हुआ करता है। सत्य आनन्दमे कष्टका

जगा नहीं । गुरु जी सुनाते थे कि वेदान्तकी जागदीशी टीकामें एक कथा आयी है कि किसी नई बहूके गर्भ रह गया । उसके बच्चा होना था, तो वह अपनी सासले बोली—माँ जी मेरे जब बच्चा पैदा हो तो मुझे जगा देना, कहीं ऐसा न हो कि हमारे सोते हुएमें ही बच्चा पैदा हो जाय तो वहाँ सासने उत्तर दिया कि बेटी तू घबड़ा मत, बच्चा जब भी पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा, सोते हुएमें बच्चा न होगा । तो इस दृष्टान्तको यहां घटाया था कि तू किसीसे आनन्दके लिए पूछ मत, ज्ञान तू सही किए जा, तो वह ज्ञान आनन्दको जगाता हुआ ही पैदा होगा । ऐसा नही हो सकता कि ज्ञान तो हो गया और आनन्द जगा नहीं ।

(८५) संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये सहजात्मस्वरूपका ज्ञान करनेका कर्तव्य—यदि अपने जीवनको पवित्र, आनन्दमय बनाना है तो एक आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान करो । सैकड़ों प्रकारके व्यापारादिक, धन कमानेके तरीके ये सब झंझट हैं । ये तो जीवन चलानेके लिए करने पडते हैं, मगर इनसे आत्माका पूरा तो न पडेगा । कुछ समयको भला हो गया लौकिक दृष्टिसे तो उससे आत्माका पूरा न पडेगा । आत्माका पूरा पडेगा अपने सहजस्वरूप में अपनेको अनुभवनेसे इसके अतिरिक्त कोई अन्य चेष्टायें धर्म नही है, जो कि धर्मके रूपक अनेक रख लिये गये हैं । हालांकि वे सब क्रियायें हैं पूजा आदि और वे हमारे इस धर्ममार्गमें सहायक हैं, मगर सीधा धर्म, साक्षात् धर्म, जिसके होते ही तुरन्त शान्ति हो वह धर्म है अपने को सहज ज्ञानस्वरूपमें अनुभवनेमे । यह कार्य कीजिए, इसका उद्यम बनाइये । इसकी ओर उद्यम उसका बन सकता है जिसको यह श्रद्धा है कि इसके अतिरिक्त अन्य जो भी समागम हैं वे तृणवत् असार हैं । दो बातें एक साथ नहीं हो सकती कि धन वैभवका लोभ भी बनाये रहें, इन बाहरी पौद्गलिक ढेरोंको सारभूत मानते रहे और यहा धर्मका स्वाद भी मिले । ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं । श्रद्धान सही होना चाहिए ।

(८६) परमार्थभावके परिचय बिना चतुरशीति लक्षयोनियोंमें जन्ममरण करते रहने का कष्ट—मेरे आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरेको सारभूत नही है, ऐसा अनुभूत भाव जिस के नहीं हुआ वह जीव चाहे दिगम्बर मुद्रा धारण करके बहुत कठिन तपश्चरण भी कर ले तो भी उसका जन्म मरण घटता नही है । भावरहित होकर नाना भेषोमें रहकर इस जीवने सर्वत्र जन्म लिया है । इस संसारमे ८४ लाख योनियोंके निवासमें ऐसा कोई पद नहीं रहा, कोई योनि नहीं रही, कोई स्थान नहीं रहा जिसमें किसी जीवने द्रव्यलिंगी मुनि बनकर भावरहित होकर जन्म मरण न किया हो । योनियाँ कहते किसे हैं ? उत्पत्तिके स्थानको योनि कहते हैं । जैसे गेहूं पैदा हुआ तो वहांकी खाद जगह जमीन वह उसका योनिभूत है और मुख्य तो

गेहूंका दाना यह उसका योनिभूत है। अब वह सचित्त है, अचित्त है, पका है, अधपका है, शीत है, गर्म है आदिक जो विशेषतायें होंगी, इन इन विशेषताओंकी अनेक डिग्रियाँ बन गईं तो वे सब मिलकर केवल वनस्पतिकी ही नहीं, सब जीवोंकी मिलकर ८४ लाख योनियाँ होती हैं। उनमें यह जीव अनन्त बार जन्मा और मरा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतर निगोद, इनकी तो ७-७ लाख योनियाँ हैं। वनस्पतिकायकी १० लाख, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय इन जीवोंकी दो दो लाख, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पशु पक्षी इनकी ४ लाख, देवगतिके जीवोंकी ४ लाख, नारकी जीवोंकी ४ लाख, और मनुष्योंकी १४ लाख, ये सब मिलकर ८४ लाख योनियाँ हैं। बहुतसे लोग इस बातको बोला करते हैं कि यह जीव अज्ञानसे ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण कर रहा, अपना स्वरूप नहीं तक रहा। अपनी ही सत्तासे मैं स्वयं सहज क्या हूं यह अनुभव नहीं हो पाया उसका फल है संसारकी इन योनियोंमें भ्रमण करना।

भावेण होइ लिंगी णहु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥

(८७) भावलिङ्गसे ही वास्तविक साधुता—भावलिङ्गसे मुक्ति है और वही वास्तव मे एक पूज्य पदवी है। द्रव्यलिङ्गसे लिङ्ग नही कहलाता मायने साधुमुद्रा नही कहलाती इस कारण भावलिङ्गको धारण करना। केवल द्रव्यलिङ्गको धारण करनेसे क्या प्रयोजन ? उसमें से गुजरना और भावलिङ्गसे कर्मत्वका हटाना। जैसे कोई पुरुष बम्बई जाना चाह रहा रेलगाडीसे तो रास्तेके बहुतसे स्टेशनोसे गुजरते जाते हैं। सारे स्टेशन गुजरे बिना बम्बई न आयगा। अगर किसी स्टेशनको सजी-सजाई देखकर वहीं उतर जाय, उसीमें मस्त हो जाय तो फिर बम्बई नहीं पहुच सकते, ऐसे ही जिनके भाव बढ़ने हैं वे निष्परिग्रह हुए बिना नही बढ़ पाते। निष्परिग्रह होनेका नाम ही द्रव्यलिङ्ग याने नग्न शरीर है। सर्व परिग्रहोंसे रहित ऐसी शरीरकी मुद्रा बने, ऐसी मुद्रा पाये बिना भावोंमें उच्चपन नहीं बढ़ता। अगर कोई इस शरीरके भेषको ही, इस साधु संन्यासीकी मुद्राको ही सब कुछ मानकर उसमें ही तृप्त रहे तो वह तो उस मूर्खकी तरह है जो किसी स्टेशनको सजा हुआ देखकर वहीं उतर जाय और गाड़ीसे हट जाय, लाइनसे हट जाय। तो द्रव्यलिङ्ग याने शरीरका भेष, साधु संन्यासीका भेष, इससे प्रयोजन नहीं बनता, किन्तु भावमें ज्ञानज्योति, ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रहे और उस ही में उपयुक्त रहे उससे मोक्षमार्ग बनता, लेकिन जो ऐसा करना चाहेगा उसकी उल्टी मुद्रा न रहेगी कि खूब घर भी बनाये, खूब वस्त्रसे भी लदा रहे, मित्र परिजनसे भी लदा रहे और भावोंमें उच्चता बढ़ जाय, यह नही होता। इससे भावलिंग ही प्रधान है। अपने ज्ञानस्वरूप

में उपयोगको लगावें ।

दंडयणयर सयल डहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरये ॥४६॥

(८८) परमार्थज्ञानभावके आश्रय बिना अटपट वृत्तियोंसे आत्माका बीगाड़—जिस पुरुषको अपने भावमे लगाव नही है, अपने अविकार ज्ञानस्वरूपकी सुध नही है, परिचय भी नहीं है और किसी भावुकतामे बन गया साधु तो वहाँ यह साधुपनेके अहंकारमें तपश्चरण भी बहुत-बहुत करे, तो भी वह मोक्षका मार्ग नही पाता । बल्कि अपने स्वरूपका परिचय न रहा तो उसका उपयोग कही बाहर ही तो घूमेगा । आत्मस्वरूपमे कैसे रम सकता ? और जब बाहर ही उपयोग घूमा तो वहाँ नाना तरहकी चेष्टायें करेगा । यही कारण है कि जहाँ भावलिङ्ग नही है, किन्तु दिगम्बर मुद्रा बाहरी वेशभूषा ही है तो उन जीवोके अटपट वृत्तियाँ हो जाती हैं । द्रव्यभेष धारण कर कुछ व्रत करे और तपश्चरणके बलसे कुछ सामर्थ्य बढ़ जाय और कोई कारण पाकर क्रोध जग जाय तो वह उस क्रोधमे अपना और परका उपद्रव करने का कारण बना लेता है । तब उस द्रव्यलिंगसे लाभ क्या मिला ? साधु बननेपर तो वह अपनी बुद्धि माफिक उस साधुकी क्रियाको निभा रहा है । तो कुछ विशेषता तो आ ही जायगी । कुछ प्रताप, कुछ थोड़ासा पुण्य या थोड़ी कुछ महिमा, कुछ चमत्कार थोड़ा बहुत जग ही जायगा । कुछ थोड़ा चमत्कार जग तो गया, मगर भीतरमे बसा हुआ है अज्ञान तो ऐसी घटना बन बैठेगी कोई कि जब इसको क्रोध जग जायगा तो अपनेको भी भस्म करेगा और दूसरोंको भी भस्म कर डालेगा ।

(८९) कषायवश बाहुमुनिकी दुर्दशाका कथानक—एक उदाहरण बाहु मुनिका है । एक कुम्भकार कटकनगर था वहाँ दडक नामका राजा था और उसके मन्त्रीका नाम था बालक, वहाँपर अभिनन्दन आदिक ५०० मुनिराज आये । उस दडक बनकी एक घटना सुनाई जा रही है, वह वही दडक बन था जिसमे एक बार रामचन्द्रजी भी अपने बनवासके समयमे घूमते हुए आये थे और उनके आगमनसे कुछ वहाँ शोभा सी बन गई थी । मगर था वह सब ऊजड़ देश, उसमे घासका नाम नही । तो ऐसे दडक बनकी घटना बतायी जा रही है । उस दडक बनमें अभिनन्दन आदिक मुनि आये, उनमे एक खंडक नामके मुनि थे । मुनियोंके नाम एक साधारण चलते थे । जो नाम पहले था सो ही चलता था । अमुक सागर, अमुकनंद, ऐसे नाम न चलते थे । जो है सो चलता रहता था । अब देखो खडक नाम कही अलगसे रखा हुआ थोड़े ही था । पहलेका ही गाँवमे रखा हुआ नाम था । जैसे कुन्दकुन्द, उनके ग्रामका नाम था कुन्डकुन्ड सो उनका नाम पड़ गया कुन्दकुन्द । नामके लिए क्या है, कुछ भी नाम

रख दो, नामकी क्या संभाल करना ? एक दंडक नामके उनमें मुनि थे सो उन मुनिने उस राजाके बालक मंत्रीको वादविवादमें जीत लिया। कोई शास्त्रार्थ बन गया मंत्रीसे, तो मंत्री हार गया, तो मंत्रीको क्रोध आ गया और उसने एक ऐसा ढंग रचा कि जिससे वह राजा गुस्सा हो जाय मुनियोंपर और उनपर उपद्रव ला दे। उस मंत्रीने एक भांडको मुनिका रूप रखा दिया। तो भांडोंको कोई विवेक तो नहीं होता। तो राजाकी रानी जिसका नाम सुव्रता था उस सहित भांडने रानीके साथ उठने बैठने जैसा प्रसंग एक दिन बैठाल दिया और राजाको दिखा दिया कि ये मुनि ऐसे दुष्ट होते हैं। उस मंत्रीको था बड़ा भारी क्रोध कि मैं किस तरह इन मुनियोंसे बदला चुकाऊँ, इसने मुझे शास्त्रार्थमें जीत लिया। उसे बड़ा घमंड था। तो यह रूपक बनाया। कितना कठिन रूपक बनाया कि जो विवेकी है वह ऐसी घटना देख कर भी शङ्कामें नहीं आ सकता। मुनि ऐसे होते ही नहीं। मुनि तो शील स्वभावी शुद्धस्वभावके होते हैं। उनको शङ्का न जगेगी, मगर यहां क्या हुआ कि उस राजाको दिखाया और कहा कि देखो राजाकी ऐसी भक्ति है कि जो राजाने अपनी स्त्री (रानी) भी दिगम्बर मुनिको रमा दी है और ऐसा जब राजाने देखा तो उसे बड़ा क्रोध उमड़ा और उस समय उस राजाने वहां ठहरे हुए ५०० मुनियोंको कोल्हूमें पिलवा दिया। मुनि तो मुनि हैं, उन्हें तो आत्मतत्त्वसे प्रयोजन है। वह तो भांड था, जिसने मुनिका भेष रखकर राजाको ऐसा भिड़ाया। और राजाने उन मुनियोंको घानीमें पिलवाया। मुनियोंने उपसर्ग सहा, समाधिभाव धारण किया और वे मुक्ति पधारे। अब उसी नगरमें एक बाहु नामका मुनि आया सो उसको लोगोंने मना किया कि यहांका राजा दुष्ट है, तुम नगरमें मत आवो। इस राजाने तो अभी अभी जल्दी ही ५०० मुनियोंको घानीमें पेल दिया है, तुमको भी घानीमें पेल देगा। तो लोगोंके ऐसे वचन सुनकर बाहुमुनिको क्रोध उत्पन्न हुआ। वह तपस्वी थे, ऋद्धिधारी थे, तो इतना क्रोध उत्पन्न हुआ कि उनके बायें कंधेसे अशुभ तैजस पुतला निकला, अग्निकी ज्वाला निकली सो उसने राजाको भस्म किया, मन्त्रियोंको भस्म किया, सब नगरको भस्म किया और खुद भी भस्म होकर ७ वें नरकमें उत्पन्न हुआ। तो यहाँ यह बात दिखाई जा रही है कि बाहु नामक मुनिने अपना भाव छोड़ दिया और द्रव्यलिंगमें ही उसे सिद्धि तो हुई उसने उसके प्रयोगमें सब नगरको भस्म कर दिया, उस समयसे दंडक वन भस्म हुआ होगा। उसमें कहीं अंकुर न थे, ऐसा ही दण्डक वन था वहां एक बार श्रीरामचन्द्रजी भी पधारे थे, उनके आगमनसे वह दंडक वन भी हरा भरा हो गया, मगर यहां बताया जा रहा कि यदि भाव सही नहीं है तो मुनिभेष धारण करनेसे कोई लाभ नहीं होता।

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।

दीवायणमुणि णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

(५०) कथानकमें द्वीपायन मुनिकी दुर्दशा—इस भावपाहुड ग्रन्थमें प्रसंग यह चल रहा है कि परमार्थभूत ज्ञानस्वभावके ज्ञानभाव बिना द्रव्यलिङ्ग धारण करना कार्यकारी नहीं है। इस विषयमें अनेक दृष्टान्त दिए गए। और अभी यत गाथामें बाहु मुनिका दृष्टान्त दिया। इसी तरह द्वीपायन मुनि भी हुए हैं जो द्रव्यश्रमण थे। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे भ्रष्ट हुए थे वे भी अनन्त संसारी हुए। ये द्वीपायन नेमिनाथ स्वामीके तीर्थमें हुए हैं। उस समय ९वें बलभद्र श्रीकृष्णके भाई बलदेवने श्री नेमिनाथ तीर्थंकरसे पूछा कि हे स्वामी यह द्वारिकापुरी समुद्र में है, उस समय द्वारिकापुरी समुद्रमें एक टापू जैसी थी। तो इस द्वारिकापुरीकी स्थिति कितने समय तक रहेगी। वहाँ समवशरणमें उत्तर मिला कि रोहिणीका भाई जो द्वीपायन है, जो कि तेरे मामा हैं वह १२ वर्ष बाद मद्यपायियोंका निमित्त पाकर क्रोधमें आकर इस नगरीको जला देगा। ये वचन सभीने सुन लिये। तो वह द्वीपायन मुनि दीक्षा लेकर पूर्व देशमें चला गया यह विचारकर कि हम १२ वर्ष तक यहाँ नहीं आवेंगे। १२ वर्ष व्यतीत करनेके लिए उसने तप करना शुरू कर दिया, और यहाँ बलभद्रने और नारायण श्रीकृष्णने द्वारिकानगरीमें मद्यनिषेधकी घोषणा करा दी कि यहाँ कोई मद्य न रख सकेगा, न पी सकेगा। उस समय मद्यके बर्तन, मद्यकी सामग्री सब कुछ दूर पर्वत आदिकपर फिकवा दिया। उस वक्त जो बर्तनमें पड़ी हुई मदिरा थी या मद्यकी सामग्री थी वह वहाँके जलनिवासमें फैल गई। कहीं द्वीपायन मुनि होकर १२ वर्ष तक तपश्चरण करते रहे। जब द्वीपायनने समझा कि अब १२ वर्ष पूरे हो चुके तब वहाँसे खुश होता हुआ द्वारिकानगरीमें आया। उसको इस बातकी खुशी थी कि मेरे यहाँ न रहनेसे द्वारिकापुरी बच गई। उस वर्ष १३ माहका साल था, वह गिननेमें भूल गया था, सो बिना १२ वर्ष बीते ही द्वारिकापुरीमें आ गया। उसने भगवानके वचनोंपर विश्वास न रखा और बड़ा खुश होता हुआ द्वारिकानगरीमें विराजा। उस समय क्या घटना घटी कि सम्भवकुमार आदिक अनेकों बालक क्रीड़ा करते हुए वनमें पहुँचे, वहाँ उनको प्यास बहुत लगी, सो पानीकी तलाश इधर-उधर करने लगे। तो वहाँ एक कुण्डमें पानी पीने लगे। उस पानीमें बहुत अधिक मदिरा मिली हुई थी, उस मदिराके निमित्तसे वे कुमार उन्मत्त हो गए। उस समय उन कुमारोंने द्वीपायन मुनिको देखा और देखकर कहा—अरे यह बैठा है द्वीपायन जो द्वारिकानगरीको भस्म करने वाला है। तो क्रोधमें आकर उस द्वीपायन मुनिपर पत्थर, ढेले आदिक बरसाये। द्वीपायन मुनिको इतने पत्थर लगे कि वह वहीं भूमिपर गिर गया। उस समय द्वीपायन मुनिके इतना कठिन तेज क्रोध उमड़ा कि उनके बायें कंधेसे अशुभ तैजस शरीर निकला और वह चारों ओर फैला जिससे द्वारिकापुरी जलकर भस्म हो गई।

और खुद भी भस्म हो गया। तो देखिये भावोंकी शुद्धि न होनेसे द्रव्यलिंग धारकर अपना व सारे नगरका विघात किया और अपार संसारमें जन्ममरणकी परम्परा बाँध ली। तो भावों की शुद्धि ही प्रधान है जिससे कर्म कटते हैं और शान्ति मिलती है।

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढ्ढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीतसंसारिओ जादो ॥५१॥

(६१) भावश्रमणतामें शिवकुमारकी प्रगतिका आरम्भ—इस गाथामें यह बतला रहे कि अनेक निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंगी मुनियोंने भावलिंग पाये बिना, बहुत अध्ययन करके भी, बहुत अधिक तपश्चरण करके भी मोक्षमार्ग नही पाया। अब इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि बहुत अधिक न जानकर भी अविकार ज्ञानस्वभावकी पहिचान पा लेनेसे शिवकुमार नामक मुनिने अपना कल्याण किया। शिवकुमारकी कहानी इस प्रकार है कि इस जम्बूद्वीपमें पूर्व विदेहमें कलावतीदेश है जहाँ वीतशोकपुर नामका नगर है, वहाँ महापद्म नामका राजा था, जिसके बनमाला नामकी रानी थी। उसके शिवकुमार नामका पुत्र हुआ। वह शिवकुमार एक दिन मंत्रीसहित बनक्रीडा करके नगरमें आ रहा था, सो रास्तेमें लोगोंको देखा कि वे पूजाकी सामग्री लिए हुए जा रहे थे। तो उसने अपने मित्रोंसे पूछा कि मित्रो, ये लोग कहाँ जा रहे हैं? तो मित्रोने बताया कि सागरदत्त नामके मुनि ऋद्धिधारी इस बनमे विराजे हैं, उनकी पूजा करनेके लिए ये सब लोग जा रहे हैं। तो वह शिवकुमार भी मुनिके पास गया और वहाँ अपने पूर्वभव सुना। पूर्वभव सुनकर उसको वैराग्य जगा और जैनेन्द्री दीक्षा ली और दृढधर नामके श्रावकके घर इसने प्रासुक आहार लिया। तत्पश्चात् स्त्रियोंके निकट रहकर भी परम ब्रह्मचर्य पालते हुए असिधाराव्रत पालते हुए उसने १२ वर्ष तक तप किया और अन्तमे सन्यास मरण किया अत एव समाधिमरणके प्रतापसे वह ब्रह्मकल्पमे विद्युन्माली देव हुआ। यही विद्युन्माली देव स्वर्गसे चयकर जम्बूस्वामी केवली हुए। जम्बूस्वामीकी कथामे बताया है कि उनके माता पिताने अत्यन्त आग्रह करके इनका विवाह किया। ८ रानियाँ थीं, लेकिन ये रानियोंके बीच रहकर भी विरक्त रहे और दो एक दिनमे ही जम्बूस्वामीने वैराग्य ले लिया था। ये सब पूर्वभवकी विशुद्धियोको बताने वाले सकेत हैं, तो यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि भावशुद्धि होनेसे शिवकुमारने स्त्रीजनोंके बीच रहकर भी असिधारा व्रत, परम ब्रह्मचर्य व्रत निभाकर संसारसे पार पा लिया।

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयलसुयणाण।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

(६२) आत्मप्रतीतिरहित पुरुषके भावश्रमणताका अलाभ—इस गाथामे यह बतला

रहे हैं कि कोई पुरुष कितने ही शास्त्र पढ़ ले, किन्तु सम्यग्दर्शनरूप विशुद्ध परिणाम न हो, आत्माकी स्वच्छ दृष्टि न बने तो वह मोक्षको नही पा सकता। इसके लिए उदाहरण दिया गया है भव्यसेनका। भव्यसेन मुनि थे और उन्होंने केवली भगवानके प्ररूपे हुए ११ अगोंको पढ़ डाला, इतने महान श्रुतका ज्ञान कर लिया, फिर भी भव्यसेन परम ज्ञानभावको प्राप्त न कर सका। भावलिङ्गी न हो सका। कोई ऐसा अगर जाने कि बाह्य आचरण करने मात्रसे सिद्धि होगी सो यह भी बात नही, और कोई यह समझे कि बाह्य क्रियामात्रसे तो सिद्धि नहीं है, किन्तु शास्त्रके पढ़ लेनेसे ही सिद्धि है तो यह भी सत्य नही। भव्यसेन द्रव्यमुनिने कितने ही शास्त्रोका अध्ययन कर लिया, ११ अग भी पढ़ लिया, परन्तु जिन वचनमे प्रतीति न हुई, आत्मस्वरूपमे श्रद्धा न जगी, उसने भावलिंग नही पाया। तो भाव पाये बिना, अविकार ज्ञान स्वरूपका अर्थ समझे बिना शास्त्र भी कोई पढ ले, क्रियायें भी कितनी ही कर डाले तो भी उसको सिद्धि नही होती।

तुसमासं घोसतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुड जाम्रो ॥५३॥

(६३) **भावविशुद्ध श्रमणकी केवलज्ञानपात्रता**—इस गाथामे यह बतला रहे हैं कि कोई शास्त्र भी न पढ़ पाये और उसके सहज अविकार ज्ञानस्वभावमे आत्मत्वकी प्रतीति हो जाय तो वह भी मोक्ष पा लेता है। ऐसी एक शिवभूति नामक मुनिकी घटना हुई है। शिवभूति मुनिने गुरुसे केवल इतना ही पढ़ा था, मा तुष मा रुष। वे इतने शब्द भी भूल गये और रट डाला तुषमाष। उसका उस समय कुछ अर्थ भी नही भासा, लेकिन एक घटनासे उनको अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि हुई तो उस मुनिने फिर केवलज्ञान प्राप्त किया। कोई ऐसा समझे कि शास्त्र पढनेसे ही सिद्धि होती है सो ऐसी बात नही। देखो शिवभूतिकी कहानी, शिवभूति नामक मुनि गुरुके पास शास्त्र पढ़ते थे, पर उन्हे कुछ याद न रहता था, उनको कुछ धारणा न हो सकती थी तो गुरुने ये शब्द पढ़ाये थे मा तुष मा रुष इसका अर्थ है कि न राग करो न द्वेष करो सस्कृतमें ये शब्द हैं, ये शब्द उसे याद न होते थे तो मुनिने ये ही शब्द याद करनेको कहा। तो इतना तो उसे याद न रहा सो वह बोलने लगा तुष माष। और तुषमाष बड़ी प्रसिद्ध बात है। तुष कहते है छिलकाको। और माष कहते हैं उडदकी दालको। तुष माष तुषमाष, ऐसा ही वह रटने लगा। वहाँ मा रुष मा तुष, ये शब्द विस्मरण हो गए, तुष-माष, इतना ही याद रहा। अब वह मुनि एक बार नगरमे जा रहा था तो दरवाजेके आगे एक महिला उडदकी दालको धो रही थी। शामको भिगो रखा था और सुबह धो रही थी तो धोनेमें छिलके अलग हो रहे थे और दाल अलग हो रही थी। तो उस महिलासे किसीने

पूछा कि तुम यह क्या कर रही हो ? तो उस महिलाने कहा कि तुष और मासको अलग-अलग कर रही हूं । जब यह बात मुनिने सुनी और देखा भी, तो तुषमाष शब्दका भाव यह जाना उस मुनिने कि यह शरीर तो है तुषकी तरह और आत्मा है मासकी तरह । छिलके और छिलकेकी तरह ये दोनो न्यारे न्यारे हैं । देह और जीव एक नही है । मैं देहसे निराला ज्ञानमात्र आत्मा हूं, सो वह आत्माका अनुभव करने लगा और चैतन्यमात्र शुद्ध आत्माका खूब परिचय बना और इस हीमे लीन होकर इस ही शुद्ध आत्माके ध्यानके प्रतापसे घातिया कर्मोंका नाश-कर केवलज्ञान प्राप्त किया । तो देखो भावोंकी निर्मलता कि जिसके प्रतापसे कोई शास्त्र भी न पढे, अन्य कुछ याद भी न रहे, लेकिन जो लक्ष्यभूत शुद्ध आत्मा है वह दृष्टिमें आ गया तो उसका भला हो गया ।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीय णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥

(६४) भावनग्नके ही वास्तविक नग्नपना—इस गाथामें कह रहे हैं कि जो भावसे नग्न हो सो वास्तविक नग्न है । शरीरसे नग्न होनेका क्या अर्थ है ? शरीरसे नग्न होनेके मायने वस्त्र त्याग दिया । कोई पदार्थ शरीर पर न रखे, मुनि हो गए, यह तो बाह्य नग्न कहलाया और भावनग्न यह कहलाता कि भीतरमे किसी पदार्थमे ममता न रह सके किसी बाह्यपदार्थमे लगाव नही है, केवल चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व ही दृष्टिमें रहे, आभ्यन्तर १४ प्रकारके परिग्रहोका त्याग हो वह भावसे मुनि हुआ । तो जो भावनग्न हुआ अर्थात् ज्ञानस्वभावकी दृष्टि सहित हो वही द्रव्यलिंगमें रहकर कर्मप्रकृतिके समूहको नष्ट करता है । यदि भावलिंग न रहा तो द्रव्यलिंगसे लाभ क्या ? मोक्ष मिलता है निर्जरासे । कर्मोंकी निर्जरा हो तो मोक्ष मिलेगा । अभी थोडे कर्म झडे, अब ये झडे, अब अबके सर्व कर्म झड चुके उसीका नाम मोक्ष है । तो कर्मकी निर्जरा द्वारा ही मोक्ष होता है और कर्मकी निर्जरा द्रव्यलिंगसे नही होती, किन्तु भावलिंगसे होती है । याने शरीरसे नग्न हो गए उससे कर्म नही खिरते, वह तो देहकी स्थिति है । आत्माके भाव बनें, ज्ञानमे ज्ञान रहे, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका एकदम विलय हो, ऐसी स्थिति बने तो इस शुद्ध ध्यानके प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और कर्मनिर्जरा होनेपर ही मोक्ष होता है । सो भावसहित द्रव्यलिंग हो तो कर्मोंकी निर्जरा का कार्य बने । सिर्फ द्रव्यलिंगसे कर्मनिर्जरा नही होती, इस कारण भावसहित द्रव्यलिंगको धारण करो, यह जिनेन्द्रदेवका उपदेश है ।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहि पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥

(९५) आत्मभावनारहित साधुकी नग्नताकी अकार्यता—यदि भावशुद्धि नही है तो शरीरसे नग्न रहना निरर्थक है, उससे मोक्षमार्गके कार्यकी सिद्धि नहीं होती। ऐसा जिनेन्द्रदेवने बताया है। सो हे भव्य जीव, धीर बनकर हे मुने, तू निरन्तर आत्माकी दृष्टिका ही उद्यम कर। मुनि होनेपर बाह्यपरिग्रह कोई रहा नहीं, इस कारण झंझटका तो कोई काम ही नहीं। झंझट होते हैं आरम्भ कार्य करनेमे। जहां भिक्षावृत्ति बताई गई है और भिक्षा को अमृत बनाया है याने जब मुनिको क्षुधाकी पीडा हुई तो एषणासमिति पूर्वक वह भिक्षा चर्याके लिए भ्रमण करता है, वहां किसी श्रावकने भक्तिपूर्वक पडगाहा व आदर पूर्वक शुद्ध आहार दे सो ले लिया। इस तरहसे आहार लेनेको अमृत कहा है क्योंकि वहां न पहले चिन्ता, न बादमे चिन्ता, न कोई कषाय और आहार करके २४ घटे अपने ध्यानमें रहते हैं। उपवास करें तो महीनो आत्मध्यानमे रहते हैं। तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा लेकर झझट रच भी नही रखते। उस समय आत्माका ध्यान करनेका ही मुख्य काम रह जाता है। सो हे मुने, धीर बन और आत्माका ध्यान करनेका ही अपना कार्य बना। आत्माका ध्यान ज्ञानस्वरूपमें कर। मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हू। यहा पुद्गल जैसा कोई पिण्डरूप नही है। सिर्फ ज्ञान ज्योति प्रकाश हूं। सद्भूत हू। जैसे आकाश भी तो सत् है और वहां कोई पिण्ड नहीं है वास्तविक पदार्थ हैं, यह आत्मा भी वास्तविक पदार्थ है। आकाश तो परद्रव्य है, इस कारण उसका अनुभव तो हो नही सकता, किन्तु आत्मा तो स्वद्रव्य है। आत्माका जो यथार्थस्वरूप है उसका अनुभव करना कठिन नही है। सो अपनेको ज्ञानमात्र रूपसे तकना और इस ही प्रकार अपने ज्ञानमे ज्ञानको विषय बनाकर एकरस होकर इस ज्ञानरसका स्वाद लेना, ऐसी ज्ञानानुभूतिसे आत्माका यथार्थ परिचय होता है। जिसने एक बार भी ज्ञानस्वभावकी अनुभूति प्राप्त की, उसे इसमें उत्पन्न हुए सहज आनन्दकी स्मृति निराकुल रखती है और फिर यह ज्ञानी पुरुष बारबार इस ज्ञानानुभवका ही उद्यम करना है। अब जैसे यह ज्ञानानुभूतिमे ही स्थिर होता वैसे ही ज्ञानप्रकाश बढ़ता है और यह मोक्षके निकट पहुंच जाता है। तो कर्मोंके क्षयका साधन, मोक्षमार्गमे बढ़नेका साधन परमार्थ ज्ञानस्वभावकी भावना बढ़नेका साधन परमार्थ ज्ञानस्वभावकी भावना रखना है। यह मैं ज्ञानमात्र हू। ज्ञानरूप परिणमू, बस इस ही को करता हूं। ज्ञानरूप अनुभवूं इस ही को भोगता हू। यह सहज ज्ञानस्वरूप, यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसे ज्ञानभावमें निरन्तर बने रहना यह है मोक्षका उपाय।

देहादिसगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

(९६) निःसंग आत्माभिमुख साधुकी भावलिङ्गिता—भावपाहुड ग्रन्थमे यह अन्तिम

चल रहा है कि परमार्थ ज्ञानस्वरूप भावलिंगके पाये बिना द्रव्यलिंगका आश्रय अनर्थक है, तो वह भावलिंग क्या है उसका वर्णन अब चल रहा है। देहादिक परिग्रहोंसे जो रहित है वह भावलिंग है। परिग्रह मूर्छाको कहते हैं, शरीरमें, विभावोंमें अन्य पदार्थोंमें ममत्व न होना, निजको निज परको पर जाने, यह ज्ञान स्थिति होना यह है भावलिंग। अनेक अज्ञानी द्रव्य-लिंग धारण कर लेते हैं, सर्वपरिग्रहोंका त्याग कर दिया, बाहरी परिग्रहोंका केवल शरीर-मात्र रह गया मगर उस नग्न भेषमें उस दिगम्बर मुद्रामें ऐसा भाव रखना कि यह मैं साधु हूं तो उसने अभी देहका परिग्रह छोड़ा नहीं। बड़े बड़े मुनिराज मंदकषाय घानीमें पिलकर शत्रुपर क्रोध भी न करें और वही अज्ञानी हों उसका कारण क्या है कि पर्यायमें साधुपनका भाव बना हुआ है, यह मैं साधु हूं, मुझको कषाय न करना चाहिए। सबमें समता परिणाम रखना चाहिए। विरोधीपर क्रोध न करना चाहिए, ऐसा वह देहमें साधुपर्यायकी बुद्धि बना-कर उस ही में अहंकी बुद्धि करके कर रहा है चेष्टा, वह अज्ञानी ही तो है। जब तक स्वतः सिद्ध सहज अविकार ज्ञानमात्रस्वरूप अपने आपको न अनुभवे तब तक देहादिकके आश्रय की जाने वाली बुद्धि यह सब अज्ञान है। तो जो देहादिक परिग्रहसे रहित है वह है भावलिंगी।

(६७) निर्मल आत्माभिमुख साधुकी भावलिङ्गिता—भावलिङ्गी साधु मान कषायसे पूर्णतया रहित होता है, मगर साधु किसी असंयमी पुरुषसे वार्तालाप न करे तो यह अभिमान मे सामिल नहीं किया गया, किन्तु उस असंयमीसे कोई काम नहीं पड रहा इसलिए उस ओर से मध्यस्थ है। कितनी ही ऐसी वृत्तियाँ होती हैं कि जिससे यह बात झलकती है कि जैसे साधु होकर भी ऐसा मान रखते हैं कि छोटे लोगोंसे नही बोलते, अथवा सबके लिए समय नही देते, सबके बीच नहीं रहते, आदिक अनेक शंकायें हो सकती, मगर जिनको केवल अपने आत्मज्ञानसे प्रयोजन है उनका संबंध आत्मज्ञानमें सहायक लोगोंसे होता है अन्य जीवोंसे संबंध नहीं होता, तो यह अभिमान नही कहलाता, किन्तु यह तो उस आराधककी सम्पन्नता है। जहाँ रत्नत्रयकी साधनामें सहयोग होता है। वहाँ ही साधुताका संबंध होता है और अन्य पदार्थोंमें अन्य जीवोंमें सम्बंध नहीं होता। हाँ उपदेशके समय सबके लिए उपदेश है, मगर अपने आपकी चर्चाका संबंध संयमीका जनोंके बीच होता है। साधुजन अभिमानसे रहित हैं। अभिमानका कोई कहाँ तक निरख करे कि है या नहीं, कोई नम्रताके बड़े ढीले शब्द बोले, बड़ी कलासे बात करे और चित्तमें यह बात हो कि इस ढंगसे बात करनेमें हमारी बड़प्पन बढ़नी है तो वह उसका मान हुआ कि नहीं हुआ ? देखनेमें तो वह लग रहा कि यह तो बड़ा सरल है और अपने मुखसे अपने आपको हल्का कह रहा है, पर इन वचनोंसे क्या यह नियम बनता है कि उसके चित्तमें भी यही बात समायी हो ? वस्तुतः अभिमानसे रहित वही हो

समर्थ है जिसने मान रहित ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्वका अनुभव किया है। जो जो मानकषायसे दूर्ण अलग है वह भावलिङ्गी मुनि है।

(६८) आत्मरत साधुकी भावलिङ्गिता—भावलिंगी मुनिका तीसरा लक्षण इस गाथा में कह रहे हैं कि आत्मा आत्मामे रत हो वह भावलिंगी है, आत्माकी प्रवृत्ति है कहीं न कहीं रमण करना और इसे कहते हैं चारित्र स्वभाव। अब यह जीव कहाँ रमण करे? बाह्यमे रमण करे तो इसको बाह्यमें हितकी आस्था है, मिथ्यात्व है, तब बाह्यमें रमण कर रहा, जिसको अपने स्वरूपमें श्रद्धा है कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा स्वयं हितमय हू उसको लगन आत्मामे लगेगी, सो जो आत्मा अपने आत्मामे रत हो वह साधु भावलिंगी कहलाता है। भावलिंगका अर्थ क्या है? आत्माका जो स्वभाव परिणाम है वह तो है भाव और इस ही भावरूप उपयोग रहे वह कहलाया भावलिंग। आत्मा अमूर्तिक और चैतन्यस्वरूप है। और उसका परिणमन जानना और देखना है। सो यह निरन्तर जानता और देखता है, किन्तु जब बाह्य निमित्तनैमित्तिकका सम्बंध है, शरीरादिक मूर्तिक पदार्थोंका सम्बध है और उनका निमित्त पाकर अतरंगमे मिथ्यात्व रागादिक कषायभावोका सम्बंध है तो कल्याणके लिए क्या आवश्यक है अब? कि यह सब संबंध छूटे, ये औपाधिक भाव दूर होवें, और इसीलिए कहा जा रहा है कि बाहरमें तो देहादिक परिग्रहोसे रहित है भावलिंगी मुनि और अन्तरंगमें रागादिक परिणामसे रहित है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जहां नही हो और अपना जो शुद्ध ज्ञान चारित्ररूप चैतन्यभाव है उसमे लीन होता है, ऐसा निकटभव्य साधु भावलिगी कहलाता है।

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइ वोसरे ॥ ५७ ॥

(६९) भावलिङ्गी साधुका ममत्वपरिहार—भावलिगी साधुका कैसा अन्दरमें पौरुष होता है उसका निरूपण इस गाथामे है। इस ज्ञानी आत्माने निजको निज और परको पर खूब परख लिया है और निजके ही कारण जो स्वरूप है, स्वभाव है उसे स्वरूपसे जान लिया, और परपदार्थका उदय होनेपर, निमित्त होनेपर जो आत्मामें छाया, माया, विकार, प्रतिबिम्ब प्रतिफलन जो कुछ भी प्रभाव होता है उसको परभावरूपसे पहिचान लिया तो ऐसा स्वपरका परिचय करने वाला ज्ञानी अपने आपमे यह निर्णय किए हुए है कि मैं परद्रव्य और परभावमे ममत्व करना छोड़ता हू। भिन्न-भिन्न जान लेना यह ही ममत्वका त्यागना है। यदि सही मायनेमें निज सहज स्वभावको परभावसे भिन्न परख लिया तो उसका ममत्व तो छूट ही गया। उसका दृढ़ निर्णय है कि मैं सर्व देहादिक परिग्रहोसे ममताको छोड़ता हू और निर्ममत्व

को अपना ज्ञानमात्र स्वरूप है—उस स्वरूपमें प्रतिष्ठ होता हुआ मैं अपने भावोंका ही आलम्बन करता हूं। अब मेरे आत्माका ही आलम्बन रहे, शेष समस्त पदार्थोंका आलम्बन त्यागता हूं। इस जीवने परपदार्थोंका आलम्बन किया इसको यह अनर्थ अनुभव रहा है, जिसमें परपदार्थ ही बसाये, मेरा शरण अमुक पदार्थ है ऐसा निर्णय रखा और किसी परके वियोग होनेपर इष्टवियोगज नामक आर्तध्यान इसने किया। उनमें अशान्ति ही पायी, सो उन सब करतूतोंसे ऊबकर विवेकबलसे ज्ञान पाकर यह ज्ञानी अन्तरात्मा अपना यह निर्णय बनाये है कि मेरा तो एक आत्माका ही आलम्बन रहे, शेष समस्त परपदार्थोंके आलम्बनको मैं त्यागता हूं।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥

(१००) भावलिङ्गी मुनिकी आत्माभिमुखता—यह भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मेरे जो ज्ञानभाव प्रकट हो रहा है यह आत्मा ही तो है, ज्ञानमय आत्मा ही तो है। वह अन्य कुछ नहीं है। आत्माका स्वरूप ज्ञानभाव है। ज्ञान ही अनन्यभाव है। उस ज्ञानके नाना परिणमनोंमें नाना बातें कही जाती हैं। पर मूलमें सहज यह ज्ञानस्वभाव ही है, तो ऐसा ज्ञानमय मेरा आत्मा है। ज्ञान कुछ निराली चीज नहीं। ज्ञान है सो आत्मा ही है। ऐसा अपने ज्ञानस्वरूपमें आत्मत्वका श्रद्धान है इस निकट भव्यका। आत्मा ही दर्शन है, दर्शनमें भी आत्मा ही है। दर्शन कहते हैं सामान्यप्रतिभासको। स्वका परका, वस्तुका जो भेदरहित सामान्य प्रतिभास है, जो प्रतिभास आत्मप्रतिभासके रूपमें ही होता है वह दर्शन है। इस जीवके दर्शन-पूर्वक ज्ञान हुआ करता है। जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ तो पहले दर्शन याने जिस पदार्थको जाननेका यह उद्यम करता उसके लिए पहले यह आत्मस्वरूपमें आत्मदर्शन करता, बादमें बाह्य पदार्थोंको जानता। तो इनका दर्शन ज्ञान क्रमपूर्वक चलता, यो सबके दर्शन चलते। जितने भी जीव हैं, दर्शन बिना कोई नहीं है और उस दर्शनमें अपने आत्माका ही प्रतिभास है, मगर अज्ञानी जीव क्षण क्षणमें आत्मदर्शन करता हुआ भी यह मैं आत्मा हूं ऐसा निर्णय नहीं बना पाता और जिसके यह निर्णय बन गया कि यह हूं मैं दर्शन मात्र प्रतिभास स्वरूप, उसको सम्यक्त्व हुआ। तो इस जीवके दर्शन पल पलमें होते रहते हैं। दर्शन हुआ, फिर ज्ञान हुआ। ज्ञान होनेमें तो वस्तुकी पकड़ दिखती है। इसे बाबा आपने उपयोगमें ग्रहण किया, पर दर्शनमें वस्तुकी पकड़ नहीं दिखती किन्तु अपने स्वरूपका स्पर्श होता है। फिर भी बाह्य ज्ञेयकी आसक्तिमें यह तथ्य नहीं जान पाता। जो कोई जानले कि इस दर्शनमें हमने यह आत्म-स्वरूप स्पर्श किया तो उसही परिचयको तो सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(१०१) आत्मप्रतिभासका निरन्तर होते रहनेके बारेमें उदाहरण पूर्वक सिद्धि—

जैसे कोई मनुष्य धनी बनना चाहता है। किसीने कहा कि अमुक समुद्रके किनारे जावो, वहाँ पर उस पहाड़में पारस पत्थर है उसे उठा लावो, फिर मनमाना लोहासे सोना बनाकर धनिक बन जावो। अब वहाँ पत्थर तो ढेरों थे और उनमेंसे पारस पत्थर एक दो ही थे, कैसे उसकी पहिचान हो, सो एक उपाय समझमें आगया। क्या, कि समुद्रके किनारे सारे पत्थर इकट्ठे करवा लिये, समुद्रके जलके अतिनिकट एक जगह लोहेका खूँटा गाड़ दिया। उस खूँटे पर पत्थर मारना, उस खूँटेको देखना कि सोना बना या नहीं, नहीं तो उस पत्थरको समुद्रमें फेंकना। बस यही क्रिया उसने जारी कर दी। पत्थर उठाना, खूँटेपर मारना, खूँटेको देखना और समुद्रमे पत्थरको फेंकना। उसने हजारों पत्थर उठाये, मारे फेंके। कोई पारस न निकला, लोहा सोना न हुआ, परीक्षा करता गया। सो एक उसकी तेज धुन बन गई—उठाया, मारा, फेंका। इसी बीच एक पारस पत्थरको भी उठाया, मारा, फेंका। अब खूँटा तो स्वर्ण बन गया, मगर वह पारस पत्थर तो समुद्रमें चला गया। वह अपना माथा धुनने लगा—हाय मैंने हाथ लग जानेपर भी पारस पत्थरको व्यर्थ ही खोया, तो ऐसे ही समझिये कि हम आप लोगोंको दर्शन बराबर ही रहा, दर्शनपूर्वक ज्ञान होता, मगर ज्ञानने जिन विषयों को जाना उन ज्ञेय पदार्थोंकी ओर वह ऐसा आसक्त रहा कि दर्शन आता, निकल जाता और पकड़ नहीं पाता कि यह है दर्शन। तो वह दर्शन जो सामान्यप्रतिभास है उसमें आत्मा है अर्थात् आत्मा दर्शनस्वरूप है।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाण दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

(१०३) आत्माका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक—भावलिङ्गी साधु ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आपमें ऐसा निरख रहा है कि मैं एक शाश्वत ज्ञानमात्र आत्मपदार्थ हूं। ज्ञानदर्शनरूप हूं। आत्माका स्वरूप चेतना है। यह चेतना सामान्यविशेषात्मक है। आत्मपदार्थ है ना? जितने भी पदार्थ होते वे सब सामान्यविशेषरूप होते। तो आत्माका जो स्वभाव है, चैतन्य, स्वभाव ही तो आत्मा है। तो आत्मा सामान्यविशेषात्मक है। इसका अर्थ यह ही तो हुआ कि चेतना सामान्यविशेषात्मक है। अब इस चेतनामे बाह्यपदार्थका भेद न करके जो प्रतिभास हुआ है, वह तो है दर्शन और बाह्यपदार्थको जाना है विशेष रूपसे निर्णय किया है, वह सब है ज्ञान।

(१०४) परपदार्थ व औपाधिकभावोंकी बाह्यरूपता—आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप है और बाकी जितने भी बाह्यभाव हैं सब संयोग लक्षणवाले हैं। बाह्य भावोंमें धन वैभव परिजन मित्रजन ये सब आये। और बाह्यभावोंमे कर्म व कर्मविपाक तथा कर्मविपाकरस जो अल-

रूप है वह माया छाया कलिकलत विकल्प, वह भी अन्य भाव है। तो एक ज्ञानस्वभाव भाव को छोड़कर अन्य जितने भी परिणमन हैं वे सब बाह्य भाव कहलाते हैं। वे सभीके सभी संयोग लक्षण वाले हैं। जैसे विषय कषायके भाव, ये जीवमें क्या अनादि अनन्त व एक समान रहते हैं? नही रहते। जैसा इनका अनुभाग उदयमें होता है उस रूप यह जीव उसी में बदलता हुआ चलता है। तो यह संयोगरूप भाव है जिसकी आत्मामें प्रतिष्ठा नहीं है, जैसे दर्पणके सामने हाथ किया तो वह हाथ परभाव है और हाथका सामना पाकर जो दर्पणमें प्रतिबिम्ब आया है, हाथ जैसा ही वह प्रतिबिम्ब भी दर्पणका बाह्य भाव है, संयोगरूप भाव है। जो भाव तन्मय होता है वह शाश्वत होता है, समान-समान होता है और जो भाव परपदार्थका निमित्त पाकर होता है वह असमान भाव है, विषमभाव है। यहाँ सब संयोग रूप भाव है। तो जो संयोगरूप भाव है वह मैं नहीं हूं। और जो मैं सहजभाव हूं सो मैं हूं ऐसा विवेक जिनके बनता है वे अपने अंतस्तत्त्वको प्राप्त करते हैं। इस जीवनमें बाहर कहीं कुछ सार नहीं रखा। कुटुम्बका संयोग, मित्रका संयोग अथवा कहो मनुष्योंका संयोग यह एक अटपट विकल्पका कारण है और वहाँ स्थिरता नहीं होती। ऐसे अटपट विकल्पोंसे इस जीवको चतुर्गतिमे भ्रमण करना पड़ता है। वहाँ यह पहिचानना चाहिए कि मेरा तो भाव वह है जो मेरे केवलसे ही उत्पन्न हुआ। किसी भी परपदार्थका निमित्त न हो, केवल एक आत्मा ही हो तो उसका जो प्रकाश है वह है स्वभाव और बाह्य पदार्थका सम्बन्ध पाकर जो विभाव बना है वह है विकार। विकार है दुःखका घर, और स्वभाव विकास है आनन्दका धाम।

(१०५) आत्मतत्त्वचिन्तनका महत्त्व— भैया! अपनेको तो अपनी रक्षा करनी है और अपने ही आत्मापर अपना वश चलता है। अन्यपर वश नहीं चलता। संसारी जीव सभी अपना अपना कषायभाव लिए हुए हैं, ये हम आप भी अपना अपना कषायभाव लिए हुए हैं, तो किसीकी कषायके अनुसार बाह्यमे कोई बात नहीं बनती तो वह अपनेमें खेद मानता है। तो आनन्द तो तब हो कि जैसा चाहें, वैसे सब पदार्थ तुरन्त मिलें, यह बात बने। या यह बात बने कि किसी भी बाह्य पदार्थकी मेरेको चाह ही न रहे। इन दो में से कुछ हो सके, उसको तो वहाँ आनन्द प्राप्त हो सकता है। अब यह तो बडा कठिन है, असम्भव है कि जैसा मैं चाहूं वैसा ही बाहरमें परिणमन हो। ऐसा पुण्यवान कोई नहीं है कि जिसने जो चाहा उसको तुरन्त वह चीज प्राप्त हो। बडे बडे तीर्थंकर भी हुए, उन्होंने भी जिस समय चाहा उस समय वह पदार्थ हाजिर नहीं रहा। भले ही देव देवेन्द्र उनके सेवक रहे, वे परपदार्थोंको हाजिर करते रहे, पर सिद्धान्ततया तो विचारो कि जिस समय चाहका परिणाम है

उस समय उस पदार्थका उपभोग कहाँ है। यदि उस पदार्थका उपभोग होता तो उस विषय को भोगनेकी चाह ही क्यों जगती ? तो जब चाह है तब उपभोग नहीं और जब उपभोग मिला तब वह पहली चाह रही नहीं, तो इस जगतमें आनन्द कहाँ कब आ सकता है ? जैसे कोई इतना गरीब है कि जब तक जवानी है, दांत मजबूत हैं तब तक उसे चने नहीं मुनासिब हुए और जब दांत टूट गए तब कुछ धनिक बने और चनोका सेजा लगा, तो बताओ वह उन चनोंको कब खाये ? जब चाहा तब उस योग्य नहीं और जब उस योग्य हुआ तो वहाँ चाह नहीं। तो ऐसे ही जीवको जो परपदार्थविषयक इच्छा चलती है तो इच्छाके समय भोग उपभोग नहीं है। चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हों, गृहस्थ तीर्थंकरकी बात कह रहे, वीतरागमें तो चाहका सवाल ही नहीं। तो बाह्यपदार्थको चाह करना बिल्कुल व्यर्थ है। ये बाहरी पदार्थ व इन बाहरी पदार्थोंका निमित्त पाकर होने वाले अपनेमें जो विकारभाव हैं, ये सब सयोगरूप हैं। जो सयोगरूप है वे सब बाह्य भाव कहलाते हैं। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे सब इन बाह्य पदार्थोंसे हटते हैं और अपने परमार्थ ज्ञानस्वरूपमें लगते हैं।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ॥६०॥

(१०६) शाश्वतसुखलाभके लिये निर्मल अन्तस्तत्त्वकी भावना करनेका उपदेश—हे मुनिजनो, यदि चार गतिरूपी ससार भ्रमणसे छूटकर शीघ्र शाश्वत सुखमय मोक्षको प्राप्त करना चाहते हो तो भावोसे जैसे शुद्धि बने वैसे अतिशयकर विशुद्ध निर्मल आत्माकी भावना करो। समारसे निवृत्त होनेका उपाय आत्माके अविकार सहज ज्ञानज्योति स्वरूपकी आराधना है और आराधना भी किस तरह ? कि यह मैं हू, इस तरहकी दृढ़ भावना करके उसमे मग्न हो जाने रूप है, याने अभेद आराधना है। देखो ज्ञान वहाँ अभेद है, अभेद ही आत्माका ज्ञान करने वाला है उपयोग और जिसकी आराधना की जा रही है वह है अभेद उपयोगमय, सो यो जब ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय तीनोका अभेद बनता है तब ऐसी निर्विकल्प स्थितिमे उत्तम ध्यान बनता है, जिसका निमित्त पाकर भव भवके बांधे हुए सब कर्म कट जाते है और समस्त कर्मों के दूर हो जानेसे आत्मामे कैवल्य प्रकट होता है। तो अपने आत्माको सुखी शान्त बनाये रहनेका उपाय अविकार निर्मल सहज ज्ञानज्योति स्वरूप अतस्तत्त्वकी भावना है। यह जीव अपने आपमे अपनी रचनाको निहारता है। मैं हू, दर्शन ज्ञान आदिक अनन्त गुणोंका पिण्ड हू, इस ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मामे किसी परपदार्थका प्रवेश नहीं होता। सो ज्ञानी अपने स्वरूपमें अपने आपके प्रतिभासका आनन्द लेता रहता है। इस प्रतिभासमे पवित्रता है, एकाकीपन है, निराकुलता है। तो ऐसे निराकुल स्वरूप अंतस्तत्त्वके ध्यानसे शाश्वत सुखरूप

मोक्षकी प्राप्ति होती है, इस कारण हे भव्य जीव, सहज शुद्ध अत्यन्त पवित्र अपने आपके सत्त्वसे अपने स्वभावरूप इस उपयोगमय अंतस्तत्त्वकी भावना भावो ।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

(१०७) **आत्मस्वभावभावनायुक्त भव्यके निर्वाणका लाभ**—जो भव्य जीव तत्त्वकी भावना करता है, ज्ञानमय निज स्वरूपको निरखता हुआ जीवके स्वभावको जानता है और उसकी आराधना करता है वह जन्म जरा मरणका विनाश कर प्रकट मोक्षको प्राप्त होता है। जीवके बारेमें कुछ न कुछ ज्ञान अनुमान सबको हो रहा है। जीव है, यह लोकमे प्रसिद्ध बात है और जीव शब्द कहकर लोग उसका व्यवहार भी किया करते है, पर वह जीव वास्तवमें क्या है, यह जीवके स्वभावका ज्ञान करनेपर ही ज्ञात हो सकता है । जिसको आत्माके स्वभावका यथार्थ ज्ञान नही है, बल्कि अन्य ऐकान्तिक दार्शनिकोके उपदेश सुनकर विपरीत स्वरूपमें आत्माको परख रहा है वह पुरुष संसारमें परिभ्रमण करता, जन्म जरा मरणके दुःख सहता रहता है, किन्तु जो जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है और जानकर उस रूप उपयोग करके अनुभवता है वह पुरुष इन समस्त परिभ्रमणोको दूर कर देता है । यह बात कुछ एकदम परोक्षमें नहीं है, तो स्पष्ट है, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है । सारा जगतका परिणमन निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक चल रहा है । स्वतंत्रता तो यह है कि उपादान अपने आपमें ही परिणमता है । दूसरे पदार्थमे नही परिणमता । दूसरा पदार्थ आत्मामें नहीं परिणमन करता । यह तो है वस्तुस्वातन्त्र्य, किन्तु परिणमन जो हो रहा है वह सब निमित्त पाकर हो रहा । निमित्त पाकर होनेमे कुछ निमित्तकी क्रिया नही पहुंच जाती । निमित्त तो केवल उपस्थिति मात्र रहता है, वह अन्यमे परिणति नही करता, किन्तु परिणमने वाले पदार्थमे कला ही ऐसी होती है कि वह कैसे पदार्थका सान्निध्य पाकर किस रूप परिणम जाय ? ऐसी योग्यता, ऐसी कला यह उपादानमे होती है, पर वह कला निमित्त पाकर प्रकट होती है, इतना भर निमित्तनैमित्तिक योग है

(१०८) **आत्मस्वभावके आश्रयका प्रभाव**—जब जीव अपने शाश्वत ज्ञानस्वभावकी सुध लेता है तब तो कर्मबन्धनसे यह छूटता है और स्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोमें उपयोग को लगाता है तो कर्मबंधनसे आक्रान्त हो जाता है । यह भी सब निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है । यहां कोई निमित्त सद्भावरूप होता है, कोई अभावरूप होता है । तो सद्भावरूप निमित्तका सन्निधान पाकर उपादानमे विषम परिणमन होता है, यह तो प्रत्यक्षसिद्ध बात है, पर अभावरूप निमित्त होनेपर जो पदार्थमे विशुद्ध परिणमन होता है सो वह यदि सूक्ष्म दृष्टि

से निचारा जाय तो उसका यह अर्थ है कि पहले निमित्तका सान्निध्य पाकर जीवमें विकार-रूप परिणमन होता था। अब उस निमित्तका अभाव हो जानेपर विकाररूप परिणमन नहीं हो पाता है। और विकाररूप परिणमन नहीं हो रहा तो कुछ तो परिणमन है। तो वही कहलाता है शुद्ध परिणमन। जो पुरुष आत्माके सहज यथार्थ स्वरूपको जान जाय जैसा कि निर्विकार स्वभावानुरूप यथार्थ पर्यायके होनेपर वहाँ सहजस्वरूप झलकी जान जाता है ऐसे इस अनादि अनन्त शाश्वत ज्ञानस्वरूपकी जो भावना करता है वह पुरुष जन्म, जरा, मरणका नाश करके शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहावो य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥६२॥

(१०९) कर्मक्षयका कारणभूत आराधन—जिनेन्द्र सर्वज्ञदेवने जीवका स्वरूप ऐसा बताया है कि वह ज्ञानस्वभाव वाला है, हम आप जब अन्तर्दृष्टि करके कुछ निहारने चलते हैं तो ज्ञानज्योति जाननस्वरूप, यह कला विदित होती है, सो वह ज्ञानस्वभावपनेको प्रकट करता है। जीव ज्ञानस्वभावरूप है। तब ही तो उससे ज्ञानकी वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। ज्ञान-स्वभावरूप क्यों है कि यह चेतन है, चैतन्यस्वभावमय है और चैतन्यस्वभाव सामान्य विशेषात्मक है, क्योंकि चैतन्यमात्र ही तो आत्मद्रव्य है और प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मक होता है। तो आत्मामें जो सामान्य चेतना है वह तो है दर्शन गुण और जो विशेष चेतना है वह है ज्ञान गुण, सो यह जीव ज्ञान दर्शन चेतना सहित है। तो ऐसे जीवकी जब आराधना चलती है अर्थात् मैं यह हूं, मैं यह हूं, इस तरहका जब दृढ़ अभ्यास बनता है तो यह शब्दा-सक्ति भी शान्त हो जाती है। यह अन्तर्जल्प भी नहीं रहता है किन्तु अपनेको ज्ञानमात्र निरखकर ज्ञानरूप ही अनुभवन बनता है। तो ऐसा यह अनुभव कर्मोंके क्षयका कारण रूप है।

(११०) ज्ञानस्वरूप आत्माके स्वरूपको स्वीकारतामें अद्भुत प्रकाश—यहाँ जीवको चेतनासहित बताया। इसमें उन सिद्धान्तोंका निराकरण हो जाता है जो जीवको चेतनासहित नहीं मानते, किन्तु पृथ्वी जल अग्नि वायुका संयोगरूप मानते हैं। अच्छा, जीवको चेतनासहित सांख्य सिद्धान्त वाले भी मानते हैं, किन्तु वे ज्ञानस्वभावरूप नहीं मानते, ज्ञानको प्रधानका याने प्रकृतिका धर्म कहते है। और, जीवको उदासीनरूप नित्य, अपरिणामी चेतनारूप मानते हैं। सो ज्ञानस्वभाव है आत्मा, ऐसा कहनेसे उस एकान्तमतका निराकरण हो जाता है। जीव यदि परिणमे नहीं तो जो वस्तु परिणमता नहीं है वह सत् ही नहीं हुआ करता। आखिर किसी न किसी दशामें तो वस्तुका रहना होता ही है। सो आत्मा ज्ञानस्वभावी है, चैतन्य स्वभावी है, परिणमन निरन्तर करते रहने वाला है। सो जो स्वरूप है, स्वभाव है वह तो नहीं

सदा रहता है किन्तु परिणमन भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्नरूप होते जाते हैं। सो यह जीव इस स्वभावरूपमें जाना गया होकर कर्मके विनाश करनेमें निमित्त बनता है। यहाँ एक बात और समझना है कि जीवकी आराधना गुण गुणीके अभेदरूप हुआ करती है। और गुण गुणीका अभेदरूप ध्यान बनना तब ही संभव है जब कि एकस्वरूप हो, तो यहाँ गुण गुणीमें भेद नहीं है, रंच भी भेद नहीं है, किन्तु प्रतिबोधके लिए संज्ञा लक्षण आदिक द्वारा उसमें भेद किया जाता है। तो जो नैयायिक आदिक गुणगुणीमें सर्वथा भेद मानते हैं, गुणको अलग पदार्थ और द्रव्यको अलग पदार्थ मानते हैं तो इस आराधनाके उपदेशमें उस एकान्त मतका निराकरण हो जाता है। तो जो जीवके स्वरूपको अपने स्वभावरूपसे भाते हैं, उनके तो कर्मों का क्षय होता है और जो जीवको अन्य विपर्यय रूपसे भाते हैं उनके कर्मक्षय नहीं होता।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा ॥६३॥

(१११) आत्मस्वभावकी आराधनामें आत्मोपलब्धि—जिन भव्य जीवोंके जीव नामक पदार्थ सद्भावरूप है स्वभावरूप भेदरूप है नहीं है, ऐसी श्रद्धा है और जिस स्वरूपमें जीव है उसी स्वरूपमें जिसकी दृढ़ आराधना बनती है वे भव्य जीव देहसे विमुक्त होकर सिद्ध होते हैं। सिद्धका स्वरूप वचनोंसे नहीं कहा जा सकता। जो कुछ वचनोंसे कहा भी जा रहा तो उसका अर्थ वे ही समझ पाते हैं जिनको शुद्ध स्वरूपके सम्बंधमें अभेदज्ञान हुआ है। जीव स्व-द्रव्यपर्यायस्वरूप है, सो द्रव्यदृष्टिसे जब निरखते हैं तो वह कथंचित् याने द्रव्यदृष्टिसे अस्तिरूप है, नित्यरूप है और जब इस ही जीवको पर्यायस्वरूपसे देखते हैं तो एक पर्याय दूसरी पर्याय से बिल्कुल जुदी है और पर्यायका स्वरूप और द्रव्यका स्वरूप जुदा है, तब वह जीवस्वरूप और द्रव्यका स्वरूप जुदा है, तब वह जीव पर्यायस्वरूपकी दृष्टिसे जैसा कि पहले द्रव्यार्थिक-नयमें देखा था वह नहीं है, इस कारण नास्तित्वरूप है, तथा अनित्यरूप है। पर्यायका स्व-भाव ही यह है कि जो एक समयमे है वह दूसरे समयमें नहीं होता। सो जब जीव द्रव्यपर्याय-स्वरूप है, भावकी भी परिणति होती है और प्रदेशके संकोच विस्तारकी भी परिणति होती है तो इस संसार अवस्थामें जीवके कर्मका निमित्त पाकर मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक, पर्याय हुआ करते हैं। जो इन पर्यायोंका अभाव निरखता है, सो अभी तक मनुष्य थे, अब मनुष्य न रहे, ऐसा निरखकर कहा करते हैं कि जीव मिट गया, जीवका अभाव हो गया, जीवका नाश हो गया। मगर द्रव्यदृष्टिसे देखिये तो जीव तो नित्य स्वभावरूप है। उसकी पर्यायका अभाव होने से कहीं जीवका सर्वथा अभाव नहीं हो गया। वह तो देहसे अलग हुआ अभी, सो संसार में अन्य देहमें चला गया, और मुक्त अमर होना है तो देहसे निराला होकर सिद्ध हो जाता है,

तो यह सिद्ध वचनके गोचर नहीं है। तीन लोक, तीन कालके समस्त सत् पदार्थ होकर उनके ज्ञानमें झलक रहे हैं। जो जो जीव देहको नष्ट होता हुआ देखकर जीवको सर्वथा नष्ट मानते हैं उनकी दृष्टि विपरीत है, वे सिद्ध होनेका मार्ग नहीं पा सकते।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥६४॥

(११२) आत्माका असाधारण लक्षण—जीवका स्वरूप वचनके अगोचर है। वचनके अगोचर होनेपर भी आत्मा अनुभवगम्य अवश्य है, क्योंकि अनुभव करने वाला स्वयं जीव है। तो जो ज्ञानमय पदार्थ है वह अपने आपके स्वरूपको न जान सके, यह अंधेर न होगा, जानता है। तो वह जीव स्वरूप क्या है उसका निरूपण इस गाथामें किया है—जीव रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दसे रहित है। इन ५ बातोंमेसे रूप, रस, गंध और स्पर्श ये तो गुण हैं और पर्याय हैं। गुण तो यह ही है शक्तिरूप और इसकी जो अवस्था होती है वह है पर्याय, किन्तु शब्द सिर्फ पर्यायरूप है। शब्द गुण नहीं है। हाँ शब्द जिनसे उत्पन्न होते हैं ऐसे भाषावर्गणाके जो पिण्ड हैं वे द्रव्य हैं और इनमे स्वयं रूप, रस आदिक गुण पाये जाते हैं। तो जीवमें ये ५ ही बातें नहीं, न तो जीवमें रसगुण है, न रूपगुण है, न गंधगुण है, और न स्पर्शगुण है और न जीवमे इन चार गुणोंकी पर्यायें हैं। जैसे गुणकी पर्याय है खट्टा मीठा आदि, रूपकी पर्याय है हरा पीला आदिक, गंधकी पर्याय है सुगंध दुर्गन्ध आदिक और स्पर्शकी पर्याय है चिकना रूखा आदिक, ये भी जीवमें नहीं हैं, शब्द पर्याय भी जीवमे नहीं है, किन्तु क्या है? चैतन्यगुण है। जीव चैतन्यस्वरूप है, वह किसी भी लिङ्ग लक्षणके द्वारा, परिचय चिन्हके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता। जैसे मीठी वस्तुका कोई वर्णन करे तो उस मीठी वस्तुका तथ्य शब्दो द्वारा समझमें नहीं आता, किन्तु जब उसे खाये तो उससे समझमे आता है, तो ऐसे ही अनुभवगम्य है यह जीव पदार्थ। इस जीव पदार्थमे कोई संस्थान निर्दिष्ट नहीं है कि यह जीव चौकोर है, यह गोल है। हाँ जैसे दीपक मटकेके अन्दर रखा है तो उसका प्रकाश मटका रूप है, अगर कमरेमें रखा है तो वह प्रकाश कमरेरूप है तो ऐसे ही जो जीव जिस देहमे है उसका उतना ही प्रसार है किन्तु स्वयं अपने आप इसका नियत आकार कुछ नहीं है।

(११३) भावोंपर भविष्यकी निर्भरता—जीवका सुधार अपने भावोके सुधारपर निर्भर है। भावोंसे यह जीव सुख दुःख पाता रहा तो भावोंसे ही सुख दुःखसे छूटकर निर्वाण को पायगा। अनादिसे अब तक यह जीव अपने ही भावोंके विकारसे अपनेको अनुभव करता रहा और जन्ममरणके दुःख सहता रहा। इन दुःखोंमे भी किसी दूसरेका हाथ न था। तो अब दुःखोंसे छूटना है तो अपने ही भावोंकी सम्हाल करना है, उससे ही दुःखोंसे छुटकारा

प्राप्त हो जायगा। अपनी बातोंकी सम्हालमें मौलिक सम्हाल है आत्माका ज्ञान। आत्माका अपने आप सहज जो भी स्वरूप है, अपनी ही सत्ताके कारण स्वयंका जो स्वभाव है, उस स्वरूपमात्र अपनेको जानना, अनुभवना, यह संसारके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है। तो अपनेको वैसा समझना चाहिये, वास्तविकता क्या है इसीका वर्णन इस गाथामें चल रहा है। अपनेको अनुभव करो कि मुझमें क्या है और क्या नहीं है, इस तरहका ज्ञान बनाओ और उस द्वारसे फिर अपने आपके अन्तः प्रवेश कीजिये।

(११४) आत्माको स्वरूपमात्रता व अमूर्तता—मैं रसरहित हूं, रस पुद्गल द्रव्यका गुण है, पुद्गल द्रव्यकी परिणति है, पुद्गलका भाव है, उससे इस मुझ जीवका क्या सम्बंध ? मैं न रस वाला हूं, न स्वयं रस हूं और न रसको यों व्यक्त समझनेका वर्तमान बाह्य साधन द्रव्येन्द्रिय मैं हूं। द्रव्येन्द्रिय याने स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदिक, ये पंच भी कुछ नहीं जानते, किन्तु ये सब जाननेके साधन हैं। जानने वाला यह आत्मा है। सो इस विषयका जो ज्ञान है वह भावेन्द्रिय कहलाता है। उस भावेन्द्रियसे भी मेरा तादात्म्य नहीं अर्थात् भावेन्द्रिय क्षायोपशमिक भाव है। मैं रसको ही जानता हू, पर केवल रसको ही नहीं जानता, सबको जानता। जाननेका मेरा स्वभाव ही है। तो केवल रसको जाननेसे क्या मैं रसरूप हो जाऊंगा ? नही, मैं तो उससे अत्यन्त भिन्न हूं। मुझमें रस नहीं, रूप नही, गंध नहीं, स्पर्श नहीं, शब्द नही। पञ्चेन्द्रियके विषयभूत इन ५ बातोंसे मैं अत्यन्त निराला हू। ये पौद्गलिक हैं। प्राय: लोग इस देहको देखकर इस देहरूप अपनेको अनुभवते हैं सो ऐसा समझते हैं कि मैं काला हू, गोरा हूं आदि, अनेकरूप अपनेको मानते हैं, पर यह मैं आत्मा आकाशवत निर्लेप हूं, अमूर्त हूँ, अपनेको ऐसा ही अनुभव करो कि जैसे आकाश अमूर्त है वैसे ही मैं भी अमूर्त हू। आकाश तो अनन्तप्रदेशी सर्वव्यापक है, मैं अनादिसे बंधनमें चला आया. ऐसा मैं जिस शरीरमें पहुचता हूं उस शरीरके ही आकार रहता हूं। रहूं किसी भी आकारमें, यह तो एक कारणकी बात है, मगर मैं अमूर्त हू, मुझमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, शब्द तो पुद्गल द्रव्यके सयोग वियोगसे होने वाली एक पर्याय है और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक ये शक्ति भी हैं और पर्याय भी हैं। परिणमनपर दृष्टि दें तो पर्याय हैं और सदा रहने वाली शक्तियोंपर दृष्टि दें तो गुण हैं। मैं इन रूप नहीं हूं।

(११५) आत्माको चैतन्यगुणात्मकता—मैं रसादि नहीं हूं तो फिर क्या हूं ? चेतना गुण हूं, अमूर्त होनेपर भी जिसमें चेतना है, जानन है, ज्ञान है, प्रतिभास है, ऐसा एक अद्भुत पदार्थ मैं जीव हूं। अब समझ लीजिए कि ऐसे चेतना गुण वाले मुझ जीवका किसी भी अन्य द्रव्यके साथ क्या सम्बंध है ? एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य कुछ नहीं होता। न स्वामी है, न कर्ता

है, न भोक्ता है। प्रत्येक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्योंसे पृथक् स्वतंत्र सत्ता वाला है। मैं भी अपने ही स्वरूपमें अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता हू, अनन्त हूं। इसका किसी दूसरे पदार्थसे कोई सम्बंध नहीं। एक तो जीवको साधारण घटना रूपसे देखना और एक अपने आत्माको अपने सहज स्वरूपमें निरखना। घटनारूपसे भी देखें तो यह जीव किसी दूसरे पदार्थका कुछ नही करता। हां उसका योग और उपयोग निमित्तमात्र होता है। सो वहां निमित्तपनेसे बढकर यह जीव कर्तारूपमें मानने लगता है, मैं कर्ता हू ऐमा मानता है। मैं आत्मा भी भावोके सिवाय अन्य कुछ कर ही नही सकता। हाथ पैरका उठना, चलना फिरना आदिक इन क्रियावोको भी यह जीव नहीं करता। जिस जीवको चर्चा चल रही है उस स्वरूपमात्र जीव इन क्रियावोंका निमित्त भी नही है, पर उस जीवमें कुछ योग और उपयोग होता है। मायने चेतना गुणके परिणमनमे तो उपयोग बना और आत्माके प्रदेशोसे योग बना। मायने भीतर हलन चलन होना, प्रदेशोमे परिस्पद होना यह तो है योग और किसी पदार्थमे अपना दिल जाना, उपयोग लगना यह हुआ उपयोग। सो ये योग और उपयोग ये भी उठने बैठनेकी क्रियावोके कर्ता नही है, किन्तु ये निमित्तमात्र हैं। जीवमे योग हुआ, उपयोग हुआ, इच्छा हुई, भावना जगी, इन बातोका निमित्त पाकर शरीरमे वायुका सचरण हुआ और चूंकि जिस प्रकारकी इच्छा की थी उसके अनुरूप वायुका संचरण हुआ, तो उसीके अनुरूप हाथ पैर चले। वस्तुतः मैं जिसमे आत्माका अनुभव करू या जो सहजस्वरूप है, वह इन क्रियावोका करने वाला नही है। योग उपयोग निमित्त हैं। तो जब मैं सिवाय अपने भावोके कुछ कर ही नही सकता तो फिर अन्य द्रव्योसे मेरा क्या सम्बन्ध रहा और फिर क्यों मैं अन्य पदार्थोंको विकल्पोमे इतना छा-कर रखू ? यह सब भ्रम रूप है जिससे यह जीव बडा परेशान है। लोग तो सोचते है कि मेरा अच्छा घर है, मेरा परिवार अच्छा है, मुझको बडा सुख है और वे अपनेमे सतोषकी श्वांस लेते हैं, मगर यह सब एक अज्ञान भरी बात है। अज्ञानी जीवको पता क्या कि ये सब विपत्तिरूप हैं। जिसे यह ज्ञान जग गया कि मैं आत्मा चैतन्यस्वरूपमात्र हू उसे ये सब विपत्तिरूप लगते हैं।

(११६) चैतन्यमयताके साक्षात् अनुभवका उपायभूत मनन—जीवका बाहरी बातोंमें उपयोग जगना यह तो जीवके लिए कलक है और यह उसके लिए बड़ी भारी विपत्ति है। इस जीवका यह कलंक तब मिटेगा जब कि यह मोक्षमार्गमे लगेगा, चलेगा और अरहंत सिद्ध अवस्था पायगा। मैं चेतनागुण मात्र हू, यह अनुभव करना। और भैया सीधे सादे रूपसे इन शब्दोंमें अनुभव कीजिए कि मैं अमूर्त हू, ज्ञानमात्र हू। अमूर्त हू, ऐसा सोचनेके साथ ही आकाश-वत् जिसे कहो शून्य, कुछ भी पिण्ड नजर न आये, इस तरहका अपनेको अनुभवना और ज्ञान-

मात्र कहते ही केवल ज्ञानस्वरूप, जो जान रहा है उस ही जाननका स्वरूप अपनेमें अनुभवना, ऐसी मुख्य ये दो बातें आनेपर याने अपनेको अमूर्त और ज्ञानमात्र अनुभवनेपर इसके भीतर आत्मदृष्टि जगती है और ऐसा अलौकिक अनुभव आता है कि सारे संकटोंका बोझ दूर हो जाता है। तो यह मैं परमार्थतः चैतन्यगुण स्वरूप हूं।

(११७) अलिङ्ग अन्तस्तत्त्वकी अलिङ्गग्रहणता—इस अपने अंतस्तत्त्वको, अपने ज्ञानस्वरूपको हम किसी लिङ्गसे पहिचान नहीं सकते। जिसकी यह श्रद्धा और दृष्टि बनी है कि मैं पुरुष हूं वह कभी आत्मदर्शन नहीं कर सकता। जिसमें यह सत्य श्रद्धा बनी है कि मैं स्त्री हूं अथवा पुरुष हूं अथवा नपुंसक हूं, वह आत्मदर्शन नहीं कर सकता। आत्मदर्शनकी तैयारी पर जब आये तो इन सब पर्यायोंरूप अपनेको भूलना होगा। मैं इन सब रूप नहीं हू ऐसा निर्णय करना होगा। मै यह देह ही नही हूं, फिर स्त्री पुरुष आदिक की तो कथा ही क्या है? शरीरसे ही जब मैं न्यारा हूं तो वे तो सब एक समान हैं। आत्मा चाहे पुरुष रूप हो चाहे स्त्री रूप हो वह सब पूर्णतया एक समान स्वरूप वाला है, इसमें पुरुष स्त्रीका कोई फर्क नही है, बल्कि जो अपनेको पुरुष माने अथवा स्त्री माने वह अपना विघात कर रहा है। वह अपने आपका दर्शन नहीं कर सकता। इन चिन्होंको, इन लिङ्गोंको बिलकुल भूल जाना होगा। ये मैं कुछ नहीं हूं। मैं तो एक अमूर्त चेतनामात्र हूं। जब मैं ये पुरुष, स्त्री आदिक रूप वाला भी नही हूं तो फिर इन धन वैभव आदिक वाला अथवा इन रूप तो मैं हो ही कैसे सकता हूं? इस कुटुम्ब परिवार वाला भी मैं नहीं हूं। ये कुछ भी मेरे नहीं हैं फिर भी जिनको बडा मोह है धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदिकमें वे तो अनन्त संसारी प्राणी हैं। उनमें और पशु-पक्षियोंमें कोई अन्तर नहीं है, बल्कि उनसे कोई कोई पशु पक्षी अच्छे हैं, क्योंकि उनके भी विवेक हो सकता है। होता जिन किन्ही बिरलोको है। वह जिन्दगी भी क्या जिन्दगी है जो मोहमें लिपटी हुई जिन्दगी है। वह तो एक मूर्खतापूर्ण जिन्दगी है। सत्य बात ध्यानमें लाइये कि मैं इन सबसे निराला केवल चेतनामात्र हू। यह किसी लिङ्गसे चिन्हसे परिचयमें नहीं आ सकता। इन लिङ्गोंकी तो अत्यन्त उपेक्षा हो। मानो वे हैं ही नहीं। ऐसी तीव्र उपेक्षा होनेके साथ यह जीव जब स्वरूपमें चले बर्ते, तो इसको पता पड़ सकेगा कि मैं यह आत्मा हूं। अनेक लोग मोहवश मिथ्यात्ववश यह समस्या रख देते हैं कि हमें दिखाओ कि आत्मा कहां है? अरे यह आत्मा इन चर्मइन्द्रियोंसे दिख ही नहीं सकता, बल्कि इन्द्रियोंसे देखनेका कोई प्रयत्न करे तो नियमसे वह अदृश्य रहेगा। यह तो ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानस्वरूप अनुभव में आता है। जो अपनी स्थिति यह बना पायगा कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका एकदम विलय हो वह पुरुष इस भगवान आत्माका दर्शन कर पायगा। तो यह परमार्थ

आत्मतत्त्व अलिंगग्रहण है । किसी लिंगके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता ।

(११८) **आत्माकी संस्थानरहितता**—इस जीवका कोई सस्थान नहीं है, कोई आकार नहीं है । इस जीवका आकार होकर भी उसे निराकर बताना यह तथ्य किन किन दृष्टियों से है । जीवमें आकार स्वयं सहज नहीं । यदि यह जीव धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यकी तरह सहज ही पर्यायसे भी निर्मल शुद्ध होता तो इसका आकार नियत रहता । धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य हुब लोकाकाशमें व्यापक है, मगर ऐसा जीव कभी नहीं हुआ कि जो अनादित. पर्यायसे स्वयं शुद्ध हो । यह जीव अनादि कालसे कर्मोंमे बंधा, अनेक शरीरोमें आया नाना आकाररूप चल रहा है । कैसा विचित्र निमित्तनैमित्तिक भाव है । कीडेमे जीव है तो कीडेके शरीरप्रमाण ही तो यह जीव रहा, हाथीमे जीव है तो वहाँ हाथीके शरीर प्रमाण जीव रहा । आज मनुष्य है तो मनुष्यके शरीरप्रमाण जीव रहा । जिस जिस शरीरमें यह जीव गया उस उस शरीरके आकार यह जीव रहा । यह अन्य तरह कैसे हो ? जब शरीरमे यह बद्ध है तो यह कैसे अन्य आकारमे जाय ? भले ही समुद्घातकी स्थितियोमे कुछ स्थितियोंसे अन्य आकार बन जाता है मगर मूल शरीर तो नहीं छोड़ता । तो नाना आकारोमे जो यह जीव रहा है तो वह देहबधनके कारण रहा है । यदि इन नाना आकारोरूपमे कोई अपनेको देखे, जैसे इस पैर में भी जीव है इस हाथमे भी जीव है, इस अमुक हिस्सेमे भी जीव है, तो उसे इस आत्मा भगवानके दर्शन नहीं होते । भले ही उन सब हिस्सोमे जीव है मगर इस तरह हिस्से हिस्सेके निगाहसे उस उस आकारमे जीवको देखे तो उसे भगवान आत्माके दर्शन नहीं होते । जीवकी नाना परिणतियां बन रही हैं जैसे जीव क्रोधी है घमडी है, लोभी है, सुखी है, दु खी है, शान्त है आदिक । इन सब परिणतियोपर भी दृष्टि दें और इन परिणतियोकी निगाहसे भी देखें तो वहाँ इस भगवान आत्माका दर्शन नहीं होता । इस भगवान आत्माका दर्शन होता है भावो रूपसे ही जीवको देखनेपर । इस भावपाहुड ग्रन्थमे भावोको नाना विशेषतायें बताकर इस दर्शन ज्ञानस्वरूप सामान्य भावमे अपनेको उपयोगी बनाना चाहिये । यहा यह शिक्षा दी जा रही है कि मैं ज्ञानसामान्य हू । जीवका आकार तो ऐसे बनता है ससारमे देहबधनके कारण और जब मोक्ष होता है देहको छोडता है यह जीव तो वहाँ फिर यह घटता बढ़ता नहीं क्यो, कि घटे तो बढ़नेके पसंद वाला प्रश्न करेगा कि क्यो घटा और बढे तो घटनेके पसद वाला ऐसा प्रश्न करेगा कि क्यो बढ़ा शरीरमे रहकर तो शरीरके अनुसार घटने बढ़नेका कारण शरीर बधन है । शरीरसे अलग होनेपर घटने बढ़नेका क्या काम ? कर्मरहित होनेपर, शरीर से जुदा होनेपर यह जीव उसी आकारमें रहता है । सिद्ध लोकमे पहुचा हुआ जीव उसी आकारमे बना हुआ है जिस आकारमें रहते हुए यह मुक्त हुआ है । उसका स्वयंका अपने

वस्तुके कारण कोई आकार निर्णीत नहीं है और फिर आकारसे मतलब क्या ? आकारपर ही दृष्टि दें तो वहाँ भगवान आत्माके दर्शन नही होते, वह तो एक जानकारीसी हुई, परिचयभर हुआ कि आत्मा ऐसा है मगर ज्ञानमें ज्ञान मग्न हो जाय आत्मामें यह उपयोग रम जाय, ऐसी बात भावोंसे विचारनेपर ही बनेगी, पर आकार आदिकसे विचारनेपर न बनेगा। तो जिसका कोई आकार नहीं ऐसा वह जीव परमार्थ है।

(११६) आत्मानुभवसे कर्मप्रलय—अहा, अमूर्त, ज्ञानमात्र, निराकार आत्माको निरखिये, ऐसा आत्माको निरखनेके लिए प्रथम प्रयत्न यह होगा कि किसी भी बाहरी पदार्थमें उपयोग न जाय, कोई भी पर पदार्थ ख्यालमें न आये। बाह्य पदार्थ ख्यालमे न आयें यह बात इस ज्ञानबलपर हो सकेगी। इन बाह्य वस्तुओंमें मेरा क्या मतलब ? सब अपनी-अपनी सत्ता लिए भिन्न भिन्न हैं, इनसे मेरा न सुधार, न बिगाड न कोई सम्बंध। कुछ भी बात नही है, बल्कि इनका ख्याल बनाकर मैं अपने आपको बरबाद कर डालता हूं। तो मेरी ऐसी क्या अटकी है जो इन बाहरी पदार्थोंमें मैं अपना दिल फसाऊँ। ज्ञानी जन अपने ज्ञानके बलपर इन बाहरी पदार्थोंका ख्याल छोड देते हैं, और जहाँ इन समग्र बाह्य पदार्थोंका ख्याल छोडा वहीं स्वयं ही यह ज्ञान सहज ही अपने ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। यह उपयोग हमारे आत्मामे ही रहे, यह ज्ञानस्वरूपको ही देखता रहे, इस स्थितिमें जो आनन्द जगता है वह आनन्द जगतके प्राणियोको मिलता नहीं इसलिए पञ्चेन्द्रियके विषयोको भोगने और उनके साधन जुटानेमे ही रात दिन उनका उपयोग लगा है। आत्मानुभवका आनन्द वह आनन्द है कि जिसके प्रतापसे भव भवके बँधे हुए कर्म तड तड टूट जाते हैं। धर्म यही है बाकी तो ये बहुत बडे बिगाडरूप है या यो कहो कि मिटनेके लिए, बरबाद होनेके लिए जो व्यसन हैं उनसे हटनेके साधन है। मंदिर आना साधर्मी जनोंकी सेवा करना, शास्त्रस्वाध्याय करना, जप तप, व्रत आदि करना, विधि विधान करना आदिक ये सब उस बिगाडसे बचनेके साधन हैं, कर्म काटनेके साधन नही हैं। कही मन्दिरमें आने या ये सब धार्मिक क्रिया काण्ड कर लेने मात्रसे कर्म नहीं कटा करते। जिन जिन बाहरी बातोंको लोगोंने धर्म माना है उनसे कर्म नही कटते, कर्म मैं काटूं ऐसी कर्मोंपर दृष्टि देनेसे भी कर्म नहीं कटते, अष्ट कर्म विध्वंसनाय धूप ऐसा चिल्लाने और ढेरो धूप खे देने से भी कहीं कर्म नही कटते, कर्म तो कटते हैं अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वके अनुभवसे, दूसरा कोई उपाय नहीं है कर्मोंके मूलतः काटने के लिए, पर यह बात कोई कर सके तो उसके लिए है। अपना ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानमें आवे इसके लिए जो तैयार होता है वह इन स्थितियोंमें आता है। वह मंदिर आयगा, स्वा-

ध्यान करेगा, व्रत, तप, त्याग आदि करेगा, साधर्मी जनोंकी सेवा करेगा, सारे धार्मिक क्रिया-काण्ड करेगा, ये सब साधन हैं ? इनमें गुजरते हुए वह अपने ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान बनायगा। जैसे चावल और चावलका छिलका, तो छिलकेके बिना चावल कहां रहेगा, मगर छिलका ही चावल नहीं है, ऐसे ही मंदिर, विधि विधान आदिक बिना वह जीव कहां अपनी साधना बनायगा मगर ये सब धार्मिक क्रियाकाण्ड स्वयं धर्म नहीं हैं। धर्म है, अपने आत्मा का ज्ञानमात्र अनुभव, जिसमें कोई विकल्प नही उठता उसी आत्माका इस गाथामें वर्णन किया गया है।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होई ॥८५॥

(१२०) आत्मशान्ति चाहनेवालोंका मार्ग ज्ञानभावना—अपने आपकी शान्ति चाहने वाले पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपकी भावना करे। देखिये धर्म, ज्ञान जो शान्तिके साधन आचार्योंने बताया है यह केवल एक बताने भरकी बात नही, कोई लकीरकी बात नही किन्तु प्रेक्टिकल करके देखें तो आत्माको शान्तिका कारण सिवाय ज्ञानभावनाके अन्य कुछ नही विदित होगा। ज्ञानी जानता है अपनेको, मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानसे ही रचा हुआ हूं, ज्ञानकी वृत्तियाँ उठें, ज्ञानकी शुद्ध लहरें चलें जाननमात्र परिणमन रहे, यही मेरी कला है, यही मेरा काम है, इसका ही मैं कर्ता हूं। अहा, ज्ञानका जानन परिणमन रहे, इसमे जो अलौकिक आनन्द रहता है, समस्त विकल्प कलंक मिटनेसे जो एक वास्तविक सत्य सहज आनन्द प्रकट होता है इसका ही मैं भोक्ता हूं। इससे बाहर मेरा कुछ लेन देन नही। केवल अज्ञानी बनकर ही यह जीव बाहरमे उपयोग लगाता है, विकल्प करता है।

(१२१) गृहस्थकी नीति—संसारकी रीति और मोक्षकी रीति ये परस्पर बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। संसारकी रीतिकी तरफ जब दृष्टि करते हैं तो ऐसा लगता है कि बढ़े चलो धन वैभव प्रतिष्ठा आदिकमे, ये सब ठीक हैं। इनके बिना महत्त्व क्या ? ये सब बातें जगती हैं। और, जब मोक्षकी दृष्टिसे बात करें तो वास्तविकता ज्ञानमे आती है कि प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेशोंसे बाहर कुछ कर ही नही सकता, बाकी तो सब निमित्त नैमित्तिक भावोंसे होता रहता है। जो कुछ किया जा सकता है सो अपने ही गुणोंमें परिणमन किया जा सकता है। बाहरसे क्या सम्बन्ध ? अरे उस संसार रीतिका फल है—कर्मका बंध होना, जन्म मरणको परम्परा चलना, ये सब बातें चलती रहती हैं। अब घरमे रहता हुआ गृहस्थ कैसे इसका समन्वय कर सके। साधुवोंका तो ठीक है, स्पष्ट पथ है, वहां तो कुछ भूला ही नही जा सकता है। एक मोक्ष रीति ही है। संसार रीतिसे वहां कुछ सम्बन्ध नही। जो साधु संसार रीति

के साधनमें चलता है, उसमें अपना उपयोग लगाता है वह संसारके बंधनमें ही है। तो साधुवोंका तो बिल्कुल स्पष्ट निर्णय है कि मोक्षमार्गकी रीतिमें ही चले, पर गृहस्थकी क्या होगा ? गृहस्थका भी ठीक निर्णय है। जिस गृहस्थके सदाचारका, पुण्यका उदय है सो साधारणतया यत्र तत्र प्रयासमें धन वैभव आदिक सहज ही प्राप्त होते हैं। ज्ञानी गृहस्थ इसके लिए आकुलित नहीं होता। उसकी एक ही धुन है कि आत्मदृष्टि बनी रहे, सदाचार बना रहे। फिर उसका जो कुछ भी प्रयास प्रयत्न होता है वह एक साधारण प्रयासमें ही योग्य बातें चलती रहती हैं, पर मुख्य ध्यान तो मोक्षमार्गकी रीतिका है, क्योंकि कदाचित् मान लो एक इस जीवनमें कुछ संसारका वैभव बढ़ा लिया तो उससे इस जीवको क्या लाभ ? जो अमूर्त है। ज्ञानस्वरूप है, देहसे निराला है, देहको छोडकर जायगा उस अमूर्त ज्ञानस्वरूप आत्माको कर्मबंध ही तो मिलेगा, जन्म मरणकी परम्परा ही तो मिलेगी। इसलिए ये सब आत्महितमें बाधक हैं। सो जिनको आत्महित चाहिए, संसारके संकटोसे सदाके लिए छुटकारा चाहिए, उनका कर्तव्य है कि वे मोक्षमार्गकी रीतिमें चलें। वह रीति है ज्ञानभावना। अपनेको ज्ञानस्वरूप मानें, अपनी सारी दुनिया इस स्वरूपमें ही माने, अपने स्वरूप सर्वस्वसे बाहर कुछ भी नही है ऐसा दृढ़ निर्णय रखें।

(१२२) ज्ञानभावनाकी रीति—यहाँ आचार्य कल्याणार्थी पुरुषोंको उपदेश कर रहे हैं कि अज्ञानताका शीघ्र नाश करने वाले जो ५ प्रकारके ज्ञान हैं उनकी भावना करो। ज्ञान मूलमे एक ही प्रकारका है। उसमें विशेषतायें नहीं हैं। विशेषतायें जहाँ होती हैं, जीवके ही किसी पर प्रसंगके कारण होती हैं। स्वय तो वह एक अवक्तव्य है। ज्ञानमें जो ये ५ भेद डाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, सो ५ प्रकारको, ये परिलक्षित है, और ये किसी कारणसे बतायी गई हैं। जहाँ मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम है और इन्द्रिय व मन सही है वहाँ इन इन्द्रिय आदिके द्वारा कुछ ज्ञान जगता है, वह है मतिज्ञान। फिर उस ज्ञानके ज्ञेयमे और ज्ञान बढ़ाया जाता सो है श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर श्रुतज्ञान होता है। अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर अवधिज्ञान जगता है। जहाँ कुछ आगे पीछेकी कुछ दूरकी घटनाको वह आत्मज्ञानसे आत्मा द्वारा ही जान लेता है, इन्द्रिय मनकी सहायता वहाँ नहीं होती। मनःपर्ययज्ञान दूसरेके मनकी बातकी जान जाना इसका काम है। यह साधुवोंके ही होता है। मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर यह ज्ञान होता है। जहाँ समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो गया वहाँ केवलज्ञान जगता है, जिससे तीनों लोकके भूत, भविष्य और वर्तमानके सब सत् व अलोक एक साथ पूर्ण स्पष्ट ज्ञात होते रहते हैं। ये सब ज्ञानके ही तो परिणमन हैं। ज्ञानस्वरूप एक है, उस ही का कारणवश ऐसे ऐसे

विकास बने हैं। तो कहाँ ये ५ प्रकारके विकास बनते हैं, ऐसे उस मूल ज्ञानस्वरूपको देखिये जैसे मनुष्य, बच्चा, जवान और बूढ़ा। तो बच्चा, जवान, बूढ़ा ये तो दशायें हैं, पर इन सब तीनों दशाओंमें रहने वाला जो एक मनुष्य सामान्य है वह ज्ञानमें तो आता है कि मनुष्य यह है, पर आँखोंसे देखेंगे तो मनुष्य न दीखेगा बच्चा दीखेगा, जवान दीखेगा, बूढ़ा दीखेगा, पर मनुष्य किसीको न दीखेगा याने वह मनुष्य सामान्य इन तीन दशाओंरूपमें दिखेगा, पर ज्ञान-बलसे जब तर्कसे सोचा जाता है कि बच्चा तो कुछ वर्षोंमे नही रहता, जवान भी नहीं रहता, वृद्ध भी कभीसे होता, पर मनुष्य तो जन्मसे मरण तक रहता है। वह मनुष्य क्या ? तो जैसे मनुष्य सामान्य और बालक आदिक दशायें जानी जाती हैं, ऐसे ही ज्ञानसामान्य और मति-ज्ञानादिक पञ्च दशायें जानी जाती हैं।

भैया, कहाँ दृष्टि ले जाना है कि जहाँ बाह्य विकल्प मिट जाते हैं और अपने स्वरूपका अनुभव हो ? तो पहले इन ५ प्रकारके ज्ञानोके परिचयसे तो कुछ ज्ञान बढ़ायें। अब ज्ञान बढ़ा-कर उन पाँचोंको ही भूलकर उन पाचोका श्रोतभूत मूल आधार जो ज्ञानस्वभाव है उसकी भावना बनाइये, तुरत शान्ति मिलेगी, कर्मका क्षय होगा। यह बात तो आप अनुभवसे कभी भी समझ सकते हैं। किसी भी क्षण बैठे हुए, लेटे हुए, खडे हुए एकाग्र ध्यान बन जाय और इस परिचयके बलसे कि जगतके बाहरी पदार्थोंकी घटनायें, इनसे मेरा कुछ सम्बंध नही है, मैं तो ज्ञानमात्र हूं और अपनेको मात्र ज्ञानस्वरूपमे निरखे तो उसे अद्भुत शांति प्राप्त होती है, अपनी निजकी चीज यह है, बाकी सब पर हैं, बेकार है। जिनपर मनुष्योको गौरव होता है कि ये मेरे हैं, इनसे मैं महान हू, यह सब कोरा भ्रम है और वे अज्ञान दशामे चल रहे हैं, हालांकि संसारमे यह सब सगम होता है, पर इनके बीच रहते हुए भी जलमे कमलकी भाँति निर्लेप रहना चाहिये। जैसे कमल जलसे हो पैदा हुआ, जलमे ही रह रहा, फिर भी वह जलको छू नही रहा। वह जलसे ऊपर दो-एक हाथ दूर रहकर वहाँ प्रफुल्लित रहता है। यदि कमल जलको छू ले तो वह ठीक नही रह सकता। सड जायगा, ऐसे ही घरमें पैदा हुए घरमे रह रहे, मगर घरको छोडकर रहे गृहस्थ तो वह सदा हुआसा रहेगा याने कर्मबन्धसे लिप्त होगा, संसारमे जन्म मरणके सकट सहेगा। घरमे पैदा हुआ, घरमे रह रहा पर घरसे अलग रहे उप-योग, प्रतीतिमे श्रद्धामे यह रहे कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हू, मेरा स्वरूप ही मेरा घर है। मैं अपने स्वरूपमें ही वर्तता रहता हू तो वह गृहस्थ घरमे रहकर भी अपने पदानुसार कर्मोंका क्षय करता रहता है और अलौकिक शान्ति पाता रहता है। तो हे भव्य तू इन ५ प्रकारके ज्ञानोंको भावित कर अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित होकर इन ज्ञानोमे रह।

(१२३) सम्यक्त्ववासित ज्ञानभावना सौरभ—जिसके सम्यक्त्व नहीं उसके कुज्ञान

कहा गया है। फिर यह ज्ञान ही नहीं कहलाता। जीवका सहारा सम्यग्दर्शन है। संसारमें दूसरा कोई सहायक नहीं। यहाँ गर्व करना एक बहुत बड़ी विपत्तिमें डालने वाली बात है। मेरा यह है, मेरा इतना प्रताप है, मेरा ऐसा यश है, ये सब स्वप्नके समान विकल्प बनाना इस जीवकी दुर्दशा करानेके कारण हैं। जिनको अपने आत्माका सही बोध है, यह ज्ञानस्वरूप अमूर्त है, ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानमें आने वाला, किसी इन्द्रिय द्वारा नही दिख सकता। बाहरी विकल्प छोड़कर आरामसे रहे तो अपने ही ज्ञान द्वारा अपने ही ज्ञानस्वरूपको कुछ जानता हुआ, स्पर्श करता हुआ यह अपनेमे अद्भुत प्रमोद पाता है। तो सम्यक्त्वका महत्त्व जानें और ऐसा निर्णय करें कि मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके अतिरिक्त कुछ चाहिये ही नहीं। लोकमें ऐसा कह बैठते कि "मनचगा तो कठौतीमें गंगा"। यहाँ वास्तविकता यह है कि अपना उपयोग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे युक्त है तो सर्व उत्तम वैभव पा लिया गया है। बाहरमे इस जीवका कुछ वैभव नही। केवल एक मान लेनेकी चीज है। और उस माननेका फल है नरक निगोद आदिककी दुर्गतियाँ ससारमें भोगते रहना। आत्माका वैभव रत्नत्रय ही है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही है। अपने आपके ज्ञानमें यह प्रतीति बन जाय कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, अपने प्रदेशोंमें रहता हू इतना ही मात्र हू। इसके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ नहीं। ऐसा ही विश्वास बने और ऐसा ही रमण करें, अपने आपमें ही ज्ञानको रमाकर संतुष्ट रहें यह है अद्भुत वैभव जीवका। इसको छोड़कर अन्य कुछ भी वैभव नहीं है। सो हे आत्मकल्याण चाहने वाले पुरुषो! अपने आपको इस ज्ञान भावनासे युक्त करो।

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाण ॥ ६६ ॥

(१२४) आत्मरुचिरहित पुरुषके पठन व श्रवणकी निरर्थकता—सम्यक्त्वभावसे रहित होकर यह जीव अनेक ग्रन्थोको पढ़े तो उससे भी क्या लाभ पायगा, अनेक ग्रन्थोंको सुने तो उससे भी क्या लाभ पायगा? चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, जिसके सम्यक्त्व नही वह झटपट विषयोमें ही दौड लगायगा। गृहस्थोको प्रकट देखा जाता है विषयोंमे रहने की बात। मुनिजनोमे यह बात प्रकटरूपमे नही दिख पाती है, मगर जो सम्यक्त्वभावसे रहित है वह मुनि गृहस्थसे भी गिरा हुआ है। गृहस्थको तो कभी कभी उपशम हो जाता है। कोई विषयभोग उपभोगकी इच्छायें हैं, मनकी इच्छायें हैं उनको जुटा दिया, विषयोंमे तल्लीन हो गया, अनंतर उपशम हो गया, और कुछ अपना पतन कर लिया, पर जो सम्यक्त्वरहित मुनि है उसके तो सदाचार इच्छाकी ज्वाला ही बनी रहती है और मैं मुनि हूं इस अभिमानके कारण बाहरमें प्रवृत्ति कुछ कर नहीं सकता, इसीलिए बताया है समंतभद्राचार्यने कि मोही

मुनिसे निर्मोही गृहस्थ भला है। मोक्ष एक भव्य भेषको देखकर नहीं मिल जाता। मोक्ष मिलेगा तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी परिणतिमें मिलेगा। भले ही भी इस परिणतिमें बढ़ता है वह भावमुनिभेषमें रहकर ही बढ़ता है, मगर जो भावोंमें बढ़ता है वही मोक्ष पायगा और जिसे भावोंका पता ही नहीं वह तो अन्य संसारी जीवोंकी भांति संसारमें जन्म मरण करता ही रहेगा। तो भावरहित होकर शास्त्रके पढ़ने और सुननेसे क्या होता है? इसीलिए शास्त्र भी पढ़ें, सत्संग भी बनायें और कुछ आत्मचिन्तन करें, ये तीन काम करता रहे कोई यदि अपने जीवनमें तो अवश्य ही वह ज्योति प्रकट होगी जिसके प्राप्त होनेसे नियमसे मोक्ष मिलेगा।

(१२५) स्वाध्याय, सत्संग व आत्ममननकी लाभकारिता—स्वाध्याय करें या शास्त्र सुनें और जो धर्मात्माजन हैं उनकी संगति बनानेमें समय लगायें और रात दिनके २४ घंटेमें किसी भी समय आधा पौन घंटा आत्ममननके लिए बैठें ये तीन काम प्रतिदिन करें तो वह ज्योति जगेगी कि जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि मेरा मात्र मैं ही हूं। मैं केवल अपनी परिणतिको ही कर सकता हूं। अपने भावोंपर ही मेरा अधिकार है, अपने भावोंका ही मैं स्वामी हो सकता हू। अन्य अणुमात्रका भी मैं कुछ नहीं हूं। और अन्य वस्तुओंके संग प्रसंग से शान्ति तो मिलना दूर है, प्रत्युत आकुलता ही बनती है। वे मोहमें ऐसा निर्णय नहीं कर पाते। मोही जीवोंके बाह्य पदार्थोंका सम्बन्ध नियमसे आकुलता ही करने वाला है, पर इस मोहको कुछ कम करके जरा विवेकसे सोचें तब यह बात बिल्कुल साफ विदित हो जायगी, पर पदार्थका सम्बन्ध नियमसे आकुलताका ही कारण है। जैसे बड़े जंजाल आ गये, अनेक उलझनें आ गईं, विकल्प बनाकर परेशान कर रहे हैं। उपयोग क्षण भरको भी आराममें नही आता। पर यह बुद्धि पहले क्यों नहीं बनती? पहले तो कषाय बनी है ना? ऐसा करेंगे, यों भोगेंगे भोग, यों उपभोग करेंगे, यों सम्पदा जोड़ेंगे, यों अपनी महिमा बढ़ायेंगे। पहले ये कल्पनायें बनी रहीं, उससे उद्यम किया, मायाजालमें फस गए। उससे फिर यह अपनेको ऊंचा मानता और इतनेपर भी भीतरमें एक श्रद्धा नही बन पाती कि यह सब परसम्पर्क मेरेको विपत्तिमें हो डालने वाला है। यह अगर खूब श्रद्धा बन जाय तो यह अब भी चेत जायगा, विरक्त रहने लगेगा, आत्माके अभिमुख होने लगेगा, शान्ति पा लेगा। तो भावरहित होकर धर्मके कुछ भी काम करे जो व्यवहारमें बताये हैं, पर उनसे कुछ नहीं होता है। भाव याने आत्मरुचि, यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हू, स्वयं आनन्दमय हूं। मेरा स्वभाव ही ज्ञान और आनन्द है, मेरेमें मेरे कारण मेरी ही सत्तासे कोई विकार नहीं है, हो ही नहीं सकता।

(१२६) विकारोंका आत्मापर छानेकी रीति—ये विकार हैं कर्मके। ये अनुभाग हैं कर्मके। यही कर्म बंधे हैं, कर्ममें विकार जगता है, अनुभाग जग रहा है और वह गुजरकर छाता

गया है। जैसे फिल्मका अक्स सनीमाके सफेद पर्देपर लग जाता है, वह पर्दा तो बिल्कुल स्वच्छ है, पर ऐसा योग है कि वह सारे चित्रमें सफेद पर्देपर लद जाता है। पर्दा अजीव है इसलिए वह उससे नहीं नचने पाता है, पर यहाँ यह आत्मा तो जीव है। इसपर कर्मोंके चित्र लद गए कर्मोंका अनुभाग लद गया, उपयोगमें आया और चूंकि यह जीव है सो यह भी नचने लगा और इस तरह संसारमें यह अपनी विडम्बना बनाता रहता है। यह सारी विडम्बना भावों के बिना है, आत्मरुचिके बिना है, आत्माकी रुचि करें तो नियमसे शान्ति मिलेगी, मोक्ष मिलेगा, बड़प्पन बढ़ेगा और जब तक संसार शेष है तब तक इन्द्र चक्रवर्ती जैसे महान पद मिलेंगे। कषायवश होकर बड़े बड़े उद्यम करके तू वैभववान बनना चाहता है। ऐसे नहीं वैभव मिलता, यह सब धोखा है। तू अपने भावोंको संभाल और अपनेको ज्ञानभावनामें ला। उसका इतना अद्भुत प्रताप है कि मोक्ष तो होगा ही उसका, पर उससे पहले जब तक वह लोकमे रहता है तब तक ऊँचे ऊँचे वैभवोंके साथ रहता है। यदि यह वैभव प्रयाससे ही मिला करता हो तो जो बालक करोडपतीके घर पैदा हो गया और बचपनसे ही करोड़पती कहलाने लगा, उसने क्या प्रयास किया ? तो एक भावोंके सुधारने से ही सब सुधर जायगा। भाव न सुधरे तो संसारमें दुर्गति ही रहेगी। आत्मरुचि करो। अब अपना जीवन पलटिये अपने जीवनको दिशा मोडिये। अपने आत्माको जानें और ऐसा प्रेमसे जानें कि मेरा आत्मा ही मेरा हितकारी है। मेरा यह आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप ही मेरा शरण है। यह ज्ञानस्वरूप स्वयं ही आनन्दमय है, मैं इस ही में रहूंगा, इसही को ज्ञानमें लिए रहूंगा, अन्य कुछ न ज्ञान मे चाहिए। ऐसी दृढ़ता पूर्वक आत्मरुचि तो करें, उससे एक अलौकिक आनन्द और चमत्कार स्वयंमे उत्पन्न होगा।

(१२७) आत्मरुचिका परिचय—जिसको आत्मरुचि हो जाती है उसको बाहरी पदार्थ, बाहरी वैभव ये सब असार और बेकार लगने लगते हैं। उनमें फिर यह ख्याल ही नहीं फसता। परिस्थितिवश वे करने पड़ते हैं। उनके करनेकी उमंग नहीं रहती। उमंग रहती है अपनेको ज्ञानस्वरूप भावना भानेमे। कर्मोदयवश ज्ञान भावनामें नहीं रह पता, मगर धुन इसकी लगी ही रहती है। आत्मरुचि हुई है या नहीं हुई है, इसकी पहिचान यह है कि बाकी सब वैभव इसको बेकार जचें तो समझो कि आत्मरुचि हुई और यदि बाहरी वैभव, घटनायें ये सब सारभूत लगें और उनके लिए ही उमंग बने तो समझिये कि आत्मरुचि नहीं है।

दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

(१२८) परिणामसे अशुद्ध सब प्राणियोंके भावश्रमणताका अभाव—द्रव्यसे अर्थात्

शरीरसे सभी नग्न हैं, वस्त्रादिकरहित है। नारकी तो वस्त्ररहित होते ही हैं। तिर्यञ्च पशु भी वस्त्ररहित हैं, पक्षी भी नग्न हैं, मगर परिणामसे अशुद्ध हैं तो भावश्रमणपनेको प्राप्त नहीं होते। जो पुरुष शरीरसे नग्न हो गए, दिगम्बर भेष धारण कर लिया, किन्तु परिणामोंसे अशुद्ध हैं तो वे पुरुष भावश्रमणपनेको प्राप्त नही होते। शरीरकी अपेक्षा देखा जाय तो अनेकों जीव नग्न हैं। पृथ्वीके नीचे ७ नरकोंके ८४ लाख बिलोंमे रहने वाले नारकी सभी नग्न हैं। पशु कीड़ा मकोड़ा सभी नग्न हैं और ये वस्त्रधारी मनुष्य भी जब कभी नग्न हो जाते हैं परन्तु ये सब परिणामोंसे अशुद्ध हैं, रागद्वेष मोह विकारसे मलिन हैं, इसलिए नग्न होनेपर भी मुनि नही कहलाते। एक प्रश्न किया जाय कि एक तो मुनिभेषमें कोई नग्न पुरुष है, एक वही बाजारमें खड़ा हुआ बैल आदि पशु भी है तो उस बैलको मुनि क्यों नही कहते, क्योंकि वह परिणामसे अशुद्ध है। यदि परिणामोंसे अशुद्ध वह नग्न भी हो तो क्या उसे मुनि कहेंगे? नही, वह भी वास्तवमें मुनि नही है। यहाँ यह बात बतलायी जा रही है कि परमेष्ठी ५ होते हैं जिनमें ५ वाँ परमेष्ठी मुनि कहलाता है। परमेष्ठीका दर्जा इतना उत्कृष्ट है कि उसका नाम ही परमेष्ठी है, उत्कृष्ट पदमें स्थित है। तो वह उत्कृष्ट पद क्या शरीरसे होता है? नहीं, परिणामसे होता। यदि बाह्य पदार्थोंमें ममता है, गीत संगीत ज्योतिष गंडा ताबीज आदिकमें रुचि रखते हैं, आत्मतत्त्वका ध्यान नही तो ऐसे अशुद्ध परिणाम वाले जीव मुनि नही हो पाते। द्रव्यसे भले ही वे नग्न रहें।

(१२९) प्रकरणका लक्ष्य भावश्रमणत्वकी प्रेरणा—यह ग्रन्थ है कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड। कुंदकुन्दाचार्य देव अपने साथी मुनियोंमें यह उपदेश करते हैं कि अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावोंकी वृद्धि करो, उस रत्नत्रयसे पवित्र बनो। यदि रत्नत्रयका अंश नही है तो तेरा नग्न होना बेकार है। यहाँ गृहस्थ लोग जब यह बात सुनते हैं तो उन्हें कभी कभी अटपट सा लगता है सुनना कि आखिर हमसे तो बड़े हैं, घर तो छोड़ा है, नग्न तो रहते हैं…, मगर दृष्टि नही जगती कि जिनको हम परमेष्ठी कहते, जिनको हम अपने आत्माका सर्वस्व समर्पण करदें ऐसे जीव तो कोई उत्कृष्ट भाव वाले ही होने चाहिए। दूसरी बात यह है कि मुनियोंकी सभामें कोई मुनि अगर दूसरे मुनिको धिक्कारे कि तेरा नग्न होना बेकार है जब आत्मतत्त्वकी दृष्टि नहीं करता तो तू कुछ नही कर सकता, तो क्या यह सुननेमें अटपटा लगेगा? न लगेगा, पर गृहस्थ जब अपनी ओरसे सोचता है तो अटपटा लगेगा। यहाँ आचार्य देव मुनिजनोंको समझा रहे हैं कि नग्न तो पेड़ भी रहते, नग्न तो नारकी भी होते, केवल नग्न होनेसे सिद्धि नही है, किन्तु परिणामोंमें पवित्रता हो तो सिद्धि है।

(१३०) पर्यायबुद्धिमें भावश्रमणपनेकी असंभवता—परिणामोंकी पवित्रताका मूल

यह है कि अपने आपको यह तो मानें कि मैं मुनि नहीं हूं, मैं पुरुष नहीं हूं मैं हूं एक ज्ञानस्वरूप अमूर्त आत्मतत्त्व। जिसने यह नहीं जान पाया और अपनेकी मानता है कि मैं मुनि हूं वह तो प्रकट मिथ्यादृष्टि ही है, अज्ञानी है, वह देहको ही देखकर कह रहा कि मैं मुनि हूं। जैसे कि अनेक लोग कहते कि मैं नेता हूं, मैं व्यापारी हूं, मैं सर्विस वाला हूं, मैं इतने बच्चोंका बाप हूं, तो ऐसे ही उसने भी कह दिया कि मैं मुनि हूं। अन्तर कुछ न रहा। देहको देखकर अन्य लोक जब करते हैं, तो देहको देखकर ही तो नग्न पुरुषने बात की, तो उसमें मिथ्यात्व ज्योंका त्यों रहा। यह ज्ञानीकी श्रद्धा है कि मैं आत्मा हूं, अमूर्त हूं ज्ञानस्वरूप हूं इस ज्ञानपर कर्मोंके विपाक चिन्ह आते हैं और उससे मैं मलिन हो रहा हूं उससे अपनेको न्यारा समझूं और निरन्तर अपनेको ज्ञानस्वरूप प्रतीतिमें लूं और ऐसा ही अनुभवूं, यह मेरा काम है जिससे कि संसारके जन्म मरणके संकट दूर हो जायेंगे। बस जो इस धुनमें रहता है तो इस धुनमें होनेके कारण उसने वस्त्र छोड़ा, घर छोड़ा, क्योंकि इन सबका संग जब रहता था तब कोई न कोई व्याकुलता, चिंता, शल्य रहा करती थी और उससे आत्मध्यानमें बाधा थी। तो अविकार ज्ञानस्वभावको निरन्तर ध्यानमें लें इसलिए उसने सब कुछ छोड़ा है। उसकी उस छोड़नेपर दृष्टि नहीं है। छोड़कर भी छोड़नेमें दृष्टि नहीं है सच्ची दृष्टिसे। यदि कोई ऐसा माने कि मैंने घर छोड़ दिया, मैंने परिवार छोड़ दिया ऐसी दृष्टि रखे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। मैंने घर ग्रहण किया, ऐसा माने तो वह भी अज्ञानी है, मैंने घर छोड़ दिया, ऐसा माने वह भी अज्ञानी है, किन्तु आत्माकी धुनमें रहकर आत्मसाधनामें जुड़नेपर घर छूट गया। उसका भाव जाता है, न कि घर छोड़नेका अभिमान रखता है। वह तो एक प्रबल कषाय है। जिसके चित्तमें यह अभिमान होता है कि मैं मुनि हुआ हूं, मैंने ऐसी सम्पत्ति छोड़ दी है ऐसे ऐसे वैभवपर मैंने लात मार दी, उसके प्रकट अभिमान कषाय है और छोड़कर भी न छोड़नेकी तरह है, क्योंकि उस सम्बन्धकी ऐंठ नहीं छोड़ा। अहंकार तो चल ही रहा है। तो यह साधुवृत्ति बड़ी पैनी है। जैसे कहते हैं कि मैंने हथियार परसे चलना बड़ा कठिन है, ऐसे ही सही साधुपनसे चलना यह भी कठिन है। इस साधुपदमें आत्माको अत्यन्त सम्हालकर रखना होता है, अपने आपके इस ब्रह्मस्वरूपका बड़ा ध्यान रखना होता है। जहाँ अपवित्रता न आ सके, ऐसे रत्नत्रयवृत्तिसे जो पवित्र हो वह भावश्रमण है, भावमुनि है। तात्पर्य यह है कि आत्माकी शुद्धिके बिना केवल नग्न हो जाना परिणामोंको अशुद्ध बनाये रखना यह कोई अलकारी नहीं है। उससे कोई ऐसा माने कि मुझे स्वर्ग मिले, मोक्ष मिले, सद्गति मिले तो उसकी यह आशा करना व्यर्थ है। भावोंपर दृष्टि होनी चाहिये। जो अपने भावोंको कठोर रखे, कषाययुक्त रखे, वह अपने आपका घात कर रहा है। जीवका कल्याण तो

वीतरागभावमें है। रागद्वेष मोह आदि विकारसे सम्पर्क रहनेपर कल्याण नहीं हो सकता।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥६८॥

१६३— जिनभावनावर्जित नग्न पुरुषकी दुःखपात्रता—जो पुरुष जिनभावनासे रहित है वह नग्न होकर भी चिरकाल तक दुःख ही पाता है। वह नग्न होकर भी संसार समुद्रमें डूबता रहता है। वह नग्न होकर भी बोधिको प्राप्त नही हो पाता। जिनभावका अर्थ है सम्यक्त्व। जिन नग्नवेषी साधुवोको अपने आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है, यह मैं अमूर्त हूँ, ज्ञानमात्र परमार्थ पदार्थ हूँ, मेरेमें केवल जाननका स्वभाव है, इस जानन स्वभाव में विकार होते ही नहीं हैं, विकार तो कर्मोदय विपाककी छाया है, उससे मैं निराला विशुद्ध ज्ञानवृत्ति वाला हूँ, ऐसा जिसको परिचय नही है, जिस अन्तस्तत्त्वके परिचयसे जब यह देह ध्यानमे नही रहता, तो फिर इस देह सम्बन्धी बातें कैसे ध्यानमे रहेंगी, ऐसे अन्तस्तत्त्व के अनुभव बिना कोई पुरुष नग्न होकर चाहे वह बहुत अच्छी तरह शोधकर चले, शुद्ध आहारके, बडे मौनसे बैठे, कैसी भी क्रियायें करे, मगर जिसके पास मूल नही है, सम्यक्त्व नहीं है वह पुरुष नग्न होकर भी घोर दुःख पाता है। बहुतसे शारीरिक, मानसिक दुःख तो यहां ही वह अज्ञानसे सह रहा है, और मरणकर नारकादिक गतियोमे गया तो छेदन भेदन आदिकके अनेक घोर दुःख सहता है। फिर जन्म लिया फिर मरण किया। यो ससार समुद्रमें गोते लगाता ही रहता है, क्योकि उसने वह मार्ग नही पाया। उपयोग कहाँ लगाना और उपयोगका क्या लक्ष्य रखना? यह अन्त. उसकी दृष्टिमे नही है, इसलिए वह बाहर बाहर ही डोलता है।

(१६४) सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिङ्गियोंकी मोक्षमार्गके लिये अपात्रताका सोदाहरण कथन—एक घटना है कि ललितपुरके पासके किसी गाँवके कुछ बंजारे ललितपुरके बाजारसे अपने गाँव जा रहे थे। चलते चलते रास्तेमें रात हो गई, जाडेके दिन थे सो वे एक पेडके नीचे ठहर गए। ठंड तो काफी थी ही, सो उन्होने क्या किया कि इधर उधरसे कुछ सूखी लकड़ियाँ बीन लाये, एक जगह इकट्ठा किया, किसी माचिस या चकमकसे लकड़ियोमें आग लगाया, मुखसे फूँका फिर आरामसे कुडक आसनसे याने दोनो घुटनोपर अपने दोनो हाथ रख कर बैठ गए, रात्रिभर खूब ताप कर अपनी ठंड मिटायी और सबेरा होते ही प्रस्थान कर गए। अब शाम हुई तो उस पेडपर जितने बंदर बैठे थे, जिन्होंने रात्रिको वह सब हाल देखा था, तो वे बंदर आपसमे सलाह करते हैं कि देखो हम आप जैसे ही तो हाथ पैर उनके थे जिन्होंने रात्रिभर आरामसे ठंड मिटायी थी, अपन भी वही काम करें। सो कैसे करें? सो

एकदम बंदर चारों ओर गए और खेतोंके चारों ओर जो सूखी लकड़ियोंके बाड़ लगे थे उन्हें पटा पटाकर ले आये, एक जगह इकट्ठा किया। अब उनमें से कोई बंदर कहता है कि एक काम तो कर लिया मगर ठंड क्यों नहीं मिटी ? तो कोई दूसरा बंदर बोला—अभी इस तरह से ठंड कैसे मिटे ? उन्होंने तो इसमें लाल लाल चीज डाली थी। अब क्या किया कि वहीं जो [illegible] पटबीजना (जुगनू) उड़ रहे थे उनमें से ५०—६० पटबीजना पकड़कर लकड़ियोंमें डाला, फिर भी ठंड न मिटी। तो कोई तीसरा बंदर बोला—इस तरहसे ठंड कैसे मिटे ? उन्होंने तो इसे मुखसे फूंका था, तब ठंड मिटी थी। मुखसे फूंका फिर भी ठंड न मिटी, तो कोई चौथा बंदर बोला अरे इस तरहसे ठंड न मिटेगी। वे लोग तो कुडरू आसन से बैठकर ताप रहे थे तब ठंड मिटी थी। सो वैसा भी किया फिर भी ठंड न मिटी। बताओ सारी क्रियायें कर लीं फिर भी ठंड न मिटी तो क्यों न मिटी ? इसलिए न मिटी कि ठंडके दूर करनेका जो मूल है उसका परिचय न था उन्हें। वह मूल क्या है ? अग्नि। तो जैसे सारे काम कर डाले फिर भी अग्निका परिचय न होनेसे ठंड न मिटी, ऐसे ही मोक्षमार्गका जो मूल तत्त्व है सम्यग्दर्शन, उसका परिचय जिन्हें नहीं है वे ज्ञानी मुनियोंकी चाहे कितनी ही नकल करें जैसे व्रत तप उपवास आदि करना, ईर्यासमितिसे चलना आदि फिर भी उन सारे क्रियाकाण्डोंको करनेसें उनको मोक्ष मार्ग न मिल सकेगा। उनको अपने आत्मामे शान्ति तो न मिल सकेगी। सो ही बात कह रहे हैं कि जो सम्यक्त्व भावसे रहित पुरुष हैं वे नग्न होकर भी चिरकाल तक दुःख पाते हैं। निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष रखकर भी वे संसार सागरमें डूब रहे हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको नहीं प्राप्त करते।

(१३३) जिनभक्ति व सम्यक्त्वकी दुर्लभता—देखिये काल कबसे है, समय कबसे है ? क्या कोई कल्पना कर सकता है कि अमुक दिनसे समय शुरू हुआ ? नहीं, समय तो अनादि कालसे है और यह जीव कबसे है ? क्या इसकी सत्ताके बारेमें भी कोई कल्पना कर सकता है कि जीव इस दिनसे हुआ है ? अगर मानो कल्पना करें कि जीव इस दिनसे हुआ है तो जैसे कहते हैं कि घडा इस दिन बना है तो वह घडा किस चीजसे बना ? मिट्टीसे। इसी तरह बताओ यह जीव बना तो किस चीजसे बना ? जीव भी अनादि है और यह संसार समुद्र यह अनादि है, अनन्त है, यह हमेशा ही रहेगा। यह बहु जीवोंकी अपेक्षासे कह रहे हैं। तो देखो इस जीवको अनादि कालसे अनन्त दुःख हैं। इस संसार सागरमें भ्रमण करते करते अनन्त काल व्यतीत कर दिया इस जीवने, पर दो बातें नहीं प्राप्त हुईं इसको (१) जिनदेव और (२) सम्यक्त्व। जिनदेव भी क्या चीज है ? सम्यक्त्वमूर्ति। खुदका सम्यक्त्व नहीं पाया जिन जीवोंने उनको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। ये दो चीजें जीवने अभी तक नहीं पायीं। यही

कारण है कि यह जीव अब तक इस संसारमें रुल रहा है। यद्यपि यह नियमसे नहीं कह सकते कि पहले जिनभक्ति होती है या सम्यक्त्व होता है, तथापि वास्तविक जिनभक्ति माने जिन्होंने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र पाया है ऐसे रत्नत्रयधारी आत्माओंकी भक्ति और सम्यग्दर्शन इन दोनोका ऐसा एक संयोग सम्बंध है कि रत्नत्रयधारियोका स्वरूप चित्तमे रहे तो अपनेमे सम्यक् भावना बढ़ती है, और अपनेको सम्यक् भावना हो तब ही तो रत्नत्रयधारी को उसने जान पाया। एक धनी दूसरे धनीकी सब बात समझ लेगा, पर एक भिखारी धनी की बात क्या समझ पायगा। वह तो साधारणरूपसे कहेगा कि बडा मालदार है। पर क्या, क्रम होता, यह तत्त्व उसकी दृष्टिमे नही है। जिसको सम्यग्दर्शन नही है वह पुरुष भगवानके स्वरूपको भी भक्ति नही कर सकता, मोटे रूपसे नाम लेता रहेगा, मगर प्रसन्न होकर निर्मल हृदयसे उस प्रभुके स्वरूपमे उपयोग देकर खुश होवे, तृप्त होवे यह बात न बन पायगी सम्यग्दर्शनरहित पुरुषमे। तो ये दोनो बातें अब तक नहीं प्राप्त की। दो क्या एक ही समझ लीजिए—सम्यग्दर्शन। जो सम्यग्दर्शन पा चुका वह और भी आगे बढ़ जायगा।

(१३४) भगवानका अर्थ सर्वज्ञ वीतराग चेतना—भगवानकी भक्तिमे भी भक्ति क्या भगवान द्रव्यकी है याने प्रभुशरीरकी है ? भक्ति है रत्नत्रयकी। आदिनाथ भगवानकी पूजा कर रहे हैं तो क्या नाभिके नन्दनकी पूजा कर रहे हैं ? जो भगवान है वह नाभिनन्दन नहीं, जो नाभिनन्दन है वह भगवान नही। यद्यपि आदिनाथ भगवान हुए मगर वह नाभिराजके लडके हैं, ऐसा जब दृष्टिमे है तो आपकी दृष्टिमे भगवानका स्वरूप नही है। और उन्हींके बारेमें यह अमूर्त ज्ञानस्वरूप परम आत्मा है, यह है भगवान। ऐसी दृष्टि जगे तो आपकी दृष्टिमे यह बात न रहेगी कि यह नाभिराजाके लड़के हैं। प्रभुका स्वरूप है सर्वज्ञ वीतराग। उसकी खबर कब पड़ेगी ? जब स्वयमे उपयोग अपने आत्मस्वरूपको पहिचाने। सो सब माहात्म्य सम्यग्दर्शनका है, जिसके आधारपर यह जीव धर्ममार्गमे बढ़ता है और उसको भावना सच्ची बनती है। इसलिए सम्यग्दर्शनके द्वारा अपने आत्मस्वरूपको भावना दृढ़ बनाना चाहिए।

> अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
> पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥ ६९ ॥

(१३५) भावश्रमणताका प्रभाव—ऐसी नग्न अवस्था जहाँ अकीर्ति जग रही हो, पाप भावसे मलिनता छा रही हो, निन्दा मजाक मात्सर्य, कपट जहाँ अधिकाधिक हो रहे हो ऐसे इस नग्न लिङ्गसे क्या लाभ है ? अर्थात् उससे आत्माकी सिद्धि नही है। ये जो दृश्य बताये जाते हैं कि कहीं मुनिराज बिराजे हैं, सिंह और मृग एक साथ खड़े हैं, वंदना कर रहे हैं,

उनका परस्परमें विरोध नहीं होता है। ऐसी जो अलौकिक घटना सुनते हैं सो वह है क्या बात ? कहते तो यों हैं कि यह मुनिराजका प्रभाव है, क्योंकि वह वीतराग मुनि हैं, समता भावके पुञ्ज हैं; आत्मध्यानमें रत हैं, सो यह मुनिका प्रभाव है। यह भी एक तथ्य है, पर साथमें यह भी तो सोचें कि वह हिरण और वह शेर भी तो जीव है और जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा ही तो इन पशुओंके जीवका भी स्वरूप है। पशुपर्यायमे आये हुए इन जीवों का भी तो यही स्वरूप है। जैसे जो बात मुनिराजको पसंद है—शान्ति, वही बात इन जीवों को भी पसद है, सो ये जीव जब शान्त मुद्रामे विराजे समता अमृतका पान करने वाले उस मुनिकी छविका दर्शन करते हैं तो यही शान्ति उनको भी चाहिए थी। इसलिए उनका भी हृदय निर्मल हो जाता है और जहाँ हृदयमें निर्मलता जगे, वहाँ बैर विरोध अपने आप छूट जाता है। यह बात मुनिकी छविको देखनेसे बनी, इस कारण यह कहा जाता कि यह मुनिका प्रभाव है, पर वास्तवमे तो यह बात है कि वह हिरण और शेरके जीवकी भावनाका प्रताप है कि मुनिराजके समक्ष उनके भी शुद्धभावना जगी और बैर विरोधको छोड़कर शान्तरसमें आये। सो जितना भी चमत्कार है, अभ्युदय है, उत्तमसे उत्तम बात है वह सब निर्मल परिणामसे ही बनती है। बाहरी क्रियाकाण्डोंसे अभ्युदय नही बनता। बाहरी क्रियाकाण्ड तो करने होते हैं, करने पडते हैं, क्योकि उन व्यवहारकी धार्मिक क्रियाओंमे रहकर ऐसा वातावरण रहता है कि वहाँ यह चाहे तो अपने भावोको निर्मल बना ले। भावोंको निर्मल बनाने का वह वातावरण भर है, पर मन, वचन, कायकी ये चेष्टायें ये स्वय धर्म नही हैं। धर्म तो रागरहित ज्ञानकी प्रवृत्ति होना कहलाता है।

अपने आपको ऐसा ध्यानमे लायें कि मैं एक ज्ञानमय पदार्थ हूं, जाननहार हू। जाननस्वरूपसे ही रचा हुआ हू। यह स्वय आनन्दमय है। यह मैं आत्मा केवल एक जो सहज सत् हू वही रहूं। इसमे परका सम्पर्क न हो तो यह प्रकट आनन्दमय है। ऐसे आनन्दमय आत्माको प्रकट करनेके लिए ही साधना की जाती है। यद्यपि यहाँ तीन चीजें मिली हुई हैं शरीर कर्म और जीव। कितनी ही चीजें मिल जायें, सत्ता सबकी न्यारी न्यारी ही रहा करती है। यह वस्तुका स्वरूप है। किसीकी सत्ता किसी अन्य रूप नहीं बन जाया करती है। यदि ऐसा हो सकता तो आज जगत शून्य होता। कुछ दिखता ही नहीं। जगतमे जो ये सब पदार्थ दिख रहे हैं यही एक प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थकी सत्ता उसकी उसमें ही रहती है। तो मैं आत्मा हू, तीनके सम्पर्कमें हू, तिस पर भी मेरी सत्ता मेरेमे ही है, मेरा कुछ मेरेसे बाहर नहीं। बाहर का कुछ मेरेमे आता नहीं, ऐसा यह आत्मा अपनेको भूलकर बाह्य पदार्थोंको अपना अपनाकर दुःखोंमे आकर अपनेको व्याकुल करता रहता है, और संसारमे जन्म मरणके दुःख पाता

रहता है। जिसके यह भेदविज्ञान हो जाता है वह समग्र पदार्थोंसे विरक्त रह कर अपने आत्मा के सत्यस्वरूपकी धुनमें रहता है और वह इस साधनामें बढ़ता है तो उसका सब कुछ छूट जाता है। घर भी छूटे, वस्त्रादिक भी छूटे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर स्वरूप आता है और उस मुद्रामें रह कर अपने आत्माकी साधना करता है। यह तो है ज्ञानी जीवकी कथा। अब कोई अज्ञानी पुरुष उन ज्ञानियोंकी पूजा प्रतिष्ठा देखकर उसकी भी चाह हो जाय कि मैं भी मुनि बनूं, और लो, नग्न हो गया और जैसा शास्त्रमे बताया या ज्ञानी मुनिकी बाह्य क्रियायें देखी, उस तरहकी बाहरमें सब क्रियायें भी कर रहा, लेकिन जहाँ अज्ञान बसा है वहाँ आत्माकी सँभाल कैसे हो सकती है ? उस भेषमे भी अनेक भीतर ऐब बसे हुए हैं, जैसे अपनेको सबसे ऊँचा मानना, दूसरोको तुच्छ समझना, दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरोका मजाक करना, किसीसे ईर्ष्या रखना, छल कपटके अनेक ढंग रचना, यह बात चित्तमे बसी रहती है। तो उसके प्रति आचार्य कहते हैं कि अरे अकीर्तिके पात्र ! जो पापसे मलिन है, उसके नग्न वेषसे क्या लाभ है ?

(१३६) पैशून्यादि दोषपूरित द्रव्यलिङ्गकी अकीर्तिपात्रता—जो दिगम्बर मुद्राका भेष रखकर खुद भीतर पैशून्यादि दोषोसे भरा है, वह दुर्गतिमे जाता है और उसकी सेवा करने वाले लोग भी दुर्गतिमे जाते हैं। जैसा कि आचार्योंने कहा कि ३३ करोड मुनि भेषमें रहकर अपने अशुद्ध परिणामके कारण नरक जायेंगे और उनके सेवक भी जायेंगे। यहाँ यह कहनेका उद्देश्य नही है। आचार्यदेव अपने साथके मुनियोंको समझा रहे हैं कि तू आत्मदृष्टि रख। अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको उपयोगमें रमाकर संतोष पा ले अन्यथा दुर्गति होगी। केवल भेषसे कुछ लाभ नही होता। इस गाथामे इस नग्न भेषको अकीर्तिका पात्र कहा है। अज्ञानी की नग्नताको अकीर्तिका घर कहा है, उससे धर्मकी प्रभावना नही होती। लोग उदाहरण दे देकर धर्मकी निन्दा करते हैं, उसीको लक्ष्य करके एक कविने कहा है कि हे चन्द्रमा, तू लांछन वाला हुआ तो क्यों हुआ ? यदि तू साराका सारा काला होता तो किसी की दृष्टिमे ही न रहता, मगर उज्ज्वल चाँदनीका स्वरूप रखकर फिर तेरे भीतर जो थोडी कालिमा आयी है, जैसे कोई लोग कहते है कि चद्रमें हिरण है कोई कहता है कि चरखा कातती हुई बुढ़िया है, कोई कुछ कहता है कोई कुछ उस चन्द्रमामे, यदि चन्द्रमा सारा काला होता तो किसीकी दृष्टिमें न आता, उसकी निन्दा न होती, चंद्रमाकी इस तरह अकीर्ति न होती, मगर चन्द्रमा सारा तो है उज्ज्वल और बीचमे है कुछ कलंक, तो उस कलंकके कारण चन्द्रमाका अपयश है। साहित्यकार चन्द्रको कलंकी कहा करते हैं। तो ऐसे ही कोई पुरुष अगर साराका सारा अनेक दुर्गुणोंसे भरा है, अज्ञान है अपने साधारण भेषमें है तो उससे धर्मका अपवाद नहीं होता, क्योकि वह पूराका पूरा अपने दुर्गुण वाले भेषमें रहता है, किन्तु कोई मुनिभेष रखकर

अज्ञानकी बात करता हो, निन्दाके वचन बोलता हो, दूसरोंसे ईर्ष्या करता हो, अपनी प्रशंसा चाहता हो तो उससे धर्मका अपवाद है। तो ऐसी नग्नता कि जहाँ भावमुनिपना नहीं है, सम्यक्त्व नहीं है, आत्मदृष्टि नहीं है ऐसा नग्नपना अकीर्तिका पात्र है, उससे अपयश ही फैलता है।

(१३७) **सम्यक्त्वरहित मुनिवेषकी अनर्थक्रियाकारिता**—यह नग्नपना जहाँ कि सम्यक्त्व नहीं है तो वह पापभावसे मलिन रहता है। सबसे बड़ा पाप तो मिथ्यात्वभाव है, निज और परकी सुध न रहना, मैं क्या हूं और परपदार्थ क्या है इसका बोध न रहना यह सबसे बड़ा पाप है। और दुःख भी जगतमें जितने हैं सबसे अधिक दुःख मिथ्यात्वभावमें हुआ करता है, क्योंकि उसे कोई रास्ता ही नहीं सूझता। जिसको ज्ञान है उसके सामने शान्तिका मार्ग बराबर रहता है। और कैसी ही विपत्तियाँ आयें उन सब विपत्तियोंसे अपने को परे रखता है। बड़ा भारी नुकसान हो गया। बाहरी पदार्थ यह न रहा और कहीं रहा मेरा तो मेरे स्वरूपसे बाहर कुछ है ही नहीं। बाहरका कुछ भी मेरे स्वरूपमें आता ही नहीं। उनसे मेरा क्या बिगाड़ ? जगतमें बाह्य पदार्थोंका कुछ भी परिणमन हो उससे मेरेमें कोई बिगाड नहीं होता। मैं अपने स्वरूपमें हूं और अपने स्वरूपमें परिणमता रहता हूं। मेरा कुछ भी बाहर नहीं है। ज्ञानीको धैर्य रहता है, और जो अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, कुछ भी बाह्य पदार्थमें बिगाड हुआ कि वह अपनेको समझता है कि मेरी दुनिया लुट गई। तो सबसे बड़ा पाप, सबसे बड़ा क्लेश मिथ्यात्व है। जिनको सम्यग्दर्शन हुआ, स्वपरका विवेक हुआ, उन्होंने वह वैभव पाया जिसके समक्ष तीन लोकका वैभव भी मिल जाय तो वह तृण समान है। आत्मा का ज्ञान, आत्माका दर्शन, आत्मामें रमनेकी बुद्धि ये किसी बिरले भव्य पुरुषको ही प्राप्त होते हैं। बाकी बाहरी चीजें तो ये बाहरी पदार्थ हैं, आये तो क्या, गए तो क्या, मगर ये मिथ्यादृष्टि अज्ञानी उसमें विह्वल रहते हैं। तो जो अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी मुनि हैं, जिन्होंने नग्नताका भेष तो धारण किया, पर मिथ्यात्व भीतरसे नहीं हटा, तो ऐसे पापमलिन नग्न भेषसे कोई लाभ नहीं है।

(१३८) **परनिन्दा हास्यवचन आदि दुर्गुणोंसे पूरित पुरुषके मुनिव्रतकी अनर्थक्रियाकारिता**—जहाँ अज्ञान बसा है वहाँ परनिन्दाकी प्रवृत्ति बनी रहती है, क्योंकि उसने उस भगवत् स्वरूपका दर्शन नहीं किया कि जिसमें वह संतुष्ट रहता। संतोष तो उसे मिल नहीं रहा। बाह्य दृष्टि ही बनी हुई है तो यह प्रकृत्या मनमें बात आती है कि मैं सबसे बड़ा हूं और इस अभिमानके कारण दूसरोंकी निन्दा करना उसके लिए एक प्रकृतिकी बात बन जाती है। सो जो दूसरेके दोषोंको निरखता है, दूसरेके दोषोंको ग्रहण करता है वह कभी आत्महित नहीं

कर सकता। वह पुरुष धन्य है जिसकी जिह्वा दूसरोंका दोष कहनेमें मौन व्रत धारण करती है। यह होता है अपने अभिमानके कारण दूसरेके दोष कह कर। तो जो नग्न भेष रखकर सम्यक्त्वसे हीन है और यों पापसे मलिन है उस भेषसे न उसको लाभ है और न दूसरोंको लाभ है। अपनी उन्नति करना है तो सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका लाभ लीजिए। घरमे भी रह रहा हो कोई और सम्यग्दर्शन है, जान रहा है कि मैं आत्मा अपने आपके स्वरूपमें ही हू वही मेरा सर्वस्व है, इतना ही था, इतना ही हूं, इतना ही रहूगा, अन्यसे मेरा कुछ सम्पर्क नही, ऐसा जिन्होंने अपने आत्माका परिचय पाया है वे तो पवित्र हैं, निराकुल हैं, कर्मोंका प्रतिक्षण क्षय करने वाले हैं और जिनको सम्यक्त्व नही है वे कितने ही भेष धरें, उससे उनका कोई उत्थान नहीं होता। तो मिथ्यात्वरहित जो द्रव्यलिङ्ग है वह अनेक दोषोसे भरा रहता है। दूसरेका हास्य करना, दूसरोकी ठगाई करना, छल कपट करना, कहना कुछ करना कुछ। जिसके हृदयका कुछ पता ही न पड़े, सदा कषायोंसे भरा हुआ हो, तो ऐसे नग्न भेषसे उत्थान नहीं होता।

(१३६) **सरल सहज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि पाये बिना जीवनकी निष्फलता**—ध्यान देना चाहिए उस नग्नताका जहाँ यह आत्मस्वरूप प्रकृत्या नग्न रहता है, याने आत्मस्वरूप समग्र पर पदार्थोंसे निराला ही है। कहाँ है ? अपने ज्ञानसे देखो, ज्ञानके स्वरूपको देखो, पर पदार्थोंको माया जानकर उनसे विरक्त हो तो अंत सहज ही भगवानके दर्शन होते हैं। वह तत्त्व जिन्होने नही पाया उनकी प्रवृत्तिमें माया भरी हुई है। मायाचारसे लोगोंने बड़ा अपयश पाया। एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि युधिष्ठिर कभी असत्य न बोलता था। एक बार जब कौरव पाण्डवोका महायुद्ध हुआ और उस समय कौरव बहुत बढ़े चढ़े चले आ रहे थे तो उनके नेता श्रीकृष्णने सलाह दी कि देखो इस समय कौरवपक्षका एक वीर अश्वत्थामा मर गया है और उसी समय एक हाथी भी जिसका नाम अश्वत्थामा था वह मर गया है, तुम सिर्फ इतना कहो कि हाय अश्वत्थामा मर गया, किसी पुरुष या हाथीका नाम ही मत लो। आखिर युधिष्ठिरने वैसा ही किया, तो इतनी सी मायाचारीसे युधिष्ठिरका बड़ा अपयश हुआ उनमे स्वयं में बलहीनता हो गई। तो जो परवञ्चनाका भाव रखता है वह मुनि होकर भी मोक्षमार्गसे दूर है, वह अपने आपकी बरबादी करता है।

(१४०) **मिथ्यादृष्टि मायादिबहुल द्रव्यलिङ्गोके बनवासकी भी व्यर्थता**—मिथ्यादृष्टि पुरुष बनमे भी रहे तो भी इस मलिनताको वह कैसे दूर कर सकता है ? जब तक ज्ञान नहीं जगा तब तक उसकी बरबादी ही है, जिसको ज्ञान जगा है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष घरमें भी रहे तो भी इन्द्रियनिग्रहरूप तप उसके बराबर बना हुआ है। जिसके राग नहीं है उसका घर

ही तपोवन है जिसके मिथ्यात्वभाव है वह वनमें रहकर भी क्या पायगा ? तो ऐसे अपने एक सही स्वरूपका दर्शन पानेके लिए इस जीवको सारे जीवन प्रयत्न करना चाहिए—सत्संगति, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन; एकान्तवास इन कर्तव्योंके अधिकाधिक प्रयोगसे अपनेको ज्ञानमें वासित रखना चाहिए। फिर सम्यक्त्वसहित होकर गृहस्थीमे रहे तो वहाँ पर भी प्रगति है, विशेष प्रगति हो तो मुनि बने, वहाँ भी प्रगति है। जहाँ सम्यक्त्व नहीं है तो उसके ऐबको कौन निकाल सकेगा। इससे यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड ग्रन्थमे अपने सहवासी मुनिगोंको उपदेश करते हैं कि तू देहकी दृष्टि छोडकर आत्माकी दृष्टि कर, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव कर, इस ही ज्ञानस्वरूपमे रमनेका पौरुष कर, इससे सिद्धि होगी।

पयडहि जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥७०॥

(१४१) सही उद्देश्यसहित त्यागधर्मधारणका महत्त्व—कोई प्रमाणित कर दे कि तेरे सम्यग्दर्शन हो गया, फिर मुनि बने, ऐसा कोई प्रक्रियाका नियम नहीं है। सामान्यतया आत्मकल्याणका भाव जगे, विषयोंसे विरक्ति बने, मुनि हो जाय, न भी निश्चय सम्यक्त्व हुआ हो, तो भी कुछ कल्याणभावना तो हुई, हो गया मुनि, पश्चात् आत्मसाधनाके भावमें रहा करे, सम्यक्त्व न छूटे, विषयसे विरक्तिकी बुद्धि रहे, परपदार्थोंका त्याग कर दे तो अब यह भाव तो बना कि मुझे अंतरगसे समस्त परिग्रहोंका त्यागी रहना है, मुझे अपने आपको अकेला ही अनुभव करना है तो वह मोक्षमार्गमे चलेगा। मगर जिसकी प्रवृत्ति ऐसी ही है कि लोगो से अधिक परिचय बढाये, लोगोमे बैठकर खूब हर्ष मौज करे, कथा वार्तामें गप्पोंमें अपना समय लगाये, दूसरोको खुश रखनेका प्रयत्न करे, दूसरोंसे प्रशंसा सुनकर अपनेको मस्त बनाये तो यह तो मोक्षमार्गके विरुद्ध रीति है। सब कुछ छोडा तो उसने अपने आपके स्वरूपमें रमने की धुन तो रखी। मेरेको यह करना है। आत्मस्वरूपमे मग्न होनेके लिए मैंने त्याग किया है, दुनियासे पूज्यता बढानेके लिए मैंने त्याग नहीं किया।

(१४२) भावश्रमणका साम्यभाव—बाह्य वैभव तो मुनिकी दृष्टिमें न कुछ चीज है। जो भावमुनि है, सम्यग्दृष्टि साधु है उसकी वृत्ति सबमें समताकी रहती है। शत्रु और मित्र दोनों उसकी दृष्टिमे बराबर हैं, इसका कारण क्या है कि उसे अपने आत्माके बारेमे स्पष्ट निर्णय है कि मेरा कोई सुधार बिगाड नही कर सकता, इसलिए ये दोनो एक समान हैं, बाह्य में स्थित हैं, दूसरे जीव हैं, और फिर जो सुधार करने वाला अथवा बिगाड करने वाला मित्र या शत्रु बन रहा वह आत्मा न मित्र है न शत्रु। उसपर कर्मका उदय छाया है, उस प्रकारका विकार झलक रहा है और यह अज्ञानवश विकारसे लिपट रहा है इसलिए इसकी ऐसी परि-

स्तुति हो रही है, जो आत्मा है वह तो इसका भी सिद्ध समान स्वरूप वाला ज्ञानस्वरूप है। जो मित्र है वह भी मेरा कुछ नही कर रहा है, किन्तु उसपर भी कर्मका उदय है, उसको और जातिका उदय है। उस झलकमें वह लिपट रहा है और इस तरहकी परिणति कर रहा है। ज्ञानी संतके लिए दोनो बराबर हैं। जिसके शत्रु और मित्रमे समता बुद्धि हो, महल और श्मशानमे समता बुद्धि हो ऐसा वह पुरुष इन लौकिक गप्पोमें क्यों रमेगा? श्मशानमे रह रहा तो बडा खुश, क्योकि उसको अपना आत्मारूप महल प्राप्त है और उसीमे वह आराम पा रहा है, ज्ञानानुभूतिका आनन्द एक अलौकिक आनन्द होता है। जहाँ किसी परपदार्थका ख्याल नहीं, विकल्प नहीं, और ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समा रहा हो उससे बढ़कर कोई वैभव हो ही नही सकता। इसको छोडकर जिन्होने बाह्य पदार्थोंको वैभव माना वे इस जीवनमें भी दुःखी रहते हैं और मरकर भी परभवमे दुःखी रहेंगे। भावमुनिके तो सर्वत्र समताभाव रहता है, चाहे स्वर्ण हो चाहे काँच हो, उसके लिए दोनोमे समता है, यह स्वर्ण है सो भी पर द्रव्य है, यह काँच है सो भी परद्रव्य है। इस ज्ञानस्वरूप आत्माका भला न स्वर्ण कर सकता है और न भला बुरा काँच कर सकता है, मेरी भलाई बुराई मैं ही कर सकता हू। जैसी दृष्टि बनाऊँ वैसी मैं अपनी सृष्टि करता रहता हू। ज्ञानदृष्टि हो तो आनन्द है, जहाँ अज्ञानदृष्टि बनी, वहाँ कष्ट ही कष्ट है। तो जो भावश्रमण मुनि है उसके निरन्तर साम्यभाव है। उसकी कोई निन्दा कर रहा, कोई स्तुति कर रहा, उसके लिए दोनो बराबर हैं, क्योकि उसकी तो धुन ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखकर उसही मे बसे रहनेकी है। इसी कारण उसे आकुलता नहीं होती है।

(१४३) **निर्ग्रन्थ रहकर ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी अभेद उपासनासे मुक्तिलाभ**—यहाँ यह बात जानना कि द्रव्यलिङ्ग धारण करना आवश्यक है और भाव सुधारना यह परम आवश्यक है। यहाँ कोई ऐसा एकान्त नही है कि अपने भाव सुधारो और घरमे ही रहो, मोक्ष मिल जायगा। यहाँ ऐसा एकान्त नही है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि बन जावो, मोक्ष मिल जायगा। दोनो ही आवश्यक हैं, एकको छोडकर एकसे सिद्धि नही होती। इसी तरह जैसे कि वस्तुस्वरूप बतानेमे स्याद्वादकी प्रक्रिया है ऐसे ही यहाँ भी स्याद्वाद है। जब यह कहा जाय कि भावोंसे मोक्ष होता है तब यह बात जरूर चित्तमें रखना चाहिए कि मुनिभेषमे रह कर भावोसे मोक्ष होता है, जब यह कहा जाय जाय कि मुनि पदसे मोक्ष होता है तब यह भाव रखना चाहिए कि शरीरसे मुनि बनकर यदि भाव सही है तो उसके द्वारा मोक्ष होता है। दोनोसे मोक्ष होता है। वहाँ भी यह अर्थ आता है कि मुनि भेषमे रहकर एक अवसर मिलता कि अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामे खुद रमता रहे, उस रमणसे मोक्ष होता है इस तरह

ये तीन बातें समझना, फिर इन तीनके और फैलावसे और भी बातें जानना। कोई पूछे कि फिर एक बात तो बतलाओ—मोक्ष कैसे होता ? तो एक साथ यह बात नहीं बतायी जा सकती है, क्योंकि द्रव्यलिङ्ग बिना वह मोक्ष नहीं होता। भावलिङ्ग बिना भी मोक्ष नहीं होता। जहाँ दोनों ही चलते हैं वहाँ दोनोको एक साथ कैसे बोला जायगा ? क्रमसे ही तो बोला जायगा, इसलिए अवक्तव्य है यह बात। अवक्तव्य रहते हुए भी द्रव्यलिङ्गसे मोक्ष है, अवक्तव्य रहते हुए भी भावलिङ्गसे मोक्ष है, अवक्तव्य रहते हुए भी दोनोंसे मोक्ष है। उसमें भाव यह रखना कि सर्वपरिग्रहोंको त्यागकर मुनिभेषमें आत्मतत्त्वकी साधना करना चाहिए और इस विधिसे ही इस मिलावटमें से यह आत्मा अकेला निकल सकेगा और यही एकमात्र कर्तव्य है, इसके लिए सिद्धस्वरूपका ध्यान करें कि सर्वोत्कृष्ट स्थिति आत्माकी यह है, उत्कृष्ट आनन्द आत्माका यह है। मैं ऐसा ही स्वरूप रखता हूं, मुझे ऐसा ही बनना है। ऐसा बने बिना इसके पहलेके जितने भी स्थान हैं वे सब दुःखपूर्ण हैं। ऐसा बनूं कैसे ? अकेला आत्मा कैसे रह जाऊँ ? तो इस समय इस मिलावटके अन्दर ऐसा अकेला आत्मतत्त्वका ध्यान बनाओ कि मैं यह हू। मात्र ज्ञानस्वरूपमे ही अपना उपयोग रमाओ। यह भीतरमे तपश्चरण चलता रहेगा तो नियमसे मोक्ष मिलेगा और एक अपने आत्मस्वरूपका परिचय छोडकर कुछ भी करते रहे चाहे धर्मके नामपर, लेकिन वह रास्ता न मिलेगा कि जिससे कर्म कटते हैं और जिस रास्तेसे आत्माको शान्ति मिलती है।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥

(१४४) सिद्धि व सिद्धिका उपाय—अपनेको यह सोचना है कि सिद्ध भगवान हुए बिना हमको शान्ति न मिल सकेगी, क्योंकि भगवानसे पहलेकी याने समारिक जितनी स्थितियाँ हैं, अवस्थायें हैं वे सब आत्माको भली नही होती हैं। सिद्ध भगवान नाम किसका है ? अकेला आत्मा रह जाना उसका नाम है सिद्ध। जैसे अभी हम आप जो बैठे हैं वे सब तीन चीजोंके पिण्ड हैं, तो जब तक ये तीन चीजें मिली हुई हैं तब तक कष्ट है और जब यह आत्मा अकेला रह जाय, देह जुदा हो जाय, कर्म जुदे हो जायें, खाली आत्मा रह जाय तो उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। यह आत्मा अकेला रह जाय तो उसे शान्ति है और जब तक शरीर और कर्मका सम्बंध है तब तक कष्ट है। तो अब यह सोचो कि वह कौन सा उपाय है कि शरीर और कर्मसे आत्मा न्यारा होगा। वह उपाय है यह कि अभी भी देखें तो शरीर और कर्मसे न्यारा हूं मैं। जैसे तीन चीजें मिला दें दूध, पानी और तैल, वे सब चीजें एक गिलासमें गड्डमगड्ड हो गई, उनको अलग-अलग अब नही निकाल सकते हैं, मगर एकमें मिले हुए भी हर एककी सत्ता

न्यारी न्यारी है। दूधमे दूध है, पानीमे पानी है और तैलमें तैल है। ऐसे ही तीन चीजोंका सम्बंध है यहाँ, मगर हैं वे न्यारी न्यारी चीजें। तो जिसने इस आत्माको न्यारा देख लिया उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि, और जो देह और कर्ममे लिपटा हुआ देखता है उसे कहते हैं मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टिको कभी खेद नही होता, क्यो खेद नही होता कि वह जानता है कि मेरा आत्मा इस देहसे अलग है विभावोंसे अलग है, परिजनोसे अलग है। मेरे आत्माका शरण मेरा आत्मा ही है, दूसरा नही है, तो वह आत्माकी सिद्धि कैसे हो ? आत्माको निराला देखते जाओ, देहकी खबर छोड दो, कर्मके उदयसे जो रागद्वेष सुख दु:ख भाव होते हैं, उनसे भी जिसने अपने आत्माको निराला देखा तो वह आत्मा निराला हो जायगा।

(१४५) बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागके वातावरणमें सिद्धिके उपायकी संभवता— देखो सबसे बड़े महत्त्वकी बात यह है कि मनुष्य होकर यदि अन्य-अन्य बाहरी कामोमे तो लग जाय और अपने आत्मकल्याणकी बातमे न लगे तो उसका सारा जीवन व्यर्थ है, क्योंकि जिस चीजको छोडकर जाना है उस चीजमें तो लिपटा है यह जीव। जो अपने हाथ रह नही सकता उसमे यह लिपट गया और जो अपने साथ सदा रहेगा उसकी खबर नही लेते तो यह कितना बड़ा भारी अज्ञान है, मोह है। तो यह आत्मा निर्मल कैसे बने कि इस वक्त भी हम देखें तो जो ज्ञान ज्ञान है सो तो आत्मा है और जो यह पिंड है सो देह है और जो दु:ख सुख विकल्प की माया है वह कर्मकी छाया है। इससे मैं ज्ञानस्वरूप न्यारा हू, ऐसी जो ज्ञानस्वरूपकी निरन्तर आराधना करेगा वह सिद्धभगवान बनेगा, अन्यथा बताओ एक इस भवमे यदि सांसारिक सुखके बडे-बडे साधन बना लिये जैसे अच्छा महल, अच्छा रहना सहना, तो बताओ ये इस आत्माको शान्ति पहुचाते हैं क्या ? अरे ये सब छोडने पडेंगे। अब इन्हे छोडकर जो आत्मा जायगा वह कैसा रहेगा, कहाँ रहेगा, किस गतिमे रहेगा उसकी सुध नही लेते। तो जो अपने आत्माकी सुध लेता है और प्रयत्न करता है कि सिद्ध बनू, तो उसका प्रयत्न है मुनि बनना। गृहस्थीमे भी प्रयत्न चलता है, मगर कम चलता है, क्योंकि गृहस्थीमे ददफद अनेक हैं, अनेक शल्य रहते है। चिन्तायें रहती है, बाधायें रहती है, और मुनिको कोई चिन्ता नही, कोई शल्य नही, कोई बाधा नही, उसके सामने कोई ददफंद नही, किसीसे उसको कुछ मतलब नही। तो मुनि अवस्था एक ऐसी अवस्था है कि जिससे ससारसे पार होनेका उपाय बना सकता है।

(१४६) धर्मदूरवर्ती जीवके परिणामकी निष्फलता व निर्गुणता—अब कोई ऊँचा मुनिका भेष तो कोई रखले और काम करे नीचा तो उसके लिए यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे हैं कि जिसका धर्ममे चित्त नही है, धर्मसे जो दूर रहता है तथा निंदा, चुगली, हिंसा, अहकार आदि दोष जिसमे रहते हैं, वह ईख फूलके समान है। न उसमे सुगन्ध आती है न फल। प्रकृत्या

ऐसे ही निष्फल और निर्गुण है रजपुष्प कि वहाँ न सुगंध है, न उसमें फल होते हैं। इसी प्रकार वह मुनि जो निर्ग्रन्थ पदको धारण कर ले और उसके परिणाम हों क्रोधादिक विकारों रूप तो वह नटके समान है। जैसे नट अपना खेल दिखाता है इसी प्रकार वह मुनि भी अपना खेल दिखाता है। भीतर आत्मामें उसका चित्त नहीं है, क्योंकि वह धर्मसे दूर है। धर्म नाम किसका है? तो धर्मके चार लक्षण किए गए हैं। वस्तुके स्वभावको धर्म कहते है। जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वह उसका धर्म है। आत्माका स्वभाव क्या है? ज्ञान, सिर्फ जानना। जानन सिवाय अन्य कुछ बात नही। रागद्वेषादि तो कर्मकी छाया है। इनसे अपनेको निराला समझे, सिर्फ जाननहार रहे तो वह है वस्तुके स्वभावमें आना याने यह जीव अब धर्ममें आया। जिसे धर्म करना है उसे यह यत्न करना पड़ता है कि रागद्वेष न हो और ज्ञाताद्रष्टा रहे। इसके मायने है धर्म। जैसे मंदिरमें पूजा करते समय लोग भावना करते कि हे भगवान मैं भी आप जैसा रागद्वेष रहित हो जाऊँ और आपके स्वरूपमें मग्न हो जाऊँ, तो इसे कहते हैं धर्म करना और केवल मदिरके अन्दर आये कुछ थोडा सा पूजा पाठ पढ़ लिया और कुछ ऊपरी बातें कर ली तो उतनेसे अभी धर्म नही हुआ। थोड़ा तो अच्छा हुआ कि अन्य जगह जो पापकी बातें आती थी वे न आयी, मगर धर्म नहीं हुआ। धर्म होता है इसमें कि रागद्वेष छूटें, ज्ञानस्वभाव मे रुचि जगे।

(१४७) **आत्मरुचिक पुरुषोंकी निर्मलता**—जिसको आत्मस्वभावमें रुचि जगती है उस को यह ही ध्यानमे रहता है कि मैं ज्ञान ज्ञानरूप हू, ज्ञानसिवाय मैं अन्य कुछ नही हू, मैं हूं, अपने प्रदेशोंमे हू, अपने प्रदेशोंसे बाहर नही हू, मैं खुद स्वयं आनन्दमय हूं। वह तो कर्मकी छाया है। आतमा स्वयं आनन्दस्वरूप है। तो ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको अपनी दृष्टिमें लेवें तो वह धर्मका पालन करना कहलाता है। तो यह ही वस्तुका स्वरूप है। कैसे जाना कि आत्माका स्वभाव ज्ञान है? तो देखिये जो स्वभाव होता है वह सदा रहता है और जो विभाव है, स्वभाव नही है वह सदा नहीं रहता। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ये कषायें सदा नहीं रहती, अभी क्रोध कर रहे, थोड़ी देरमे मान हो गया, फिर थोड़ी देरमे माया हो गई, फिर लोभ हो गया, मगर यह ज्ञान सदा चल रहा, जब क्रोध कर रहे तब भी ज्ञान चल रहा, जब मान किया तब भी ज्ञान चल रहा, इसी तरह माया, लोभ आदि कषाय किया तब भी ज्ञान चल रहा। तो ज्ञान सदा चलता है, इससे सिद्ध है कि ज्ञान है आत्माका स्वभाव। जो स्वभाव है उससे कष्ट नहीं होता और जो विभाव है, विकार है उससे कष्ट होता है विकार हमेशा परपदार्थोंके सम्बन्धसे होता है। तो परसे निराला अपने आपको तको, वहाँ कोई प्रकार के कष्ट नही हैं।

(१४८) धर्मवेशमें निम्नाचरणका फल दुर्गति—जो मुनि जैसा ऊँचा पद रखकर भी धर्मसे दूर है, वस्तुस्वभाव ध्यानमें नहीं है तो कहते हैं कि वह निष्फल है, निर्गुण है ? क्योंकि वहाँ दोषोंका निवास है, दोष क्या ? विषय और कषाय, विषयकी भावना ही यह दोष है, कोई कषाय उमड़ जाय तो दोष है। तो दोषमे जो रहता है और पद रख लिया मुनिका, तो कहते हैं कि वह नग्न मुनि जो है वह तो नग्न ही है। यहाँ मुनिकी उत्कृष्टता बतला रहे हैं, कोई निन्दाकी बात नही कह रहे, क्योकि मुनिपद इतना ऊँचा पद है कि वह मुनि सदा आत्माके ध्यानमे रहता है। तो ऐसे श्रेष्ठ मुनि परमेष्ठी कहलाते हैं और जो मुनि का भेष रखकर भीतरमें विषयके भाव कषायके भाव करता है वह स्वयं दुर्गतिमें जाता है और उसकी सेवा करने वाले जो गृहस्थ हैं वे भी दुर्गतिमे जाते हैं। तो वह मुनि जो दोषोंका घर बना हुआ है वह निष्फल है और निर्गुण है, ऐसा जानकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपमे बहुत दृढतासे रहना चाहिए।

(१४९) प्रभुकी पूजा अर्थात् ज्ञानस्वरूप प्रशस्ततत्त्वकी पूजा—बतलाओ पूजामें आप किसकी पूजा करते हैं ? शरीरकी पूजा नही करते, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रकी पूजा करते हैं। भगवान अरहंतदेवकी पूजा की तो समझो कि वह ज्ञानस्वरूपकी पूजा है, जो सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, आत्मामे लीन है, आत्माकी बुद्धि है, वहाँ शरीरकी पूजा नहीं, इसी तरह मुनिकी भी कोई पूजा नही किन्तु मुनिकी दशामे हम मुनिकी छवि देख कर जिसकी स्थापना की है उसकी पूजा करते हैं, मूर्तिकी पूजा नही करते। कोई भी दर्शन करने वाला ऐसा नही कहता है कि हे भगवान ! तुम जयपुरकी खदानसे निकले हुए पत्थरसे बनाये गए हो, अमुक कारीगरने बनाया है, वह तो यो दर्शन करता है कि हे आदिनाथ जिनेन्द्र आपने इन्द्रियोको जीता, विषयोको जीता और आप अपने आपमे मग्न हुए। तो पत्थरका नाम लेकर कोई भगवानके दर्शन नही करता। तो इससे मालूम होता है कि जितने भी लोग दर्शन करने वाले आते हैं वे मूर्तिके दर्शन नही करते, किन्तु मूर्तिमे भगवानकी स्थापना करके भगवानके दर्शन करते है और मुनि जिनलिङ्ग कहलाता है, याने जिनेन्द्रदेवका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप है उसका नाम है मुनि। मुनि तो भगवानके निकटका पद है और ऐसी मुद्रा रखकर अगर कोई स्वच्छंद रहता है और अपने विषय कषायोका पोषण करता है तब तो वह गृहस्थसे भी गया बीता है, तब मुनिको भी और गृहस्थको भी अपनी शक्ति न छिपाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रमे लगना चाहिए।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥७२॥

(१५०) रागसंयुक्त सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि जीवोंको बोधि समाधिके लाभकी असंभवता—जो रागके परिग्रहसे रहित हैं, जिनमें राग भरा हुआ है, जिनमें स्त्री आदिके प्रति प्रीतिके परिणाम पैदा होते हैं अथवा राजा महाराजाओंके संगकी जो भावना रखते हैं, स्वयंकी भावनाको छोड़ देते हैं वे पुरुष सम्यक्त्वरहित हैं, भले ही बाह्य निर्ग्रन्थ हो। जिनको जिनेन्द्रके ध्यानमें, आत्माके स्वरूपमें, सम्यग्दर्शन भावमें रुचि नही है वे पुरुष बोधिको नही पा सकते, समाधिको नहीं पा सकते। यह जैनशासन इतना निर्मल है कि जहाँ हिंसाका काम नही। जैनधर्म धारण करने वाले लोग अन्त पवित्र होते हैं। अभी अभीकी एक घटना है मेरठकी, वहाँ कई एक संन्यासी रुद्र यज्ञ करने आये थे। उसमें बहुतसे बर्तनोंकी आवश्यकता थी, सो संन्यासीजनोंने यह माँग की कि हमको इस रुद्र यज्ञके लिए जैनियोंके बर्तन चाहिएँ क्योंकि उनके बर्तन बडे पवित्र होते हैं। तो भाई जैनशासनकी निर्मलता देखिये वहां हिंसाका कोई काम नही। अनेको जगह तो ऐसा देखनेको मिलता है कि लोग यज्ञ कराते हैं तो उसमें पशुओंकी बलि करवाते हैं, पर जैनशासनमें हिंसाकी कोई बात देखनेमें नही आती। वे तो अपने धार्मिक स्थानमे फल फूल वगैरह भी तोडकर चढ़ाना पसंद नहीं करते, क्योंकि उनमें भी जीवहिंसा होती है। तो जिनका मंदिर पवित्र, जिनका घर पवित्र, जिनका परिवार पवित्र ऐसा बडी सच्चाई और पवित्रताका यह शासन है। जहाँ न्यायकी भावना देखनेमें आती है, अन्यायकी बात नहीं दिखती, किसीको नाजायज सतानेका परिणाम लोगोंमें नही दिखता, जो असली चीजमे नकली चीज मिलाकर बेचनेमे पाप समझते हैं, किसीको धोखा देनेमें पाप समझते हैं, जो सबके सुखकी भावना रखते हैं, जो आत्माके निर्मल स्वरूपकी दृष्टि रखते हैं ऐसे उपासक इस जैनशासनमे रहा करते हैं।

(१५१) निर्मल जैनशासनमें पापमलिन मुनिवेषी मुनियोंकी संभवतापर खेदप्रकाशन—इस निर्मल जैनशासनमे कोई मुनिपद धारण करके राग और परिग्रह सहित बने तो वह अपना कल्याण नहीं कर सकता। भले ही कभी कोई मुनि कह दे कि हम नही परिग्रह रखते, मगर बताओ तो सही कि मान लो साथमें जो सामान लेकर चलनेका ठेला रखा है उसमें कुछ टूट फूट जाय, बिगड जाय तो फिर उसके पीछे खेद मानते कि नहीं ? जिनको खेद होता समझो उनके नियमसे परिग्रह है। अगर परिग्रह न होता तो खेद क्यो होता ? राग है तब खेद होता और रागका ही नाम है परिग्रह। तो जो णमोकार मंत्रमें पंच परमेष्ठियोंके नाम लेते हैं तो उनमें साधु परमेष्ठी जिन्हें कहते हैं वे इतने उच्च और पवित्र होते हैं कि उनके पास आये हुए हिरण और शेर खड़े हो तो उनमे परस्परमें विरोध नहीं रहता। न तो सिंहको हिरणकी हिंसा करनेका भाव रहता है और न हिरणको भय रहता है, ऐसे निर्ग्रन्थ भेषको धारण कर

अगर रागमोहसहित हो जाय तो वह सम्यक्त्वरहित है, वह अपना कल्याण नहीं पा सकता।

(१५२) भावश्रमणके सतत सद्भावना—मुनिके निरंतर सद्भावना रहती है। उस सद्भावनामें सबसे बडी भावना तो सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेना है। मैं यह हू ज्ञानस्वरूप, यह दृष्टिमे रहे, यह है ऊँची भावना, फिर अन्य जीवोपर दृष्टि जाय तो सब प्राणियोंपर क्षमाकी भावना, मित्रताकी भावना, गुणीजनोके प्रति प्रमोदकी भावना औरकोई दु खी हो तो उनमे करुणाकी भावना ज्ञानीके होती है। जगतके जीव कैसे कल्याण पायें, उनका अज्ञान दूर होवे, वे अपने ज्ञानस्वरूपमे रहे ऐसी भावना, और भी षोडश कारण भावनायें, दशलक्षण भावनायें, इन सब भावनाओसे जो ओतप्रोत रहते हैं, वे मुनि आदर्श हैं, पूज्य हैं, और णमोकार मत्रमे ५वें पदके द्वारा वे भक्तिसे नमस्कार किए जाते हैं। कोई पुरुष द्रव्यसे तो निर्ग्रन्थ हो गया मायने शरीरसे तो नग्न हो गया, पर रत्नत्रयसे पूर्ण नही है, धर्मध्यान जिसने पाया नही है वह पुरुष मोक्षमार्गको नही प्राप्त कर पाता। आत्मस्वरूपकी भक्ति करें, जिनेन्द्र देवके स्वरूपकी भक्ति करें तो अविकारता वीतरागता दोनो दृष्टिमे आते है। भगवान वीतराग हैं, रागद्वेषरहित हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेवकी भक्ति बडी-बडी दुर्दशाओको नष्ट कर देती है, पुण्यको भर देती है, मुक्ति लक्ष्मीको प्रदान करती है। यह मै आत्मा ज्ञानस्वरूप हू, इसका ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप है। इस ज्ञानमे विकार नही है, क्योकि आत्मामे अपने आप विकार ही नही आते, किन्तु जब कर्मका उदय सामने होता तो विकार आते।

((१५३) विकारमूर्तिमे जिनभावनाकी असभवता—व्यक्त विकारके प्रसग तीन चीजें होती हैं—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत कारण। उपादान तो हमारा आत्मा है, अगर रागीद्वेषी बना तो आत्मा ही तो बना। निमित्त कारण कर्मका उदय है, कर्म का उदय होनेपर रागद्वेष बनते और आश्रयभूत कारण ये सब पदार्थ है, जिनको ख्यालमे लेकर क्रोध जगता है, घमड जगता है, कपट जगना है, लोभ जगता है। यह सब है आश्रय भूत कारण। तो क्या करना ? यह समझना कि आश्रयभूत कारण जो है वह भी मुझसे न्यारा है जो निमित्त कारण है वह भी मुझसे न्यारा है, मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हू। अपने आपमे अपने सहज स्वरूपकी भावना जिसके नही है वह निर्ग्रन्थ पद भी धारण कर ले तो भी उसे बताया है नटश्रमण। एक ऐसी घटना है कि कोई एक मुनिराज थे, वह किसी नदीके तटपर एक शिलापर बैठकर ध्यान करने लगे। एक दिनकी बात कि वह आहारचर्याको गए, और यह नियम लेकर गए कि आहार करके वापिस आयेंगे तो इसी शिलापर बैठकर ध्यान करेंगे। आहार करके वे मुनि वापिस आये और उस शिलापर बैठ गए, उसी समय एक धोबी आया वहमद पहने हुए बहुतमे कपडे लेकर और उसही नदीके किनारे उसी शिलापर वह कपड़े धोता

था तो वह उसके किनारे आ गया और मुनिसे कहा कि आप दूसरी जगह बैठ जावो हम इस शिलापर कपड़े धोवेंगे। तो मुनि बोले कि तुम कैसे कपडे धोवोगे, हम यहां पर बैठकर ध्यान करेंगे। धोबी बोला महाराज यह हमारी रोजकी कपडा धोनेकी शिला है, हम इसपर रोज-रोज कपड़े धोते हैं। तो उनमे आपसमे बहुत कहा सुनी हो गई, यहाँ तक कि हाथापाई भी हो गई, एक लडाई सी होने लगी, उस समय उस धोबीका तहमद खुल गया, अब दोनो नगे हो गए। वह मुनिभेषी तो नगा था ही। जब तेज लडाई हो गई तो उस समय तहमद खुल जाने से धोबी भी नगा हो गया। उस समय मुनि कहता है कि ऐ देवताओ तुमको कुछ खबर नही है कि यहां मुनिपर सकट आ रहा है, क्या हमको तुम बचा नही सकते ? तब उसे देवता कहते हैं कि हम तो तुम्हारी सेवाके लिए खडे हैं, मगर हमे यह भ्रम हो गया कि इनमें मुनि कौन है और धोबी कौन है ? तो मुनिपद बहुत ऊँचा पद है, अरहंतके बादका पद है। यह पद कैसा निर्दोष होना चाहिए, कैसा समतासे भरा हुआ होना चाहिए ज्ञानामृतका निरन्तर अनुभव करते हुए होना चाहिए। जिस मुनिके दर्शनसे पाप ध्वस्त हो जाते हैं, ऐसे मुनिका भेष रखकर भी यदि कोई पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोमे बढा हुआ है और विषय पोषनेके खातिर ही खाने पीने या आदरके खातिर ही वह सब कुछ कर रहा है व्यवहार धर्मकी बातें, तो ऐसे मुनिके लिए कह रहे हैं कि वह न तो ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न समाधि प्राप्त कर सकता है।

(१५४) **बोधि समाधिके लाभमें ही जीवका कल्याण—लोकमे दुर्लभ रत्नत्रय है।** आप लोग प्रायः पढ़ते होंगे—धन कन कंचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसार मे एक यथारथ ज्ञान। यह यथार्थ ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, पर ऐसा मोह जीवोंपर छाया है कि ये बाहरी पदार्थ ही इन्हे रुचते हैं। आप ज्ञानके लिए क्या करते हैं सो बताओ, तन, मन, धन, वचन यह सब कुछ परिवारपर न्योछावर कर देंगे, मगर अपने आपके कल्याणके लिए, अपने आपके बोधके लिए समय भी नही है, श्रम भी नही है, मन भी नही है, फुरसत भी नही है। भाई यह मनुष्य पर्याय बडी दुर्लभतासे प्राप्त हुई है, इसको यों ही न खो देवें, किन्तु कैसे मेरेको मेरा ज्ञान हो, इस धुनमें रहें। अगर ज्ञान हो गया तो आगेका भव भी अच्छा गुजरेगा और अगर ज्ञान नहीं हुआ तो आगे दुर्गति होगी। अज्ञानभावसे वास्तविक दुगति तो अपने अन्तः ही हुई है फिर निमित्तनैमित्तिक योगवश बाह्य दुर्गति होती है। जो जीव अपनेको ज्ञान-स्वरूपके रूपमें न अनुभव सके और पौद्‍गलिक विकाररूपोंमें अपनेको माने उस जीवको तो बडी दुर्गति है, मोहान्धकारसे आच्छन्न है, सतत आकुलताको अनुभवता है। यह सब दुर्गति ज्ञानस्वरूपमें नही है। सहज अविकार ज्ञान स्वरूपकी प्राप्तिमें आत्मसर्वस्व पा लिया जाता

है। यह सम्यग्ज्ञान अतीव दुर्लभ है। इसकी उपासनामे ही इस दुर्लभ मानव जीवनकी सफलता है।

(१५५) खुदकी अपनी बात—यह अपनी खुदकी बात कही जा रही है, ऐसा ध्यान में रखकर सुनो। जो भी बात चलेगी वह खुदकी है, उसे खुदमे परखना चाहिये। निरखिये—अपनेमें मैं क्या चाहता हू ? शान्ति आनन्द, ऐसा सुख जो कभी नही मिला। सबकी एक ही अन्दरकी आवाज है मुझे शान्ति और आनन्द चाहिए। यहाँ दो बातें आयी ना, मुझे शान्ति चाहिए तो पहले यह ही निर्णय करें कि वह मैं क्या हू जिसे शान्ति चाहिए, और वह शान्ति क्या है जो हमें चाहिये। मैं हू कोई जाननहार वस्तु, जो जानता रहता है सदा। जाने बिना कभी एक क्षण भी नही रहता। अपनेमे परखते जाइये—हूँ ना मैं ऐसा जो सदा जानता रहता हू। चाहे कैसा ही जानूं, पर जाने बिना नही रहता। उल्टा जाने, सीधा जाने, मोक्ष मार्गकी बात जाने, संसारकी बात जाने, जाने बिना नही रहता। तो मैं हू एक जाननहार पदार्थ, और शान्ति क्या है, जहाँ रच भी आकुलता न हो। तो एक बात यह समझिये कि मुझमे अगर शान्तिका स्वभाव नही है तो कितने ही उपाय कर लिए जायें, पर शान्ति न मिलेगी। जैसे तिलमे तैल है तो तेल वहाँसे मिल जायगा, पर बालूमें तैल नही है तो कितना ही पेलो तैल वहाँसे न मिल पायगा। ऐसे ही मुझे शान्ति चाहिए, मैं हू एक जाननहार पदार्थ और यह मैं स्वयं शान्तस्वरूप हू। सिर्फ जानूं, बाहरी विकल्प न बनाऊँ, अन्यका ख्याल न बनाऊँ तो अपने आप शान्ति है और जगतके बाहरी पदार्थोंका ख्याल बनाऊँ तो अशान्ति है। तो यह जरूरत पड़ी अब कि मेरेमे ऐसा ज्ञानप्रकाश हो कि दुनियाभरके ख्याल मुझमे न जगे और मैं केवल एक अपने ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहू, इसकी आवश्यकता है, यह ही जिन्होंने किया वे भगवान हुए, जिनकी मूर्तिका हम पूजन करते है, आराधना करते है उन्होने यह ही काम किया था कि बाहरके सारे विकल्प दूर किये और अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामे मग्न हुए, ऐसा किए बिना वास्तविक शान्ति नही मिलती।

(१५६) समस्त मायाको पर व असार जानकर उससे दूर होनेका प्रथम कर्तव्य—भैया, शाश्वत शान्तिके लिये हमारा पहला काम क्या है कि इन बाहरी पदार्थोंके विकल्प मेरेसे दूर हों। उसका उपाय क्या ? तो देखिये—ये बाहरी पदार्थ क्या है जो हमे दिख रहे हैं ? ये सब बाहरी चीजें हैं क्या ? ये सब माया हैं, और जो हम आप बैठे हैं यह सब क्या है ? यह भी माया है। जो दिख रहा वह भी माया है, परमार्थ नही है। परमार्थ तो जो प्रकट होता है वह भगवान है। वह परमार्थ हम ही में बसा है। उसे निहारें तो मिल जायगा, पर हम अपने परमार्थ स्वरूपको नही देखते, इस देहको ही देखते हैं। वह परमार्थ हम आपके

अन्दर छिपा हुआ है । जैसे दूधमें घी है, यदि दूधमें देखें तो घी नहीं दिखता, पर दूधमें घी होता तो है, तभी तो मशीनी द्वारा या प्रयोग विधिसे उस दूधमे से घी निकाल लिया जाता है। ऐसे ही मुझमें वह परमार्थ परमात्मस्वरूप है जो स्वयं आनन्दपूर्ण है, पर उसकी विधि बनायें तो वह मिल जायगा। हां तो यहां जो कुछ दिखता है वह क्या है ? माया है । माया किसे कहते हैं ? जो अनेक पदार्थोंके सम्बंधसे बने उसका नाम माया है । माया शब्दका प्रयोग हर एक कोई करता है, पर मायाका अर्थ क्या है यह बताना कुछ कठिन हो जाता है । आप लक्षण देखो सब जगह घटित होगा । जो चीज अनेक पदार्थोंसे मिलकर बने उसका नाम है माया । देखो जो यह भीत दिख रही । बताओ वह एक पदार्थ है या अनेक पदार्थ मिलकर बनी है, मोटे रूपसे तो कह देंगे कि ईंट गारा आदिक बहुतसी चीजोंसे मिलकर बनी है यह भींत । तो जो चीज अनेक चीजोंसे मिलकर बनी उसका नाम माया है । यह माया विघटने वाली चीज है, नष्ट होने वाली चीज है, क्योंकि अनेक मिलकर बनी ना, तो वह बिखर जायगी । एक ही तो कायम रहे । जो अनेकसंयुक्त हो वह चीज कायम नही रह सकती । यह ही बात सब जीवोंकी है, जो ये दिख रहे हैं, हम आप जो बैठे है सो ये अनेक पदार्थ मिलकर बने हैं, वे अनेक पदार्थ क्या ? शरीर, कर्म और जीव । शरीरमे भी अनन्त परमाणु हैं, कर्ममें भी अनन्त परमाणु हैं, और एक जीव, इनके मिलकर बने हैं त्रस स्थावर, इसलिए वह सब माया है । तो अब मायासे लगाव रखनेमे फायदा क्या है, यह बात ध्यानमें लायें । लोग मानते है कि यह वैभव मेरा, यह मकान मेरा, यह परिवार मेरा, यह केवल भ्रम है । जब कोई मर जाता है तो उस समय आबालगोपाल कह ही देते हैं कि यहां कुछ भी किसीका नही है । यह सब झूठ है । यह आत्मा तो अकेला है ।

(१५७) **निज सहज ज्ञानस्वरूपकी ही शरण्यता**—यहां अपनी बात सोचें कि मुझे शान्ति चाहिए तो उसका ढंग भी तो बनावें । पुण्यका उदय मिले, वैभव सामग्री मिले, इज्जत मिले, उसको देखकर फूला न समाये और अपनेको मान ले कि मैं सब कुछ बन गया, यह तो एक अज्ञान अंधकार है । मिला है यह द्रव्य कुछ, मगर आपका कुछ नही है । आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है । जो देहको मानता है कि मैं यह हू, बस यह ही दुःखका बीज है, दुःख का कारण है । देखिये—सब बात सुनना है अपनेपर कृपा करके, क्योंकि शान्तिका मार्ग नहीं मिल रहा । कभी-कभी सोच लेते हैं कि हमको तो बडी शान्ति मिली है, पर सांसारिक समागमोंमें शान्ति कभी मिलती नही है, जिन्हे लोग सुखी कहते हैं उन्हें भी आकुलता है, और जिन्हें लोग दुःखी कहते हैं उन्हें भी आकुलता है । दुःखमे आकुलता है, यह तो सब लोग जानते हैं, मगर सुखमे भी आकुलता है । किसी भी विषयका कोई भोग करता है तो वहां आकु-

लगता है या नहीं ? है । अगर आकुलता न होती तो विषयभोगमें कोई न लगता । तो संसार के सुखमें भी आकुलता, दुःखमे भी आकुलता । निराकुलता है तो एक अपने आपके सत्य स्वरूपको समझनेमें । तो सब जान रहे हैं कि मैं हूं और जो मैं हू उसे समझ लें । मिलावटको मैं मत समझें । यह सब मिलावट है, शरीर मिलावट है । अजीव कर्म यह मिलावट है, विकार मिलावट है । मैं हूं ज्ञानस्वरूप, उसपर जिसकी दृष्टि लगी है उसको होता है सम्यग्दर्शन । सम्यक्त्वके बिना संसारसे कोई पार नही हो सकता ।

(१५८) दुःखका प्रथम कारण अहंकार—देखिये— अपने दु खके कारण चार हैं—(१) अहंकार, (२) ममकार, (३) कर्तृत्वबुद्धि और (४) भोक्तृत्वबुद्धि । ध्यानसे मनन कीजिये—खूब समझमें आयगा कि वास्तवमे यह हमारी गल्ती है इस कारण दुःख पा रहे हैं । पहला नाम है अहंकार, जो मैं नही हू उसको मैं कर डालना यह कहलाता है अहकार । शरीर मैं नहीं हूं उसको मान डालना कि यह मैं हू, यह अहकार बन गया । न जाने लोग क्या क्या सोचते हैं अपने बारेमें, परिवार वाले, बाल बच्चो वाले, माता पिता वाले, धन वैभव वाले, इस गाँव वाले, इस इज्जत वाले, जो जो कुछ भी सोचा जा रहा है वह है परमे अहंभाव, याने अहंकार । मैं नही हू ऐसा, पर मान रहे हैं कि मैं यह हू, जैसे सोचिये—लोग सोचा करते हैं कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हू, पर जिसका नाम मैं है और जिस आत्माको पुकारा जा रहा है, वह आत्मा तो अमूर्त है, ज्ञानस्वरूप है । वास्तविक स्वरूपको देखो तो मैं पुरुष नही । मैं मनुष्य ही नही तो फिर पुरुष अथवा स्त्री कहाँसे होऊँगा । यदि मैं मनुष्य होऊँ तो फिर सदा मनुष्य रहू, फिर यहाँसे जाना क्यो हो ? मैं मनुष्य नही । मनुष्यपर्यायमे आया हूं, आत्मा तो मनुष्यपनेसे निराला है । मैं पुरुष स्त्री नही । इस पर्यायमे से गुजर रहा यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप इन सबसे निराला हू, तो जितना कष्ट है वह सब अहकार भावसे है ।

(१५६) दुःखका द्वितीय कारण ममकार—दुःखका कारण दूसरा है परमे ममकार याने यह मानना कि यह मेरा है । मेरा वह है जो मेरे साथ सदा रहे, जो मेरे साथ नही रह सकता, बिल्कुल भिन्न है, बाहरकी चीज है, जिससे कुछ मतलब नही उसमें यह मेरा है ऐसी दृष्टि गडाई जाय तो उसका फल आकुलता है । वह मेरा है नहीं और मैं मानता हू मेरा तो वह तो कभी मिटेगा, वियुक्त होगा । जो भी होगा उसकी परिणतिसे होगा, तो मेरा है ऐसा ममकार भाव भी दुःखका हेतु है । जो मेरा मेरा करता है, मैं मैं करता है वह बरबाद होता है । हाँ अनुभव करो कि जो ज्ञानस्वरूप है सो मैं हूँ । बाहरी चीजोंमें जो ममकार करता है वह तो पिटता है । देखिये हम आप भगवानके दर्शन करते हैं और उस शान्त मुद्राको देखते हैं तो देखनेमें क्या विचारना चाहिये । बाहरकी सर्व बातोंको असार जानकर, [illegible]

विभूति तजकर महाराज पद तज कर, वैभवपर ठोकर मारकर, निर्ग्रन्थ होकर अपने आत्म-स्वरूपकी उपासना की, यह सारभूत काम किया, इससे आपने मोक्ष पाया। धन्य है प्रभु, यह ही तो मेरा स्वरूप है, मैं क्यों अज्ञानमे रहकर संसारमें रुलूँ। मुझे भी अपने आत्माकी संभाल करना चाहिए यह ध्यानमें लाना चाहिए? तो जब जीवमे अहंकार और ममकार ये दो दोष बसे हैं तब तक वह शान्तिसे नहीं रह सकता। तब क्या करूँ, अहंकार तजकर ज्ञानस्वरूप मैं हूँ, उसमे मैं बुद्धि रखूँ, हूँ यह मैं, मैं दर्शन ज्ञानस्वरूप हूँ, सहजानन्द स्वरूप हूँ, जैसे ऐना (शीशा), उसमे खुदकी झलक भी है ना, तो उसमे परपदार्थोंकी भी झलक आती है। शीशेमें दो गुण हैं— (१) खुदकी झलक और उससे बाहरमें सामने रहने वाली चीजोंकी झलक। ऐसे ही आत्मामे दो गुण हैं, खुदका प्रतिभास और बाहरमे रहने वाले पदार्थोंका प्रतिभास। खुदका प्रतिभास वह तो है दर्शन और बाहरी चीजोका प्रतिभास, वह है ज्ञान। यह मेरा वास्तविक स्वरूप है और मेरा यह ही सर्वस्व है इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नही है, ऐसा दृष्टि मे आये, आत्मतत्त्वकी ओर अपना ध्यान जगे तो शान्ति मिलेगी। तो मोही जीव दुःखी होने के लिये दो ऐब तो ये करते हैं।

(१६०) **दुःखका तृतीय व चतुर्थ कारण कर्तृत्वबुद्धि व भोक्तृत्वबुद्धि**—तीसरा ऐब है कर्तृत्व बुद्धि। मैं करने वाला हू। कैसा भाव भरा है कि मैं ही खिलाने पिलाने वाला, करने वाला हू। यह बात चित्तमे नही आती कि जो बालक आज पैदा हुआ है या जो घरमें रह रहे हैं उन सबका अपना अपना भाग्य है, उनके उदयके अनुसार उनका सब कुछ चल रहा है, यह दृष्टिमे न रहकर जिनकी शरीरमे आत्मबुद्धि है वे ऐसा सोचते हैं कि मैं करने वाला हू। यह कर्तृत्व बुद्धि भी इस जीवको बडा हैरान कर रही है। चौथा ऐब है भोक्तृत्व बुद्धि, पर पदार्थोमे लोगोकी ऐसी दृष्टि रहती है कि मैं इनको भोगता हू, मैं दूकान भोगता हू, भोजन भोगता हूँ, भोग भोगता हूँ,···इस प्रकारकी दृष्टि रहती है। पर वास्तविक बात यह है कि बाहरमे कोई किसी दूसरी चीजको भोग ही नही सकता। वास्तवमे स्वरूपसे बाहर किसीको कुछ करतूत नही। सो ऐसा अपने आपके स्वरूपमे अपनेको ज्ञानमात्र निरखिये।

(१६१) **सहजज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वमे आत्मत्वके अनुभवकी ही सर्वदुःखापहारिता**—मैं सिर्फ ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्यसे मेरा कुछ सम्बन्ध नही। ज्ञानमात्र हू, यह बात यदि चित्तमे आये तो शान्ति मिलेगी, वह पथ मिलेगा कि जिस पथपर चलकर मुक्ति मिली। गृहस्थीमें है तो परिस्थितिवश करना पड रहा है। उसके बिना गुजारा न चलेगा, करना पड़ेगा, मगर यथार्थ बात जाननेका इतना माहात्म्य है कि कभी आकुलता नही जग सकती। चाहे किसी परपदार्थका कैसा ही परिणमन हो, पर भीतर आकुलता नहीं होती। इसके आत्माका ज्ञान

सही बना लें। यह मोक्षमार्गका मूल है। जैसे कहते है ना कि सम्यग्दर्शनके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। यह सम्यग्दर्शन ही एक आत्महित मूल तत्त्व है। अपने आत्माके सही स्वरूपका अनुभव कर लू कि मैं यह हू, ऐसा सम्यक्त्व हो जाय तो संसारसे पार हो जायेंगे और सब संकट मिटेंगे और यदि सम्यक्त्व न प्राप्त किया तो जैसे अनादिकालसे अब तक अनन्ते भव बीत गए वैसे ही यह मनुष्यभव भी व्यर्थ ही व्यतीत हो जायगा, इस दुर्लभ मानवजोवन को पाकर भी कल्याणका मार्ग न मिल पायगा।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोष चइऊण।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिग जिणाणाए ॥७३॥

(१६२) सम्यक्त्वभावमें स्वकीय यथार्थ नग्नता याने ज्ञानमात्रस्वरूपका प्रत्यय— जिसे संसारसे छुटकारा पाना है वह पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे युक्त होता है। जाप देनेकी मालामें ऊपर तीन मोती रहते है जिन्हे कहते कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके मोती हैं और उसपर अगुली रखकर उपासनामे रत्नत्रयको नमस्कार करते है। मत्र कुछ भी जपें, चाहे णमोकार मत्र जपें, चाहे 'ॐ नम: सिद्धेभ्य' जपें, उस मालामे १०८ बार जपनेपर तीनको कहेंगे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी बात। सम्यग्दर्शनाय नम, सम्यग्ज्ञानाय नम और सम्यक्चारित्राय नमः। मत्र चाहे कुछ भी जपा जाय उनमे तीर्थंकरोमे से किसी एक तीर्थंकरका नाम जपा जाय, महावीर, आदिनाथ, चद्रप्रभु आदि का तो भी वे तीन नाम रहेगे सम्यग्दर्शनादिक। उसका कारण क्या है कि ये तीन रत्नत्रय तो मूल हैं मोक्षके, जिन्होंने मुक्ति पायी उन्होने इन तीनके धारणसे मुक्ति पायी। सो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप सहजात्म भावको नमस्कार हो। वह सम्यग्दर्शन क्या? अपने आपमे अपने सहज चैतन्यस्वरूपका दर्शन होना सम्यग्दर्शन है। एक दोहा प्रचलित है कि "सबके पल्ले लाल है लाल बिना कोई नही। उस बिन मब कगाल है, गाँठ खोल देखी नही॥" लाल सबके पल्ले है, एक उदाहरण है—कपडेमे बँधा है लाल, पर मालूम नही है और गाँठ खोलकर देखेगा भी क्यो? तो यो वह अपनेको गरीब महसूस करता है, ऐसे ही हम आपमे वह प्रभाव, वह वैभव, वह चमत्कार मोजूद है कि जो प्रभुमे है, जिनकी हम वन्दना करते हैं, सिद्धप्रभुमे जो माहात्म्य है वह सब अपनेमे बसा है, लेकिन मोहान्धकारग्रस्त होनेसे उनका पता नहीं है तो वह देखेगा भी क्यों? और उसकी धुन भी क्यो रखेगा? इसलिए वह कंगाल हो जाता है, कंगाल बना है।

(१६३) परमार्थ शरण्यके अवलंबनसे परमार्थ नग्न होकर मुनिव्रत धारण कर प्रगति के मार्गकी संभवता— भैया, थोडा अपने आपमे अपनी दया करके निरखियेगा कि मेरा शरण

कौन है ? शरण है मेरे आत्माका मेरा सहज आत्मस्वरूप, दूसरा कोई शरण नहीं है, बाकी सब भ्रम है, और उस भ्रममें रहता है तो फिर रोनेके अनेक प्रसंग आते हैं। यह लडका मेरा, बडा ख्याल करता था, मेरा बड़ा प्यारा लडका था, शरण था। अरे निश्चयतः निरखें तो मेरे आत्माका शरण मेरे आत्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। सो वह आत्मतत्त्व प्रकट कैसे हो ? तो भाई पहले तो भावसे नग्न होइये, मायने सम्यक्त्वसहित होइये। जो हमारा वास्तविक आत्मा चैतन्यस्वरूप है वह देहसे ढका, कर्मसे ढका, विकारसे ढका, यह उपयोग बाहर-बाहरको तो तक रहा है, भीतरको नही तक रहा। जैसे आप लोग ४-६ कपडे पहने बैठे हैं— धोती, कुर्ता, बनियान, टोपी, कोट आदिक, फिर भी आप कपडोंके भीतर तो नग्न हैं ही। हर एक कोई नग्न है। तो ऐसे ही यह देह कर्म विकार ये सब ऊपर नच रहे हैं, चल रहे हैं, लेकिन इनके भीतर जो हमारा खाली केवल आत्मा है वह तो वही स्वरूप रख रहा है। उस नग्न स्वरूपको देखो, केवल अपने अतस्तत्त्वको निरखो। तो पहले भावसे नग्न होना है मिथ्यात्वादिक दोषोको तजकर। मोह, अज्ञान, यह सब हटे और सत्य प्रकाश हो जैसा कि मेरे आत्माका वास्तविक स्वरूप यह चैतन्यमात्र है, यह है भावसे नग्न होना, अपनेको अकेला निरख लेना, ऐसा पुरुष पीछे द्रव्यसे नग्न होता है तो वस्त्र दूर करता है, मुनिव्रत धारण करता है। दूसरा अर्थ यह भी समझें कि पहले तो वह बाह्य परिग्रहोको त्यागकर द्रव्यसे मुनि बना, पश्चात् उसका भीतरी परिग्रह भी हटा और भावोसे नग्न हुआ।

(१६४) निःसंकट निज सहज स्वरूपका दर्शन—अपने आपको जो सहज स्वरूपमें देखेगा उसको सकट नही है। संकट नाम किसका ? नाम ले लेकर तो बताओ। कोई कहेगा कि मेरी दूकानमे इतना टोटा हो गया वह सकट है, कोई कुछ। जरा अपने आपको तो सोचो, मैं हू चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसमे क्या घट गया ? जितने गुण थे उतने ही गुण हैं, जो शक्तियाँ थी वे ही हैं। आत्माका स्वरूप है सो ही है उसमेंसे क्या घट गया ? क्या सकट मानना। मकान नही बन रहा, गिर गया कोई बीमार है या कुछ वाञ्छा है, इच्छा है, अमुक पद मिले, हमारी कीर्ति हो, वे नही हो पा रहे, संकटोके नाम लीजिए तो, क्या क्या कहलाते ? ज्ञानी पुरुषके लिए तो वे हास्यके पात्र हैं। इन बाहरी वस्तुओंसे क्या सकट आया आत्मामे ? जो आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझता है वह अपनेको सकटहीन अनुभव करता है। कुछ संकट नही। जिसने इस लौकिक कीर्ति और इज्जतको माया समझ लिया उसके लिए अब सकटका कारण ही क्या रहा है तो यह सब प्रताप है सम्यग्दर्शनका। शान्ति मिले, भव सुधरे, मोक्षमार्गमे लगे, मोक्ष मिले, यह सब सम्यग्दर्शनका चमत्कार है, उस सम्यक्त्वको नमस्कार किया है। ऐसा सम्यक्त्वसहित फिर जो जो कुछ भी ज्ञान बनना है वह सब ज्ञान बनता है। बाहरी

पदार्थोंको भी जानेगा तो ये पर हैं, इनसे मैं निराला हू, यह उसके ध्यानमे रहेगा, फिर कुछ भी जानता जाय, वह सब सम्यग्ज्ञान है और अपने इस अविकार आत्मस्वरूपमें उपयोगको रमायेगा यह है सम्यक्चारित्र । अपने आपकी दृष्टिमे अपना सहज आत्मस्वरूप हो तो उसका सर्वस्व प्राप्त होगा ।

(१६५) द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गका समुचित सहयोग—यहाँ यह बात जानना है कि भावलिंगसे द्रव्यलिंग होता है और द्रव्यलिंगसे भावलिंग होता है, दोनो ही प्रमाण करना चाहिए । कोई ऐसा एकान्त नही है कि भावसे कोई मुनि बने, पीछे नग्न बने, या पहले शरीर से नग्न बने, पीछे भावोसे मुनि बने दोनोका परस्पर एक सहयोग है । निर्ग्रन्थता एक वातावरण है और भावोंमे उन्नति होना यह आत्माके पुरुषार्थकी बात है । एक प्रकरण यह भी समझ लेना । यह कहनेकी पद्धति है कि द्रव्यलिंगी मुनि अज्ञानी होता, मिथ्यादृष्टि होता, वास्तविक नही है ।तो उस द्रव्यलिङ्गीका अर्थ क्या है ? सुनें, गुणस्थान १४ होते हैं । पहले गुणस्थानमे मिथ्यात्व है, चौथे गुणस्थानमें सम्यक्त्व है, व्रत नही है । तीसरेमे सम्यक्त्वमिथ्यात्व मिला जुला अवक्तव्य है । दूसरे गुणस्थानमे सम्यग्दर्शन न रहा और मिथ्यात्व आ नही पाया उसके बीचकी दशा है । ५ वें गुणस्थानमे श्रावकके व्रत भी हो गये । छठा और ७ वां गुण स्थान मुनिका गुणस्थान है । सो कोई महाव्रत नग्नता तो धारण करले और गुणस्थान रहा पहला तो उसे कहते हैं द्रव्यलिंगी मुनि, अथवा शरीरसे तो वह द्रव्यलिंगी मुनि है, पर गुणस्थान दूसरा हो, तीसरा हो वह भी द्रव्यलिंगी मुनि है, अथवा चौथा ५ वां गुणस्थान हो वह भी द्रव्यलिंगी । द्रव्यलिंगीमे सम्यग्दृष्टि मुनि भी आते हैं और मिथ्यादृष्टि मुनि भी । भावलिंगी वे कहलाते हैं कि शरीरसे भी नग्न हैं, मुनि हैं और भावोसे छठा, ७ वां गुणस्थान है, वे साधु प्रमत्त अप्रमत्त दशामें झूमते रहते हैं । अपनेको ज्ञानस्वभाव अनुभवना यह उनका मुख्य ध्येय है । सो अपनेको भी यह दृष्टिमे रखना चाहिए कि कब वह समय आये कि मैं बाह्य और अंतरंग परिग्रह त्यागकर एक इस अंतस्तत्त्वका अनुभव करूँ ।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

(१६६) भावलिङ्ग व द्रव्यलिङ्गका परिणाम—भावसहित मुनिधर्म पालन करना ऐसा जो परिणाम है वह स्वर्ग सुख और मोक्ष सुखका देने वाला है, किन्तु भावरहित कर्ममल से मलिन चित्त वाला पापयुक्त मुनि तिर्यञ्चगतिका पात्र है । इस गाथामे सामान्यरूपसे दो बातें कही गई हैं, जो भावलिंग सहित मुनि है वह तो स्वर्ग सुख और मोक्ष सुखको पाता है और जो भावरहित और पापसहित प्रवृत्ति वाला मुनि है वह तिर्यंचगतिको प्राप्त होता है ।

यहाँ इन दो सामान्य कथनोंमें अनेक बातें भरी हुई हैं। प्रथम बात तो यह है कि जो भाव-लिंगी निर्ग्रन्थ साधु है और वीतराग दशाको प्राप्त हुआ है, क्षपक श्रेणीसे चढ़कर जिसने वीतराग चारित्र पाया हो, जो क्षपक श्रेणीके चारित्रसे चल रहा हो वह मुनि नियमसे मोक्ष पाता है। दूसरी बात—जो मुनि भावलिंगी साधु है किंतु अभी सराग चारित्रदशामें है, अथवा उपशमश्रेणिमे हो, उपशममोहमे या सराग चारित्रमे रहकर मरणको प्राप्त होता है वह स्वर्गके सुख, स्वर्गसे ऊपरके कल्पातीत विमानोंमें देवोंके सुख पाता है, किंतु जो मुनि भावलिंगी नहीं है और साथ ही द्रव्यलिंगके अनुकूल महाव्रतका पालन नही करता, पापपरिणाम वाला है, दुराचार करता है तो वह मुनि तो तिर्यञ्चगतिको प्राप्त होता है।

(१६७) **भावलिंग, द्रव्यलिंग, गृहस्थलिंग आदिक परिणामोंके अनेक तथ्य**—यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि गृहस्थ सम्यक्त्वसहित अपने योग्य आचारोको पालते हुए १६ वें स्वर्ग तकके देवोंमे उत्पन्न होता है वह देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता। यहाँ बात यह जानना कि देवियाँ सिर्फ दो स्वर्गोंमे रहती हैं। देवियोंकी उत्पत्ति दो स्वर्गोंमें है—सौधर्म और ऐशान मे, वैसे ये देवियाँ १६ स्वर्ग तकके देवोंकी है, कोई किसीकी देवी कोई किसीकी मगर उत्पत्ति दो स्वर्गोंमे होती है। बादमे जिस देवीका जिस स्वर्गके देवसे नियोग है वहाँ पहुचती है, देव ले जाते हैं, वहाँ वह देवी उस देवके साथ रहती है। वह देवी उस देवकी हो जाती है, किन्तु उत्पत्ति दो ही स्वर्गोंमे होती है। हाँ कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि मिथ्यादृष्टि मुनि हो और वह शास्त्रानुकूल बाह्य आचरण करता हो तो ऐसा मुनि भी नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होता है, स्वर्गोंसे ऊपर मुनि हुए बिना कोई जीव उत्पन्न नहीं हो सकता। अभव्य जीव भी हो वह भी द्रव्यलिङ्गके प्रभावसे नवग्रैवेयक तक उत्पन्न हो लेता है। तो यहाँ शिक्षा लेना है कि अपने भावोकी सम्हाल करें। भावोकी सम्हालसे ही अपना कल्याण है, सो भावोकी सम्हालके लिए योग्य व्रतादिक भी धारण करें। पाप क्रियाओमें रहकर कोई भाव नहीं सम्हाल सकता है। उसके लिए गृहस्थोको देवदर्शन आदिक बाह्य आवश्यक बताये गए हैं व मुनिजनोके लिए महाव्रत आदिक बताये गए हैं। तो व्यवहार धर्मका पालन करते हुए अपने परिणामोको सम्हालें, रागद्वेषसे दूर रहे, आत्माका जो यथार्थ सहज स्वरूप है उस स्वरूपकी भावना बनायें।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहि य संथुया विउला।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही ण भव्वणुआ ॥७५॥

(१६८) **रत्नत्रयलक्ष्मीकी प्राप्तिकी अत्यन्त दुर्लभता**—विद्याधरोंसे आदरणीय, देवोंसे आदरणीय, मनुष्योंसे आदरणीय चक्रवर्तीकी लक्ष्मी बड़े बड़े राजा महाराजाओंकी लक्ष्मी तो इस जीवने अनेक बार प्राप्त की है, पर भव्य जीवोंके द्वारा, ज्ञानी संतोंके द्वारा पूजनीय रत्न-

त्रयरूप लक्ष्मी इस जीवने प्राप्त नही की। रत्नत्रयकी प्राप्ति इस जीवको अत्यन्त दुर्लभ है। मन ऐसा स्वच्छंद है कि पंचेन्द्रियके विषयोमे मन बडी उमगसे लगता है, पर आत्माकी चर्चा में, आत्माकी दृष्टिमे मन नही लगता है। ससारी जीवोकी प्राय ऐसी रीति ही है। तो यह रत्नत्रयरूप लक्ष्मी प्राप्त नही हुई अब तक। यदि यह प्राप्त हो गई होती तो फिर ससारमे रुलनेका क्या काम था ? तो यहाँ यह समझना कि तीन लोकमे जो भी वैभव है, वह मिलना तो सुगम है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभ है। ऐसे ऐसे वैभव हैं लोकमे कि जिनका आदर बडे बडे विद्याधर करते हैं। वे विद्याधर विजयार्द्ध पर्वतपर दक्षिण और उत्तर श्रेणियोपर होते हैं। बडी उनकी विद्यायें हैं। बडे बडे राजा महाराजा भी जिनका आदर करते, ऐसी ऊँची लक्ष्मी भी प्राप्त हो सकती है संसारमे, पर रत्नत्रयकी प्राप्ति होना सरल नही है। देव लोग, जिन्हे अमर कहते हैं याने मरते नही सो अमर, सर्वथा मरते नही,यह बात नही, किन्तु उनकी लम्बी आयु होती है और वे आयुसे पहले मरते नही हैं इस कारण उन्हे अमर कहते हैं, वे भी जिनका आदर करें ऐसे वैभवकी प्राप्ति इस जीवको सुगम है, पर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

(१६९) सहज स्वाधीन रत्नत्रयलक्ष्मीकी दुर्लभतापर आश्चर्य—छह खण्डके स्वामी चक्रवर्ती जिनके लाखो करोडो घोडे, हाथी, सेना, सब छह खण्ड पर पूरे तौरसे राज्य है, ऐसी लक्ष्मी भी इस जीवका क्या हित करेगी। लौकिक लक्ष्मी प्राप्त तो हो जाती है, सुलभ है, थोडेसे ही पुण्यभावसे ऐसे पुण्य कर्म अर्जित होते हैं कि प्राप्त होना सुगम है, पर सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके उपाय इस जीवको कभी न मिले। यह रत्नत्रय लक्ष्मी भव्य जीवोंके द्वारा आदरणीय है, इसकी भक्ति की जाती है, वह भाव इस जीवको अब तक प्राप्त नही हुआ, और आश्चर्य तो यह है कि जैसे तालावमे रहने वाली मछली प्यासी रहे, यह एक आश्चर्यकी बात है ऐसे ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके स्वभाव वाले अपने आत्मा में ही यह आत्मा इस रत्नत्रयसे दूर रहे और इन जड वैभवोको आशासे ज्ञानकण्ठ सूख सूख कर प्यासा बना रहे तो यह एक बडे आश्चर्यकी बात है। तो यह रत्नत्रय लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है। हा, कभी भी मिले, रत्नत्रयके अवलम्बनसे ही जीव मोक्षको प्राप्त होता है।

(१७०) सिद्ध भगवंत होनेकी इष्टतम भावनामे सर्वोत्कृष्ट लाभ—एक बार सामान्य रूपसे सोचें अपने लिए कि मैं क्या बनूँ जिससे सब झगडा सदाके लिए खतम हो जाय ? तो कोई झंझट विकल्प विपत्ति शल्य कुछ न होवे, ऐसा क्या बनना चाहिए सो सोचें ? अगर राजा महाराजा बन गए तो संकट खतम हो जायेंगे क्या ? बहुत बडे लक्षाधीश, करोडाधीश बन गए तो उससे संकट मिट जायेंगे क्या ? न मिटेंगे ? जो ससारमे जितना बडा हो जाता

है उसको उतने बडे संकट उसके ढंगके आते रहते हैं। संसारकी कोई भी स्थिति ऐसी नही है कि जो संकटोंको दूर रखे, सिर्फ अरहंत और सिद्ध भगवंत हैं ऐसे कि जहाँ संकटका नाम नही बाकी जो जगतमें कीडा मकोडेकी तरह नाना प्रकारके जीव बिलबिला रहे हैं वे सब दु:खी हैं। तो अपने लिए यह भावना रखें कि इस जीवनमे मुझे सिर्फ (केवल) होना है, अन्य कुछ नही होना है, बाकी तो जो हो रहा है वह होना पड रहा है। कहाँ जाय ? सो भैया भीतरमें यह ध्वनि निकले, यह मनमे बात आये कि मुझे तो अरहत सिद्ध होना है, इससे पहलेकी कोई बात मंजूर नही है। अरहंत भगवान भी सिद्ध ही हैं, फर्क एक चार अघातिया कर्मका है, जो कि बाहरी बात है। सर्वज्ञता और वीतरागतामें कोई अन्तर नही है, सो वे भी अरहत आयुके क्षय होनेपर सिद्ध ही होंगे, दूसरा कुछ न होंगे। तो अपने लिए भीतरमे यह भावना बनायें कि मुझे सिद्ध भगवन्त होना है, और कुछ न चाहिए। अगर यह भावना अब भी बन जाय और यही निरन्तर धुन रहे तो शीघ्र ही वह समय निकट आयगा जब कि उत्तम मनुष्य भव मिलेगा। वहाँ मुनिव्रतकी साधना होगी, आत्माका आत्मामे अवस्थान होगा, मुक्ति प्राप्त होगी, मगर यह ध्येय तो अभी इसी क्षण बना लें इसी भवमे कि मेरेको तो सिर्फ सिद्ध भगवन्त होना है, अन्य कुछ न चाहिए।

(१७२) **सिद्धालयमें सर्वत्र सिद्ध भगवतोंकी राजमानता**—इस लोकके चारो तरफ ३ वातवलय हैं—(१) घनवातवलय (२) घनोदधिवातवलय और (३) तनुवातवलय। उनमे से तनुवातवलयमे बहुतसा तनुवातवलय विस्तार निकलनेके बाद ऊपरके ५२५ धनुषकी मोटाई मे तनुवातवलयमे सिद्ध भगवान बिराजे हैं। जो खड्गासनसे मोक्ष गए वे उस रूपमे वहाँ विराजे और जो पद्मासनसे मोक्ष गए वे उस रूपमे वहाँ बिराजे। सबका सिर भाग एक समान है। नीचे जिसका जितना विस्तार है उतने प्रमाण है। यह बात एक बाहरी कही गई है। वास्तव में तो वह अमूर्त पदार्थ है। हम भी अमूर्त हैं, पर नामकर्मके उदयसे हमारा यह सूक्ष्मपना आवृत हो गया है और हम कुछ स्थूलसे मालूम पडते हैं, पर वहाँ अष्ट कर्म न होनेसे वे भगवान अमूर्त, अत्यत सूक्ष्म, जैसे हैं वैसे विराजे हैं। तो ढाई द्वीपसे जीव मोक्ष गए, उसकी सीधमे वे बिराजे हैं। कोई समुद्रसे ही मोक्ष चले गए, कोई पर्वतसे मोक्ष गए कोई जमीनसे ही मोक्ष गए। सब जगहसे मोक्ष गए हुए जीव हैं और इसी कारण सिद्धालयमे सर्वत्र सिद्ध जीव हैं।

(१७३) **समुद्रस्थान व मेरुमध्यभागस्थानसे मुनिराजोंको मोक्षलाभ होनेकी विधिका दिग्दर्शन**—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि समुद्रसे कैसे मोक्ष गए, पृथ्वी पर तो, पर्वत पर तो तपश्चरण करते हैं और वहाँसे मोक्ष गए, पर समुद्रकी जगहसे कैसे मोक्ष गए। तो वहाँ इस तरहके मुनि मोक्ष जाते हैं कि जिन मुनियोको कोई देव या शत्रु उठाकर उपसर्ग करता है

और वहाँ समुद्रमे पटकता है । समुद्रमे गिरे उसी समय उनके भावोकी निर्मलता बहुत बढ़ी । शरीर जहाँ है सो रहो, मगर भावोंमे विशुद्धि बढ़ी तो वहाँसे मोक्ष चले गए । एक बात और जाननेकी इच्छा होती कि चलो समुद्रकी जगहसे भी मोक्ष गए, मगर मेरुपर्वतका जो भीतरी भाग है, बीचका भाग है वहाँ से कोई कैसे मोक्ष जायगा ? पर्वत परसे तो मोक्ष चले जायेंगे किन्तु मेरुपर्वत पर एक चूलिका है और चूलिकाके ऊपर सौधर्मस्वर्गका ऋतु नामका विमान है, जिसका सिर्फ एक बालकी मोटाईका अन्तर है, मानो चोटीपर रखा है, उससे कैसे मोक्ष जायगा ? फिर तो उसकी सीधमे जो सिद्धालयका स्थान है वह तो खाली होगा, वहाँ सिद्ध न होना चाहिए । तो समाधान यह है कि जो मुनि ऋद्धिधारी हैं, ऋद्धियाँ भी अनेक तरह की होती हैं । विक्रिया आदिक ऋद्धि तो प्रसिद्ध हैं, पर एक अप्रतिघात ऋद्धि होती है, जिसके प्रतापसे पर्वत आदिकमे चलें बिराजें तो उनका छिड़ाव नही होता है । ऐसी ऋद्धि वाले कोई मुनि मेरु पर्वतमे चले जा रहे हैं, बीचके स्थानमे पहुचे और वहाँ ही उनके शुक्लध्यान बन गया, वहाँ ही उनका निर्वाण हो गया तो वहाँ से ये सीधे मोक्ष चले गए । सो उसकी सीधका भी स्थान सिद्धालय भरा हुआ है ।

(१७४) **सिद्धालयमे सिद्ध एकमे एक, एकमे अनेक, न एक, न अनेकके तथ्यका वर्णन**—वहाँ सिद्धालयमे एक माँही एक राजे, एक माँहि अनेकनो । जहाँ एक सिद्ध भगवान बिराजे हैं, जिस स्वरूपमे वे हैं, जिस आत्मस्वरूपमे केवलज्ञान स्थित है एक सिद्ध भगवानका उसमे तो वे एक ही है । एकमे दूसरा नही होता । यो एक सिद्धमे एक सिद्ध बिराजा है, मगर बाहरी क्षेत्रसे देखें तो जहाँ एक सिद्ध भगवान बिराजे हैं वहाँ अनन्त सिद्ध भगवान बिराजे हैं । तो सिद्ध भगवान एकमे एक हैं, एकमे अनेक हैं । तो फिर कहा एक है, कहा अनेक हैं, कितने हैं ? अरे एक अनेकनकी नही सख्या । अगर सिद्ध भगवानके सही स्वरूपमे दृष्टि दें तो उस स्वरूपदृष्टिके करनेपर न तो आपको एकका ख्याल रहेगा और न आपको अनेकका ध्यान रहेगा । एक शुद्ध ज्ञानज्योति, इसी बातको सुनकर अन्य लोगोने यह कहना शुरू कर दिया कि भगवान तो एक है और उसमे जो आत्मा निर्वाण पाते हैं सो विलीन हो जाते हैं । वह विलीन होना क्या है ? विलीन होनेकी बात सत्य तो है, मायने जहा एक बिराजा है वहाँ दूसरा भी आ गया, स्वरूप उनका एक समान है ? इसलिए कह देते हैं कि विलीन हो गया । दृष्टान्त भी दिया करते हैं कि जैसे तालाबमे से कुछ पानी निकाला या एक-एक बूँद निकाल-निकाल कर अलग-अलग रख ली तो वह बूँद है । यदि उस बूँदको तालाबमे डाल दिया जाय तो वह बूँद विलीन हो जाती है और इस दृष्टान्तको देखकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऐसे ही एक आत्मा भी बूँदकी तरह है और एक ईश्वर, परमात्मा तालाबको

समुद्र है। वह आत्मा भी वहाँ जाकर विलीन हो जाता है, पर विलीन होनेका यह अर्थ नहीं है कि उसकी सत्ता मिट गई और वह कुछ न रहा। जितने भी सिद्ध भगवान हैं, सब अपने अपने केवलज्ञानसे अपना-अपना ज्ञान करते जा रहे हैं। सब अपने अपने आनन्दसे अपनेमें आनन्दका अनुभव करते जा रहे हैं, उनकी सत्ता न्यारी है और उनका परिणमन भी न्यारा है, मगर एक समान परिणमन है इसलिए लोगोकी दृष्टि विलयपर जल्दी पहुच जाती है, जैसे बूंद तालाबमे गिर गया तो बूंद नष्ट नही होता है, वह एक बूंद पडा है और भी बूंद हैं। वहां सब बूंदोका एक समान स्वरूप है। वह बूंद तालाबमें ऐसी मिल गई कि वहां सब बूंदोका एक समान स्वरूप है। वह बूंद तालाबमें ऐसी मिल गई कि वहां बूंद हो ही नहीं भैया, यहां सिद्ध एक है या अनेक यह चर्चा छोड दो, तुम तो सिद्ध भगवानके स्वरूपपर ध्यान दो। सिद्धका स्वरूप कैसा है? पवित्र ज्ञान ज्योति। जो सहज आनन्दमय है ऐसा पवित्र अनन्त ज्ञानानन्दमय भगवान आत्माका स्वरूप है। ऐसा सिद्धका स्मरण करें तो आत्मा पवित्र होगा और अपने आपमें ज्ञानज्योति पवित्र जगेगी। और उस ध्यानके प्रतापसे आत्मामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रकट होगा।

(१७५) सांसारिकसुखसे विरक्त होकर उत्कृष्ट सहजानन्दमय सिद्ध प्रभुके प्रभुत्वकी भावनाका कर्तव्य—देखो यहां उत्पन्न हुए हैं, घरमे हैं, इस समय कुछ पुण्यका उदय है, तो अगर मनमे स्वच्छदता आती है तो जो चाहे स्वच्छद काम करलो, जैसे चाहे आचरणसे रह लो, क्योकि उदय अच्छा है। मोह रागद्वेष कुछ भी करो, चाहे लडाई करो, अशान्ति रखो। दूसरेका बुरा विचारो, कुछ भी करलो, आखिर इसका फल अच्छा नही है, क्योंकि यह पुण्य कब तक मदद देगा। ये कर्म उदयमे आते और झड जाते हैं। पुण्यकर्म उदयमें आ रहे तब यह वैभव मिला है। उदयमे आ रहा मायने झड रहा, पुण्यकर्म निकल रहा तब यह वैभव मिल रहा। पुण्यकर्मके रहनेसे संसारका सुख नहीं मिलता, किन्तु पुण्यकर्मके अलग होनेसे ससारका सुख मिलता है। मायने लोग कह तो देते हैं कि ससारका सुख पुण्य कर्मके उदयसे मिलता है, मगर उदयका अर्थ क्या है सो बताओ? उस उदयका अर्थ यह है कि वह पुण्य कर्म अब आत्मासे निकल रहा है। उदय होनेपर कर्म आत्मामें रह सकते क्या? उदय आने के मायने निकल गया। सूर्यका उदय हुआ मायने कर्म निकल गए, सूर्य अपना उस जगहसे अलग हो गया। उदय होनेका अर्थ है कि उस जगहसे अलग होना। तो जब पुण्यकर्म आत्मा से अलग होता है उस कालमे ससारका सुख मिलता है, तो आप पूछेंगे कि ये सुख वर्षों तक क्यों रहते हैं। तो वर्षों तक बराबर पुण्यकर्म निकल रहे हैं इसलिए वैभव वर्षों तक रहता है। तो पुण्य कर्म तो निकलते रहें और पुण्यकर्मकी आमदनी न करें तो पुण्यकर्म तो निकलते

रहें और पुण्यकर्मकी आमदनी न करें तो पुण्य कर्म तो निकलते रहें और पुण्यकर्मकी आमदनी न करें तो क्या हालत होगी ? यह सब पुण्य खतम होगा। और खतम होगा ही। सदा पुण्यकी आमदनी कोई नहीं कर सकता पुण्य आता है, पाप आता है और इस तरहसे सुख दुःख पाते हैं। तो संसार दुःखमय है। सिद्ध भगवान ही शुद्ध अनन्त आनन्दमय हैं। तो अपने आपके बारेमें यह ध्यान बनावें इसी कारणसे कि मुझे तो सिद्ध भगवान होना है। हम यहाँ कुछ नहीं चाहते। सिद्धके स्वरूपका ध्यान रखें तो अपने आप सहज ही ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगेगा, जिसके प्रतापसे भव भवके बाँधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाया करते हैं।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥७८॥

(१७६) मानकषायको प्रगलित करनेवालेके बोधिका लाभ—आत्माको शाश्वत प्रदान करने वाला रत्नत्रयभव है। यह उपयोग अपने आत्मस्वरूपको छोडकर कही भी जाय, तो जैसे मछली अपने आवासको (तालाबको) छोडकर यदि बाहर गिर जाय, तो वह तडफती है इसी तरह यह उपयोग अपने आत्मस्वरूपको छोडकर बाहर पड जाय तो यह भी तडफेगा। तडफता ही है। तो यदि अपनी तडफन मिटाना है, अशान्ति, संकट दूर करना है तो अपने स्वरूपमें आना चाहिए, इसीको कहते हैं बोधि प्राप्त हो मायने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्राप्त हो, इसे कौन प्राप्त करता है उस ही को इस गाथामें कह रहे हैं। जो पुरुष मान कषायको गला चुका है वह बोधिको प्राप्त करता है। जिसके मान कषाय है उसका उपयोग बाहर खिचा रहता है। अपने स्वरूपको देखता तो मान कषाय क्यों होती ? पुरुषको सबसे अधिक बाधक मान कषाय है इसलिए सर्वप्रथम इस ही की बात कही जा रही है। मान कषाय अपने आत्माके सही परिचयसे कटती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। मैं मान कषाय न करूँ इसकी प्रतिज्ञा नहीं हुआ करती है कि जैसे कोई प्रतिज्ञा कर लेना है कि मैं रोज देवदर्शन करूँगा, मैंने आलू छोड दिया, यह तो सब निभा लिया जायगा, पर मैं मानकषायका त्याग करता हूँ, यह भावना तो बनेगी, पर प्रतिज्ञा न बनेगी। प्रतिज्ञा क्यों नहीं बनती ? मानकषाय प्रकृतिका उदय आ गया, जीवमें झलका, जीव विवश हो जाता है, जिसको मोह है वह मान करेगा ही। मान मिटता है तत्त्वज्ञानसे।

(१७७) मानके गलनका उपाय तत्त्वज्ञान—भैया, यह तो नियम कर सकते कि मैं दूसरेके आगे हाथ जोडकर बैठा रहूँगा, पर तत्त्वज्ञान बिना यह न निभेगा कि मैं मान कषाय न करूँगा। यह उसके निभेगा जिसको अविकार ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा है, नहीं तो हाथ जोड कर बैठनेमें क्या मान कषाय नहीं बनती ? यह तो आजकी सभ्यता भी बन गई। यह मान

कषायकी विधि बन गई कि प्रेमपूर्वक बोले, दूसरेके सम्मानकी बात बोले, यह भी एक तरह की विधि बन गई कि लोकमें इस ढंगसे भी मान कषाय करते हैं। तो मान कषायका छूटना यह आत्मज्ञानपर निर्भर है, तब ही वह ज्ञानी अपने स्वरूपको समझता है कि मैं स्वरूपतः ज्ञानमात्र हूं और इस ज्ञानस्वभावका कार्य ज्ञानवृत्ति जगते रहना है, बस जाननमात्र परिणमन करते रहना है। यह मेरी स्वाभाविक कुलकी विधि है। इसमें विकार नहीं होता। विकार तो पौद्गलिक कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होता है, ऐसा जिसको बोध है उसमें यह बल आता है कि वह मान कषायका लगाव न रखेगा, मैं अपने स्वरूपकी ओर ही रहूंगा, वह मान कषाय को दूर कर सकता है। फिर उसकी क्या प्रक्रिया होती है? विचारमें, तर्कणामें वह जगता है कि मान किस बातका करना? जगतमें कौन सी चीज सारभूत है जिसको पाकर मान किया जाय? सब मुझसे भिन्न हैं, पर हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसको पाकर मान किया जाना चाहिए। जगतमें कौनसे जीव ऐसे मेरे खास हैं या मेरे कुछ हैं जिनके पीछे मुझे मान करना चाहिये? क्योंकि सब जीव भिन्न हैं। किसको क्या दिखाना?

(१७८) मान कषायका मूल पर्यायव्यामोह—मान आता है पर्याय बुद्धिमें। जिस जीवको अपने देहमें मान है कि मैं यह हूं, आत्माका मान नहीं है, किन्तु शरीरको निरखकर मान रहा कि मैं यह हूं यह मैं हूं, और जिसको माना कि यह मैं हू उसकी बढ़वारीमें, उत्कृष्टतामे उसकी लगन होगी। यदि आत्माको मानता कि यह ज्ञानस्वरूप मैं हू तो मानरहित होकर ज्ञानस्वरूपकी बढ़वारी करता और जब शरीरको माना कि यह मैं हू तो अब यह शरीर की बढ़वारी करेगा, तो शरीरकी बढ़वारी मान कषायको उत्पन्न करती है। पर्यायबुद्धि सब कषायोंको तीव्र बनानेकी जड है। तो जब तक यह बात न आयगी चित्तमें कि मैं इस देहसे तो प्रकट भिन्न हू, पौद्गलिक कर्मोंसे भी भिन्न हू, तब तक कषायोंसे विरक्ति न होगी। कर्मों का उदय होनेपर जो चित्रण होता है, उपयोगपर जो झलक होती है कर्मोंकी उससे भी मैं निराला हूं। मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, यह बोझ जिसको होगा वही मान कषायको गला सकता है। जब शरीरमें दृष्टि है कि यह मै हूं, तो उसकी कोई भी कषाय नहीं गल सकती। क्रोध भी रहेगा पद पदपर। शरीरके पोषक या शरीरको सुखकारी जो बाहरी विषयभूत पदार्थ हैं उनमें बाधा किसीके द्वारा समझी गई उसपर क्रोध जगेगा। और उसी तरह मान जगेगा फिर देहको पोषने वाली चीजोंके जुडावके लिए कपट करेगा और लोभ भी रहेगा। जब तक जीवके पर्यायबुद्धि है तब तक कोई कषाय नहीं मिट सकती, इस कारण सबसे पहले मोह को दूर कीजिए। पर्यायबुद्धि कहो, मोह कहो, अज्ञान कहो, सब एक ही बात है। अज्ञान दूर हो तो कषायें दूर हो सकती हैं।

(१७९) धर्मार्थीकी धर्मप्रयोजनामें तीव्रता—तीन लोकमें सारभूत इस रत्नत्रयभाव को वह जीव प्राप्त करता है जिसके मान कषाय गल गई है। तीन लोकमे सारभूत इस रत्नत्रय विभूतिको वही प्राप्त कर सकता है, जिसका मिथ्यात्व मोह गल गया, और समतामें चित्त लग गया। जीव अपनी शान्तिके लिए रात दिन खूब पुरुषार्थ कर रहे हैं, चाहे उन्हें शांति मिली हो या न मिली हो यह दूसरी बात है, मगर देखो रात दिन पौरुष बना रहे हैं। कमाई करते हैं, परिवारके बीच बड़ी ठसकसे बैठते, बड़ा हर्ष मानते, बाहर देश विदेश फिरते न जाने क्या क्या कार्य नहीं कर डालते हैं, पर शान्तिका रास्ता तो बड़ा सुगम है, स्वाधीन है। उसपर दृष्टि जाय, वहाँ पहुंच बनायें तो शान्ति मिलेगी, अन्यथा शान्ति न मिलेगी। इतना धन हो तब शान्ति मिले, यह झूठ बात है या मैं अपनी ऐसी लौकिक स्थिति बना लूं तो शान्ति मिलेगी, यह भी बेकार बात है। कितने ही पुरुष ऐसे अब भी पाये जाते हैं जिन्होने कभी यह सोचा था कि मेरे को इतना वैभव हो जाय फिर मुझे कुछ नही करना, ध्यान ही ध्यानमे समय बिताऊँगा। मगर जब उतना वैभव हो गया तब यह सब बात भूल गए। अब तो वे तृष्णामें बढ़ गए। तो यह बात क्यों बनी ? यो कि मोह तो नही गला ? मोह गल जाय तो उसे यह भी भाव न आयगा कि मेरे पास इतना वैभव हो तब मैं धर्म करूँगा। वह तो वर्तमान स्थितिमे चाहे गरीबो की परिस्थिति हो चाहे कैसी ही परिस्थिति हो, कैसी भी स्थिति हो उस ही स्थितिमे धर्मका योग जुडायेगा। जिसे कल्याणकी लगन है वह यह क्यो सोचेगा कि मेरे पास इतना वैभव हो जाय तब मैं धर्म करूँगा ? वह तो उस ही क्षणसे चाहे गरीबीकी दशा हो, चाहे कैसी ही स्थिति हो वहाँ ही धर्मका योग जुडायेगा तत्त्वज्ञान, स्वाध्याय सत्सग आदिक जो भी चाहिए, उनमे उसी क्षणसे वह अपना समय बितायेगा। कितने ही लोग बड़े होनेपर और कुछ धर्मध्यानकी बात चित्तमे आनेपर बड़ा पछतावा करते हैं कि मैंने अब तकका जीवन व्यर्थ ही खोया। बचपनसे ही मेरेमे क्यो ऐसी बुद्धि न जगी ? यदि बचपनमे मेरेमे ऐसी बुद्धि जगी होती तो बचपनसे ही मैं धर्मसाधना करता और आज मैं अपने को बड़ी अच्छी स्थितिमे पाता। मगर कहाँसे यह बुद्धि जगे ? इस जीवमे मोह बसा है, अज्ञान बसा है।

(१८०) मोह मिथ्यात्वके गल जानेपर समताके प्रतापसे त्रिभुवनोत्तम बोधिका लाभ—मोहमिथ्यात्वके गल जानेसे जब चित्तमे समता आती है तो वह जीव तीन लोकमें सारभूत इस रत्नत्रयरूप लक्ष्मीको प्राप्त करता है जिसके कि समता भाव जग गया है। सब जीव एक समान हैं, सब जीवोंमे चैतन्यस्वरूप है। सब जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, सब जीव मेरे स्वरूपसे पूर्ण समान हैं। जब ऐसी समताकी बुद्धि जगती है तब वह रत्नत्रय विभूतिको प्राप्त

कल्पना है। सुख दुःख जो भी हालत आवी प्रथम तो यह भ्रम है। किसी परवस्तुका उपयोग लगाया, इष्ट अनिष्ट बुद्धि की, सुख दुःख मानने लगे। बाह्य पदार्थ हैं, अत्यन्त भिन्न हैं, उनसे क्या लेना देना और फिर भी कुछ या भी जाय तीव्र उदयमें सुख दुःख तो उनमें भी समता की बुद्धि रखनी है। दुःख है सो विकार, सुख सो विकार, मुझे जैसे दुःख न चाहिए ऐसे ही मुझको सुख भी न चाहिए। ज्ञानी पुरुषकी यह दृष्टि बनती है कि दुःख भी बुरे और संसारके के सुख उनसे भी बुरे। दुःखमें तो प्रभुका ध्यान रख सकते हैं, किन्तु सांसारिक सुखमें प्रभुका ध्यान नहीं, आत्माका ध्यान नहीं, तो वहाँ तो बड़ी मलिनता बनती है और इसी लिए बताया कि यह पुण्य तो नरक भी भेज देता है। कैसे भेजना? पहले पुण्य किया, राजा बन गए, राजा बनकर अन्याय किया। जिस चाहे को सताया, जैसा चाहे अभिमानका भाव भरा, नरकायु बाँधी, नरक चले गए। उस पुण्यके उदयसे वैभव मिला था। अगर वैभव, न मिलता तो सम्भव है कि इतनी तीव्र कषाय न करता। कभी तो ऐसा भी मिलता है। तो जिसने आत्मतत्त्वका ज्ञान किया वह सुख दुःखमें समान रहेगा। उसके मान कषाय दूर हो जायगी। उसके मोह मिथ्यात्व तो रहा हो नहीं। तो मोक्षका मार्ग बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। ऐसा जीव इस लोकमें सारभूत बोधिको प्राप्त करता है, सो यह सब जिनशासनमें रहकर उस प्रकार की वृत्ति करनेका माहात्म्य है।

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं।
तित्थयरनामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७१॥

(१८१) **विषयविरक्त श्रमणके षोडश भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध**—जो मुनि विषयोंसे विरक्त है वह षोडश कारण भावनाको भाकर शीघ्र ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करता है। जो विषयोंमें लगा है, जिसको विषयोंमें प्रीति है वह तो धर्ममार्गमें ही नहीं है। जो विषयोंसे विरक्त है वही धर्मका आदर करता है। ये पञ्चेन्द्रियके विषय इस जीवके लिए धोखा है। भोगनेके समय ये अच्छे लगते हैं, मगर इनका परिणाम फल विपाक अत्यन्त बुरा है। जैसे एक इन्द्रायण फल (विषफल) होता है जिसको खाकर मनुष्य मर जाते हैं वह खानेमें बड़ा मधुर होता है। तो जैसे विषफल खानेमें मधुर लगता पर उसका फल मरण है ऐसे ही इन्द्रियके विषय भोगनेमें बड़े मधुर लगते है पर उसका फल संसारमें परिभ्रमण करना है, इसलिए विषयोंसे विरक्त होनेसे ही शान्ति मिलेगी। विषयोंके अभिमुख जीवको कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

(१८२) **स्पर्शन इन्द्रियकी वासनामें हाथीके विघातका उदाहरण**—एक एक इन्द्रियके विषयमें प्राणी मारे गए, पर यह मनुष्य तो पञ्चेन्द्रियका दास है। वह कैसा मर रहा है।

बरबाद हो रहा है। वह चिरकाल तक संसारमे जन्म मरण पायगा। एक हाथीका दृष्टान्त है। हाथीको पकड़ने वाले शिकारी लोग जंगलमें एक गड्ढा खोदते हैं और उस गड्ढेपर बांसकी पंचें बिछाते हैं। और उसपर एक बांसकी झूठी हथिनी बनाते हैं। साथ ही कोई ५० ६० हाथकी दूरी पर एक ऐसा झूठा दौडता हुआ हाथी बनाते हैं जो यह मालूम होता है कि मानो हथिनीके पास दौड़ता हुआ पहुंच रहा है। इतना कार्य शिकारी लोग करते हैं, उस समय कोई वनका हाथी जब देखता है कि हथिनी खडी है तो स्पर्शनइन्द्रियके विषयकी कामनाके वश होकर वह हाथी हथिनीके पास आना चाहता है और साथ ही जब देखा कि उसकी ओर कोई दूसरा हाथी दौड़ता हुआ उसकी ओर आ रहा है तो वह भी तेज दौड लगाकर उस हथिनीके पास आता है। पर वहाँ क्या था ? हथिनी तो थी नही, बांसकी पंचे गडढेपर बिछी हुई थी सो वह हाथी उस गड्ढेमे गिर जाता है। बस शिकारीका काम बन गया। वह तो यही चाहता था कि हाथी इस गड्ढेमें गिर जाय। उसको कई दिन भूखा रखते हैं। जब वह बड़ा हताश हो जाता, दुर्बल हो जाता तो उस गड्ढेमें एक रास्ता बनाकर और हाथीपर चढकर अंकुशके बलसे उसे अपने कब्जेमे कर लेते हैं। यो हाथी शिकारियोके वश हो जाता है।

(१८३) रसना घ्राण चक्षु व कर्ण इन्द्रियकी वशतामे प्राणियोंके घातमें उदाहरण— रसनाइन्द्रियका उदाहरण है कि मछली मारने वाले ढीमर या मछुवा लोग बांसमे रस्सी फसाकर। उस रस्सीकी छोरपर एक लोहेका कांटा फसाते हैं और उस केंचुवा वगैरह कुछ कीडा लगाकर उसे पानीमे डाल देते हैं। मछली मांसके लोभमें आकर मुख बा कर उस कीडेको खाती है, मछलोका कठ उस कांटेमे फस जाता है, अब वह विवश हो गई। ढीमर उसे पानी से बाहर निकाल लेता है और वह मछली पानीसे बाहर आकर तडफ तडफ कर मर जाती है। घ्राणेन्द्रियके वश होकर भंवरा अपने प्राण गवा देता है। भ्रमर सामके समय जब कि कमल फूला हुआ होता है, कमलकी सुगध लेनेके लोभसे कमलके बीच मकरद पर बैठ जाता है। शाम होते ही कमल तो बद हो जाता, क्योंकि कमलका ऐसा ही स्वभाव है कि सूर्यकी किरणोंके रहने तक कमल फूला रहता है, सूर्यके अस्त होने पर कमल बद हो जाना है। अब वह भंवरा कमलके फूलमे बंद हो गया। यद्यपि उस भ्रमरमे ऐसी कला है कि वह काठको भी कील कीलकर एक ओरसे दूसरी ओर निकल जाता है, मगर सुगधके लोभमे आकर वह कमल के पत्तोको काट नहीं सकता। फल यह होता है कि गन्धका लोभी होकर वह भ्रमर वही अपने प्राण गमा देता है, चक्षुइन्द्रियके विश होकर तो देखते ही हैं लोग कि गर्मीके दिनोंमें या बरसातमें दीपक पर पतंग अपने प्राण गमा देते हैं। कर्णेन्द्रियके वश होकर सर्प, हिरण आदिक जानवर सपेरेकी बंसीकी मधुर राग तानको सुनकर निकट पहुच पाते हैं और उस समय वह

सपेरा या शिकारी उस सर्प या हिरणको पकड़ लेता है। तो ऐसे एक एक इन्द्रियके वश हो कर प्राणियोंने अपने प्राण गमाया, पर मनुष्योंकी बात तो सोचो कि यह मनुष्य पाँचों ही इन्द्रियके विषयोंका दास है, उसकी क्या हालत होगी ?

(१८४) विषयविरक्त श्रमणकी विशेषता—जो विषयोंमें आसक्त हैं उनका तो जीवन ही निष्फल है। हाँ जो विषयोंसे विरक्त हैं वे धर्ममार्गमे लगते हैं। तो जो मुनि विषयोंसे विरक्त हैं वह जब षोडश कारण भावनाको भाता है तो उस कालमे ही तीर्थंकर नाम प्रकृतिका बंध होता है, तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मका भेद है, क्योंकि उसके प्रतापसे, उदयसे कुछ शारीरिक या मानवीय अतिशय बढ़ जाते हैं। समवशरणकी रचना होना सातिशय दिव्यध्वनि होना आदिक यह सब नामकर्मकी प्रकृतिका फल है। जब कि तीर्थंकर नाम प्रकृतिका जिसके उदय होता है वह नियमसे मोक्ष जाता है। मोक्ष जानेकी अपेक्षासे देखा जाय तो तीर्थंकर प्रकृति अच्छी मानली जाती है और उसके कारणभूत सोलह कारण भावनायें तो शुभानुषोचित कर्तव्यो मे अच्छी हैं ही। फिर भी इस तीर्थंकर प्रकृतिका भी क्षय होता है तब जीव मुक्तिमें पहुचता है। और तीर्थंकर प्रकृतिका बध बडे विशुद्ध भावोंसे हो पाता है। वे सोलह भावनायें कौन हैं ? सो निरखिये।

(१८५) तीर्थंकरनामकर्मप्रकृतिबन्धहेतुभूत प्रथमभावना दर्शनविशुद्धि—(१) दर्शन विशुद्धि भावना याने सम्यग्दर्शन अष्ट अग सहित होना और सम्यक्त्वके होते हुए जीवोके कल्याण की भावना होना इसका नाम दर्शनविशुद्धि भावना है। यदि सम्यग्दर्शन होनेका नाम दर्शन-विशुद्धि हो तो सम्यग्दर्शन तो सभी जीवोंके हुआ, जितने भी मोक्ष गए, पर तीर्थंकर सब नहीं कहलाये। सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवोके कल्याणकी भावना होना दर्शनविशुद्धि भावना है कैसी भावना होती है कि ये जगतके सब जीव ज्ञानानन्दस्वरूप है। स्वयं ही ज्ञानानन्दमय है। अपनी ही सत्ताके कारण सबसे निराले हैं, किन्तु ये जीव अपने आपको सबसे निराला नहीं समझ पाते इस कारण ससारमे भटक रहे हैं। अगर यह सबसे निराला अपने ज्ञानस्वरूपको दृष्टिमें ले लें तो इसका कल्याण हो, ऐसी कल्याणकी भावना होती है। लोकमे अनेक लोग जो यह कह बैठते हैं कि तीर्थंकर प्रकृतिका बध करने वाले पुरुष जीवोंके कल्याण करनेकी भावना करते हैं कि मैं इन जीवोको मोक्ष पहुचाऊँ, इन जीवोंको उपदेश देकर इनको तार दूं, मगर ऐसा भाव नहीं होता है दर्शनविशुद्धिका, अगर ऐसा आशय हो तो वहाँ तो सम्यक्त्व ही नही है। कोई जीव किसी दूसरे जीवको तार सकता है क्या ? कोई किसीको मोक्षमें पहुचा सकता है क्या ? अरे एक जीव किसी दूसरे जीवका कुछ भी नही कर सकता। फिर कर्तृत्व बुद्धि बनाये तो यह तो प्रकट मिथ्यात्व है। जो मैं इन जीवोको तार दूँ, ऐसी बात

नहीं चित्तमें आती, किन्तु यह बात आती है कि देखो है तो यह स्वयं ज्ञानानन्द निधान, इस का स्वरूप समस्त पर और परभावोसे न्यारा है, पर अपनेको तो समझ नहीं पाते, इस कारण संसारमें रुल रहे हैं। इनको दृष्टि मिले, ज्ञानप्रकाश जगे और ये सुखी हों, ऐसी भावना होती है, और उनके सम्यग्दर्शन होता है। यद्यपि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है लेकिन वहाँ चल, मलिन, अगाढ़ दोष अत्यन्त सूक्ष्म हो जिससे कि उनके अष्टांग में रंच भी बाधा नही होती, जो अष्टांग सम्यक्त्वके है।

(१८६) सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्ग—(१) निशंकित अंग—किसी प्रकारका भय नहीं रहता सम्यग्दृष्टिको और न अपने स्वरूपमे शका रहती है। स्पष्ट परिचय है कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हू, उसको कहाँसे भय होगा? जितना यह मैं हू, यह ही मेरा दुनिया है, यही मेरे साथ रहता है। फिर इस लोकका भी भय क्या? और परलोकका भी भय क्या ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको कभी भी कर्मोदयसे मिले हुए सुख दुःख भूख प्यास आदिक वेदनाओं में मन नही डिगता। उपयोग मोक्षमार्गसे नही हटता। उनके कभी मोह उत्पन्न नही होता। कभी भी वह अन्य संन्यासियोका चमत्कार देखकर उनके प्रति रंच भी आकर्षित नही होता। सबका ज्ञाता रहता है। माहात्म्य समझिये एक इस आत्मस्वरूपका। यह परभावोसे निराला हो तो इस आत्मामे अद्भुत चमत्कार प्रकट होता है। केवलज्ञान होगा, सिद्ध भगवान होगा समस्त लोकालोकका जाननहार होगा, अनन्त सुखी होगा। वह बाहरी भेष चमत्कार पर आकर्षित नही होता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उत्तम क्षमा आदिक धर्मोंसे अपनेको बढाया हुआ अपना विकास करता है और किसी अन्यके दोषको बोलने, प्रकट करनेका भाव नही बनाता। सदा यह अपनेको अपने धर्ममे स्थित करता है, किन्तु धर्म क्या? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और दूसरे लोगोको भी जो धर्मसे हट रहे हैं, उनको भी अनेक उपायोसे धर्ममे स्थिर करता है। सम्यग्दृष्टि जीवको धर्मात्मा जनोमें निष्कपट वात्सल्यभाव रहता है। वह जानता है कि ये भी रत्नत्रयके धारण करने वाले हैं। जिस मोक्षके पथका मैं पथिक हू उसी के ये पथिक हैं, ऐसा जानकर धर्मात्माओमे उसके वात्सल्य होता है। यह धर्मकी प्रभावना करता है अपने निर्मल चारित्रके द्वारा, ज्ञानके प्रसारके द्वारा तो ऐसा अष्टांगसे विभूषित सम्यग्दृष्टि ज्ञानी श्रमण षोडश कारण भावनाओको पाकर तीर्थंकर नामकर्म प्रकृतिका बंध करता है।

(१८७) तीर्थंकरप्रकृतिबन्धका हेतुभूत द्वितीय तृतीय चतुर्थभावना—तीर्थंकरप्रकृति बंधमें मुख्य कारण दर्शनविशुद्धि भावना है। उसीकी शेष १५ भावनाओमें से कोई भावना कम भी रहे तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है मगर दर्शनविशुद्धि भावना न हो,



फिर चाहे १५ भावनायें भी होती रहे तो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नही होता। (२) दूसरी भावना है विनय सम्पन्नता। रत्नत्रयके धारी पुरुषोमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमे, धर्मभावमें, ज्ञानस्वभावमें विनयसम्पन्नता होती है। इसके प्रति झुकना यह हो कहलाता है विनय। ऐंठकर मीठी बात बोलना विनय न कहलायगा, किन्तु उसके लिए झुककर उसके प्रति कृतज्ञ बनकर जो भक्तिका भाव जगता है वास्तविक विनय वहाँ हुआ करती है। तो ऐसी विनय-सम्पन्नतासे ज्ञानी श्रमण तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है। (३) तीसरी भावना है शील और व्रतोमे निर्दोष प्रवृत्ति करना। जो उसने व्रत धारण कर लिया, जिस व्रतमे वह चल रहा है उसका निरतिचार पालन करना, ऐसी प्रवृत्ति होती है और ऐसा ही निर्दोष रहनेकी भावना बनती है। (४) चौथी भावना है अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रखना याने स्वाध्यायसे, मननसे, सामायिकसे, चर्चासे अपने ज्ञानस्वरूपमें उपयोग रखना।

(१८८) तीर्थंकरप्रकृतिबन्धहेतुभूत पञ्चम षष्ठ सप्तम अष्टम भावना—पाँचवीं भावना है सम्वेग भावना। ससारसे भयभीत रहना सम्वेग कहलाता है। यहँ ससार रहनेके काबिल नही है, ससार अनेक दुःखमय है, मुझे इस संसारमें नही रहना है, ऐसा ससारसे उद्वेग होना, यह है सम्वेग भावना। (६) छठी भावना है शक्तितस्त्याग। अपनी शक्तिके अनुसार त्याग करना। इसका अर्थ लोग क्या लगाते हैं कि शक्तिसे कम त्याग करना, अधिक न करना, पर इसका यह अर्थ नही है। अर्थ यह है कि अपनी शक्तिको न छिपाकर अपनी पूर्ण सामर्थ्यके अनुसार त्याग करना यह शक्तितस्त्याग भावना है। शक्तिको न छिपाकर पूर्ण शक्ति सामर्थ्यके अनुसार त्याग करनेमे आत्माका उत्साह आता है। और ऐसा सोचनेमे कि देखो शक्तिसे कम ही रहे त्याग, अधिक नही, तो वहाँ उत्साह खतम होता है। शक्तितस्त्याग भावना से तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है। (७) सातवी भावना है शक्तितस्तप। अपनी पूर्ण सामर्थ्यके अनुसार जैनशासनमे बताये हुए ढगसे तप करना, कायक्लेश करना यह शक्तितस्तप भावना है। (८) आठवी भावना है साधुसमाधि। ये सब भावनायें तीर्थंकर प्रकृतिका बध करने वाली हैं। साधुवोको तपश्चरण करनेमे आये विघ्नोको दूर करना ताकि साधु बहुत उत्साह विधिसे तपमे सफल होवे। यो साधुवोकी सेवा करना, उनके विघ्न दूर करना साधु समाधि है।

(१८९) तीर्थंकरप्रकृतिबन्धहेतुभूत नवमी दशमी ग्यारहवीं बारहवीं तेरहवीं भावना—नवमी भावना है वैयावृत्य भावना, गुणी पुरुषोपर कोई दु.ख आये तो उस समय उनकी ऐसी सेवा करना कि उनकी थकान उनका कष्ट दूर हो जाय, इसे कहते हैं वैयावृत्य भावना। (१०) दसवीं भावना है अर्हद्भक्ति। अरहत भगवानके गुणोमें अनुराग करना। ये अरहत भगवान, सकल परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दसे सम्पन्न

हैं। वे परम पवित्र हो गए हैं, तीन लोकके अधिपति हैं। धन्य है इनके शुद्ध विकासको। यही आत्माका वास्तविक स्वरूप है जो प्रकट हो गया है, आदिक रूपसे अरहंत भगवानके गुणोंमें अनुराग जगे, इसे कहते हैं अर्हद्भक्ति। (११) ग्यारहवी भावना है आचार्यभक्ति। विषय-विरक्त आत्मध्यानकी धुन वाले ये आचार्य संत, इनके प्रसादसे हम भी धर्ममार्गमे निर्विघ्न चलेंगे, ऐसा जानकर उनमें भक्ति होना आचार्यभक्ति है। (१२) बारहवीं भावना है बहुश्रुत-भक्ति, जो अनेक शास्त्रोके ज्ञाता हैं, उपाध्याय हैं, उनमे भक्ति होना बहुश्रुतभक्ति है। (१३) तेरहवी भावना है प्रवचनभक्ति। जिनागममें जैनशासनमे भक्ति जगना, अनुराग जगना यह है प्रवचनभक्ति। आत्माका कल्याण जैनशासनमें बताई हुई विधिसे होता है। जैनशासन का हमपर बडा उपकार है, जिसके प्रसादसे हमने तत्त्वका ज्ञान पाया, आत्माकी रुचि प्रकट कर पायी। धन्य है यह जिनवाणी ऐसी जिनवाणीके प्रति अनुराग जगे, उसे प्रवचनभक्ति कहते हैं।

(१८०) **तीर्थंकर प्रकृतिबन्धहेतुभूत चौदहवीं पन्द्रहवीं व सोलहवीं भावना**—(१४) चौदहवी भावना है आवश्यकापरिहाणि। मुनियोके जो आवश्यक कर्तव्य हैं उनको ठीक समय से करना, उनमे हानि न करना आवश्यकापरिहाणि भावना है। ६ कर्तव्य हैं साधुवोंके—(१) पहला तो है समताभाव, सर्वजीवोंमे समताभाव होना, जो किसीको अपना भला मानता किसीपर घृणा करता, वह साधु नही है, वह तो गृहस्थोसे भी गया बीता है, धर्मपर कलंक लगाने वाला पतित और पापी प्राणी है। श्रमणका, मुनिका तो समता ही एक प्रधान अंग है। सर्व जीवोंमे समताभाव हो। (२) दूसरा आवश्यक है २४ तीर्थंकरोकी स्तुति करना। (३) तीसरा आवश्यक है—किसी तीर्थंकरकी स्तुति वंदना करना, (४) चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। कोई दोष लग जायें तो उन दोषोंका तपश्चरण आदिक करके आलोचना आदिक विधानसे दोषोंकी निवृत्ति करना, फिर उन दोषोको न होने देना। (५) पांचवां आवश्यक है प्रत्याख्यान। कभी दोष न लगें, ऐसी अपनी सावधानी करना और (६) छठवां आवश्यक है कायोत्सर्ग। शरीरसे ममताका त्याग करना और अन्तर्मुहूर्तमें एकदम समस्त ख्यालोंको छोड कर शरीरका भी ध्यान छोडकर ज्ञानस्वरूप आत्माकी दृष्टि बनी रहना, अनुभूति होना, ऐसे ६ आवश्यकोंमें जो श्रमण हानि नही करते ऐसे श्रमणोंके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होगा। पंद्रहवीं भावना है मार्गप्रभावना। ज्ञानादिकके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। ज्ञानसे, अपने आचरणसे जैनशासनका उद्योत करना मार्गप्रभावना है। सोलहवी भावना है प्रवचन वात्सल्य। इस दर्शन विशुद्धि भावनाके साथ-साथ ये १५ भावनायें अथवा इन १५ मे से कुछ भावनायें हों, इन सबसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। कुछ भावनायें हो, उनका

अर्थ यह नहीं है कि कुछ हों कुछ न हों, पर प्रधान और गौणकी अपेक्षा बात कही जा रही है। तो विषयोंसे विरक्त श्रमण इन १६ भावनाओंको भा करके तत्काल ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करते हैं।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण।
धारहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर ॥७८॥

(१८१) **तपश्चरणसे शुद्ध होनेका आदेश**—इस गाथामें मुनिवरोको आदेश उपदेश किया गया है। मुनिप्रवर ! तुम बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह क्रियाओंका मन, वचन, कायसे पालन करो। तथा ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा मन रूपी मत्त हस्तीको वशमे करो। मुनियो का शृङ्गार तपश्चरण है। जिनको ज्ञानस्वरूप आत्माकी धुन है उनके तप तो सहज चलते हैं और कभी यह देखनेपर कि यह उपयोग आत्मस्वरूपमें नही टिक रहा है, तब जानकर भी अनेक प्रकारके तप करते हैं। ये तप दो प्रकारके हैं (१) बाह्य तप और (२) अन्तरङ्ग तप। बाहरमे लोगोको दिखे अथवा बाहरी पदार्थ भोजन आदिककी अपेक्षा रखकर प्रवृत्ति बने अथवा अन्य लोग भी जिन तपोको कर सकें वे सब बाह्य तप कहलाते हैं। बाह्य तप ६ प्रकारके हैं। (१) अनशन (२) ऊनोदर (३) वृत्तिपरिसख्यान, (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) कायक्लेश। संसारमे यह जीव अनादिसे अब तक इन्द्रियके विषयोका दास बना चला आया है आहार भोजन आदिमे आसक्ति करता हुआ अनेक कर्मोंका बध करता, जन्म-मरण करता चला आया है। एक यह मनुष्यभव हो ऐसा उत्तम भव है कि जहाँ तपश्चरण और सयमकी साधना बन सकती है। अन्य गतिके जीव तो करें क्या ? देवगति एक बहुत अच्छी गति लौकिक हिसाबसे मानी जाती है, उस देवगतिमें भी सयम नही है, तपश्चरण नहीं है, देव भी तरसते हैं संयम और तपश्चरणको। ऐसा यह उत्तम भव है मनुष्यका। ऐसे दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर धर्मकी ओर दृष्टि न हो, तत्त्वज्ञानकी उमंग न हो, इन्द्रियके विषयोकी ही धुन बने, धन वैभवमें ममता, कृपणता, लोभ तृष्णा जगे, धर्मके कार्यमे अनुराग रहे तो ऐसा जीवन क्या जीवन है। यो तो अनन्त भव गुजार दिए। अब जैन शासन पाया है, उत्तम बुद्धि पायी है तो तपश्चरण और सयममें बुद्धि कीजिए। और यह सब तत्त्वज्ञानपूर्वक हो तो इसका फल उत्तम प्राप्त होता है

(१८२) **अनशन एवं ऊनोदर तपकी साधना**—बाह्य तप ६ प्रकारके हैं, उनमें प्रथम है अनशन। चार प्रकारके आहारोंका त्याग करके आत्मोपासना करना, आत्मध्यान, आत्मसेवा करना इसका नाम है अनशन। जिनके ज्ञान जगा है उनको आहारविषयक कोई प्रवेदना या आसक्ति नही होती है। वह ज्ञानबलसे अपने आपको वशमे किए रहता है, सो उस ही धुनमें

अनेक बार आवश्यक हुआ, जरूरी बना कि अनशन तप होता रहे। अनशन तप करनेके लिए लोग सोचते हैं कि हमारा शरीर इस लायक नही है। हम कमजोर हैं या भूख बरदास्त नही हो पाती है सो बात यह है कि तपश्चरण करनेमे मानसिक बल चाहिए, ज्ञानबल चाहिए। कुछ शारीरिक स्थिति भी देखी जाती है, पर विशेषता है मानसिक बलकी। जिनके तत्त्वज्ञान है, मनोबल है उनके लिए अनशन आसान है और कोई स्वस्थ है, पर मनोबल नही तो उनको अनशन आसान नही है, वह कर ही नही पाता। अनशन तप करते हुएमें साधुकी अध्यात्मभावना और प्रवल होती है। दूसरा तप है ऊनोदर — अल्प आहार करना, एक ग्रास, दो ग्रास आदि सख्यामे ग्रास लेना याने भूखसे कम खाना यह कहलाता है ऊनोदर तप। ऊनोदर तपमे बहुत मानसिक बल चाहिए। वैसे मात्र सुननेमें ऐसा लगता कि अनशन तप कठिन है, ऊनोदर मे क्या कठिनाई? भूखसे कुछ कम खा लिया '', मगर अनशन तपकी अपेक्षा भी कभी कभी ऊनोदरमें अधिक कठिनाई पडती है।

(१८३) **वृत्तिपरिसंख्यान तपकी साधना**—तीसरा तप है वृत्तिपरिसख्यान। कोई आहार के लिए चले, उससे पहले अटपट आखिडी ले ली ताकि आहार न मिले तो उसमे भी मैं समता रख सकू, यह अपनी परीक्षा करू और आहार न मिल सके ऐसी स्थितिमे मैं समता भाव रखकर अपना विकास बढ़ाऊँ, यह प्रयोजन होता है वृत्तिपरिसंख्यानमे। वृत्तिपरिसख्यान अनेक प्रकारके किए जाते हैं। सीधे रास्तेमें ही आहारका योग मिले तो करना अथवा एक मोड देकर दूसरे रास्तेमें मिले तो करना, इतने घर बाद मिले तो करना, अथवा अमुक-अमुक घटनायें देखनेमे आये तो आहार लेना अन्यथा नही, ऐसे अनेक प्रकारके वृत्तिपरिसख्यान किए जाते हैं। पुराणोमे एक उदाहरण है कि एक मुनि महाराजने यह वृत्तिपरिसख्यान किया कि कोई बैल सामनेसे ऐसा आता हुआ दीखे कि जिसके सींगपर गुडकी भेली भिदी हुई हो तो आहार लेना। अब बतलाओ किसीको बताना तो होता नही, ऐसा योग कैसे बने, कौन बनाये? अनेक दिन उपवासमे बीत गए, आखिर एक दिन क्या हुआ कि एक बैल सांड गुड वालेकी दूकानसे गुजर रहा था और वह थोडा सा गुड खानेको चला तो इतनेमे दूकान मालिकने उसे भगाया, तो जल्दी जल्दीमे उसके सीगमे एक गुडकी भेली भिद गई और वह आगे कुछ दौडकर बढ़ने लगा। तो वह घटना मुनिराजको दिख गई, उनका आहार हो गया। तो ऐसा वृत्तिपरिसंख्यान कही श्रावकोको हैरान करनेके लिए नही किया जाता, किन्तु स्वयकी परीक्षा, समताकी भावनाके लिए किया जाता है। ये सब बातें बहुत पहले समयकी हैं, जब कि उपवास कर सकनेकी महीना महीना भरकी क्षमता होती थी। अब तो प्राय कोई अटपट आखिडी ले तो प्रायः उसका कुछ विश्वास भी लोगोको कम होता कि बात यह ही थी या बनाकर कही

गई। वृत्तिपरिसंख्यान तपमें अटपट आखिडी लेनेका विधान है। सो यह वृत्तिपरिसंख्यान अपनी समताकी देखभालके लिए है।

(१८४) रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश तपकी साधना एवं तपश्चरणों का फल—चौथा बाह्य तप है रसपरित्याग। घी दूध आदिक रसोंका त्याग करना, छहों रसो का त्याग करे, ५का ४का, ३का, २ का, एकक त्याग करे। वह सब रसपरित्याग कहलाता है, जो वास्तविक साधु होते हैं उनके मनमे भोजन करनेका ही उद्देश्य नही रहता जिन्दगी का। उनका उद्देश्य रहता है आत्मसाधनाका, परन्तु जीवन रखना आवश्यक है आत्मसाधना के लिए और इस जीवनके लिए आहार आवश्यक है, तो यो उपेक्षाबुद्धिसे आहार ग्रहण करते हैं, उनको रसत्याग करना बहुत आसान है। क्योंकि उनको भोजनमे व्यामोह नही, आसक्ति नही। ५ वाँ बाह्य तप है विविक्त शय्यासन। एकान्त स्थानमें सोना, बैठना यह है विविक्त शय्यासन, ऐसे एकान्तवाससे आत्मध्यानमें कोई बाधा नहीं आती है। इस कारण विविक्त शय्यासन नामक तप साधुजनोंको लाभकारी होता है। छठवाँ बाह्य तप है कायक्लेश। अनेक प्रकारके आचरणोसे कायक्लेश भी होवे तो वहाँ भी समताभाव ही रखा जाता है। वह है कायक्लेश तप। जैसे भोजनमें सिर्फ जल लेना या चावल ही लेना या अन्य प्रकारके नियम, गर्मीमे पर्वतपर खडे होकर तप करना रात्रिभर प्रतिमायोग धारण करना ये सब बाह्य तप कहलाते हैं। इन बाह्य तपोके करनेसे क्या फायदा होता है? कर्मोंका क्षय, इन्द्रियसे उपेक्षा सयमभाव, रागका नाश, ध्यान, जगतसे हटना, ब्रह्मचर्यका पालन होना, दुःख सहन करनेका अभ्यास, होना सुखमें आशक्त न होना, जैनशासनकी प्रभावना होना यह सब उसका फल है। तो यहां मुनिवरोंको आदेश उपदेश किया जा रहा है कि हे मुनिजनो! तपश्चरणको करके मन, वचन, कायको वश करो।

(१८५) आभ्यन्तर तपोंका निर्देश—आभ्यंतर तप ६ होते हैं। आभ्यतर तपके मायने हैं भीतरी तप। जो अन्य मतावलम्बी न कर सके, अपने ही सम्वेदनसे जिनका अनुभव हो, बाह्य पदार्थकी उसमे अपेक्षा नही रहती इसलिए ऐसा तप अन्तरंग तप कहलाता है। वे भी ६ प्रकारके हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान। सबका लक्षण बतायेंगे, ये सब तप कहलाते हैं। जिससे इस चेतना का विकास हो, ज्ञानस्वभावके उपयोगकी स्थिरता हो ऐसा यह सब तप है।

(१८६) आलोचना नामके अभ्यन्तर तपका निर्देश—प्रथम अतरङ्ग तप है प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्तके ९ भेद हैं—(१) आलोचना (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय (४) विवेक (५) व्युत्सर्ग (६) तप, (७) छेद (८) परिहार और (९) उपस्थापना। आलोचना कहते हैं

निर्दोष विधिसे अपने किए हुए पापोको बता देना। शिष्य गुरुवोको अपने पाप बताता है ताकि वह पाप आगे न बने और किए हुए पापोकी शुद्धि हो जाय। पाप जब किया, तब हो गया, मगर उस पापको प्रकट कर दे तो उससे उस दोषकी निवृत्ति हो जाती है। तो गुरुवोंके सम्मुख अपने किए हुए पापोको बताना, निवेदन करना यह आलोचना तप है। आलोचना ऐसी निर्दोष विधिसे हो कि जहां किसी प्रकारकी मायाचारी न बने, तो ऐसी आलोचना करने से किए हुए पाप, दोष दूर हो जाते हैं। यहां भी तो देखो—अगर लडका सच बोल दे अपराध करके भी तो पिता इसे दण्ड नही देता, गुरु उसे दण्ड नही देते या साधारण दण्ड देते हैं, क्योंकि उसका अभिभावक जानता है कि इसके हृदयमे निर्मलता है। इसने अपना अपराध नहीं छुपाया, झूठ नही बोला और सत्य बखान कर दिया तो ऐसे, ही शिष्य गुरुवोंके समक्ष बहुत निर्दोष रीतिसे अपने किए हुए दोषोका निवेदन करता है।

(१८७) आलोचनाके आकम्पित अनुमानित व दृष्ट दोष—वे दोष कौनसे हैं जो आलोचनाको सदोष बनाते हैं। ऐसे दोष १० प्रकारके होते हैं। जैसे आकम्पित। दोष निवेदन करने तो चले, पर गुरुके सम्मुख दोष प्रकट करनेसे पहले यह यह मनमे भय आ गया कि मेरे दोषोको सुनकर कही आचार्य अधिक दण्ड न दे दें अथवा ऐसी मुद्रा बनाकर अपने दोष बताना कि जिससे गुरु महाराजको दया आये और अधिक दण्ड न दें इस प्रकारका मनमे भाव रखकर अपने दोष बताना यह आलोचनाका आकम्पित दोष है। दूसरा है अनुमानित दोष। दूसरेने अनुमान कर लिया कि इसने दोष किया है ऐसा कुछ उसके मनमे आया तब उस पापका निवेदन करता है अन्यथा तो स्वच्छद है। पाप होते जाते हैं। क्या निवेदन करना ? ऐसा ही दूसरोका दोष था उसको यह दड दिया था वही कुछ कर लेना, निवेदन ही न करना तो वह उसका दोष है। तीसरा दृष्ट दोष है कि अगर किसी अन्यने कोई दोष देख लिया तो उसकी तो आलोचना करना और जिस दोषको कोई देख न सके उसकी आलोचना न करना, इस प्रकारका जो अपना भाव रखता है उसकी आलोचनामे दोष है। शिष्यजन गुरुको अपना सर्वस्व समझते हैं और अपने दोष गुरुसे निवेदन करनेमे उनको जरा भी हिचक नही होती, क्योकि वे जानते है कि इनकी शरणमे रहकर मैं मोक्षमार्गमे लग रहा हू, तो ये तो मेरे सर्वस्व हैं। इनको रंच भी दोष न छुपाना चाहिए।

(१८८) बादर, सूक्ष्म, छन्न व शब्दाकुल नामके आलोचनादोष—आलोचनाका चोथा दोष है कि मोटे दोषकी तो आलोचना कर लेना और छोटे दोषको छुपा लेना। छोटे बडे सभी प्रकारके दोष बनते हैं, सूक्ष्म और स्थूल, तो उनमेसे मोटे दोषकी तो आलोचना कर देना और सूक्ष्म दोष छुपा लेना यह आलोचनाका दोष है। ५ वां दोष है सूक्ष्मदोष याने सूक्ष्म दोषकी

तो आलोचना करना और मोटे दोषको छिपाना। ऐसा छिपाने वाला शिष्य क्या सोचता है कि आचार्य महाराज समझ जायें कि जब यह इतने इतने छोटे छोटे सूक्ष्म दोषोंको बताता है तो यह मोटे दोष तो करता ही न होगा ऐसा गुरु जान जायें ऐसा आशय उसके रहता है। ऐसे ही मोटे दोषको बोले, सूक्ष्म दोषको छुपाये तो उसमें यह भावना रहती है कि गुरु महाराज यह जान जायेंगे कि जब यह बड़े बड़े दोष कह डालता है तो सूक्ष्मदोष क्यों छुपायगा ? तो ऐसे आशय सहित आलोचना करना दोष है। छठा दोष है छन्न दोष याने आचार्यके आगे दोषोंको स्वयं प्रकट न करना, अन्य ढगसे निवेदन करा देना, किन्हीं बचनोंसे दूसरेका कह दे यह खुद छिपाले, इस दोषको छन्न दोष कहते हैं। ७ वाँ दोष है कि किसी समय गुरु महाराज से बहुतसे शिष्य अपने दोष बता रहे हों सो बहुत शब्दोका कोलाहल हो रहा है, उस कोलाहल के समय अपने भी दोष बचनसे कह दे, अधिक न सुनें, उसीसे अपनेमें संतोष कर लिया तो वह दोष है। आचार्य तो उसकी धर्मसाधनाके सब कुछ सहायक हैं। अगर उनसे दोष छिपाया तो यह तो और भी बडा अपराध हुआ। दोष किया यह भी अपराध और छिपाया यह उससे भी बडा अपराध। अब आगे वह कैसे अपने मार्गमें चल सकेगा ?

(१८९) **बहुजन, अव्यक्त व तत्सेवी नामके आलोचनादोष**—८ वाँ दोष है कि कोई पाक्षिक आदिक प्रतिक्रमणके समय होते हैं, जैसे १५ दिनके लिए हुए दोषका १५वें दिन निवेदन करना, चातुर्मास भरमे किए हुए दोषोंका चातुर्मास समाप्तिके दिन निवेदन करना। तो ऐसे समयमे सभी साधु अपने दोष प्रकट करते हैं, उसी बीचमें अपना भी दोष प्रकट कर दिया। याने दोष प्रकट करनेका महत्त्व न दिया, यह भी आलोचनाका दोष है। ९ वाँ दोष है अव्यक्त दोष याने बिल्कुल स्पष्ट दोष न बताना, किन्तु इस तरहसे कहना कि हे भगवान यदि किसीसे ऐसा अपराध हो गया हो तो उसका क्या प्रायश्चित्त होता है, इस प्रकार अव्यक्त रूपसे अपराध प्रकट करना और जो कहा वह प्रायश्चित्त लेना, प्रायश्चित्त तो लिया किन्तु परिणामो मे यह मलिनता थी कि आचार्यदेव यह न जान जायें कि यह दोष इसने किया। १० वाँ दोष है तत्सेवी दोष जो अपराध किया गया है उस अपराधको कैसे गुरुसे सुनायें, उसके लिए यों कूकना कि जो गुरु ऐसा ही अपराध किया करते हो उन्हें अपराध सुनाना ताकि वे कोई विशेष दड न दे सकें अथवा गुरुके सम्मुख जो दोष प्रकट किया है अथवा उसका प्रायश्चित्त लिया है उसी अपराधको व प्रायश्चित्तको बारबार करना ये सब आलोचनाके दोष हैं।

(१९०) **आलोचना तपका विधान और उसका फल**—निर्दोष आलोचना करना यह आलोचना नामका प्रायश्चित्त तप कहलाता है। पुरुष तो गुरुसे आलोचना कर लेता, उसका काम तो केवल दो ही में बन गया, मगर स्त्री, आर्यिका या क्षुल्लिका कृत अपराध गुरुसे निवे-

चन करे तो वहाँ तीन व्यक्ति होने चाहिएँ। केवल एकान्तमे गुरुसे ही आलोचना करनेका स्त्रियोंको विधान नही है। आलोचना तप भी एक ऐसा महान् तप है कि निर्दोष आलोचना किये बिना कोई बडा तपश्चरण भी करे तो भी वह फलदायक नही होता। अपने दोष अपने मुखसे गुरुको निवेदन कर दे इसमे बहुत निर्मलता चाहिए। आलोचनाका अर्थ है आ मायने सर्व प्रकारसे लोचना मायने दोषको दिखा देना। अपने दोषका भले प्रकार निवेदन करना यह आलोचना दोष है। मुनिको आत्महितकी बहुत तीव्र भावना है जिसके कारण दोषनिवेदनमें जरा भी हिचक नहीं होती। ससारके मनुष्योको तो जो आत्महितके विशेष इच्छुक नही हैं, अपने दोष अपने मुखसे कहनेमे हिचक आती। कोई यह न जान जाय कि यह दोषी पुरुष है, किन्तु भावश्रमण मुनि इस बातका हर्ष मानता है कि मैं अपने दोष सरल रीतिसे ज्योका त्यो गुरुको सुना दू तो मेरा आत्मा पवित्र हो जायगा। उसके केवल आत्मकल्याकी भावना बनी हुई है। तो आभ्यतर तपमें प्रायश्चित नामके तपमे यह आलोचना नामक प्रथम प्रायश्चित तप है। इस तपसे अतरंग परिणामोमे बहुत विशुद्धि जगती है।

(१६१) **प्रतिक्रमणनामक प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति**—बारह प्रकारके तपोमे आभ्यतर तपकी बात कही जा रही है, पहला अन्तरङ्ग तप है प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्तके ६ भेद होते है। जिसके प्रथम भेद आलोचनाका वर्णन किया है, अब द्वितीय भेद है प्रतिक्रमण। प्रायश्चित्त तपसे दोषनिवृत्ति हो जाती है। धर्ममे कोई दोष लग गया हो हिंसा झूठविषयक या रत्नत्रयके अपमान विषयक या अन्य किसी भी प्रकारका तो वह दोष कैसे दूर हो, उसके उपायमे है प्रायश्चित्त तप। आलोचनामें तो बताया गया था कि कोई दोष हो जाय तो गुरुसे ज्योका त्यो निवेदन करदे तो दोष निवृत्त हो जाता है। कई दोष ऐसे होते कि जिनका प्रतिक्रमण करना पडता। प्रतिक्रमण कहते हैं अपने दोषोका उच्चारण कर कर जैसे दोष लगे हो उन सब दोषो का उच्चारण कर करके ये मेरे पाप मिथ्या हो इस प्रकार उन पापोका प्रतिकार करना प्रतिक्रमण कहलाता है। मेरे पाप मिथ्या होवेंका अर्थ है कि जो मुझसे अपराध हुए वे पाप दूर होवें। दूसरा आध्यात्मिक भाव यह है कि जब इस ज्ञानी ने अपने अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि की, जिसमे यह अनुभव बना, निर्णय बना कि मैं हू, ज्ञानस्वरूप हू, अपने स्वरूपसे हू, मेरा काम है ज्ञानकी वृत्तियाँ, याने ज्ञानकी जाननरूप लहर चले, बस इतना ही मेरा स्वाभाविक कार्य है। उसमे विकार नहीं होते। किसी भी चीजमें अपने आपकी ओरसे विकार कभी नही हुआ करते। विकार कहते हैं उसे जो पर उपाधिके सम्बंधसे कुछ उपादानमे विकृतपना आया हो, वह होता है विकार, पर खुद ही निमित्त बन जाय विकारका, ऐसा कही नही होता। तो जब ज्ञानीने अपने अविकार स्वभावको देखा कि मैं ज्ञानमात्र हू और ज्ञानरूप परिणमते रहना

मेरा काम है उसमें दोष कहाँ रखे ? वहाँ कहाँ अपराध है ? वह अपराध तो मिथ्या था अर्थात् उपाधिके सम्बन्धसे था, मेरे स्वरूपमें न था, ऐसा बार-बार देखकर अपने स्वरूपकी भावना बढ़ा रहा है और उस स्वरूपको निरखकर अपने स्वरूपकी भावना बढ़ा रहा है सो यो पाप मिथ्या किया है। तो प्रतिक्रमण तपमें यह ज्ञानी अतीतकालमे लगे हुए दोषोको दूर करता है

(१९२) तदुभय व विवेक नामके प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति—अपराधी शिष्य गुरुसे आलोचना करता है और प्रतिक्रमण भी लेता है तो यह कहलाता है तदुभय तप। प्रायश्चित्त के प्रथम तीन भेद इस प्रकार हैं— १– आलोचना, २– प्रतिक्रमण और ३– तदुभय। कोई दोष आलोचनासे ही दूर हो जाते हैं, कोई दोष प्रतिक्रमणसे ही दूर हो जाते हैं और कुछ कठिन दोष हो तो वे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो ही किए जानेसे दूर होते हैं। चौथा प्रायश्चित्त है विवेक। कदाचित् शुद्ध वस्तु भी हो भोजनपानकी और अशुद्धका संदेह हो जाय कि यह तो अशुद्ध है तो उसका त्याग कर देना अथवा भ्रम हो जाय कि यह तो गलत है तो उसका त्याग कर देना, मुखमे पहुंचे तो त्याग कर देना या जिस-जिस वस्तुके ग्रहण करनेसे रखनेसे कषाय जगती हो, मोह रागद्वेष जगता हो उस सबका त्याग कर देना यह विवेक नाम का तप है। जैसे कोई बहुत ऊँची कीमती कलम है और उससे प्रेम हो गया कि यह मेरी कलम बडी अच्छी है, तो फिर उस कलमको न रखना चाहिए। कोई भी वस्तु जो बहुत सुन्दर लगे और मनको बडी प्रिय लगे ऐसी वस्तु साधुजन नही रखते। उस ही का नाम विवेक नामका तप है, और यदि कोई उसका शौक बढ़ाये, अच्छी ही चीज रखना, बढ़िया बढ़िया ही सारी बातें होना, तो यह उसका अपराध है। उन-उन वस्तुओका त्याग करना जिन वस्तुओके रहनेसे कोई चित्तमें विकार उत्पन्न होता हो, यह है विवेक नामका तप।

(१९३) व्युत्सर्ग, तप, छेद नामक प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति—५वां प्रायश्चित्त है व्युत्सर्ग। एक तो प्रकृत्या ही शरीरसे ममताका त्याग रहे और फिर किसी विशेष पौरुषमे निश्चित समय तक शरीर, वचन, मनका त्याग कर देना याने इनकी प्रवृत्ति रोकना, इनका ख्याल ही न रहे ऐसा अपना ध्यान रखना यह कहलाता है व्युत्सर्ग। छठा प्रायश्चित्त है तप। कोई दोष बननेपर कोई विशेष तपश्चरणमे लगना, आज ऐसा अपराध क्यों हुआ ? मन क्यो चंचल रहा, आज तो धर्मीमें ही बैठकर तप करूँगा आदिक किसी भी प्रकारके कायक्लेश तप करना, यह तप नामका प्रायश्चित्त है। इस प्रकरणमे यह बताया जा रहा है कि कदाचित् अपनेको दोष लगे, अपराध आये, कुछ उपयोग गलत बने तो उससे कैसे निवृत्त होना चाहिए, इन दोषोको कैसे दूर किया जाय, उसका यह सब विधान बताया जा रहा है। ७वाँ प्राय-

श्चित्त है छेद । साधुसे कोई बडी गल्ती हो और वह आलोचना करे अथवा उसकी गल्ती आचार्यको मालूम हो जाय तो उस तपश्चरणका छेद कर देता है । जैसे मानो साधु हुए उसको १० वर्ष हुए तो यह १० वर्षका दीक्षित कहलाता है । कोई उससे अपराध ऐसा बन जाय कि जिसमे छेद नामका प्रायश्चित्त ही देना पडे तो वहां सर्वसंघके बीच आदेश कर दिया कि इसकी दो वर्षकी तपस्या छेदी जाती है याने यह अब ८ वर्षका दीक्षित कहलायगा । यह भी एक दोषनिवृत्तिका उपाय है । इससे दोषोंसे निवृत्ति होती है और दोष आगे न करें, ऐसा उसका भाव बनता है ।

(१६४) **परिहार व उपस्थापना नामके प्रायश्चित्तसे दोषनिवृत्ति एवं प्रायश्चित्त तप की महिमा**—८वां प्रायश्चित्त है परिहार । कोई ऐसा ही विकट अपराध लग गया तो यह आदेश दे दिया कि तुम इतने वर्षको हमारे संगसे जुदे हो जावो या तुम बिल्कुल ही हट जावो । तो यो संगसे कुछ समयको या सदाको निकाल दिया, यह परिहार नामका तप हैं । ९वां तप है उपस्थापन । कोई बहुत ही कठिन अपराध बन जाता है, जैसे मान लो कि कोई कुशील करे या अन्य कोई पाप किया तो उसकी सारी दीक्षा नष्ट करके फिरसे नई दीक्षा दी जाती है तो उसका नाम है उपस्थापना । इस प्रकार ९ तरहके प्रायश्चित्त होते हैं । प्रायश्चित्त तप की भी बहुत महिमा है, किसी अपराधके होनेपर यदि विशिष्ट प्रायश्चित्त बने, भीतर मनमे उसके प्रति अत्यन्त ग्लानि जगे तो ऐसी स्थितिमे वह विशुद्धि जगती है कि उसके ज्ञानादिक का विकास बहुत हो जाता है ।

(१६५) **आलोचनाप्रायश्चितसे ही निवृत्त होने योग्य कुछ अपराधोंका प्रकाशन**—अब यह बतलाते हैं कि ऐसे कौनसे अपराध हैं कि जिन अपराधोकी बुद्धि साधुसे निवेदन कर देनेसे ही दूर हो जाते हैं, उनमेंसे कुछ दोष बतलाते हैं । जैसे आचार्यसे पूछे बिना कोई तप विशेष धारण कर लेना या आतापन आदिक योग धारण करना, कार्य तो अच्छा ही किया, कोई तपश्चरणमे बढ गया, पर जिस संगमे रहता है, जिसकी छत्र छायामे धर्मसेवन करता है, उससे ऐसे बडे कार्यके करनेकी बात पूछ लेना चाहिए थी, पूछा ही नही और किया आतापनयोग आदिक तो इस अपराधकी शुद्धि आलोचनासे हो जाती है, गुरुसे निवेदन किया कि महाराज मैंने यह योग धारण कर लिया तो वह आलोचना कहलाती है । जहाँ बहुत से साधुजन रहते हैं तो अक्सर ऐसा हो ही जाता है कि कोई दूसरेका ग्रन्थ उठाकर स्वाध्याय करने लगता, या किसी दूसरेकी पिछी उठाकर झाडने लगे, दूसरेका कोई उपकरण ग्रहण कर लिया, प्रायः ऐसा हो जाता है, पर होना न चाहिए । बिना पूछे पुस्तक पिछी आदिक उपकरणोंको ग्रहण करना, इस अपराधकी शुद्धि आलोचनासे हो जाती है । निवेदन कर दिया,

जैसे समझिये कि अपने कुटुम्ब परिवारमें कुछ काम ऐसे हो जाते हैं कि हो गए, पीछे बता दिया कि मैंने ऐसा काम कर दिया है, जिसके कह देनेसे बात ठीक हो जाती है, पर आप कोई कार्य करें तो पहले पूछना चाहिए और जैसी आज्ञा हो वैसा करना चाहिए, ऐसी ही बात यहाँ है, आचार्य महाराजने कोई बात कही कि इसका तुम पालन करना, तो पालन करता है वह साधु, फिर भी कदाचित् कोई साधु, कोई देख तो रहा नही, ऐसी स्थितिमे प्रमादवश आचार्यके वचनोका पालन न करे कोई छोटी बात बने तो उसकी निवृत्ति आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो आलोचना प्रायश्चित्तमे बडी निर्मलता चाहिए। कोई दोष बन गया और उस दोषका कोई अपने आप प्रायश्चित्त ले ले, तेज भी ले ले, तो वह ले लेना आसान है, मगर गुरुसे बताना कि मुझसे यह अपराध हुआ है, इसमें बडा साहस चाहिए। संघके स्वामीसे पूछे बिना अपने सघसे चला जाना यह भी एक अपराध है और उस की शुद्धि आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। सदाको चला जाना, इसकी बात नही कह रहे, मगर दिनमे ही बिना पूछे किसी यात्राको चल दिया, मदिरोकी वदनाको चल दिया या अन्य किसी जगह व्याख्यानको चल दिया, तो चाहे किया कार्य अच्छा, मगर जिसके साथ रहता है उस गुरुको तो मालूम होना चाहिए कि अमुक शिष्य इस जगह है, अमुक इस जगह। तो पूछे बिना थोडी देरको कही चला जाय तो इस अपराधकी शुद्धि आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। कोई आवश्यक कार्य जो जिस समय जरूरी करने योग्य हैं ऐसे व्रतविशेष और वह न कर पाये, किस कारणसे कि कोई धर्मकथामें अधिक समय लग गया, भूल गया तो इस तरहसे वह करने योग्य कार्योंको भूल जाय और बादमें उसे करे, कुछ समय टालकर किया, ऐसे अपराधकी शुद्धि आलोचना नामक प्रायश्चित्तसे होती है। ऐसे कुछ अपराध आलोचनासे दूर हो जाते हैं।

(१९६) प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तसे निवृत्त होने योग्य कुछ अपराधोंका प्रकाशन— कुछ ऐसे अपराध होते हैं कि जो प्रतिक्रमण प्रायश्चितसे दूर होते हैं। प्रतिक्रमण प्रायश्चित में कुछ नियम करना होता और अतीत दोषका बार बार उच्चारण करके उससे रहित अविकार ज्ञानस्वभावका विशिष्ट ध्यान करना होता है। वह अपराध क्या है? यदि कोई इन्द्रियकी या मन वचनकी कोई कुछ खोटी प्रवृत्ति हो तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है। आचार्य या पढ़ाने वाले गुरुजनोसे अपने पैरका धक्का लग जाय, हाथका धक्का लग जाय तो यह तो एक अविनय हुई, उसका प्रतिक्रमण करना होता है। गुरुजनोंके प्रति विनयभाव रहनेसे विनय करने वाले शिष्यका उत्थान होता है, उसे सन्मार्ग मिलता है, आत्मानुभवकी पात्रता रहती है और जहाँ ऐसा मन खुले कि गुरुवोकी विनयका ध्यान भी न रहे तो ऐसे

स्वच्छंद मनमें आत्मानुभवकी पात्रता नहीं रहती । तो कभी भूलसे या किसी कारण गुरुजनों को अपना हाथ लग जाय या पैर लग जाय तो उसका दोष प्रतिक्रमण करनेसे दूर होता है। जो व्रत, समिति, गुप्ति ग्रहण की है उनमें कोई थोडा अतिचार लगे तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है । कदाचित् किसी की चुगलीकी बात मुखसे निकल जाय या कोई जरा कलह हो जाय तो उसका प्रतिक्रमण करना पडता है । अब जो संगमें रहकर कलह करनेमे अपनी शूरता समझे कि मैंने इसको दबा दिया और चूंकि मैं बडा साधु हू सो यह मुझे करना ही चाहिए था तो यह तो उसकी उद्दण्डता या स्वच्छंदता कहलायगी । अपराध हो जाय और उसको अपराध न माने और कर्तव्य समझ ले तो वह तो अज्ञानता है । अगर कषायके वेग हैं, कोई बात चुगली कलहकी बन गई तो उसको प्रतिक्रमण तप करना पडता है । जो अपना कर्तव्य है, दूसरोकी वैयावृत्य करना, स्वाध्याय करना आदि ऐसे कार्योंमे अगर आलस्य हो तो उस अपराधके दूर करनेका प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करना होता है । आहार चर्या आदिके समय ग्रहण अगमे कभी विकृति आये तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है । कोई साधुकी प्रवृत्ति ऐसी हो कि दूसरेके सक्लेशका कारण बने तो उसका प्रतिक्रमण करना होता है । इसके अति-रिक्त एक नियमित प्रतिक्रमण होता है । दिनका प्रतिक्रमण दिनके अन्तमे होता है जैसा कि साधु शामको प्रतिक्रमण करते हैं । रात्रिका प्रतिक्रमण प्रातः होता है, भोजनका प्रतिक्रमण प्रारम्भमे और अन्तमे भी । गमनका भी प्रतिक्रमण प्रारंभमे और अन्तमें । प्रारभमे तो उसका कोई दोष न लगे, इस भावनाके लिए होता है । उस क्रियामे जो दोष लगे है उनकी निवृत्ति के लिए अन्तमें प्रतिक्रमण होता है ।

(१६७) आलोचना व प्रतिक्रमण तदुभय प्रायश्चित्तसे निवृत्त होने योग्य अपराधोका प्रकाशन—कुछ अपराध ऐसे भी होते कि आलोचना भी करना और प्रतिक्रमण भी करना, दोनो ही किए जाते हैं । जैसे केशलोचकी विधिमे कोई अतिचार लगे या स्वप्नमे कोई स्वप्न आनेसे कुशील सम्बन्धी कोई दोष लगे या स्वप्नमे ही रात्रिको भोजन करना बने ऐसा ही स्वप्न आये कि रात्रिको भोजन कर रहा हू तो ऐसे अपराधमे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो ही प्रायश्चित्त किए जाते हैं । कुछ नियत तदुभय होते हैं, जैसे १५ दिनका प्रतिक्रमण पाक्षिक प्रतिक्रमण कहलाता है तो पाक्षिक प्रतिक्रमणके समय अपने दोषोकी आलोचना और उसका प्रतिक्रमण करना होता है । जैसे वह प्रत्येक दिनके किए हुए अपराधोंका प्रतिक्रमण करता था । वहाँ तदुभय न चाहिए मायने गुरुसे दोषका निवेदन भी करे और प्रतिक्रमण भी करे, ये दो बातें आवश्यक न थी विशेष दोष न होनेपर । किन्तु पाक्षिकादिप्रतिक्रमणोमे दोनों बातें करनी होती हैं । एक माहका प्रतिक्रमण करे तो उसमे भी आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो

ही करने होते हैं। वार्षिक प्रतिक्रमणमें भी, चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें भी दोनों प्रकारके प्रायश्चित्त करने होते हैं।

(१९८) **कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्तसे निवृत्त होने योग्य कुछ अपराधोंका प्रकाशन**—कुछ अपराध ऐसे हुआ करते हैं कि जिनका कायोत्सर्ग करना प्रायश्चित्त है। यद्यपि कायोत्सर्ग नाम केवल ९ बार णमोकार मंत्र पढ़ लेनेको कहा जाता है, कायोत्सर्गमे यह तो होता ही है, पर ऐसा भाव बनायें कि कुछ समयको मन, वचन, कायसे निराले ज्ञानस्वभाव आत्माकी दृष्टि जगे, उसका नाम है कायोत्सर्ग। जैसे कोई केशलोच कर रहा है और उस केशलोचमें ही कुछ बोल आये तो उसे उसी समय कायोत्सर्ग करना चाहिए। कभी ठडके दिनोमे या विशेष जहाँ मच्छर हो उस क्षेत्रमे या तेज आंधी वगैरा चल रही हो उस कालमे, उस संघर्षमे कोई अतिचार लग जाय तो उसका कायोत्सर्ग है। कोई चिकनी भूमिपर जैसे कि तैल अथवा घीसे चिकनी हुई हो उसपर चले या हरे तृणपर चले कोई थोडीसी जगहमे या कीचडपर चलना पडे, घुटनेमात्र या घुटनेसे ऊपरके जलमे प्रवेश करना पडे तो वहाँ तुरन्त कायोत्सर्ग करना होता है। कायोत्सर्गमे नमस्कारमंत्रके ध्यानके बीच ही अविकार ज्ञानस्वभावपर ध्यान पहुचना चाहिए, जिससे कि शरीरका ख्याल भी भूल जाय वह है वास्तविक कायोत्सर्ग। दूसरेके लिए कोई वस्तु रखी हुई हो उसका उपयोग खुद करे, नावसे नदी पार करे तो वहाँ कायोत्सर्गसे शुद्धि होना चाहिए। पुस्तक आदिक नीचे गिर जाय, किसी प्रकार स्थावर जीवका घात हो। जल्दी जल्दीमे बिना देखे किसी स्थानमे शरीरका मल छोड दे, व्याख्यानके प्रारंभमें, व्याख्यान के अन्तमे, इन सब स्थानोमे कायोत्सर्ग करना प्रायश्चित्त है। लघुसख्या, दीर्घसख्याके समय कायोत्सर्ग करना कर्तव्य है, ऐसे कुछ दोष कायोत्सर्गसे शुद्ध हो जाते हैं।

(१९९) **प्रायश्चित्त तप करनेका प्रथम लाभ**—इससे पहले यह बताया गया था कि प्रायश्चित्त नामके तपसे दोषोमे शुद्धि हो जाती है, इसका कुछ विस्तार रूपसे वर्णन था। आज यह बतला रहे हैं कि प्रायश्चित्त तपसे क्या फायदा होता है? प्रायश्चित्त करनेके भाव मे निर्मलता प्रकट होती है। दोष किए थे, उस दोषमे उपयोग लगा था, उस कषायवेगको न सम्हाल सके थे, कुछ बुद्धिमे दोष आ गया था, वह समय तो गुजरा, मगर उसकी याद बराबर इसको सता रही है। क्यो ऐसा दोष आया? अब वह अपने आपमें घुट रहा है। उसका उपयोग बदले और यह ध्यानमें आये कि अब मैं सही हू और आगे मोक्षमार्गमें बढ़ना चाहिए, इसके लिए वह अपनी त्रुटिको गुरुसे निवेदन करता है और गुरु महाराज जो प्रायश्चित्त देते हैं उसे सहर्ष स्वीकार करता है, अब इस प्रक्रियासे वह अपनेको निर्दोष अनुभव कर लेगा। यहाँ एक बात और समझें, शिष्यको गुरुपर पूर्ण विश्वास रहता है। और गुरुके

द्वारा कोई प्रायश्चित्त दिया जानेपर फिर यह शका नही रखता कि मेरे दोष निकले नहीं। गुरुकी आज्ञासे जब हम प्रायश्चित्त ले रहे हैं तो अब उस दोषकी शल्य न रही, अन्यथा यह सिद्ध होता है कि उसका गुरुपर विश्वास ही नही है और ऐसा अविश्वासी बन जाय कोई साधु तो वह अपनी साधनामें कभी सफल नही हो सकता। तो प्रायश्चित्त तप करनेसे प्रथम लाभ तो यह है कि परिणाम निर्मल हो जाता है।

(२००) **प्रायश्चित्त तप करनेके अन्य अनेक लाभ**—दूसरा लाभ यह है कि फिर दोषोंकी संतति नहीं रहती है। दोष किए जा रहे हैं, प्रायश्चित्त लिया नही जा रहा है तो उस दोषको करनेकी आदत बन जाती है और दोष किये जाये इस अनवस्थासे उसका जीवन धर्मसे दूर हो जाता है, तथा प्रायश्चित्त तपके ग्रहण करनेसे उसका यह संकल्प बनता है कि यह दोष अब न किया जायगा। प्रायश्चित्त तपका तो इतना माहात्म्य बताया है कुछ भाइयो ने कि कोई बालसाधु किसी प्रकारके अपराधमे था, मानो कोई हिंसा जैसे भावमे आ गया था, उसके बाद जब उसे ग्लानि हुई और भगवानके समक्ष प्रायश्चित्त ग्रहण किया तो उस समयकी निवृत्तिमे इतनी निर्मलता जगी कि उसका ध्यान बना और उसने सिद्धि पायी। खैर कुछ भी हो, प्रायश्चित्त लेते ही तुरन्त तो सिद्धि नही होती, मगर ऐसा वातावरण बन जाता है कि अपनेको निर्दोष अनुभव करके ध्यानमें मग्न हो जाता है और यह सिद्धिको प्राप्त करता है, अगर प्रायश्चित्तका विधान न हो तो देशमे, समाजमे, परिवारमें सब जगह अस्थिरता छा जायगी। कोई मार्ग ही न मिल पायगा। प्रायश्चित्त तपसे अस्थिरता दूर होती है, उपयोग स्थिर हो जाता है और शल्य बिल्कुल दूर हो जाती है। यह आत्मा स्वय भगवत्स्वरूप है, अपराध किया, किसीने देखा भी नही, पर अपराध करने वाले इस भगवान आत्माने तो देखा, इसकी निगाहमें तो है कि मेरेसे यह अपराध बना, तब इसे शल्य हो जाता है। उस शल्यके दूर करनेका उपाय है गुरुवोसे दोषोंका निवेदन करना और उनके बताये हुए प्रायश्चित्तको ग्रहण करना। प्रायश्चित्त तपसे आने मार्गमें चलनेकी दृढता उत्पन्न हो जाती है। यो दोषोसे दूर होना और गुणोके विकासमे लगना इस प्रक्रियामे यह प्रायश्चित्त तप बहुत साधक है, आखिर मुनि साधक भी कोई साधना करने वाला ही तो है। कुछ गुण भी उत्पन्न हुए, कुछ दोष भी रह गए, कर्मोंका ऐसा ही उदय चल रहा, तो उसके अपराध होते रहते हैं। उन अपराधोंको दूर करा देनेका साधन यह प्रायश्चित्त नामका आभ्यंतर तप है।

(२०१) **विनयनामक आभ्यन्तर तप**—गाथामें प्रकरण यह चल रहा है कि १२ प्रकारके तपोंका आचरण करने वाला योगी साधु मोक्षमार्गमें प्रगति प्राप्त करता है। उन तपोंमें आभ्यंतर तपका वर्णन चल रहा है और उसमे यह प्रथम प्रायश्चित्त नामका आभ्यंतर

तप कहा गया, अब दूसरा अंतरङ्ग तप है विनय। विनयभाव जीवको ऐसा सुपात्र बना देता है कि उसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आचरण स्फुरित होते हैं। विनय बिना तो कोई इस लोकमे भी सुख शान्तिसे नही रह सकता। कोई अबे तबे कहना हुआ बोले तो उसे कितने धक्के खाने पड़ते हैं, सर्वत्र कष्ट उठाना पड़ता है। फिर यदि ज्ञानपूर्वक विनय हो तो वह अपने मे आध्यात्मिक जागरण भी पाता है। तो जैसे लोकमे सुख शान्तिसे रहनेका साधन विनय है ऐसे ही मोक्षमार्गमे निर्विघ्न रूपसे आगे बढ़कर सिद्धि पानेका आलम्बन विनय तप है। विनय तप चार प्रकारका है। (१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय।

(२०२) **ज्ञानविनयका तपश्चरण**—इस आत्माको पवित्र शान्त होनेके लिए क्या कर्तव्य है कि यह अपनेको ज्ञानस्वरूप ही जानकर अपने ज्ञानको इस ज्ञानस्वरूपमें लगाये। मैं ज्ञान ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप सिवाय मैं अन्य कुछ नही हू, ज्ञानस्वरूपकी आराधना मोक्ष मार्ग है। तब इस ज्ञानभावके प्रति जिसके विनय होगा वही ज्ञानमे लीन हो सकेगा। यह ज्ञानभाव हितकारी है, यह ज्ञानभाव ही शरण है ऐसा जिसके भाव है वह ज्ञानकी ओर ही आकर्षित होगा, यही वास्तविक ज्ञानविनय है, साथ ही ज्ञानका प्रयोग करना, ज्ञान शिक्षाका लेना, देश, काल, शुद्धि पूर्वक ध्यान करना, ध्यानमे आलस्य न करना, ज्ञान व ज्ञानी प्रति बडा सम्मान रखना, ज्ञानस्वरूपका स्मरण बनाये रखना यह सब ज्ञानविनय है। जो जिसका रुचिया होता है वह उसके प्रति विनयभाव अवश्य रखता है। चाहे उसके विनयके ढंग कुछ भी हो, मगर भीतर उसके प्रति आदर हुए बिना उसकी रुचि कैसे कही जा सकती है।

(२०३) **दर्शनविनयका तपश्चरण**—दूसरा विनय तप है श्रद्धाविनय। पदार्थका जैसा स्वरूप है उसका सही श्रद्धान बनानेमे तृप्त होना श्रद्धाविनय है। यहाँ प्राय सभी मनुष्य अपनेको दुखी अनुभव करते है। चाहे कैसी भी स्थिति हो, कषायभाव ऐसा है कि यह उस स्थितिमे भी अपनेको दुःखी मानता है, क्योंकि उसके तृष्णा लगी ना। किसीको पदकी तृष्णा किसीको धनकी तृष्णा, किसीको अन्य प्रकारकी तृष्णा। उस तृष्णाके कारण यह जीव सदा व्याकुल रहता है। इस दुःखके मूलको कौन मेटेगा ? कोई दूसरा नही मेट सकता, सत्यश्रद्धान मेटेगा, प्रत्येक पदार्थका क्या स्वरूप है इसका श्रद्धान मेटेगा। यह मैं केवल अपने स्वरूप मात्र हू, जो कुछ कर पाता हूं सो अपने ज्ञानकी वृत्तिको ही कर पाता हू। इस ज्ञानसे ही सुख दुःख भोगता हू। इस ज्ञानमें मलिनता आती है तो मैं पाप भी करता हू। ज्ञानका स्वरूप सही दृष्टिमे रहता है तो धर्म भी करता हू। पर मैं अपने स्वरूपसे बाहर परपदार्थके कुछ भी नहीं कर सकता। बाह्य पदार्थ मेरे स्वरूपमें घुसते नही, मैं अपनेसे निकल कर किसी

द्वारा कोई प्रायश्चित्त दिया जानेपर फिर यह शका नही रखता कि मेरे दोष निकले नहीं। गुरुकी आज्ञासे जब हम प्रायश्चित्त ले रहे हैं तो अब उस दोषकी शल्य न रही, अन्यथा यह सिद्ध होता है कि उसका गुरुपर विश्वास ही नही है और ऐसा अविश्वासी बन जाय कोई साधु तो वह अपनी साधनामे कभी सफल नही हो सकता। तो प्रायश्चित्त तप करनेसे प्रथम लाभ तो यह है कि परिणाम निर्मल हो जाता है।

(२००) प्रायश्चित्त तप करनेके अन्य अनेक लाभ—दूसरा लाभ यह है कि फिर दोषोंकी संतति नहीं रहती है। दोष किए जा रहे हैं, प्रायश्चित्त लिया नही जा रहा है तो उस दोषको करनेकी आदत बन जाती है और दोष किये जाये इस अनवस्थासे उसका जीवन धर्मसे दूर हो जाता है, तथा प्रायश्चित्त तपके ग्रहण करनेसे उसका यह संकल्प बनता है कि यह दोष अब न किया जायगा। प्रायश्चित्त तपका तो इतना माहात्म्य बताया है कुछ भाइयो ने कि कोई बालसाधु किसी प्रकारके अपराधमें था, मानो कोई हिंसा जैसे भावमे आ गया था, उसके बाद जब उसे ग्लानि हुई और भगवानके समक्ष प्रायश्चित्त ग्रहण किया तो उस समयकी निवृत्तिमे इतनी निर्मलता जगी कि उसका ध्यान बना और उसने सिद्धि पायी। खैर कुछ भी हो, प्रायश्चित्त लेते ही तुरन्त तो सिद्धि नही होती, मगर ऐसा वातावरण बन जाता है कि अपनेको निर्दोष अनुभव करके ध्यानमे मग्न हो जाता है और यह सिद्धिको प्राप्त करता है, अगर प्रायश्चित्तका विधान न हो तो देशमें, समाजमे, परिवारमे सब जगह अस्थिरता छा जायगी। कोई मार्ग ही न मिल पायगा। प्रायश्चित्त तपसे अस्थिरता दूर होती है, उपयोग स्थिर हो जाता है और शल्य बिल्कुल दूर हो जाती है। यह आत्मा स्वय भगवत्स्वरूप है, अपराध किया, किसीने देखा भी नही, पर अपराध करने वाले इस भगवान आत्माने तो देखा, इसकी निगाहमे तो है कि मेरेसे यह अपराध बना, तब इसे शल्य हो जाता है। उस शल्यके दूर करनेका उपाय है गुरुवोसे दोषोंका निवेदन करना और उनके बताये हुए प्रायश्चित्तको ग्रहण करना। प्रायश्चित्त तपसे अपने मार्गमे चलनेकी दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। यो दोषोसे दूर होना और गुणोके विकासमें लगना इस प्रक्रियामें यह प्रायश्चित्त तप बहुत साधक है, आखिर मुनि साधक भी कोई साधना करने वाला ही तो है। कुछ गुण भी उत्पन्न हुए, कुछ दोष भी रह गए, कर्मोंका ऐसा ही उदय चल रहा, तो उसके अपराध होते रहते है। उन अपराधोंको दूर करा देनेका साधन यह प्रायश्चित्त नामका आभ्यंतर तप है।

(२०१) विनयनामक आभ्यन्तर तप—गाथामें प्रकरण यह चल रहा है कि १२ प्रकारके तपोंका आचरण करने वाला योगी साधु मोक्षमार्गमें प्रगति प्राप्त करता है। उन तपोंमें आभ्यंतर तपका वर्णन चल रहा है और उसमें यह प्रथम प्रायश्चित्त नामका आभ्यंतर

तप कहा गया, अब दूसरा अंतरङ्ग तप है विनय । विनयभाव जीवको ऐसा सुपात्र बना देता है कि उसमे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आचरण स्फुरित होते हैं। विनय बिना तो कोई इस लोकमें भी सुख शान्तिसे नही रह सकता। कोई अबे तबे कहता हुआ बोले तो उसे कितने धक्के खाने पड़ते हैं, सर्वत्र कष्ट उठाना पड़ता है। फिर यदि ज्ञानपूर्वक विनय हो तो वह अपने मे आध्यात्मिक जागरण भी पाता है। तो जैसे लोकमे सुख शान्तिसे रहनेका साधन विनय है ऐसे ही मोक्षमार्गमे निर्विघ्न रूपसे आगे बढ़कर सिद्धि पानेका आलम्बन विनय तप है। विनय तप चार प्रकारका है। (१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय।

(२०२) **ज्ञानविनयका तपश्चरण**—इस आत्माको पवित्र शान्त होनेके लिए क्या कर्तव्य है कि यह अपनेको ज्ञानस्वरूप ही जानकर अपने ज्ञानको इस ज्ञानस्वरूपमें लगाये। मैं ज्ञान ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप सिवाय मैं अन्य कुछ नही हू, ज्ञानस्वरूपकी आराधना मोक्ष-मार्ग है। तब इस ज्ञानभावके प्रति जिसके विनय होगा वही ज्ञानमे लीन हो सकेगा। यह ज्ञानभाव हितकारी है, यह ज्ञानभाव ही शरण है ऐसा जिसके भाव है वह ज्ञानकी ओर ही आकर्षित होगा, यही वास्तविक ज्ञानविनय है, साथ ही ज्ञानका प्रयोग करना, ज्ञान शिक्षाका लेना, देश, काल, शुद्धि पूर्वक ध्यान करना, ध्यानमे आलस्य न करना, ज्ञान व ज्ञानी प्रति बडा सम्मान रखना, ज्ञानस्वरूपका स्मरण बनाये रखना यह सब ज्ञानविनय है। जो जिसका रुचिया होता है वह उसके प्रति विनयभाव अवश्य रखता है। चाहे उसके विनयके ढग कुछ भी हो, मगर भीतर उसके प्रति आदर हुए बिना उसकी रुचि कैसे कही जा सकती है।

(२०३) **दर्शनविनयका तपश्चरण**—दूसरा विनय तप है श्रद्धाविनय। पदार्थका जैसा स्वरूप है उसका सही श्रद्धान बनानेमे तृप्त होना श्रद्धाविनय है। यहाँ प्राय. सभी मनुष्य अपनेको दु खी अनुभव करते हैं। चाहे कैसी भी स्थिति हो, कषायभाव ऐसा है कि यह उस स्थितिमे भी अपनेको दुःखी मानता है, क्योंकि उसके तृष्णा लगी ना। किसीको पदकी तृष्णा किसीको धनकी तृष्णा, किसीको अन्य प्रकारकी तृष्णा। उस तृष्णाके कारण यह जीव सदा व्याकुल रहता है। इस दुःखके मूलको कौन मेटेगा ? कोई दूसरा नही मेट सकता, सत्यश्रद्धान मेटेगा, प्रत्येक पदार्थका क्या स्वरूप है इसका श्रद्धान मेटेगा। यह मैं केवल अपने स्वरूप मात्र हूं, जो कुछ कर पाता हूं सो अपने ज्ञानकी वृत्तिको ही कर पाता हू। इस ज्ञानसे ही सुख दुःख भोगता हू। इस ज्ञानमे मलिनता आती है तो मैं पाप भी करता हू। ज्ञानका स्वरूप सही दृष्टिमे रहता है तो धर्म भी करता हू। पर मैं अपने स्वरूपसे बाहर परपदार्थमें कुछ भी नहीं कर सकता। बाह्य पदार्थ मेरे स्वरूपमें घुसते नहीं, मैं अपनेसे निकल कर किसी

बाहरी पदार्थमें प्रवेश करता नहीं, मेरेमें किसी दूसरेका दखल नहीं, किसी दूसरेमें मेरा दखल नहीं। मैं अपनेमें अपना ज्ञान, अपना विचार अपनी कल्पना बनाकर अपने आपको बनाता रहता हूं। ऐसी जिसकी सत्य श्रद्धा है वह किसी भी परिस्थितिमे अधीर नही हो सकता और इसी श्रद्धानके बलसे मैं अपने स्वरूपमें मग्न होता हू। तो अष्ट अंगसहित सम्यग्दर्शनके प्रति भक्ति आदर बनाना यह दर्शनविनय है।

(२०४) चारित्रविनय व उपचारविनयका तपश्चरण—चारित्रविनय, चारित्र कहते हैं आचरणको। तो वास्तविक आचरण क्या ? मैं आत्मा हू ज्ञानस्वरूप। ज्ञानको ही करता रहूं। अन्य कुछ रागद्वेष न करू॑। यह ही कहलाता है चारित्र। इस चारित्र परिणाममें विनयभाव आना कि यही मेरा शरण है, यही मेरा हितकारी है, यही मोक्षमें पहुचाने वाला है, इस प्रकारके विनयभावको चारित्रविनय कहते हैं। चारित्रविनय वाला बडे प्रेमसे, अनुराग से अपने सदाचारमे प्रवृत्ति करता है। चौथा विनय तप है उपचार विनय। जो अपने गुरु जन हैं उनको देखकर खडे हो जाना, उनकी वंदना करना, वे जब जाने लगें तो उनके पीछे चलकर पहुचा देना, कभी स्मरण आये तो परोक्षमे भी हाथ जोतना, गुरुजनोका गुणगान करना, और जो गुरुजनोने बताया सो उस आज्ञाका मन, वचन, कायसे पालन करना यह सब उपचार विनय है।

(२०५) विनय तपश्चरणका प्रभाव—विनयसे पात्रता जगती है। विनयसे ज्ञान जगता है। नीतिकार भी कहते हैं कि विनयसे पात्रता बनती है, विनयसे ज्ञान बढता है, विनय से आत्मलाभ होता है। जैसे किसी कक्षामे बीसो बच्चे पढ रहे हैं तो आपने प्राय देखा होगा कि जो बच्चा गुरुके प्रति विनयभाव रखकर सुनता है उसको विद्या जल्दी आती है और कोई ऐंठसे सुनें, तो वह शिक्षा हृदयमे नही उतरती। विनयसे आचरण सही बनता है। जिसमे विनय नहीं रही उसका सुधार नहीं हो सकता। एक कथानक है कि एक सेठका लडका कोई वेश्यागामी हो गया था, उस सेठके किसी मित्रने कई बार कहा कि तुम्हारा लडका व्यसनी हो गया, तो सेठ बार-बार यही कहे कि अभी हमारा लडका बिगडा नही है, तो मित्र बोला—यह क्या बात कहते हो, चलो हमारे साथ, हम तुम्हे उसे उस वेश्याके घर ले जाकर दिखायेंगे, आखिर सेठ पहुचा उस वेश्याके घर ले जाकर दिखायेंगे, आखिर सेठ पहुचा उस वेश्या के घर, तो अपने लड़केको उसके घरमे पाया, मगर लडकेने सेठको देखते ही अपना सिर नीचा करके अपने हाथसे अपनी आँखें मूद ली, वह शर्मके मारे गड गया। खैर सेठ तो उसे देखकर वापिस लौट आया और अपने मित्रसे कहा कि अभी हमारा लडका बिगडा नही है, क्योकि उसको अभी मेरी आन है, मेरे प्रति विनय है। आखिर बादमे वह लडका भी पहुंचा और

सेठके पैरोंमें गिरकर माफी माँगते हुए कहा कि पिताजी आजसे अब मैं वेश्याके घर न आऊँगा। तो सेठ बोला—बेटे अभी तुम बिगड़े नहीं हो, तुम तो बड़े भले हो। तो यहाँ विनय की बात कह रहे हैं कि ऐसी अनेक घटनायें होती हैं कि विनयके कारण जीव कुमार्गसे सन्मार्ग में लग जाता है। इस विनय तपका फल है परिणामोंमें शुद्धि, मन, वचन, कायकी शुद्धि। जिसके विनयभाव है उसका मन कितना सुन्दर विचार रखता है, उसके वचन कितने प्रिय निकलते हैं, शरीरकी कितनी मनोज्ञ चेष्टायें होती हैं। यह सब विनय तपका फल है, और वास्तविक फल तो यह है कि वह अपने आत्मस्वरूपकी आराधना कर लेता है। किसी मनुष्य के प्रति कोई पुरुष अन्याय करे, अविनयसे बोले, शान घमंडके साथ बोले तो उसके संस्कारसे वह बहुत समय तक मलिन रहता है और यदि कुछ सद्बुद्धि हुई तो वह प्रायश्चित्त करता है कि क्यों मुझसे ऐसा अनर्थ हुआ? और यदि सद्व्यवहारसे, विनयसे लोकमें रहता है तो उसकी निर्विघ्न आराधना बनती है। ज्यों ही दृष्टि दी, अपने आपमें अपने स्वरूपकी प्राप्ति हुई। तो यह विनय नामका तप एक अंतरंग तप है, इसके बिना जीवनमें शोभा नहीं, आत्मा में विकास नहीं।

(२०६) वैयावृत्त्य नामक तृतीय आभ्यन्तर तप—तीसरा अंतरंग तप है वैयावृत्य। यह कार्य ऐसा है कि जिससे मानवता बढ़ती है, आत्मप्रगति बनती है साधुसेवा करनेसे। यों तो सभीकी ही सेवा करना चाहिए। कोई दीन दुःखी हो, यह जानकर कि यह भी मेरा जैसा जीव है, इसका दुःख कैसे दूर हो, सभीकी सेवा की जाती है और मोक्षमार्गके प्रकरणमें यहाँ १० प्रकारका वैयावृत्य बतला रहे हैं। आचार्यकी वैयावृत्ति—जो संघके नायक हैं वे आचार्य कहलाते हैं। उपाध्यायवैयावृत्य—जिनका शिक्षामें ही मन लगा रहता है वे उपाध्याय कहलाते हैं। तपस्वियोंकी वैयावृत्ति जो बड़े बड़े उपवास करते हैं उन तपस्वियोंकी सेवा करना उनकी वैयावृत्ति है। शिष्योंकी वैयावृत्ति—जो शिष्यजन शास्त्र सीखते हैं उनकी वैयावृत्ति है। रोगियोंकी वैयावृत्ति जो रोगसे कष्ट मान रहे हैं उनकी सेवा करना, वृद्ध मुनिजन हों उनकी सेवा वैयावृत्ति करना। वृद्धता स्वयं एक रोग है। तो ऐसे वृद्धकी सेवा, दीक्षा देने वाले आचार्य के संघकी सेवा करना, अनेक ऋषिजन या श्रावक, मुनि, अर्जिका आदिककी सेवा करना वैयावृत्य है। जो बहुत समयसे दीक्षित मुनि हैं उनकी सेवा और जो मनोज्ञ हैं, विद्वताके कारण सर्व प्रिय हैं, वक्तृत्व कलाका आदिकके कारण जो लोकप्रिय हैं ऐसे मनोज्ञ साधु अथवा किसी सम्यग्दृष्टिकी वैयावृत्ति करना यह सब तप है। और सेवा क्या? कभी रोग हुआ तो उसकी औषधि कराना, कोई परीषह आ जाय तो उस समय उनके उपद्रवको दूर करना, योग्य स्थान में ठहराना, उन्हें ज्ञानके उपकरण देना, किसी कारणसे वे धर्मसे डगमगा रहे हों तो सद्वचनों

से या अनेक उपायोंसे उसे धर्ममे स्थिर करना, यह उनकी सेवा है। जो सेवाभावी पुरुष है वह, उस सेवाका एक अलौकिक आनन्द तुरन्त लेता है। एक बात और जानना। जैसे जो कोई दीन दुःखी जीवोंकी सेवामे समय लगा रहा है तो उसका परिणाम खोटा नहीं होता। उसके परिणाम नियमसे विशुद्ध होंगे और सेवा छोड़कर मौजमें रहे, आलस्यमें रहे तो उसके परिणामोंमें गिरावट आ जाती है। सेवाके समयमें परिणामोंमे गिरावट नहीं होती, इसी कारण यह वैयावृत्य तप है। सेवाके करनेसे चित्त सावधान रहता है, शरीर भी स्वस्थ रहता है, मन, वचन, काय भी सही रहता है इस कारण वैयावृत्य करना कल्याणार्थीका कर्तव्य है।

(२०७) स्वाध्यायनामक चतुर्थ आभ्यन्तर तप—अब चौथा अंतरग तप है स्वाध्याय। जिसके ५ भेद हैं—(१) वांचना-ग्रंथोंको पढ़ना, जितना समझमे आये उसका अर्थ ग्रहण करना। (२) प्रच्छना—अपनेको सशय हो तो बड़े विनयसे प्रश्न रखना, उसका समाधान लेना यह भी एक स्वाध्याय है। यदि कोई अभिमानवश कोई बात पूछे कि इनसे उत्तर न देते बने और मैं सबकी दृष्टिमें यह समझा जाऊँ कि यह कितना समझदार हैं, वह स्वाध्याय नही कहलाता है। प्रश्न करना भी स्वाध्याय है। यदि अपने तत्त्वको दृढ़ करनेके भावसे पूछता है, पूछते समय अपनी प्रससाका भाव न हो, दूसरेका उपहास न करे, केवल सत्य सत्य ज्ञानमे आये, मेरा हित हो इस भावसे पूछना स्वाध्याय है। अनुप्रेक्षा जिस पदार्थको जाना है उसका बड़ा मनोयोग पूर्वक अभ्यास बनना, बार बार उसका विचार करना यह अनुप्रेक्षा है। चौथा स्वाध्याय है आम्नाय, ग्रन्थोका पाठ करना। समाधितन्त्र जैसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनका अर्थ समझते हुए पाठ करना। इसमे आत्माका स्पर्श होता है। बाह्य विकल्प दूर होते हैं। यह सब शास्त्र स्वाध्याय कर्म निर्जराका कारण है। ५वाँ स्वाध्याय है धर्मोपदेश देना, यह कब स्वाध्याय है? जब कि उपदेश देने वालेका यह आशय हो कि मैं उन वचनोंको स्वय सुनकर अपने आत्माका उद्धार करूँ। और जिन आगमके वचनोंको सुनकर श्रोता भी अपने आपमे अपना लाभ उठायें। यदि अन्य विचार हों कि मैं इस लोकमें महिमा पाऊँ, मेरा यश बढ़े तो वह सब मिथ्यात्वसम्बधित भाव है। ऐसे ये ५ प्रकारके स्वाध्याय हैं।

(२०८) स्वाध्यायका लक्ष्य और प्रभाव—स्वका अध्ययन करना स्वाध्याय है। प्रत्येक विषय पढ़कर उसको अपने आत्मापर घटित करना। अगर आत्मापर घटित न किया, अपनेको न समझा तो सब कुछ पढ़ लिखकर भी, बड़े उपदेश देकर भी स्वाध्याय नहीं बनता। इस स्वाध्यायका क्या फल होता है? उससे बुद्धि प्रखर होती है। यदि बहुत कुछ याद करके भी उसका अभ्यास न रहा तो वह सब विस्मृत हो जाता है। स्वाध्याय करनेसे अपने मार्गका सही दृढ़ शुद्ध निश्चय होता है कि मुझे यही करना है, आत्माको जानना है आत्मस्वरूपका

अनुभव करना है, यही मेरी दुनिया है। यह ही परलोक है, यही मेरेको शरण है। स्वाध्याय से अपने आत्माके कार्योंमें पूरा निश्चय होता है, आगम परम्परा भी रहती है, संशय भी नष्ट हो जाता है और मुख्य बात तो यह है कि स्वाध्याय करनेसे सम्वेग भाव बढ़ता है। संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य होता है। यह स्वाध्यायका उत्तम फल है। सज्जन पुरुष ही वे कहलाते हैं जो संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हैं और आत्मकल्याणके अभिलाषी हैं। ऐसे सम्वेग-पनेकी वृद्धि इस स्वाध्यायतपसे होती है। कोई अतिचार लगे हों, कोई अपने आपमें निर्बलता आयी हो तो ऐसी निर्बलतायें भी स्वाध्यायसे दूर हो जाती हैं। इस कारण स्वाध्याय नामक तप आत्मकल्याणार्थीका परम कर्तव्य है। तभी तो "स्वाध्यायः परमं तप." यह प्रसिद्ध हुआ है।

(२०६) **व्युत्सर्ग नामक पञ्चम आभ्यन्तर तप और उसका प्रभाव**—अब व्युत्सर्ग तपको निरखिये। व्युत्सर्गका अर्थ है नियतकाल तक या आजीवन उपाधिका अर्थात् शरीरम-मत्वका तथा अन्य विकारहेतुभूत बाह्यपदार्थोंका त्याग करना। जैसे बाह्यक्षेत्रमें स्थित अनेक पदार्थ प्रकट भिन्न पडे है ऐसे ही स्वरूपदृष्टिबलसे अपने जीवके वर्तमान बाह्य आलय स्वरूप इस देहको प्रकट भिन्न समझ लेना और उसमें रच भी ममत्व न होना प्रभावक महत्त्वपूर्ण तप-श्चरण है। देहममत्वत्याग तो उपलक्षण है, कर्मविपाकोदयनिमित्तक राग द्वेषादि विकारोको भी परभाव जानना और उनसे उपेक्षा करना इस व्युत्सर्ग नामक तपका आन्तरिक तथ्य है। व्युत्सर्ग तपसे निष्परिग्रहताका अभ्युदय होता है। जिसके राग द्वेषादि भावोंका भी परिग्रह नही है उसके अन्य परिग्रहकी वार्ता तो होगी ही क्या ? व्युत्सर्ग तपश्चरण करने वाले ज्ञानी सतोको अन्यपदार्थविषयक आशाकी बात तो दूर ही रहो, उसके तो अपने जीवित रहनेकी आशाका भी कलक नही है। व्युत्सर्ग तप समस्त दोषोंका उच्छेद करने वाला है। जिनके व्युत्सर्ग तप निर्बाध चल रहा है वे मोक्षमार्गकी भावनामे तत्पर तो हैं ही, मोक्षमार्गमें भी अलौकिक प्रगति कर रहे हैं। व्युत्सर्ग तपके तपस्वी परमपवित्र पूज्य पुरुष हैं, इनके गुणस्म-रणसे अपने भगवान आत्माके दर्शनकी पात्रता बढ़ती है। व्युत्सर्ग शब्दमें तीन शब्द हैं— वि, उत् सर्ग। सर्ग शब्दका रचना अथवा सृष्टि अर्थ किया जाता है सो उसका अर्थ हुआ विशेष उत्कृष्टरूपसे अपनी रचना करना। समग्र परभावोंके परिहारसे ही आत्माकी उत्कृष्ट ज्ञानानन्दमय स्थिति होती है। सर्ग शब्दका अर्थ परिहार किया जाय तो विशेष उत्कृष्ट त्याग भी यही है कि आत्मा अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें ही उपयुक्त रहे, अन्य किसी भी परभाव मे, रागादि देहादि किसी भी पर तत्त्वमे रच भी उपयुक्त न होवे। इस व्युत्सर्गका महान् फल है शाश्वत सिद्धि व शान्तिका लाभ।

(२१०) सुख दुःख शान्तिका अन्तः साधन ध्यान—हम आप लोगोंको जो सुख दुःख शान्ति प्राप्त होती है वह किसी ध्यानके कारण होती है। ध्यान सुखकी विधि रूपसे बन जाय तो सुख होता है। ध्यान कुछ दुःखकी विधिका बने तो दुःख होता है और कुछ शान्त बने तो उस ध्यानसे शान्ति होती है। तो अब यह विचार करें कि ध्यान क्या कहलाता है, ध्यान किस किस तरहके होते हैं, और उन ध्यानोंका अपने आत्मापर क्या प्रभाव पड़ता है, ध्यान कहते किसे हैं? एकाग्रचिंतानिरोध, एक पदार्थमें ही चिंतन चलना, एकाग्रचित्त होकर चिन्तन चलना इसे कहते हैं ध्यान। अब रागके विषयके चिंतन चलें वह भी ध्यान है, किसी द्वेषके विषयके चिन्तन चलें वह भी ध्यान है। ज्ञानके विषयमे चिन्तन चले वह भी ध्यान, शुद्ध वस्तुस्वरूपका ध्यान चले तो वह भी ध्यान है। ध्यान चार प्रकारका होता है—(१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

(२११) इष्टवियोगज आर्तध्यानका फल क्लेश—आर्तध्यानका मतलब है—जिस ध्यानमे पीडा हो, दुःख हो, क्लेश हो वह ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। आर्त शब्द बना है आर्तौ भव आर्तम् आर्ति याने दुःख। यह आर्तध्यान चार तरहका है—(१) इष्टवियोगज (२) अनिष्ट सयोगज (३) वेदनाप्रभव और (४) निदान। इष्टका वियोग होनेपर जो कुछ इष्टके समागमके लिए बारबार मन चलता है वह ध्यान इष्टवियोगज आर्तध्यान है। इसमे पीडा ही पीडा है। इस जीवका जब यह विचार बना है कि मेरे लिए यह इष्ट पदार्थ है तो उसका वियोग होनेपर अवश्य ही कष्ट होता है और जिस ज्ञानीने यह समझा कि जगतमे बाहरमे कोई भी पदार्थ मेरेको इष्ट नही है, अनिष्ट भी नही, पदार्थ हैं, उनका स्वरूप है, पडे हैं, वे मेरे लिए क्या इष्ट और क्या अनिष्ट और बात भी यही है—पदार्थ स्वय न इष्ट होता, न अनिष्ट होता, किन्तु मोही अपनी कल्पनासे किसी पदार्थको इष्ट मान लेता, किसीको अनिष्ट। घरमे वही एक बालक किसीको इष्ट लग रहा, किसीको अनिष्ट लग रहा, स्वयं वह न इष्ट है न अनिष्ट जैसे जो लोग परिवारमे ममता रखते हैं कि यह परिवार मेरा है, पुत्र मेरा है, तो पुत्र की ओरसे कोई बात ऐसी नही है कि वह इसका हो जाय, इसीने ही कल्पना गढ़ी है और यही मान रहा है कि यह मेरा है, संसारमें और दुःख किस बातका? सही ध्यान बना लें, सही ज्ञान बना लें तो फिर कष्टका कोई काम नही। ये प्राणी खोटे ध्यान बनाते हैं और अपने आपको दुःखी करते हैं। अपने ज्ञानकी दुर्बलतासे यह जीव किसी भी बाह्यपदार्थको अपना इष्ट मान लेता है और इष्ट माने गए उस बालक आदिकी यादमें कष्ट मानता है। तो इष्टवियोगज ध्यानका फल कष्ट ही है। इस कष्टसे जिसे बचना हो वह सही ज्ञान बनाये कि जो चाहे चीज जाय या बिछुडे, वहाँ मेरा क्या है? मेरा मेरे स्वरूपसे बाहर कुछ नहीं है। इष्ट न

माने तो कष्टसे बच जाय । यह इष्ट वियोगज आर्तध्यान बहुधा तो अज्ञानी जीवोंके होता है, पर किञ्चित्‌रूपमें ज्ञानी सम्यग्दृष्टियोंके भी हो जाता है और यहाँ तक कि मुनियोंके भी कभी कभी हो जाता है, जो इष्ट लगा उसके वियोगका उस प्रकारका ध्यान बनता है ।

(२१२) अनिष्टसंयोगज आर्तध्यानका फल क्लेशानुभवन—दूसरा आर्तध्यान है अनिष्टसयोगज । अनिष्ट पदार्थके सयोगसे जो यह विचार बनता है कि यह कब टले, यों उसके वियोगके लिए जो चिन्तन चलता है वह है अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान । जगतमें कोई भी पदार्थ मेरेको अनिष्ट नही । मेरा ही अज्ञान मेरा अहित करता है और मेरा ही ज्ञानप्रकाश मेरा हित करता है, लेकिन जब मैं इस ज्ञानप्रकाशसे जुदा रहता हू और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेता हू तो उसका संयोग होनेपर जो ध्यान बनता है वह कष्ट देता है । इस कष्टसे बचना है तो सही ज्ञान बनाइये । मेरे लिए जगतमें कोई भी पदार्थ अनिष्ट नही है । पदार्थ की ओरसे अनिष्टपना कहीं नही खुदा हुआ है, यह जीव ही अपनी कषायके प्रतिकूल कुछ देखता है तो उसको अनिष्ट मान लेता है । यह चाहता है कुछ और हो रहा हो कुछ तो हम उसे अनिष्ट समझ लेते हैं । अरे तुम चाहो ही मत कुछ, फिर अनिष्ट कैसे होगा । अथवा बाहरी पदार्थोंका सही ज्ञान बना लें फिर अनिष्ट कहाँ रहेगा ? इन कष्टोसे यदि बचना हो तो स्व परका सत्य ज्ञान कीजिए ।

(२१३) वेदनाप्रभव आर्तध्यानमे कष्टका अनुभवन—तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभाव शरीरमे कोई रोग हो जाय, कोई चोट आ जाय तो उस समय वेदना होती है । उस वेदनामे जो ध्यान बनता है वह वेदनाप्रभव ध्यान है । बात यद्यपि कठिन सी लग रही कि इस शरीर मे कोई रोग हो, वेदना हो तिसपर भी दुःख न मानना और शरीरको ऐसा जानें कि यह एक दम बाहरकी चीज है । अपने ज्ञानानन्दस्वभावमें मग्न रहे यह बात कुछ कठिनसी लगती है, मगर आत्मस्वरूपका बारबार अभ्यास होनेसे फिर शारीरिक वेदना भी नही सताती । सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार आदिक मुनियोके उदाहरण देख लो, वेदना नही मानी, और इस तरह भी अदाज कर लो कि शरीरमे कोई रोग है, बुखार है, वेदना है और एक सा ही है, मानो बुखार है १०-५ आदमियोको, पर उस एक समान बुखारमें भी कोई कम दुःख मान रहा, कोई अधिक दुःख मान रहा, कोई और अधिक दुःख मान रहा, यह फर्क कहाँसे आया ? एक समान बुखार है, एक समान स्थिति है, फिर कम बढ दुःख क्यो माना जाता है, यह उन पुरुषोके ज्ञानका फल है । जिसका फल है जिसका ज्ञान विशेष है, शरीरसे अपने आत्माको निराला मान रहा है, इसकी ओर दृढता है उसे कम वेदना है, किसीको उससे अधिक है, अज्ञानी मोहीको तीव्र वेदना है, वह अपना सिर धुनता है तो यहाँ भी तो फर्क देखा जाता है । वह

कर्म ज्ञानके कारण ही तो बना। यदि किसीका ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें ही लग रहा हो तो उसे रंच भी वेदना न हो, इसमें कोई आश्चर्य नही। तो शारीरिक वेदनाओंके कष्ट भी मिटते हैं, दूर होते हैं किसके ? जिसने आत्माके सत्य स्वरूपकी भावना की है।

(२१४) निदान आर्तध्यानमें संतापसे संतप्तता—चौथा आर्तध्यान है निदान। बाह्य पदार्थोंकी आशा रखनेका नाम है निदान। मुझे परभवमें राज्य मिले। मैं देवगतिमें पहुचू आदिक कुछ भी आशा बनाना यह कहलाता है निदान। निदानसे भी कष्ट ही है, शान्ति नहीं मिलती। इस लोकमें भी यदि किसी पदार्थकी मनमे वाञ्छा है, इच्छा है, तृष्णा है, प्रतीक्षा है, आशा है तो वहाँ यह कष्ट ही पायगा। कष्टरहित जो आत्माका ज्ञानानन्द स्वरूप है उस स्वरूपमे जो दृष्टि देगा सो शान्ति पायगा और बाहरी पदार्थोंको जो अपनायगा, उनकी आशा रखेगा उसको कष्ट ही होगा। सो यदि निदान सम्बधी कष्टसे बचना है तो सत्य ज्ञान कीजिए व आशा तजिये। मैं हू, ज्ञानस्वरूप हूं, इसका काम ज्ञानकी वृत्तियाँ है, ज्ञानकी शुद्ध लहर उठना है, निरतर जानन वृत्तिसे यह चलता रहता है। इतना ही यहाँ मेरा सर्वस्व है, इससे बाहर मेरा कुछ नही है। किसी भी बाह्य पदार्थपर मेरा अधिकार नही किसी बाह्य पदार्थसे मेरेको शान्ति मिलती नहीं। एक आत्मस्वरूपके ज्ञानमें, श्रद्धानमें, आचरणमें, इसकी ओर दृष्टि रखनेमे शान्ति है। बाहरी पदार्थोंमे शाति नही है, ऐमा जो ज्ञान बनता है उसके निदान न बनेगा। तो ये चार प्रकारके आर्तध्यान ये कष्टके हेतुभूत हैं।

(२१५) रौद्रध्यान व रौद्रध्यानोंमें प्रथम रौद्रध्यान—चार होते हैं रौद्रध्यान। रुद्र कहते हैं क्रूर अभिप्रायको। खोटे आशयमे होने वाले ध्यानका नाम है रौद्रध्यान। सो यद्यपि रौद्रध्यानमें तत्काल मौज मानता है यह जीव, लेकिन उसका फल बहुत खोटा है। यह रौद्रध्यान चार तरहका है-(१) हिंसानन्द (२) मृषानन्द (३) चौर्यानन्द और (४) परिग्रहानन्द। हिंसा करनेमें, करानेमे, हिंसा करने वालेको शाबासी देनेमे आनन्द मानना हिंसानन्द है। इसमे आनन्द शब्द तो खुद पडा है कि हिंसा करनेमे मौज मानना, खुश होना, सो यद्यपि उस समय यह तकलीफ नहीं मान रहा, तकलीफ तो हो रही, पर मान नही रहा, मौज मान रहा, मगर यह रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी खोटा ध्यान है।

(२१६) मृषानन्दनामक रौद्रध्यानका वाहियातपन—दूसरा रौद्रध्यान है मृषानन्द, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, चुगलीमे, निन्दामे, यहाँको वहाँ भिडानेमे आनन्द मानना मृषानन्द है। अब देखिये सब वाहियात बातें हैं। क्या प्रयोजन पडा है व्यर्थकी बातोमे ? प्रयोजन तो दो बातसे है कि कमाई करना और धर्म करना. आजीविका और धर्मपालन, तीसरेकी क्या जरूरत है ? आजीविका बिना काम न चलेगा गृहस्थोका, सो वह तो इस जिन्दगीके लिए

जरूरी है किन्तु उससे अधिक जरूरी है धर्मपालन। उस आजीविकासे तो मोक्ष साधन कुछ वर्षोंका बना लेंगे, पर यह जिन्दगी तो आगे भी है। मरकर जायेंगे तब भी तो इसकी सत्ता है। कोई और पर्याय पायगा। तो धर्मपालन तो विशेष कर्तव्य है। आजीविकामें चाहे कमी हो जाय तो हो जाय, उससे तो गुजारा चल जायगा, किन्तु धर्मध्यान बिना जीवका गुजारा नहीं हो सकता। फिर ये झूठ बातें चुगली, झूठी गवाही, दूसरोंकी निन्दा आदिक इन वचनों के बोलनेमे अज्ञानीजनोको कैसी उमंग रहती है। जो मनुष्य बहुत बोलते हैं वे अनेक अपराधोको करते रहते हैं। अधिक बोलनेकी प्रकृति उसके भलेके लिए नहीं है। जो कम बोलेगा वह चुगली, निन्दा आत्मप्रशसा, परका अपमान आदि ऐसे वचनोंसे दूर रह सकता है। जो अधिक बोलेगा उसके वचन अप्रिय भी हो जायेंगे, अहितकारी भी हो जायेंगे, अपनी मर्यादा से बाहर भी हो जायेंगे, वह उन्नतिका पात्र नही है, सो जो इन दुर्ध्यानोंसे बचना चाहता है वह कम बोले विचार कर बोले, सत्य बोले। मेरे इन वचनोंसे कहीं इनको तकलीफ न हो जाय, ये सदा ध्यानमे रखे। वैसे नीति भी है "वचने का दरिद्रता, "वचनोमे दरिद्रता क्यो की जा रही है, क्यो नही ठीक वचन बोलते ? तो वह मृषानन्द रौद्रध्यान जीवको दुःखदायक है।

(२१७) **चौर्यानन्द व परिग्रहानन्द रौद्रध्यानकी असंगतता**—तीसरा रौद्रध्यान है चौर्यानन्द। चोरीमे आनन्द मानना। कितने ही चोर तो बड़े होते हैं और कितने ही छोटे होते हैं। कितने ही ऐसे जीव होते हैं कि लगता कि हमने कोई चोरी नही की, किन्तु चोरी है। जैसे किसी पुरुषका भोजन करना इस ढगका हो कि लोग थाली सजाकर लायें, बिनती करें तब वह भोजन करे और यदि वही पुरुष अपने ही घरकी चीज स्वयं उठाकर खा ले तो उसके भावमें चोरी जैसा परिणाम आ गया। लगता यों होगा कि अपनी ही चीज तो उठायी, मगर जो प्रक्रिया बन गई थी उसके विरुद्ध चला जाना वह भी चोरी हुई। कोई व्रत ग्रहण किया, सामायिक कर रहे, कोई नही देख रहा तो ढीले ढाले हैं और कोई देखने लगा तो बस टन्नाकर, तनकर बैठ गए, बताओ क्या उसने चोरी नही की ? की, किसीकी चीज तो नहीं चुराया फिर भी चोरी हो गई। तो चोर ? चाहे सूक्ष्म है चाहे बड़ी है, उन चोरीके कामोमे आनन्द मानना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। चौथा रौद्रध्यान है परिग्रहानन्द। पञ्चेन्द्रिय के विषयोंका जिन साधनोंसे पोषण होता है उनको जोड़ने उनकी रक्षा करनेमे आनन्द मानना वह है परिग्रहानन्द। इसका दूसरा नाम है विषयसरक्षणानन्द। इस रौद्रध्यानका तत्काल कुछ बुरा प्रभाव नही मानता यह जीव, पर उसके बाद वह कुछ पछताता है और मरणके बाद तो इस दुर्ध्यानके फलमे उसे दुर्गति भोगनी पड़ती है। ये ८ खोटे ध्यान कहे गए। इन अशुभ ध्यानोंका फल कह है।

(२१८) चार प्रकारके धर्म्यध्यान—अच्छे ध्यान कौनसे है ? वे दो प्रकारके हैं (१) धर्मध्यान और (२) शुक्लध्यान। जब तक राग अवस्था है तब तक रागका व्यवहार है, किन्तु है ज्ञान और शुभ प्रवृत्ति, ऐसी स्थितिमें उसके धर्मध्यान बनता है ये धर्मध्यान चार प्रकारके हैं—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय। प्रभु की आज्ञाको शिरोधार्य करके उस अनुरूप धार्मिक चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। यह सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके ही होता है। अपायविचय—ये रागादिक विकार, ये खोटे भाव मेरे नष्ट हों, इनसे मेरी उन्नति नहीं है, इनसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। इन रागादिक भावों के विनाशका चिन्तन करना और वीतरागताके उपायोंका चिन्तन करना, यह है अपायविचय धर्मध्यान। तीसरा धर्मध्यान है विपाकविचय। कर्मोंका उदय कैसे होता है, कर्मोंके बारेमे चिन्तन बनाना कि ये कर्म कैसे बँध जाते हैं। जीवने खोटे भाव किये, उनका निमित्त पाकर ये पौद्गलिक कार्माणरूप बन जाती हैं, और इनमे प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकार का बंध होता है। जब अनुभाग प्रकट होता है तो इन कर्मोंमे विकृति प्रकट हो जाती है। उस कालमें जिसको कर्मोदयमें लगाव है वह उसी प्रकार अपनेको मानकर कष्ट पाता है। कभी तीव्र उदय आता है तो बड़े सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष भी कुछ अनुचित व्यवहार कर डालते हैं। यह कर्मोदय है, इसका फल बड़ा विचित्र है इस कारण कर्मबंध नहीं हो मुझे ऐसा ही कार्य करना चाहिए। वह कार्य क्या है ? आत्मानुभव, आत्मदृष्टि, अपनी ओर रहना। संस्थानविचय—तीनलोक तीन कालका सब आकार प्रकार यह सब चिन्तनमे रहना। इससे लाभ क्या होता कि जब दृष्टिमें यह रहता है कि इतना महान विस्तृत लोक है, तब यह चित्त होता है कि इतने बड़े लोकके सामने आज हमारा कितनेसे क्षेत्रका परिचय है। मान लो हजार ५०० मीलके क्षेत्रका परिचय है तो इतने सारे लोकके सामने बड़े समुद्रके आगे बूंद बराबर है। इतनी सी जगहके ममत्वसे इस जीवका बिगाड़ होता चला जाता है। जब काल का परिचय होता है कि काल है अनादि अनन्त, न इसकी आदि है न अन्त, तो इस अनादि अनन्तकालके सामने इस भवका पाया हुआ यह १००-५० वर्षका जीवन क्या कुछ गिनती रखता है ? यह तो स्वयभूरमण समुद्रके एक बूंद बराबर भी नही है। तो इतनेसे कालमें मोह ममता करके जो समागम मिला है उसमे अंधे होकर अपने आत्माका अकल्याण किया जा रहा है। ऐसा क्यों किया जा रहा है ? तो जब तक सराग अवस्था है और उत्तम चिंतन है तब तक वह धर्मध्यान कहलाता है।

(२१९) चार प्रकारके शुक्लध्यान—चौथा ध्यान है शुक्लध्यान। इसमें राग नही आ रहा है, चित्तमें व्यक्त नही, है, और कहीं राग बिल्कुल भी नही है, है, सिर्फ ज्ञान ज्ञान

पदार्थ ज्ञेय हो रहे हैं और किसी एक ज्ञेयमें अपना चिन्तन लगा हुआ है वह कहलाता है शुक्लध्यान। यह शुक्लध्यान चार स्टेजोंमें है। पहला है पृथक्त्व वितर्क वीचार याने ध्यान तो है एक पदार्थका अथवा उसी पदार्थकी पर्यायमें ज्ञान पहुंचा, गुणपर ज्ञान पहुंचा, द्रव्यत्वपर ज्ञान पहुंचा, सहज स्वरूपपर ज्ञान पहुंचा, ऐसा अदल बदलकर ज्ञान चलता है और कभी किसी शब्दसे बदल चलती है, मन, वचन, कायकी बदल चलती है तो वह पहले स्टेजका शुक्लध्यान है। जब ध्यानका अभ्यास बढ जाता है तब यह बदल रुक जाती है। जिस पदार्थपर चिन्तन है उसीपर रहता है। उसके प्रतापसे केवलज्ञान जगता है। फिर समस्त लोकके पदार्थ इसके ज्ञानमे झलकने लगते हैं। वह भगवान बन जाता है। अरहंत हो गया। अब अरहंत होनेपर भी योग चल रहा है, दिव्यध्वनि खिरना वह वचनयोग है, विहार होना काययोग है। द्रव्य-मन भी परिस्पन्दरूप है। तो इन योगोंके निरोधके लिए, जो एक विशिष्ट समय परिणमन होता है वह कहलाता है तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती। उसके प्रतापसे अब ये अरहंत प्रभु अयोगकेवली बन गए। अब उस अयोगकेवलीके जो अघातिया कर्म शेष रह गए हैं उनके विनाशके लिए चतुर्थ शुक्लध्यान है। यद्यपि तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यानमें कोई पदार्थका चिन्तन नहीं है, पर वहाँ कार्य है योगका विनाश, कर्मका विनाश। उस दृष्टिसे इनको भी ध्यान कहा है। तो इस ध्यानके प्रकरणमें यह शिक्षा लेनी है कि इन खोटे ध्यानोंसे छूटकर हम अच्छे ध्यानमे लगें और उसमें भी बढ़कर हम शुद्ध तत्त्वके चिन्तनमें आयें, केवल ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहे, तो यह स्थिति हम आपके लिए कल्याणकारी है।

(२२०) **निर्दोष अयोबस क्रियाओंसे युक्त होनेका मुनिवरोंको आचार्यका उपदेश**— इस गाथामें बताया जा रहा है कि हे मुनिश्रेष्ठ! तुम बारह प्रकारके तपश्चरणोंको करो और मन, वचन कायसे १३ प्रकारकी क्रियावोंको भावो और ज्ञानरूपी अंकुशसे मनरूपी मत्त गज को वश करो। १२ प्रकारके तपोंका वर्णन किया जा चुका है। १३ क्रियायें कौन हैं? पाँच महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। करना क्या है? सिद्ध भगवन्त होना है। सिद्धके मायने खालिस आत्मा रह जाना। सो खालिस आत्मा रह जाय इसके लिए चाहिए अन्तस्तत्त्वका ध्यान कि इस समय हम इस मिले-जुले पिण्डमे, इस पर्यायमें रहकर भी केवल आत्मा के स्वरूपको दृष्टिमें लिये रहूं। जिसमे यह धुन बनी है कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्माको ही अपने ज्ञानमे ज्ञान लिए रहूं, उसको अन्य बातोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता। जब किन्हीं बाहरी बातों से प्रयोजन न रहा तो घर छूटे, कुटुम्ब छूटे, वस्त्र भी त्यागे इसलिए कि कहीं एक वस्त्र तक की भी मेरेको शल्य न रहे, ख्याल न रहे, ऐसा निर्द्वन्द रहूं कि मैं मात्र आत्मा आत्माका ही ध्यान करूँ, अब बतलावो मुनिपद ऐसा उत्कृष्ट है कि जहाँ किसी व्यवहारकी बातको सुननेकी

फुरसत नहीं। वस्त्र त्यागा किसलिए कि एक तौलिया भर भी वस्त्रकी मनमें चिन्ता न रहे और कोई नग्न होकर भी गाडी चाहिये, मोटर चाहिए, रिक्शा चाहिए, और खटपट चाहिए, अनेक प्रकारकी चिन्तायें रखें तो देखो कहाँ तो चिन्तायें त्यागनेके लिए वस्त्र त्यागा और कहाँ बडा भारी आडम्बर रखकर चिन्तायें और भी बढ़ा ली। जहाँ चिन्ताओंका भार लदा है वहाँ आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। साधुका कितना उत्कृष्ट पद है कि मन, वचन, काय ये वशमें रहें, कुछ सोचें ही मत, कुछ बोलें ही मत, कुछ चेष्टा ही मत करें जिससे कि आत्मामें आत्माका ध्यान सतत बना रहे, और यदि सोचना पडे तो समितिरूप प्रवर्तें बोलना पडे तो भाषासमिति बनावें, चलना पडे बिहार करना पडे, खाना पडे, शौच जाना पडे तो समितियो का पालन करें। मुख्य कार्य तो गुप्ति है। गुप्तिमे न रहा जाय तो समितिमे रहे। गुप्ति मायने मनको वशमें करना, कुछ न सोचना, वचनगुप्ति मायने मौन रखना, भीतर कोई वाणी भी न आये, कायगुप्ति मायने शरीरको निश्चल रखें, क्योकि ज्ञानको ज्ञानमे ग्रहण करनेके लिए ऐसी निष्क्रिय चेष्टा चाहिए और फिर व्यवहार करना पडे तो ५ महाव्रतरूप प्रवृत्ति करें। यो ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति ये १३ क्रियायें हैं मुनिकी।

(२२१) **आचार्यदेवका मुनिवरोंको ज्ञानांकुश द्वारा मन मत्त गजको वश करनेका उपदेश**—आचार्यदेवका उपदेश है कि हे मुनिवरो! ज्ञानरूपी अकुशसे मनरूपी मन हस्तीको वश करो। मन वशमें हो सकेगा तो ज्ञानसे ही वशमे होगा, मन चाहता है तृष्णा, इन्द्रियका आराम, कीर्ति, यश बड़े बडे छलांग मार रहा मन। उस मनको अगर मारना है तो उसका उपाय है ज्ञान। तत्त्वज्ञानमे आयें। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप मात्र हू। मैं इस स्वरूपसे बाहर कहीं नहीं हूं, मैं स्वरूपमे ही अपना परिणमन करता हू। बाहर मेरा कोई काम नही। मैं स्वरूपमात्र हू। बाहरके लोग जैसा परिणमन करें सो करें, इस ज्ञानी साधुको बाहरी क्रियाओंसे कोई उद्वेग नही होता। मुनि कभी अपना मान और अपमान नही समझता। समझे तो मुनि नहीं। मुनि कभी प्रशंसा निन्दामें रागद्वेष नही रखता, रखे तो वह मुनि नही। मुनि पद तो अरहन्तके निकटका पद है और अगर कोई इस मुनिपदको धारण करके खिलवाड करे तो वह अपने आत्मासे खिलवाड कर रहा है। वह तो अनन्त संसारमें भ्रमण करेगा। यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य उपदेश करते है कि हे मुनिप्रवर! ज्ञानरूपी अकुशसे मनरूपी मत्त गजको वश करो।

पंचविहचेलचाय खिदिसयण दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भाविय पुव्व जिणलिगं णिम्मल सुद्धं ॥८१॥

(२२२) **मुनिवरोंका पञ्चविधचैलत्याग**—५ प्रकारके वस्त्रोका त्याग करो, [illegible]

सोओ, दो प्रकारके संयमोंका पालन करो, आत्मतत्वकी भावना भावो और इस जिनलिंगको निर्मल शुद्ध करो। वस्त्रत्यागका प्रयोजन यह है कि यह पुरुष, यह आत्मा इतना अधिक विरक्त है, बाह्य पदार्थोंसे बिल्कुल अलग है कि उसको एक छोटी लंगोटी या तौलियाकी भी चिंता न करनी पड़े, उसका ख्याल ही न आये और एक आत्मा आत्माका ही निरन्तर स्मरण बना रहे इस धुनमे है, इसलिए उसका नग्न रूप है। नग्नत्वमे खाली देहको ही बात नही रहती है किन्तु यह भाव तकना कि इसको आत्माकी इतनी तेज धुन है कि उसको एक वस्त्र तकका भी ख्याल नही रहता। देहकी सुध नही, वस्त्रका ख्याल नहीं, कोई चिन्ता ही नही रहती। अब कोई नग्नपना तो धारण करे और चिन्ताका भण्डार बनाता रहे, जैसे संघ बढ़ानेकी भावना—उसमे मिला क्या है? गुस्सा, घमंड, कषायभावके सिवाय और कुछ प्राप्त होता नहीं। मगर ऐसी उमग बनी है कि लोग मेरी ऐसी तारीफ करें कि देखो इनके कितने शिष्य हैं। बात यह बतला रहे कि वस्त्र त्यागनेका प्रयोजन था अत्यत निश्चित जीवन रखना और उसकी आडमे चिन्ताओका भार बनावे तो उसको उपदेश किया है कुन्दकुन्दाचार्यने कि हे मुनिप्रवर! तुम अत्यन्त निर्मल होओ, ५ प्रकारके वस्त्रोंका त्याग करो, तुम अङ्गपर कोई चीज मत लपेटो। ५ वस्त्र क्या हैं? (१) रेशमी वस्त्र, (२) सूती वस्त्र (३) ऊनी वस्त्र, (४) छालके वस्त्र जैसे टाट, पट्टी, चटाई वगैरह और (५) चर्मके वस्त्र जैसे मृगचर्म सिंहचर्म आदि। किसी भी प्रकारके वस्त्रोका संग न करो।

(२२३) हे मुनिवरो! भूमिपर शयन करो। भूमिपर शयन करना बैठना उठना यह तो सर्वोत्कृष्ट बात है, पर कभी काठपर बैठ गए, चटाईपर बैठ गए, यह उससे कुछ हल्की बात है, विधानमें काष्ठ, चटाई भी बतायी गई है मगर भूमिपर बैठना उठना यह उत्कृष्ट बात है जमीन ही उनके लिए सही आसन और शय्या है। मूल गुणोंमे भूमिशयन आता है, काष्ठ-शयन नहीं आता, पर चरणानुयोगमे काष्ठका भी विधान बताया है। लोग तो काष्ठका तख्त रखते, उसपर दूसरा तखत रखते, फिर उसपर काष्ठका सिंहासन रखते, उसपर मुनिराज विराजते और खुश होते, लेकिन सोचो तो सही कि वह सरलतासे कितना दूर हो गए, प्राकृतिकतासे कितना दूर हो गए? आत्मानुभवकी पात्रता होती है विरक्त साधुको। दो प्रकारके सयमको धारण करो। देखिये साधुवोंकी अपरिग्रहता बतायी जा रही है। कैसा निष्परिग्रह साधु हो? वह निष्परिग्रहता होती है भावोंसे आत्माके ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वमे रुचि न जाय। किसी पदार्थमे भाव न जाय, वहाँ होती है निष्परिग्रहता। जितना कष्ट है वह परिग्रहभावसे है। निष्परिग्रहताकी सिद्धिके लिए वस्त्रका त्याग है, भूमि पर शयन है।

(२२४) द्विविधसंयमका पालन—दो प्रकारका संयम है। सयम दो कौनसे हैं—(१) प्राणिसंयम और (२) इन्द्रियसयम। किसी जीवकी हिंसा न हो वह तो है प्राणिसयम, न तो पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, वनस्पति इन स्थावरोंकी हिंसा हो और न दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन त्रस जीवोकी हिंसा हो, वह तो है प्राणिसंयम। और इन्द्रियसंयम क्या है कि इन्द्रियविषयोमे राग न आना, प्रवृत्ति न होना, उनसे दूर रहना। वास्तविकता यह है कि जिसको ज्ञानगुणका स्वाद आया है और ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपकी अनुभूति जगी है उसको कुछ सिखानेकी जरूरत नही। उसका सब व्यवहार स्वय चरणानुयोगके अनुसार बनेगा। और जिसके ज्ञानानुभूति नहीं हुई, उस पुरुषको कितना भी सिखाया जावे, वह बाहरी बातोको ही पकडेगा, आन्तरिक ज्ञानस्वरूपको न पकडेगा। मुनिव्रतका मूल है आत्मज्ञान। ज्ञानानुभव। जिसको ज्ञानानुभव हुआ वह जानता है कि मेरे ही समान सर्व जीव हैं, किसी भी जीवको मेरेसे बाधा न हो। जिसने अपने ज्ञानानुभवका स्वाद लिया उसका यह दृढ़ निर्णय है कि किसी भी बाह्य पदार्थका व्यवहार पतनका कारण है और उस तत्त्वज्ञानके बल से दो प्रकारका सयम मुनिके होता है। इस तरह अपने आपकी दया करने वाले मुनिका व्रत शुद्ध है और जैनधर्मकी प्रभावनाका कारण है।

(२२५) अपरिग्रहत्वका दर्शन—भैया, सभीको अपरिग्रहताका भाव रखना चाहिए। घरमे है, कोट, कमीज कपडोसे लदे हैं, किसी भी स्थितिमे हैं। यह ज्ञान जब ज्ञानस्वरूपको जानने चलेगा तो उसे अनुभव ज्ञानका आयगा। उस ज्ञानको तको, वह ज्ञान स्वभावतः निस्सग है। आत्माका जो वास्तविक स्वरूप है उस स्वरूपमे किसी भी बाह्य पदार्थका सम्बन्ध नही है, अकेला, निःसंग। उस ज्ञानके अनुभवके लिए ही निष्परिग्रहता है। और जिसने सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया उसने अपनेको अपरिग्रह पाया। जैसे कहते हैं कि कपडेके भीतर सब नग्न हैं, ऐसे ही जब ज्ञानद्वारा अपने आत्माके स्वरूपको देखें तो पता पड़ेगा कि सारे चक्करके अन्दर भी आत्मा अपने स्वरूपत. शुद्ध है। सत्ता उसकी शुद्ध है। किसी दूसरेकी सत्ता मिलकर सत्ता नही बनी, जीवकी स्वतन्त्र सत्ता है, तो अकेलेपनका ही तो नाम है निःसंग। अपने आत्माको निःसग अनुभव करो। सर्व दुःखोका जाल है परपदार्थोंका परिग्रहण। और धर्मपालन भी इसीमे है कि निष्परिग्रह रहें, सो इस धर्मका पालन मुनिजन पूर्णरूपेण कर पाते हैं, गृहस्थोको परिग्रह परिमाण बताया है, फिर भी गृहस्थ अपनेको पूरा निष्परिग्रह अपने स्वरूपमे तकता है।

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।

तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं ॥८२॥

(२२६) संसारसंकटविध्वंसक जैनशासनकी भावनाका उपदेश—हे आत्मकल्याण चाहने वाले जीव ! तुम उस जिनधर्मको धारण करो जो संसारको मथ देता है अर्थात् संसारके संकट जन्ममरण ये सब दूर हो जाते हैं। वह जिनधर्म क्या ? आत्मधर्म। आत्माका जो स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, उस मात्र अपना अनुभव करो, मैं इतना ही हू। बाहरी पदार्थोंके संयोगसे मानना कि मैं पुत्र वाला हू, घर वाला हू, धन वाला हू, यह तो दूर रहो, यह तो अत्यन्त ही मूढताकी बात है। पर जो अपनेको ऐसा भी तक रहा है कि मैं विचार वाला हू, विभावों मे आत्मीयता अनुभव करना यह भी मूढता है। मोह छोडा नहीं जाता। लोग ऐसी विवशता अनुभव करते और कहते हैं, पर यह दृष्टिमें नहीं आता कि मोह मेरा स्वरूप ही नही। अपने को ज्ञानमात्र देखें, उसके छोडनेमें कौनसी तकलीफ है ? परिस्थितिवश राग करना पडे वह तो परिस्थितिकी बात है, पर भीतरमे श्रद्धा सही ही रखना चाहिए, मेरा अन्य परिजनोंसे तो सम्बंध ही क्या ? रागद्वेष मोह विकार विकल्प तर्क आदि जो मेरेमें उठते है वे भी मेरे स्वरूप नही। इस प्रकारके अन्तस्तत्त्वका नाम है जिनधर्म, उसका पालन करें अर्थात् रागद्वेषको जीतने वाले भगवान जिनेन्द्रने जो मार्ग बताया है उस मार्गपर चलें।

(२२७) सर्वश्रेष्ठ आत्मशासनसे अपनेको अनुशासित करनेका कर्तव्य—यह जिनमार्ग सर्व धर्मोंमे श्रेष्ठ है। लोकमे धर्म बहुत माने जाते, पर वस्तुतः धर्म तो एक ही है। जो आत्मा का स्वभाव है वही धर्म है और वही सर्वश्रेष्ठ है, सो ऐसा श्रेष्ठ है जैसे सर्वरत्नोमे वज्रहीरक श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही सर्व धर्मोंमें यह आत्मधर्म, जैनधर्म, ज्ञानस्वरूप, इसकी उपासना यह सर्वश्रेष्ठ है। जैसे वृक्षमे चदन श्रेष्ठ है, ऐसे ही यह आत्मभावना सर्व कर्तव्योंमें श्रेष्ठ है, जिसके प्रतापसे संसारके जन्ममरण संकट आदिक सर्व दूर हो जाते हैं। एक क्षण तो अपने आपपर दया करके सर्वका ख्याल छोड दीजिए। कोई मेरा कुछ नही है, एक अणु भी मेरा हितकारी नहीं है, मेरा कुछ नही है। मैं ज्ञानमात्र हू। मुझे अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र निरखना है, उसीको तको। एक क्षण भी अगर अपनेको ऐसा अकेला ज्ञानमात्र निरख सके तो इसके साथ ऐसा अद्भुत आनंद आता है कि जिससे पूर्ण श्रद्धा हो जाती है कि हितकारी तो मेरा यह स्वरूप ही है, क्योकि जिसके सहवाससे सुख मिले तो उसपर श्रद्धा जम जाती है। यह प्रायः लोकरीति है, और फिर जिस तत्त्वज्ञानके अनुभवसे अलौकिक सत्य आनंद जगे, फिर उसे आत्मामें क्यो श्रद्धा न होगी ? आत्माकी चर्चा करके भी श्रद्धारहित है जो कोई सो इस कारण है कि उनको ज्ञानके अनुभवका स्वाद नहीं आया। ज्ञानानुभव हो, उसका आनंद पा लिया गया हो, उसे कभी ऊबकर न भूलेगी, सदा ध्यानमें रहेगी कि नहीं ? विधि

तो वही है । अन्यत्र कही आनद नही, फिर इसी ज्ञानस्वरूपमे ज्ञान बनाये रहनेका पौरुष करेगा । उसीमें रम जायगा । यदि शान्ति चाहिये हो तो अपने आत्माके सही स्वरूपका भान कीजिए । जो करेगा सो पार होगा । केवल बात बोलनेसे कोई पार नहीं होता, किन्तु जो हिम्मत बनाये, समस्त बाह्यपदार्थोंका ममत्व त्यागे, अविकार ज्ञानस्वभावको ज्ञानमे ले उसमें वह शूरता आयगी कि वह आनन्दका अनुभव करेगा, कर्मोंका क्षय करेगा । जन्म मरणके संकट अपने दूर करेगा । सो हे मुने ! तुम सर्वमे श्रेष्ठ इस जैनधर्मको, इस ज्ञानस्वरूपको भावो, इसीमे रुचि करो, यह ही ससारके सर्वसकटोको छेदने वाला है ।

पूयादिसु वयसहिय पुण्ण हि जिरणेहि सासणे भणिय ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८३ ॥

(२२८) **पुण्य और धर्मकी मुद्राका निर्देशन**—उक्त गाथामे यह बताया गया था कि जैसे रत्नोमे हीरा श्रेष्ठ है, वृक्षोमे चदन श्रेष्ठ है इसी प्रकार धर्मोंमे जिनधर्म श्रेष्ठ है । तो अब यह जिज्ञासा हुई कि वह धर्म क्या है जो सर्वश्रेष्ठ है । उसका समाधान यहाँ दिया है । पहले तो पुण्य और धम इन दो मे अन्तर समझिये । पुण्य तो कहलाता है पूजन आदिकमे अथवा व्रत तपश्चरण करनेमे जो शुभ भाव होता है वह तो है पुण्य और उससे जो कर्म बँधा वह है पुण्य कर्म, और धर्म क्या है ? मोह और क्षोभसे रहित जो धर्मका परिणाम है वह है धर्म । तो यहाँ पुण्य और धर्ममे यह अन्तर जानना कि पुण्य तो राग है, धर्ममे राग नही है ।

(२२९) निरापद आत्मस्वरूपकी दृष्टिके बिना सर्वत्र आकुलतायें—ससारके जीव अज्ञानसे पुण्यकी वाञ्छा करते हैं, मेरेको खूब पुण्यबध हो और मैं देव बनूं, राजा महाराजा बनूं इस तरह की इच्छा करते हैं, मगर देव और राजा महाराजा बनकर आत्माको मिलेगा क्या ? देव बन गया तो देवागनाओमे रमण करेगा । यहाँ वहाँ खूब खेल तमासे करना अथवा दूसरोकी ऋद्धिको देखकर जलते भुनते रहना, यो निरन्तर वे भी दु खी हैं और राजा महाराजा भी दुःखी हैं । अभी यहाँके बडे बडे मिनिष्टरोकी हालत देख लो—वे एक रात भी चैन से सो नहीं सकते । मान लो थोडा धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा विशेष मिल गई, उसमे बडा मौज माना तो उसका तो फल है संसारमे परिभ्रमण । और धर्ममे क्या है ? ऐसा परिणाम कि जहाँ यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपमे मग्न है, किसी द्रव्यका मोह है नही, न किसी बात का क्षोभ है, न आकुलता है, न रागद्वेष है, न किसीके प्रति ममता है, इन विकारोसे रहित जो आत्माका ज्ञान परिणाम है उसे कहते हैं धर्म । तो यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है । जीवपर यह एक बडी विपत्ति छायी है कि इसने पर पदार्थोंको अपना माना है और उसके पीछे दुःखी होता है । अपना माननेसे कोई अपना हो जाता है क्या ? अरे जब यह देह भी अपना नही

है, यह भी छूटेगा, तब फिर अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या ?

(२३०) आपत्तिसे हटकर निरापद अन्तस्तत्त्वमें आनेका अनुरोध—बाह्य पदार्थोंमें रागद्वेष ममता होना और बाह्य पदार्थोंमे सुधार बिगाड करनेका हर्ष विषाद मानना यह इस जीवपर बडी भारी विपदा है। लेना देना किसी पदार्थसे कुछ नही, किसी पदार्थका एक भी अंश इस आत्मामे आता नहीं, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि सब अपने अपने गुणोसे सत् हैं तो कोई मेरा कैसे हो सकता ? गृहस्थीमे है कोई तो उसकी परिस्थिति है ऐसी कि वह घरमे रहता है, घरके बाल बच्चोका पालन पोषण करता है, उनसे प्रेम व्यवहार भी करता है, लेकिन अज्ञान न रखकर यदि प्रेम पूर्वक व्यवहार बनाये रहे तब तो ठीक है, आखिर घरमें रहकर गुजारा इसी तरहसे चलेगा। घरमें रहकर कहना यही पडता है कि धन मेरा, बाल बच्चे मेरे, अमुक मेरे, पर चित्तमे यह बात दृढता पूर्वक बैठ जाना चाहिए कि ये मेरे वास्तवमे है कुछ नही, परिस्थितिवश मेरे तेरेका व्यवहार करना पडता है। इस प्रकारकी यदि दृष्टि रहेगी तो समझो कि वह धर्ममार्गमे है। हम आप सबका कर्तव्य है कि धर्मका पालन करना अपना मुख्य कर्तव्य समझें। चाहे कुछ भी हो, पर धर्मकी दृष्टि न मिटे। मेरा धर्म है मेरा ज्ञानस्वरूप। मैं अपनेमे यह परख बनाये रहू कि मैं अपने स्वरूपमात्र हू, मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा कुछ नही। जो कुछ सर्वस्व है सो मेरे स्वरूपमे है, ऐसा दृढ निश्चय बनायें और अपने आपमे रमनेमे संतोष पायें, यह कला चाहिए जीवको। अब लोकके जीव, मनुष्य ही देख लो, आत्माकी बातमे कितने लोग लगे हैं। वास्तविक धर्मपालनमें कितने लोगोंको रुचि है और बाह्य पदार्थोंके मनोविनोद मे कितने लोग लग रहे हैं सो तो विचारो। धर्मके काममें तो थोडेसे लोग लगे हैं, बाकी सभी लोग बाहरी बाहरी कामोंमें जुटे हैं, ये बाहरी काम सारभूत होंगे ऐसा विश्वास न बनायें। अपना सारभूत काम तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र है। मोक्ष जाने वाले कितने होते हैं ? अत्यन्त विरले। अनन्तानन्त जीवोके सामने शून्य बराबर। तो धर्मकी रुचि करने वाले भी विरले ही होंगे, क्योकि धर्मरुचि करनेका फल है मोक्षका लाभ। तो एक अपनेको ही सोचना चाहिए कि मेरी परसे अज्ञान विपत्ति हटे और सहज ज्ञानस्वरूपमे उपयोग रमे, यह ध्यानमे लेना चाहिए।

(२३१) धर्मसहित होनेमें आत्माका उद्धार—इस गाथामें धर्मका स्वरूप बताया है। मोह क्षोभसे रहित रहित जो परिणाम है वह है धर्म। इस गाथामें पुण्य और धर्म दोनोंका स्वरूप कहा है, तो एक बात और विशेष समझना कि कोई धर्मसे रहित होकर पुण्य कार्य करता है तो उसके विशिष्ट पुण्य न बँधेगा और कोई धर्मसे सहित हुआ शुभ भावमें आता है तो उसके विशद पुण्य बँधेगा। ऊँचा पुण्य उसीके बँधता है जो धर्मसहित हो। अब यहाँ पूछते

है कि यदि कोई जीव मोक्षको तो जा नही रहा तो सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजा आदिक विशिष्ट पुण्यको कोई करता है तो वह गृहस्थ स्वर्गमें जाता है और परम्परया वह मुनिव्रत धारण कर के मोक्ष पा लेता है। आत्माका जो सत्य स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, उस ज्ञानस्वरूपमे जिसकी दृष्टि है, फिर अगर पूजा आदिक कार्योंमे, दया दान आदिकमे लगता है तो मोक्ष न जायगा तो उसको स्वर्ग तो मिलेगा। सम्यग्दृष्टि मनुष्य देव होकर वहांसे चयकर मुनिलिङ्ग धारण करके मोक्ष भी जल्दी पा सकता है। यह धर्मका प्रभाव बताया गया। धर्मरहित पुरुषका पुण्य भी भला नहीं कर सकता। धर्मसहित होकर सब स्थितियोमे भला है। इस प्रकार पुण्य और धर्मका स्वरूप कहकर अब कर्मके क्षयका कारण क्या है और क्या नही है, इसका निर्णय देते हैं।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयनिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्त ॥८४॥

(२३२) **अज्ञानियोके कल्पितधर्मकी चेष्टाकी भोगप्रयोजकता**—जो अज्ञानी जीव हैं, अभव्य हैं वे कुछ कुछ धर्ममे तो लगते हैं और पुण्यके कार्य भी करते हैं, मगर भोगके लिए पुण्य कर रहे हैं, उनका यह कर्तव्य कर्मके क्षयका कारण नही बनता। जैसे अनेक मनुष्य अब भी दिखते हैं कि जो पूजा दान यज्ञ विधि आदिक सब कार्योंमे खूब लग रहे हैं, ऐसा लगता है देखने वाले लोगोको कि ये खूब धर्मात्मा हैं, मगर उनके भीतरका आशय कौन जाने। उन्हें यह आशय प्रिय हो जाया करता है कि मैं ठीक रहूं, मेरा कुटुम्ब ठीक रहे, मेरी बढ़वारी हो, मैं समाजमें मुख्य माना जा रहा हूँ, ऐसे ही धर्मके कार्य करनेमे मेरी महिमा बढ़ेगी तो ये सब जो आशय हैं ये भी भोगके निमित्त हैं। उनका जो किया हुआ कर्तव्य है, धर्म है वह कर्मके क्षयका कारण नही बन सकता। मोक्ष और ससारका सुख ये दोनो परस्पर विरुद्ध बातें है, या तो संसार मार्गमें रुने जीव या मोक्षमार्गमे लगे। ससारके सुखकी भी इच्छा करते रहे और थोडा थोडा मोक्षका भी काम बनता रहे, ऐसा नही होता। निश्चय एक करें कि हमको संसारके सुख ही पाना है या अपने आत्माकी शान्ति पाना हे? अगर आत्मामे शान्ति पाना है तो इसके लिए बाहर दृष्टि रखनेकी जरूरत है नही। जिसका सच्चा निर्णय बन गया अपने आत्मामे लगनेका उसको संकट हो ही नही सकता है। दुनियामे कुछ भी होता रहे, उससे उसके चित्तमें आकुलता नही हो सकती।

(२३३) **मोक्षकी गप्पमें अलाभ**—जो मोक्षको ऊपरी चाहने वाले जीव हैं याने मोक्ष नाम सुन रखा और कुछ मनमें वाञ्छा भी है कि मेरेको मोक्ष मिले, पर मोक्षका स्वरूप क्या है? यह जिसकी दृष्टिमें नही है, ऐसे पुरुषकी चर्चा कर रहे हैं। जैसे एक घटना लो

मानो कोई आदमी रोज रोज मंदिरमें भगवानकी मूर्तिके समक्ष कहे कि मुझे तो मोक्ष चाहिए और कुछ न चाहिए, तो मानो देव आवे और बोले कि हे भक्त चलो हमारे साथ हम तुम्हें मोक्षमें ले जानेके लिए आये हैं, तो वह भक्त पूछता है कि भाई क्या क्या है मोक्षमें ? तो वह देव कहता है कि मोक्षमें अनन्तज्ञान है, अनन्त आनन्द है। तो वह भक्त कहता—क्या मोक्षमे रहनेको मकान भी है ?····नहीं····, क्या खाने पीने ऐश आरामके अच्छे साधन भी हैं ?···नही।···· तो फिर हमें ऐसा मोक्ष न चाहिए। तो मोक्षकी बात करते तो सब हैं पर मोक्षका स्वरूप क्या है वह समझकर अगर मोक्षकी चाह करे तो उसको मोक्षमार्ग मिलेगा।

(२३४) मोक्ष व मोक्षमार्ग—मोक्षमें होता क्या है ? खालिस आत्मा, ज्ञानज्योति, वह ही मात्र शुद्ध है, जिससे किसीका सम्बंध नही। वह अकेला आत्मा रह गया, उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। तो ऐसा मोक्ष मिलनेका तरीका यह ही है कि अब भी अपने स्वरूपमें अकेला देखो। इस दिखने वाली दुनियामें भी मैं अकेला ही हूं, इस कुटुम्ब परिवारमें रहते हुए भी मैं अकेला हू। धर्मात्मावोंके संगमे मुनिसगमें रहते हुए भी मैं अकेला ही हूं और इस देहके बीचमें रहते हुए भी मैं अकेला ही हू। देह पर है, कर्म जुदे हैं और कर्मके उदयसे होने वाले रागद्वेषादिक भाव जुदे हैं। मैं एक ज्ञानस्वरूप मात्र हू, ऐसा अभी भी देखें तो उसका वह ध्यान बनता है कि जिसे मोक्षमार्ग कहते हैं। सो मोक्षका स्वरूप समझकर आगे चलें। आत्माका विशुद्ध स्वरूप जानकर आत्मामें आवो तो वह है धर्मपालनकी विधि, लेकिन कोई पुरुष पुण्यको ही मोक्षका कारण माने कि ऐसे ऐसे काम मंदिरमें कर लें तो मोक्ष मिलेगा, तो मात्र पुण्यको ही मोक्षका कारण मानता और उसकी ही श्रद्धा करता और उसकी ही समझके अनुसार अपना अभिप्राय बनाता, उसीको ही मोक्षका कारण मानता और उसीको ही अंगीकार करता, लेकिन यह स्पष्ट है कि ये जो बाहरी भक्ति, दान, पूजा, तप, व्रत आदिक परिणतियाँ है सो ये पुण्य रूप तो हैं, क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी आदिक पापोसे विलक्षण हैं, सो ये तो भोग के ही कारण हैं। स्वर्ग पा लिया, कुछ भोग भोग लिया, मगर ये मोक्षके कारण नहीं हैं। हाँ यदि सम्यक्त्वसहित है वह पुरुष तो उस देव भवके पानेके बाद मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण कर मोक्ष जा सकता है। साक्षात् तो ध्यान पूर्वक जो आत्मचर्या है वह मोक्षका कारण है। मोक्षका निमित्त पुण्य नही है। पुण्य होता है मगर ज्ञानी पुण्यकी रुचि करके पुण्य नहीं करता। उसकी भावना यही रहती है कि हे देव मैं आपका सेवक बनकर भव भवमें तुम्हारी आराधना करता रहू। ऐसा बोलता है भक्त मगर ज्ञानीकी यह इच्छा नहीं होती कि मैं प्रभुका सेवक बनकर रहू। कहना तो पड़ता है भक्तिमें, मगर श्रद्धामे यह है कि मैं आत्मा विशुद्ध निर्मल शुद्ध होऊं।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेदु धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥८३॥

(२३५) आत्माकी धर्मरूपता—ऊपर की गाथामे बताया कि भोगनिमित्त कोई पुण्य कार्य करे तो वह मुक्तिका कारण नही बनता, तो एक जिज्ञासा होती कि वह कौन सा भाव है जो मुक्तिका कारण नही हो सकता। इस गाथामे बतला रहे हैं कि आत्मामे लग्न होकर, रागादिक दोषोसे रहित होकर यह आत्मा ही स्वयं साक्षात् धर्म है, जो ससार सागरसे पार होगा। आत्मा स्वय धर्म स्वरूप है। धर्म क्या ? सत्य ज्ञानदृष्टिका रहना। जो आत्माका स्वरूप है वही रहे, ऐसी अवस्थाको धर्म कहते हैं। सो जो आत्मा आत्मामे लीन है वे ही धर्मात्मक हैं।

(२३६) मायामय दृश्योंकी असारता—इस ससारमे जितने मायामयी दृश्य है वे लुभा लुभाकर इस जीवको कष्ट देने वाले हैं और भविष्यमे दुःखी करने वाले हैं। जब सभी लोग प्रायः इस मायामे लगे हैं तो उनको देख देखकर सभीका मन प्रायः बन जाता है, किन्तु जिनको सम्यक्त्व नही है और आत्मकल्याणकी तीव्र वाञ्छा है उनका एक ही निर्णय है कि मुझे मायाका क्या करना ? सब बाह्य हैं, छूटने वाले हैं, जब मिले हैं तब भी छूटे हुए ही हैं। आत्मामे किसका प्रवेश है ? तो जो ज्ञानी पुरुष है वह अपने श्रद्धानसे नही फिसलता है और जिसकी धर्ममे रुचि है उसका इतना पुण्य तो है ही कि उसे कोई सांसारिक बडे कष्ट नही होते, जैसे खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदिके कष्ट, आखिर उसके इतना पुण्य तो है ही। वह विधि तो उसे मिलती, पर उससे वह चाहता कुछ नही है। तो यह है धर्म। आत्मा आत्मामे लीन हो और रागादिक दोषोंसे हट जाय। देखिये—यह बडी शूरताकी बात है—भोग भोगना आसान है पर भोग तजना शूरोका काम है। अनादिसे ऐसी ही वासना लगी आयी कि भोग भोगनेकी ओर उनकी सहज सी बात बन रही है। मगर जब ज्ञानके लिए बढ़ते, आत्मकल्याणकी भावना बनती तब ध्यान आता है कि मुझे इन बाहरी भोगोपभोगोसे क्या प्रयोजन ? वह रागद्वेषसे दूर होता है। वह आत्मा स्वय धर्म है और ससारसे तिरानेका कारणभूत है।

(२३७) आत्माका ऊर्ध्वगमनस्वभाव और निरन्तर ज्ञानमयपना—यह आत्मा शब्द बना है अत धातुसे जिसका गमन होना भी अर्थ है। तो जो स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करे वह आत्मा है, एक अर्थ यह लगावें। जैसे किसी तूमडीमे राख भर दो जाय और उसे पानीमे डाल दिया जाय तो वह नीचे बैठ जायगी और घुल घुलकर जैसे राख सारी निकल जाय तो उसका स्वभाव है कि वह ऊपर ही उतरायेगी। यदि ऐसी ही कर्मकी धूल जब आत्माके साथ चिपकी है तो रागद्वेष आदिकके वश होकर वह ससारमे डूबा है, रुल रहा है और जब ज्ञान

रूपी अग्निसे उस कर्म धूलको जो डाले कोई तो कर्मभारसे रहित होकर यह आत्मा ऊपर ही जाता है। यह बात जरूर है कि यह आत्मा ऊपर जाता ही नही रहता है जहाँ तक लोक है वहाँ तक जाता है, तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे जो ऊर्द्ध ही गमन करे वह आत्मा है। गति क्रिया दो द्रव्योंमें होती है—(१) परमाणुमे और (२) आत्मामे। परमाणु भी शुद्ध हो जाय याने स्कंधसे छूट जाय, एक रह जाय, गति उसमे भी हो सकती, पर उसका कुछ भी नियम नही है। गति भी हो, नीचे भी जाय, तिरछा भी जाय, ऊपर भी जाय मगर आत्मा है ऐसा ही जो भारसे रहित हो जाय और अकेला स्व ही रह जाय तो इसके ऊर्ध्वगमनका ही स्वभाव है अथवा अत धातुका अर्थ ज्ञान भी होता है जिससे यह अर्थ निकला कि जो निरतर जाने सो आत्मा है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है सो वह सदा निरन्तर जानता ही रहता है। शुद्ध हो तो शुद्ध जाने, अशुद्ध हो तो रागद्वेषकी लपेटके साथ जानेगा। तो इस आत्माको इसही के स्वरूपमें देखे तो वह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव है। यह रागादिकरहित है, सो जो आत्मा अपने इस सहज स्वभावमें लीन होता है वह ससार सागरसे तिरता है। उसके रागद्वेषादिक सब दूर हो जाते हैं। तो संसार सागरसे तिर जाय ऐसा यह आमा साक्षात् धर्म रूप है।

(२३८) **शुभभावके वातावरणमे शुद्धभावका पौरुष**—धर्ममयका दर्शन करते हुए धर्म कीजिए। एक ऐसे ही आत्माका भान कीजिए कि जो मात्र ज्ञानस्वरूप है, मात्र जाननका ही कार्य कर रहा है, कर्मकी लपेटोको नही अपनाता है, स्वरूपके अनुसार अपने ज्ञानको ही अनुभवता है तो वह आत्मा ही साक्षात् धर्म है, ऐसा रागद्वेषपर विजय पाने वाले जिनेन्द्र देवने बताया है। सो जो पहले बताये गये थे पूजा, पाठ व्रत, तप आदिक वे साक्षात् मोक्षके कारण नही, किन्तु पुण्यरूप हैं, पर जो मोक्षमें जा पाता नहीं, निर्विकल्प समाधि न बनी तो यह शुभ भाव, यह पुण्य भाव, यह भी कुछ मददगार है। इस तरहसे कि यह धर्मके वातावरणमें तो रहेगा, इसका मन ज्ञानयुक्त तो रहेगा। अभी मोक्ष नही जा सकता तो अगला भव छोड़कर आगे मोक्ष जायगा। तो इस कारण आत्मधर्ममें द्वेष न करना यह भी किसी रूपमें मददगार है, पर श्रद्धा यह रखना कि साक्षात् मोक्षका कारण तो आत्माके ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि है मैं अपने सत्त्वसे ज्ञानमय हूं, सो मैं ज्ञानमात्र हू ऐसी निरन्तर भावना करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञान ही ज्ञानको जानें, ऐसा पुरुषार्थ करनेमें प्रथम यह दृष्टि बनेगी कि संसारके सब पदार्थ भिन्न हैं, असार हैं सो उनके विकल्प न करना और शान्त होकर आरामसे ज्ञानको दृष्टिमें रखना, यह बात यदि बन सकी तो ज्ञानदृष्टि बन जायगी।

एएण कारणेण य तं अप्प सद्दहेव तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥८७॥

(२३६) शान्तिकी अभिलाषा होकर भी शान्ति न मिलनेका कारण—जगतके सभी जीव शान्ति चाहते हैं और शान्तिके लिए ही सारा प्रयत्न करते हैं। दिन भर, रात भर न जाने क्या क्या करते, कितना परिश्रम करते हैं, क्या क्या व्यवहार करते हैं तिसपर भी सब अपने अपने हृदयसे पूछें कि शान्ति मिली अथवा नही मिली ? तो सबका हृदय कह उठेगा कि सत्य शान्ति नही मिली। झूठकी मौज तो मिल जाती है पर वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। क्या कारण है ? कारण यह है कि शान्ति कहते किसे हैं पहले इस ही को तो समझें। जहाँ रंच भी आकुलता न हो उसे कहते हैं शान्ति, और परके जितने प्रसग मिलेंगे, परपदार्थों का जितना सग समागम रहेगा वह नियमसे आकुलताका कारण है। आकुलताका तो कारण है और फिर भी प्रसग मिलाया जाता है इसका कारण क्या है ? जब दूसरे लोगोके सम्बन्ध से, चेतन अचेतन पदार्थोंके सम्बन्धसे आकुलता ही रहती है और फिर भी इनका सम्बन्ध जुटाते हैं उसका कारण क्या है ? उसके कारण होते हैं दो। एक तो होता है अज्ञान। पता ही नही है कि सच्ची बात क्या है ? दूसरा यह कारण है कि यदि ज्ञान भी हो तो भी इतनी दृढ़ता नही है कि समागम छोडकर रह सके, इसलिए भी घरमे रहना होता है, पर एक बात है सबके लिए, चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ हो, परपदार्थोंमे जिसने अपनायतकी बुद्धि की कि यह मेरा है उसको नियमसे आकुलता होगी। तब क्या करना ? तुम अपना स्वरूप सही समझ लो कि मैं आत्मा क्या हू ?

(२४०) आत्मज्ञानमे शान्ति—जरा ध्यान देकर सुनो—आपके घरकी, निजकी बात कही जा रही है, सोचिये—मैं आत्मा क्या हू ? कोई जानने वाला पदार्थ, ध्यानमे आ रहा ना ? मैं आत्मा कोई जानने वाला पदार्थ हू, ज्ञानस्वरूप हू, देह मैं नही हूँ, शरीर मैं होता तो शरीरके मिटते ही मैं भी मिटता ? यह मैं आत्मा कहांसे आ गया ? शरीरसे पहले भी तो मैं था तब तो इस शरीरमे हू। तो जो मैं हू इसका शरीरसे सम्बन्ध नही। शरीर मेरा नही, धन वैभव मेरा नही, कुटुम्बीजन मेरे नही। मेरा तो है एक ज्ञानस्वरूप, उसकी दृष्टि नही, सो बाहरमे ममता करते हैं इसलिए आकुलता होती है। आकुलताका कारण है ममता और शान्तिका कारण है अपने आत्माका सही स्वरूप समझें और यहाँ ही रम करके तुष्ट रहे यहाँ ही सतुष्ट रहे। भिन्न पदार्थोंके प्रेममे संतोष मत करें। सम्बन्ध है, बोलना पडता है, बोलें, प्रेमसे रहे, मगर सत्य समझिये कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। मेरा शरण और कुछ भी नही है, यह दृष्टि जगे तो शान्ति मिल सकती है।

(२४१) तृष्णामें अशान्ति—भैया ! तृष्णामे तो अशांति है। एक आदमीको सोते हुए में आ गया स्वप्न। क्या स्वप्नमे देखा कि मुझको राजाने प्रसन्न होकर १०० गायें इनाममे

की हैं । गायें ले आया, घरमें अगा स्थान बाँध लिया । अब दूसरे दिन कुछ गाय खरीदने वाले लोग आये । (भैया, यह सब बात स्वप्नकी कह रहे, सचकी नहीं है । वह सोते हुयेमें ऐसा स्वप्न देख रहा था) सो ग्राहकोंने कहा कि भाई गायें बेचोगे ? हाँ हाँ बेचेंगे, कितनी गायें चाहिएँ ? दस चाहिएँ. कितने-कितने रुपयेमें दोगे ? सौ सौ रुपयेमे ··· अजी ७०—७० रु० में नहीं दोगे ? ····नही ७०—७० में नही देंगे, ९०—९० में दे देंगे ।··· ९०—९० में नहीं लेते, यदि ७५—७५ की दे दो तो ले लें । .... ७५—७५ की नही देंगे । फिर कितनेमें दोगे ? बस ९०—९० की ही देंगे । ··· नहीं लेंगे, ऐसा कहकर वे चल दिए । तो इतनेमे वह जोर–जोरसे आवाज देने लगा अच्छा भाई लौट आवो, ७०—७० की ही ले लो । इसी प्रसंगमे उस पुरुषकी नीद खुल गई, स्वप्न भग हो गया । देखा तो वहाँ कुछ भी न था, सो वह अपनी आँखे मीचकर उसी प्रकारका स्वप्न वाला कल्पित सुख देखना चाहता था, पर वहाँ वह कहाँ धरा था । वह तो सब स्वप्न की बात थी । तो ऐसे ही यह सब स्वप्न जैसी बाय समझिये । मोहके नीदमे सोये हुए अज्ञानी प्राणी बाहरमे दिखने वाली सारी बातें सच समझ रहे—यह मेरा है, अच्छा है, बहुत ठीक है, बडा मौज है, और है कुछ नहीं, लगार रच भी नही, क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक परमाणु प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न सत्तामे हैं, एकका दूसरा कुछ नही लगता । जैसे ये दो अंगुली हैं तो ये दो ही हैं, एक की दूसरी कुछ नही, पर वस्तुके स्वरूपकी श्रद्धा नही सो मान लेते हैं कि यह उसकी है । उससे आकुलता होती है ।

(२४२) **धर्माराधना बिना मानवजीवनकी व्यर्थता**—देखिये अपना किसी भी समय ध्यान तो करें कि यदि मैं अपना कल्याण न कर सकूँ तो यह मनुष्यजीवन धिक्कार है । देखो आजकलके मनुष्य क्या कर रहे हैं ? भोजन करते हैं, अच्छी नीद लेते हैं, डर भी मानते रहते हैं, कुशील पाप भी करते हैं, तो यह बतलावो कि ये बातें पशु कर सकते कि नही कर सकते ? भोजन भी पशु करते कि नही ? जैसे मनुष्यने भोजन किया । मनुष्य खायगा जरा लड्डू पेडा और पशु खायेंगे हरी हरी घास, इतनेमें मनुष्यकी चतुराई है, पर लड्डू पेडा खाकर जो मौज मनुष्य मानते उससे भी अधिक मौज घास खाकर पशु मानते । आखिर मौज मिलनेसे मतलब है । नीद मनुष्य लेते और पशु भी लेते, बल्कि मनुष्यकी नीद बढिया है । जरासी आहट मिली कि पशुकी नीद खुल जाती, बेसुध होकर पशु नीद नहीं लेते, गाय, बैल, भैंस, घोडा, कुत्ता आदिक पशुओंको देख लो । मनुष्य तो बेसुध होकर सोते हैं । तो नीद लेनेमें भी मनुष्योंसे पशु ठीक है । आहारके मामलेमें भी मनुष्योंसे पशु ठीक हैं । पशुका पेट भर जाय तो चाहे बढिया बढिया चीज लावो तो भी वे दृष्टि नही डालते और मनुष्योंको देख

(२३९) **शान्तिकी अभिलाषा होकर भी शान्ति न मिलनेका कारण**—जगतके सभी जीव शान्ति चाहते हैं और शान्तिके लिए ही सारा प्रयत्न करते हैं। दिन भर, रात भर न जाने क्या क्या करते, कितना परिश्रम करते हैं, क्या क्या व्यवहार करते हैं तिसपर भी सब अपने अपने हृदयसे पूछें कि शान्ति मिली अथवा नही मिली ? तो सबका हृदय कह उठेगा कि सत्य शान्ति नही मिली। झूठकी मौज तो मिल जाती है पर वास्तविक शान्ति नही मिल ती। क्या कारण है ? कारण यह है कि शान्ति कहते किसे हैं पहले इस ही को तो समझें। जहाँ रंच भी आकुलता न हो उसे कहते हैं शान्ति, और परके जितने प्रसग मिलेंगे, परपदार्थों का जितना सग समागम रहेगा वह नियमसे आकुलताका कारण है। आकुलताका तो कारण है और फिर भी प्रसग मिलाया जाता है इसका कारण क्या है ? जब दूसरे लोगोंके सम्बन्ध से, चेतन अचेतन पदार्थोंके सम्बन्धसे आकुलता ही रहती है और फिर भी इनका सम्बन्ध जुटाते हैं उसका कारण क्या है ? उसके कारण होते हैं दो। एक तो होता है अज्ञान। पता ही नही है कि सच्ची बात क्या है ? दूसरा यह कारण है कि यदि ज्ञान भी हो तो भी इतनी दृढ़ता नही है कि समागम छोडकर रह सके, इसलिए भी घरमे रहना होता है, पर एक बात है सबके लिए, चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ हो, परपदार्थोंमे जिसने अपनायतकी बुद्धि की कि यह मेरा है उसको नियमसे आकुलता होगी। तब क्या करना ? तुम अपना स्वरूप सही समझ लो कि मैं आत्मा क्या हू ?

(२४०) **आत्मज्ञानमे शान्ति**—जरा ध्यान देकर सुनो—आपके घरकी, निजकी बात कही जा रही है, सोचिये—मैं आत्मा क्या हू ? कोई जानने वाला पदार्थ, ध्यानमे आ रहा ना ? मैं आत्मा कोई जानने वाला पदार्थ हू, ज्ञानस्वरूप हू, देह मैं नही हूँ, शरीर मैं होता तो शरीरके मिटते ही मैं भी मिटता ? यह मैं आत्मा कहाँसे आ गया ? शरीरसे पहले भी तो मैं था तब तो इस शरीरमे हू। तो जो मैं हू इसका शरीरसे सम्बन्ध नही। शरीर मेरा नही, धन वैभव मेरा नही, कुटुम्बीजन मेरे नही। मेरा तो है एक ज्ञानस्वरूप, उसकी दृष्टि नही, सो बाहरमे ममता करते है इसलिए आकुलता होती है। आकुलताका कारण है ममता और शान्तिका कारण है अपने आत्माका सही स्वरूप समझें और यहाँ ही रम करके तुष्ट रहे यहाँ ही सतुष्ट रहे। भिन्न पदार्थोंके प्रेममे सतोष मत करे। सम्बन्ध है, बोलना पडता है, बोलें, प्रेमसे रहे, मगर सत्य समझिये कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप हो मेरा सर्वस्व है। मेरा शरण और कुछ भी नही है, यह दृष्टि जगे तो शान्ति मिल सकती है।

(२४१) **तृष्णामें अशान्ति**—भैया ! तृष्णामे तो अशाति है। एक आदमीको सोते हुए मे आ गया स्वप्न। क्या स्वप्नमे देखा कि मुझको राजाने प्रसन्न होकर १०० गायें इनाममे

की हैं। गायें ले आया, घरमें अच्छा स्थान बाँध लिया। अब दूसरे दिन कुछ गाय खरीदने वाले लोग आये। (भैया, यह सब बात स्वप्नकी कह रहे, सचकी नहीं है। वह सोते हुएमें ऐसा स्वप्न देख रहा था) सो ग्राहकोने कहा कि भाई गायें बेचोगे ? हाँ हाँ बेचेंगे, कितनी गायें चाहिएँ ? दस चाहिएँ, कितने-कितने रुपयेमे दोगे ? सौ सौ रुपयेमे ··· अजी ७०—७०, ५० मे नहीं दोगे ? ····नहीं ७०—७० में नही देंगे, ६०—६० में दे देंगे।··· ६०—६० में नहीं लेते, यदि ७५—७५ की दे दो तो ले लें। ... ७५—७५ की नही देंगे। फिर कितनेमें दोगे ? बस ६०—६० की ही देंगे। ··· नही लेंगे, ऐसा कहकर वे चल दिए। तो इतनेमे वह जोर-जोरसे आवाज देने लगा अच्छा भाई लौट आवो, ७०—७० की ही ले लो। इसी प्रसगमें उस पुरुषकी नीद खुल गई, स्वप्न भंग हो गया। देखा तो वहाँ कुछ भी न था, सो वह अपनी आँखे मीचकर उसी प्रकारका स्वप्न वाला कल्पित सुख देखना चाहता था, पर वहाँ वह कहाँ धरा था। वह तो सब स्वप्न की बात थी। तो ऐसे ही यह सब स्वप्न जैसी बाय समझिये। मोहके नीदमे सोये हुए अज्ञानी प्राणी बाहरमे दिखने वाली सारी बातें सच समझ रहे—यह मेरा है, अच्छा है, बहुत ठीक है, बड़ा मौज है, और है कुछ नहीं, लगार रच भी नही, क्योकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक परमाणु प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न सत्तामे हैं, एकका दूसरा कुछ नही लगता। जैसे ये दो अंगुली हैं तो ये दो ही हैं, एक की दूसरी कुछ नही, पर वस्तुके स्वरूपकी श्रद्धा नही सो मान लेते हैं कि यह उसकी है। उससे आकुलता होती है।

(२४२) धर्माराधना बिना मानवजीवनकी व्यर्थता—देखिये अपना किसी भी समय ध्यान तो करें कि यदि मैं अपना कल्याण न कर सकूँ तो यह मनुष्यजीवन धिक्कार है। देखो आजकलके मनुष्य क्या कर रहे हैं ? भोजन करते हैं, अच्छी नीद लेते हैं, डर भी मानते रहते हैं, कुशील पाप भी करते हैं, तो यह बतलावो कि ये बातें पशु कर सकते कि नही कर सकते ? भोजन भी पशु करते कि नही ? जैसे मनुष्यने भोजन किया। मनुष्य खायगा जरा लड्डू पेडा और पशु खायेंगे हरी हरी घास, इतनेमें मनुष्यको चतुराई है, पर लड्डू पेड़ा खाकर जो मौज मनुष्य मानते उससे भी अधिक मौज घास खाकर पशु मानते। आखिर मौज मिलनेसे मतलब है। नीद मनुष्य लेते और पशु भी लेते, बल्कि मनुष्यकी नीद बढिया है। जरासी आहट मिली कि पशुकी नीद खुल जाती, बेसुध होकर पशु नीद नही लेते, गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, कुत्ता आदिक पशुओंको देख लो। मनुष्य तो बेसुध होकर सोते हैं। तो नीद लेनेमे भी मनुष्योसे पशु ठीक है। आहारके मामलेमे भी मनुष्योंसे पशु ठीक हैं। पशुका पेट भर जाय तो चाहे बढ़िया बढ़िया चीज लावो तो भी वे दृष्टि नही डालते और मनुष्योंको देख

लो, चाहे अभी अभी खाकर निकले, खूब पेट भरा है, फिर भी कोई चाट पकौडी वाला मिल जाय तो कुछ न कुछ चाट पकौडी खानेकी जगह निकल ही आती है। भयकी भी बात देखिये पशु तो तब भय मानते जब कि उनके सामने कोई लाठी लेकर आये, पर मनुष्य तो बड़े बड़े गद्दों तकियोंमे पड़े पड़े भय मानते रहते हैं। कही चोर डाकुओंका भय, कहीं सरकारी कानून का भय, कही व्यापारमे हानि लाभका भय, कही इज्जतमे बट्टा लगनेका भय। कुशीलके सम्बन्धमे भी देखो—कुशीलसेवनमे जितना मनुष्य बढे हुए है उतना पशु नही बढे। तो किस बातमें मनुष्य बडा है सो तो बताओ ? मनुष्य उस बातसे बडा है जो बात मनुष्योको आज-कल सुहा नहीं रही। ज्ञानकी बात, धर्मकी बात कहाँ सुहाती ? तत्त्वज्ञान सीखनेकी बात मनमे कहाँ आती ?

(२४३) सहजात्मस्वरूपके सम्यक् दर्शनसे अपूर्व अवसरका लाभ लेनेका संदेश—जैनधर्ममें यह उपदेश है, कि जिसने सहजात्मस्वरूपकी परख की वह सारे सकटोसे दूर हो जाता है। अच्छा, यही की बात निरख लो, अगर कुछ ज्ञान पहलेसे भी है तो, या अब कर लो, यदि यह जान जावो कि मैं आत्मा तो इस देहके अन्दर ज्ञान स्वरूप हू, जितना मेरा स्वरूप है उतना ही मात्र हू मैं, उससे बाहर मेरा कही कुछ नही है, सत्य बात है यह, और मैं अपनेमें ही कुछ कर पाता हू। किसीमे मैं कुछ कर नही सकता। तो मैं ज्ञानमात्र हू। अपने स्वरूपमे ही अपना ही करने भोगने वाला हू। मेरी दुनिया यही है जितना मैं हूँ, इससे बाहर मेरा कुछ नही, इसलिए मुझे परका कुछ ख्याल नही करना, शान्तचित्त होकर आराम से बैठना, विकल्प तोडना फिर अपने आप जैसा आनन्द मिलना है सो वहाँ मिलता है। यही तथ्य जैन शासनने स्याद्वादके ढगसे, निश्चय व्यवहारके प्रयोगसे भली भाँति बतलाया है। सो आज जो तत्त्वज्ञानमें नहीं बढ़ रहे हैं तो उनका ऐसा समझिये कि जैसे हमारे पुरुष आचार्य-जन बड़े बडे रत्न भर गए हैं ज्ञानके कि हम लोग उससे लाभ लें और हम ऐसे कुपूत निकले कि उनका लाभ नही लेना चाहते, और न ले सके, न मन आया तो यह बतलाओ कि इस जीवनके बाद होगा क्या ? मरण तो सबका ही निश्चित है और मरकर जायेंगे कहाँ ? जैसा कि भाव बनाया उसके अनुसार गति मिलेगी। तो यह मानव जीवन एक बेकार सा हो जायगा। ऐसे तो अनन्त भव पाये, उन अनन्त भवोंमे एक इस भव की भी गिनती बढ़ गई, इस भवके पानेका लाभ क्या मिला ?

(२४४) मुक्तिमार्गमें प्रगति करनेसे ही आत्मलाभ—यह मानवभव तो एक ऐसा मौका है कि चाहे तो ससारके सकटोंसे छुट्टी पा लें या फिर संसारमे रुलते रहें। दो में से कोई मार्ग तो चुनो। संसारमे रुलते रहना ही पसंद है या जैसे प्रभु मोक्ष गए उस तरहके मार्गपर

चलकर मुक्त होना पसंद है ? अगर विषयोंकी ही प्रीति है तो यहाँके दर्शनसे लाभ क्या ? प्रभुके दर्शनसे तो यह लाभ लेना चाहिए कि हे प्रभो ये सर्व दृश्यमान पदार्थ माया हैं, नष्ट हो जाने वाले हैं। यह आकार नहीं रहनेका। इस मायामें लगाव रख करके मेरा उत्थान नहीं होनेका। जैसे आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र पाया वही विधि मुझको प्राप्त हो और मैं भी रत्नत्रय पाऊँ, बस इस यत्नमे मेरे क्षण सफल हैं। तो ऐसा जो ज्ञानी जानता है वह इस ही कारणसे उस आत्माका मन, वचन, कायसे श्रद्धान रहता है और विपरीत अभिप्राय नहीं रहता। खोटा भाव नही रहता। जैसा जो तत्त्व है वैसा भाव होना यह है सम्यग्दर्शन। मेरा आत्मा तो शान्तस्वरूप है। ऐसा मैं अपने आत्मामें ही रहूँ तो शान्त हो सकूंगा।

(२४५) **बाह्य तत्त्वमें लगाव रखनेका फल क्लेश**—भैया, बाहरी पदार्थोंका लगाव आकुलता है, सो बाहरी पदार्थोंका लगाव रहेगा तो दुःख मिलेगा। एक जंगलमें कोई गुरु, शिष्य रहते थे। वह शिष्य गुरुके पास बचपनसे ही रहने लगा था। उसकी आयु जब करीब २० वर्षकी थी तबकी एक घटना है कि उस शिष्यने गुरुसे कहा महाराज मुझे तीर्थबंदना करने जानेके लिए आज्ञा दे दीजिए। तो गुरुने कहा ठीक है बेटा, तीर्थबन्दना सब कर आना, पर सबसे पहले तो उस ही तीर्थकी बन्दना करलो जो तीर्थ तुम्हारे अत्यन्त निकट है। तुम्हारा खुदका आत्मा ही तो तुम्हारा तीर्थ है। आखिर शिष्यने तीर्थ क्षेत्रोंकी बंदना करनेकी काफी हठ की तो गुरुने तीर्थबंदना करनेकी आज्ञा दे दी। अब वह शिष्य बंदनाको चला। जब वह पैदल चलता जा रहा था तो रास्तेमें उसे एक बारात दिखी। उस शिष्यने बारात तो कभी देखा न था और न उसके सम्बधमे उसे कुछ जानकारी थी, सो वह किसीसे पूछ बैठा कि भाई यह क्या चीज है ? तो किसीने बताया कि यह बारात है। "बारात क्या चीज है ?"...अरे बारातमे एक दूल्हा होता है, उसकी बरात है।...सो दूल्हा क्या करता है ?....अरे दूल्हा बारातमें जायगा, फिर उसकी शादी होती है।...शादीसे क्या मतलब ?...अरे शादी करनेसे स्त्री मिलती, फिर बच्चे होते, कुटुम्ब चलता। अब इतनी तो बात सुन ली उसने और वह आगे बढता ही गया। चलते-चलते काफी थक गया था सो रास्तेमें ही एक कुवेंके फर्शपर लेट गया। उस कुवेपर चोखटा न था। उसे थक जानेसे नींद आ गई। उस नींदमें उसे एक स्वप्न दिखाई दिया, क्या कि मेरी शादी हुई, स्त्री आयी, बच्चे हुए, फिर आगे स्वप्नमें क्या देखा कि मेरी स्त्री मेरे पास लेटी हुई है। बीचमें बच्चे लेटे हैं। स्त्री बोली जरा सा सरक जावो, बच्चे भिचे जा रहे हैं। ठीक है थोडा सरक गया। यह सब स्वप्नकी बात कही जा रही है। तो स्वप्नकी बात पर वह सचमुच ही उस कुवेंपर कुछ सरक गया। फिर दुबारा स्त्रीने कहा जरा सा और सरक जावो, अभी बच्चे भिच रहे हैं। सो वह पुरुष कुछ और सरक गया। इस

सरकनेमें वह कुवेंके अन्दर गिर पडा। उस कुवेंसे निकलना भी उसे बडा मुश्किल हो गया। कुछ ही देर बाद वही पासके किसी गाँवका जमीदार उस कुवेंसे पानी भरने आया, जब लोटा डोर कुवेंमें छोड़ा तो उस पुरुषने लोटा डोर पकड लिया और आवाज लगायी कि भाई हमें कुवेंसे निकाल लो, हम मनुष्य हैं, कोई भूत वगैरह न समझ लेना, डरना नहीं। हम इस कुवेंमें गिर गये हैं, हमे निकाल लो, बडी कृपा होगी। सो उस जमीदारने उसे कुवेंसे निकाल लिया। बडा आभार माना। आखिर वह जमीदार पूछ बैठा कि आप कौन हैं तो उसने कहा—हम तो बादमें बतायेंगे कि कौन हैं, पहले आप ही अपना परिचय दीजिए, क्यो कि आपने हमारा बड़ा उपकार किया। तो जमीदार बोला—अजी मेरा परिचय क्या पूछते, मैं इस गाँवका जमीदार हू, बहुत बडा परिवार है, बडी लम्बी जायदाद है, खूब भरी पूरी गृहस्थी है। उस जमीदारकी शान भरी बातें वह पुरुष सुनता जा रहा था और बडे आश्चर्य से उसका शरीर नीचेसे ऊपर तक बार बार देखता जा रहा था, सो वह जमीदार पूछ बैठा कि भाई तुम हमारे शरीरको बारबार नीचेसे ऊपर तक क्यो देखते ? क्या तुम कोई डाक्टर हो ? तो वह पुरुष बोला—भाई हम कोई डाक्टर नही हैं, हम इसलिए बार बार तुमको नीचेसे ऊपर तक देखते कि तुम इतनी बडी गृहस्थी बसाकर अब तक कैसे जिन्दा हो ? हमने तो स्वप्नमे एक बार गृहस्थी बसायी सो उसका यह फल हुआ कि कुवेंमे गिरे और तुम सच मुचकी इतनी बडी गृहस्थी बसाकर कैसे अभी तक जिन्दा हो इस बातका हमको बडा आश्चर्य हो रहा इसलिए हम तुम्हें आश्चर्यपूर्वक बार बार नीचेसे ऊपर तक देख रहे।

(२४६) **ज्ञानप्रकाशके प्रयासमें शान्तिमार्गका लाभ**—भैया ! यहाँ ऐसा समझो कि जिन बाहरी चीजोमे हम रम रहे हैं उनमे नियमसे खतरा है, पर एक परिस्थिति है ऐसी कि इन सब समागमोंके बीच रहना पडता है। ठीक है, परिस्थितिवश रहना पडता है सो रहो पर भीतरमे ऐसी श्रद्धा रखो कि ये सब मेरे कुछ नही हैं। उन बाहरी पदार्थोंके प्रति ऐसा अज्ञान न बनायें कि ये मेरे कुछ हैं, क्योकि यहाँ रहना कुछ नही है। कुछ सोचो तो सही कि यदि अज्ञानमे रहकर सारा जीवन गुजार दिया तो फिर आगे मेरा क्या हाल होगा ? इस लिए एक बात मनमें ठान लें कि मुझे तो अपना ज्ञान प्रकाश पाकर रहना है अन्यथा मनुष्य जीवन पानेसे फायदा क्या ? मेरेको तो मेरे आत्माका वह ज्ञानप्रकाश पाना है जो मुझे शान्ति दे। वह ज्ञानप्रकाश क्या है जिसे जैनशासनमें आचार्योंने बताया है। जो आचार्योंके ग्रन्थ हैं, उन ग्रन्थोंमें उन्होने जो जो बातें समझायी हैं उन्हें समझें तो जीवन सफल हो जायगा, नही तो जीवन कुछ नही है। सब कुछ यों ही व्यर्थ जायगा। तब सीखिये आत्मतत्त्वका ज्ञान।

(२४७) **अन्तरात्मत्वके उपायसे बहिरात्मत्वका व्यय व परमात्मत्वका विकास**—

जितने भी जीव हैं लोकमें वे जीव प्रायोजनिक दृष्टिसे तीन प्रकारके मिलेंगे—(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। बहिरात्मा मायने जो बाहरकी चीजको माने कि यह मैं हूँ, ये मेरी हैं, उसका नाम है बहिरात्मा। अन्तरात्मा जो अन्दरके स्वरूपको माने कि यह मैं हू वह अन्तरात्मा है और परमात्मा—जो सर्वज्ञ हुए, वीतराग हुए वे कहलाते हैं परमात्मा। तो अब अपनी खोज करो कि इन तीनोंमें मैं किसमें हूं, बताओ—परमात्मा हो क्या ? नही तो फिर अन्तरात्मा हो क्या ? नहीं। तब फिर अपने को अभी बहिरात्मा समझना चाहिए, क्योकि परमात्मा तथा अन्तरात्मा अभी बन नहीं पाये। अभी तो बहिरात्मा बने बैठे हैं क्योंकि दृष्टि निरन्तर बाहर बाहरकी ओर ही लगी रहा करती है। इन बाहरी पदार्थोंको ही देखकर मानते कि यह मैं हू, ये मेरी हैं ··· । तो बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा रहना बुरा है। बहिरात्मा कहो, मूढ़ कहो, मोही कहो, संसारमे रुलने वाला कहो, सब एक बात है। इस बहिरात्मापनसे लाभ कुछ नही मिलना है। इस बहिरात्मापनको छोडो, अन्तरात्मा बनो। यदि सही सही तत्त्वका ज्ञान किया जाय तो अन्तरात्मा बन सकता है। जो अन्तरात्मा हुए वे ही आत्माका ध्यान कर करके मोक्षको प्राप्त हुए। तो वह तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें जिससे कि मोक्ष मिलता है।

(२४८) **मोक्ष और मोक्षप्राप्तिका अन्तः उपाय**—मोक्ष मायने भी क्या सो विचारिये देखिये हम आप सब तीन चीजोंके पिंडोला हैं—(१) शरीर (२) कर्म और (३) जीव। खूब पहिचान लो, शरीर ही जीव है क्या ? यदि शरीर ही जीव है तो जैसे कहते हैं कि मर गए तो फिर मरनेके बाद इस शरीरको क्यों जलाते ? यदि शरीर ही जीव है तब तो उसे कष्ट होता होगा ? अरे मर गए तो वह जीव निकल गया। अब उस जीवको कष्ट नहीं है शरीरके जलानेसे। शरीर न्यारा जीव न्यारा और इस समय देख लो कि शरीर और जीव दोनों एक साथ रह रहे या नही। और शरीर मिला क्यो ? कर्मसे। तो कर्म भी संगमे हैं, तो तीन चीजोके पिण्ड हैं हम आप—शरीर, कर्म और जीव। और भगवान किसे कहते हैं ? सिद्ध प्रभु किसे कहते हैं ? जो शरीर और कर्म इन दो से अलग हो गया, खालिस अकेला आत्मा ही आत्मा रहा उसे कहते हैं सिद्ध भगवान। जब हम भगवानके दर्शनको आयें तो यह तो चित्त में लायें कि भगवान नाम इसका है और जो भगवान है सो ही मेरा स्वरूप है। भले ही तीन चीजें मिल गईं, मान लो दूध, पानी और तैल मिल गये, मगर हैं तो वे न्यारी ही चीजें। तीनों मिलकर केवल स्वरूप तो नहीं बन गया। दूधमें पानी डाल दिया तो पानी क्यों अलग हो जाता ? दूध फिर अलग हो जाता मशीनसे या गर्म करके, तो वे दो थे इसलिए अलग हो गए। ऐसे ही यह तीनका पिण्ड है, मगर अपना आत्मा इन दो से निराला ही स्वरूप रखता

है, उसको जानें कि यह मैं हूं, शरीरको मत मानें कि मैं हू, इसीको कहते हैं अन्तरात्मा। सो आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि तुम उस आत्माकी श्रद्धा करो कि जिस श्रद्धासे मोक्ष प्राप्त होता है।

(२४९) ज्ञानप्रकाशकी कलासे ही समस्त संकटोंका विनाश—भैया, ऐसी कला अपनी बनायें ज्ञानकी कि जिससे कदाचित् कर्मविपाकवश सकट भी आयें तो भी हम शान्ति पा सकें। सकट आते हैं अज्ञानीके। अज्ञानी जीवोकी बडी दुर्दशा होती है और ज्ञानी जन किसी चीजसे सकट ही नही मानते। मान लो धन कम रह गया तो क्या हो गया? अरे वे थे बाहरी पदार्थ। पास रहे तो क्या, न रहे तो क्या? किसीका वियोग हो गया तो वह जानता है कि वह तो पृथक् जीव था, जितना यहाँ रहना था रहा, अब यहाँसे अन्यत्र कही चला गया। यो वह ज्ञानी पुरुष उससे कुछ कष्ट नही मानता। अज्ञानीको तो पद-पदपर कष्ट है और ज्ञानीको कही भी कष्ट नही। एक मियाँ बीवी थे। बीवीका नाम तो था फजीहत और मियाका नाम था बेवकूफ। उन दोनोमे अक्सर करके लडाई हो जाया करती थी। एक दिन ऐसी तेज लडाई हो गई कि वह बीवी कही भग गई। अब वह मिया अपनी बीवीका चारो ओर पता लगाता फिरे, पर कही पता न चला। एक बार किसी अपरिचित व्यक्तिसे भी पूछ बैठा—भैया, क्या तुमने हमारी फजीहत देखी? तो वह उसका कुछ मतलब ही न समझा, सो पूछ बैठा—भाई आपका नाम क्या है? मेरा नाम है बेवकूफ।····अरे बेवकूफ होकर तुम कहाँ फजीहत ढूढते? बेवकूफको तो जगह-जगह फजीहत है। जहाँ ही कुछ अटपट बोल दिया, बस वही उसके लिए लात, जूते, चप्पल हाजिर हैं। तुम क्यो बेवकूफ होकर फजीहत ढूढते फिरते हो? तो ऐसे ही समझो कि मोही बनकर विपत्तिको कही बाहर नही ढूढना पड़ता। मोहीके लिए विपत्ति सदैव हाजिर है। मोह स्वय विपत्तिरूप है। जिसके अज्ञान है, मोह है वह विपत्तिमे पडा हुआ है। सो अपना सुधार करना है तो ज्ञानप्रकाशमे आइये, ज्ञानप्रकाश जैसे भी मिले उन सारे ढगोको अपनाइये।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरय।
इय णाउ अप्पाणं भावह जिणभावणा णिच्च ॥८८॥

(२५०) अशुद्ध भावकी निन्दनीयता—जीवमे जो अशुद्ध भाव होते हैं उनके कारण उसको दुर्गतिमे जन्म लेना पडता है। जीवका धन है भाव। और कुछ नहीं है जीवके पास। शुद्ध भाव करे तो इस जीवको शान्ति मिले, अशुद्ध भाव करे तो इस जीवको कष्ट हो। इस गाथामे बताया है कि अशुद्ध भावोंसे युक्त होकर सालीसिक्थ नामका मच्छ नरकमे गया। (उसकी गाथा पीछे कही जायगी) सो यह जानकर निरतर आत्माकी भावना करें याने आत्मस्वरूपका चिन्तन करें। आत्मस्वरूपके चिन्तनमे ही सम्यक्त्व बनता है। पर्यायात्मबुद्धि

में मिथ्यात्व है, मिथ्यात्वमूलक अशुद्धभाव दुर्गतिका कारण है। राघव मच्छ होता है एक बहुत बड़ा मच्छ, जो स्वयंभूरमण समुद्रमें है। जैसे जहाँ अपन लोग रहते हैं यह है जम्बूद्वीप, उसे घेरकर है लवण समुद्र, उसको घेरकर है दूसरा द्वीप। तो ऐसे द्वीप समुद्र घेर घेरकर अनगिनते हैं। जम्बूद्वीप है एक लाख योजनका, उससे दुगुना है समुद्र एक तरफ, उससे दूना है द्वीप। दूने दूने होते चले गए, और वे करोड़ो अरबोंसे भी अनगिनते ज्यादा हैं। तो जो आखिरी समुद्र है वह कितना बड़ा होगा सो तो विचारो। उस समुद्रमें कोई राघव मच्छ होता है जिसकी १००० योजनकी लम्बाई, ५०० योजनकी चौड़ाई और २५० योजनकी मोटाई है, इतना बड़ा मच्छ होता है, और उस ही के कानमें एक तदुल मच्छ बहुत छोटा रहता है। सो राघव मच्छ अपना मुख बाये रहता है। उसके मुखमें सैकड़ों मछलियाँ आती जाती रहती हैं। यदि किसी समय वह अपना मुख बद करले तो वह एक बारमें सैकड़ों मछलियाँ खा सकता है। यह तो है राघव मच्छकी बात। अब उसके कानमें जो तंदुल मच्छ रहता है सो वह सोचता है। देखता है कंठकी तरफ जाकर कि यह मच्छ अपना मुख बाये रहता है, पर यह इन मच्छियोको नही खाता। इसकी जगहपर यदि मैं होता तो एक भी मछली बचने न देता। ऐसा खोटा भाव रहता है तंदुल मच्छका जिसके कारण वह मरकर ७ वें नरकमे जाता है।

(२५१) **तंदुल मत्स्यकी पूर्व वर्तमान व उत्तर भवकी कथा**—तंदुल मत्यको पूर्व व उत्तर भवकी कथा इस तरह है कि बहुत पहले समयमे एक सौरसेन नामका राजा हो चुका है, वह श्रावक कुलमे पैदा हुआ था, पर बादमे मांसाहारी हो गया था। एक बार उसने किसी मुनिराजका दर्शन किया तो मुनिराज ने उपदेश दिया कि तू मांसका त्याग कर दे। सो उसने मासका त्याग कर दिया। अब त्याग तो कर दिया पर उसे कोई प्रधान ऐसा मिल गया कि जो मासाहारी था, उसके प्रसंगमे आकर उसको भी मांस खानेकी लालसा बनी रहा करती थी। अब देखो नियम तो लिया था यह कि मैं जीवन पर्यन्त मास न खाऊँगा, सो खा तो न सकता था पर उसके मनमे मांस खानेका भाव निरन्तर बना रहता था। यहाँ तक कि उसने लुक छिपकर रसोइयासे छोटे छोटे जीवोका मांस भी बनवाया पर कुछ ऐसे योग मिलते गए कि संकोचके मारे वह खा न सका। अब देखो मांस खा न सका और भीतरमें प्रबल इच्छा बनी रही तो वह राजा मरकर तदुल मत्स्य हुआ है। अब देखो जिसकी जैसी भावना होती है अगले भवमे उसकी वैसी ही बात बनती है। चूँकि पहले भवमें मांस तो खा नहीं पाया और मांस खानेकी भीतरमे बहुत रुचि बनी रही तो वह मरकर तंदुल मत्स्य हुआ। वह तंदुल मत्स्य उस महामत्स्यके कानमे पैदा होता है और उस कानका मैल खा

कर अपना सारा समय गुजारता है। जब वह तंदुल मत्स्य कुछ बडा हो गया, समर्थ हो गया, तो एक बार वह वहाँसे कठवी तरफ गया। वहाँ घूमते हुएमें उसने देखा कि यह राघव मच्छ इतना बडा मुख फैलाये है कि जिसमें सैकडों मछलियाँ लोट रही हैं, यह मच्छ इन्हें खाता नहीं है। यदि इस मच्छकी जगह मैं होता तो एक भी मछली बचने न देता, ऐसा भाव वह तदुल मत्स्य बनाता है। तो ऐसे खोटे भावके कारण वह भी ७वें नरकमें पैदा हुआ और राघव मच्छ भी ७ वें नरकमे पैदा हुआ दोनो नारकी बने ? सो एक बार वह मिला। उन्हें खोटा अवधिज्ञान तो होता ही है तो बडे मच्छने तदुल मत्स्यसे मानो पूछा कि जरा यह तो बताओ कि हम तो अपना मुख बाये रहा करते थे जिसमें हजारों मछलियाँ लोटा करती थीं सो ७ वें नरकमे पैदा हुए यह तो वाजिब है, पर तुम क्यों ७वें नरकमे पैदा हुए, क्योंकि तुम तो एक भी मच्छी नहीं खा सके ? तो मानो उस मत्स्यने यही उत्तर दिया कि भाई बात यह है कि तुम तो यो ही मुख बाये पडे रहे, तुमने अपना भाव मुझ जैसा नही बिगाडा, पर मेरा तो निरन्तर यही खोटा भाव रहा करता था कि यह मत्स्य यो ही मुख बाये पडा रहता है, इसके मुखमे सैकडों मच्छियाँ लोटती हैं फिर भी यह इन्हे नहीं खाता, यदि इसकी जगह मैं होता तो एक भी मच्छी बचने न देता। इस प्रकार मैं यह ७वें नरकमे आया।

(२५२) **अपध्यानके त्यागका उपदेश**—भैया, अब यह समझलो कि अशुद्ध भाव करने से नियमसे अशुद्ध फल मिलेगा। भले ही आज कुछ पुण्यका उदय है और खोटे, भाव करने पर भी कोई तकलीफ नही हो रही है, मगर कर्मबंध तो हो ही रहा है। अब उस कर्मका जब उदय आयगा तो नियमसे कष्ट भोगना पडेगा। इस कारण हे आत्मन् ! तू अपने आत्माको निरख। कैसा है यह आत्मा ? सबसे निराला है, ज्ञानस्वरूप है और सिद्ध भगवानके समान स्वरूप वाला है। जिन भगवानको हम पूजने आते हैं वह भगवान क्या हैं ? शुद्ध आत्मा, सर्वज्ञ आत्मा, वीतराग आत्मा। तो वही स्वरूप हमारा है, वही स्वरूप तुम्हारा है। यहाँ शरीरमे बँधे हैं इस वजहसे संसारमे रुलते हैं, जन्म मरण करते हैं, जब अपने आत्माको जान जायेंगे और उसी आत्मासे प्रेम रहेगा वहाँ ही सतोष करेंगे तो कर्मोंका क्षय होगा और सिद्ध भगवान बनेंगे। सो उस आत्मभावनाको निश्चय सम्यक्त्व कहते है और श्रद्धान रूप व्यवहारको व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। सो अपध्यानको छोडकर व्यवहार सम्यक्त्वके मार्गसे आगे बढ़कर निश्चय सम्यक्त्वको पावो। अपध्यान करना बुरा है। इस गाथामें मुख्यतया यह उपदेश किया है कि जो दूसरोंका बुरा विचारते हैं उनको नरकमें जाना पडता है। किसीका नाश हो जाय, किसी का कुछ बिगड़ जाय आदिक रूपसे जो बुरा करता है उसके पापकर्मका बंध होता है और दुर्गतिमे जन्म लेना पडता है। बताया है स्वामी समतभद्राचार्यने कि जो द्वेषके वश होकर किसी

का वध विचारता है, किसीका घात विचारता है, किसीका छेदन भेदन विचारता है, यह सब अपध्यान है। उस अपध्यानके कारण इस जीवको नरकमें जाना पड़ता है। इसलिए कभी किसीके प्रति खोटा विचार न करें। खोटा विचार करनेसे उस दूसरेका कुछ नहीं बिगड़ता, यदि उसके ही पापका उदय है तो बिगड़ेगा, मगर खोटा विचार कर लेनेसे खुदका बड़ा बिगाड़ होता है। जो कर्म बँध जाते हैं वे अपने समयपर फल देते हैं। वैसे लौकिक दृष्टिसे भी देखो, अगर किसीका बुरा विचारनेसे वर्तमानमें कुछ लाभ होता हो तो बताओ। खोटा भाव बनानेके समय व बाद भी बड़ा संक्लेश करना पड़ता है इस कारण अपध्यानको दूर करें।

(२५३) अपध्यान छोड़कर पदस्थ ध्यानमें लगनेका संदेश—यहाँ यह उपदेश किया है कि खोटा ध्यान तो छोड़ो और चार प्रकारका जो धर्मध्यान है उस धर्मध्यानमें आवो। पदस्थ धर्मध्यान याने मंत्रके सहारेसे मन्त्रका अर्थ जानकर भगवानके स्वरूपका ध्यान बनावें। णमोकार मन्त्र बोलते हैं सब पर उसके साथ जैसे अरहंतको नमस्कार कहा तो अरहंतका स्वरूप भी सामने आये कि ऐसे आकाशमें ५ हजार धनुष ऊपर गंधकुटीमे विराजमान हैं, जिनका शरीर धातु उपधातुके दोषसे रहित है, स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ पवित्र है और उसमे रहने वाले आत्मा सर्वज्ञ वीतराग हैं, रागद्वेषके दोषसे दूर हैं, वे अरहत हैं और वैसा ही मेरा स्वरूप है, मेरा भी स्वभाव वही है जो भगवानका स्वरूप है, ऐसा ध्यान रखकर णमो अरहंताणं शब्दका मुखसे उच्चारण करें। लोग कहते हैं कि इस णमोकारमन्त्रमे अद्भुत सामर्थ्य है, इस मंत्रके जापसे बड़े-बड़े संकट टल जाते हैं। तो जो भावसहित णमोकारमन्त्रका स्मरण करता है उसके नियमसे समस्त संकट दूर हो जाते हैं, क्योंकि भावोंकी वहाँ निर्मलता है। आप णमो सिद्धाण कहें तो ऐसा ध्यान करें कि लोकके अन्तमे सिद्ध भगवानका आत्मा बिराजा है। केवल आत्मा ही आत्मा है, शरीर और कर्म उसके दूर हो गए हैं, ऐसा शुद्ध आत्माका चिंतन करके फिर नमस्कार करें—णमो सिद्धाणं बोलकर णमो आयरियाणं जपते तो उस समय ऐसा ध्यान बनायें कि मानो किसी जंगलमे मुनियोका संघ ठहरा है। उनके बीच आचार्य महाराज विराजे हैं बिल्कुल विरक्त, क्षमाशील और मुनिसंघका उपकार करने वाले, ऐसे आचार्यदेवको ध्यानमें रखकर बोलें—णमो आयरियाणं। णमो उवज्झायाणं बोलते समय क्या ध्यान करें कि अनेको मुनिराज एक साथ बिराजे हैं, उनके बीचमें महान ज्ञाता उपाध्याय उनको पढ़ा रहे हैं, आत्मतत्त्वको समझा रहे हैं। ऐसा दृष्टिमें रखकर बोलें—णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं—इसमें साधुवोंको नमस्कार किया है, सो ऐसा ध्यानमें रखकर बोलें कि विशाल जंगल पर्वतमें कोई गुफामें बैठे ध्यान कर रहे हैं, कोई पर्वतपर बिराजे ध्यान कर रहे हैं, कोई वृक्षके नीचे ध्यान कर रहे हैं, कोई नदीके तटपर ध्यान कर रहे हैं, केवल आत्मचि-

लीन कर रहे अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव कर रहे, अपनेमें ज्ञानानुभव कर रहे, अलौकिक आनन्द ले रहे, कर्मोंका क्षय हो रहा, सो अनेक प्रकारके तपश्चरण करने वाले साधुवोंको दृष्टि में रखकर कहें णमो लोए सव्वसाहूणं। अपध्यानको छोडकर ऐसा शुद्ध ध्यान बनायें, यह उपदेश किया जा रहा है।

(२५४) अपध्यानसे हटकर पिण्डस्थ ध्यानसे अभ्यस्त होकर रूपस्थ व रूपातीत ध्यान द्वारा शुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका ध्यान करनेका अनुरोध—कभी कभी ऐसा ध्यान बनावें कि जैसे मैं इस पृथ्वीसे ऊपर आकाशमे विराजा हूं। पहले तो एक कल्पनाका आधार चले, पर उस आधारसे विकल्प छूट कर जो आत्माका ध्यान बनता है उससे आत्मानुभव होता है। सो एक आसनसे विराजे ऐसा ध्यान बनावें कि मैं आकाशमे बैठा हू। मानो एक मेरुपर्वत है, उसके ऊपर विराजे हो और नीचे सर्वत्र समुद्र ही समुद्र है और वहां अपना ध्यान बनावें अपने आत्मामें इस ज्ञानस्वरूपका। यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जो कि देहके आकारमें बना है। मेरे इस देहके भीतर मानो नाभिपर दो कमल है, एक नीचे व एक ऊपरसे औंधा। नीचेका कमल तो हुआ एक ज्ञानकमल और ऊपरका कमल हुआ कर्म जो उस ज्ञानको कर्म ढक रहे हैं। तो उस ज्ञानकमलके साथ कर्णिकापर बीचमे एक अद्भुत चैतन्य तेजका ध्यान करें। मात्र ज्ञानस्वरूपका ध्यान रहे। इस ध्यानके प्रतापसे अग्नि बढ़ी और ऊपरका कमल भस्म हो गया और उसके साथ ही साथ देह भी भस्म हो गया और उसी समय एक शुद्ध सम्यक्त्वविहारकी तीव्र वायु चली, सारी भष्म उड गई, फिर ज्ञानानुभूति जलकी वर्षा हुई, सब मैल धुल गया खालिस आत्मा ही आत्मा रह गया और उसमे यह हू मैं ज्ञानज्योति ऐसा ध्यान बना तो बाहरी पदार्थोंके ख्याल छूट गए और अपने आपमे लीन हो गए। सो इस आत्माका ध्यान बनावें और अपध्यानको छोडें, खोटी बातका चिंतन न करें। रूपस्थ ध्यानसे सकलपरमात्माके अन्तस्तथ्यका ज्ञानवृत्तिका व अविकारस्वरूपका ध्यान करें। रूपातीत ध्यानमें अविकार ज्ञानमात्र परम ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान करें। ऐसे अंतस्तत्त्वका ध्यान करके अपने इस मानवजीवनको सफल करें।

बाहिरसगच्चाओ गिरिसरिदरिकदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाण ॥८९॥

(२५५) सहज ज्ञानज्योतिकी उत्तमवैभवरूपता—सबसे बड़ा वैभव क्या है, जरा नाम ले लेकर और उसका सही-सही स्वरूप विचार विचारकर चिन्तन तो करें। सबसे बड़ा वैभव क्या यह मकान है ? अरे यह तो अभी कुछ दिन पहले ही बना है और कुछ ही दिनो में मिट जायगा, मिट्टी पत्थरका है, जड़ है, यह मेरा वैभव नही। तो क्या कुटुम्ब परिवार

ये जगतके जीव यत्र तत्र घूमने वाले वैभव है ? अरे संयोग वश एक घरमें आ गए, पर हैं ये सब अत्यन्त निराले जीव और उनके साथ उनके कर्म बंधे हैं और उन कर्मोंके उदयसे उनको सुख दुःख भोगना पड़ता है, मेरेको तो उनसे कुछ सम्बन्ध ही नही, न मैं उनका कुछ कर पाता न वे मेरा कुछ कर पाते, स्वतंत्र सत्ता वाले हैं वे मेरे वैभव नही। तो क्या मेरा वैभव यह शरीर है ? शरीर भी मेरा वैभव नही, ये भी पुद्गल हैं, जड़ हैं, मैं आत्मा चेतन हूं। और फिर यह मलिन है, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है, अनेक रोगोका घर है। जितने लोग यहाँ दिख रहे उन सबके कोई न कोई रोग लगा है। किसीको महसूस नही होता और किसीको महसूस होता। आपत्तिका स्थान है यह शरीर, यह महा अपवित्र दुर्गन्धमय है, यह मेरी चीज नही है। तो फिर मेरा क्या है ? मेरी ज्ञान ज्योति मेरा तत्त्व है। उस ज्ञान ज्योतिका विचार करें।

(२५६) ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानको उतारे बिना व्रतादिककी विफलता—सहज ज्ञानज्योति जिसको नहीं मिली, अपने आत्माके स्वरूपका जिसको परिचय नही हुआ, ऐसे पुरुषकी बाहर की धर्मकी बातें सब निरर्थक हैं। बाह्य पदार्थोंका त्याग कर दिया और उसके प्रति खोटी भावनाकी वृत्ति छूटी नही तो उन बाह्य पदार्थोंका त्याग करना निरर्थक रहा। अभी तदुल मत्स्यका उदाहरण था कि वह पहले था एक राजा, उसने मांसका तो त्याग कर दिया और शर्मके मारे खा सके नही तथा भीतरमे मास खानेकी तीव्र रुचि थी उसकी, वह ही तो मरकर तदुल मत्स्य हुआ, और तदुल मत्स्यने भी यही कार्य किया, मरकर नरकमे गया। तो जो भावरहित पुरुष है वह कुछ भी वृत्ति कर ले और यहाँ तक कि बाह्य पदार्थोंका त्याग कर दिया तो भी उनका यह त्याग निरर्थक है। वे किसी गुफामे एकान्तमें रहें या नदीके किनारे रहे या किसी कंदरामे रहे, उनका ऐसा एकान्तमें रहना भी निरर्थक है, क्योंकि भावना तो गंदी है, कषाय रखनेकी है, विषय भोगनेकी है और अज्ञानी जीव जिनको आत्मस्वरूपका परिचय नही हुआ है वे यदि ज्ञान और अध्ययनका भी कार्य करें तो उतना ही तो कर पायेंगे कि शास्त्र खोला और बाँच लिया, कुछ अर्थ भी समझ लिया, पर वह चित्तमे उतरे, यह बात वे नहीं कर सकते। तो फिर उनका यह ज्ञानध्यान भी सफल नही है, इस कारण जिस ज्ञानज्योतिकी कृपासे व्रत तप आदि सफल होते हैं, आत्मामें निराकुलता जगती है उस सम्यक्त्व भावनाको भावो।

(२५७) शुद्ध अन्तस्तत्त्वके मनन बिना बाह्य संगत्याग आदिकी निरर्थकता—अपने आत्माका ऐसा चिन्तन करो कि मैं सबसे निराला ज्ञानस्वरूप हूं, जो कुछ मैं करता हूं अपने मे ही कर रहा हूं। अपनेसे बाहर कुछ कर ही नही सकता। ऐसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावसे

तन्मय आत्माकी भावना जो नही करता है उनका बाह्य परिग्रहोका त्याग करना निरर्थक है। भीतर लालसा बने तो वह त्याग किस कामका ? बडे बडे तप भी कर डालें तो भी शुद्ध भाव नहीं हैं। तो कर्म यह नहीं देखते कि ये पर्वतपर बैठे तपश्चरण कर रहे मैं इनसे न बँधूं। कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो अपने आत्मभावके साथ है, सो अपने ही भाव में शुद्धि करें तो कर्मोंसे छूटें और उनसे लगाव रखें तो कर्मोंसे लिपटें। दरिद्र मनुष्य भी तो परिग्रहसे रहित हैं, उनके पास क्या है ? टूटी फूटी झोपडी है, मगर उनका कोई शुद्ध भाव है क्या ? निरन्तर संक्लेश रहता है, तृष्णा बनी रहती है, ऐसे ही बाह्य परिग्रहका कोई त्याग कर दे तो ऐसे भी मनुष्य बहुत मिल सकते हैं जो नग्न हैं, वस्त्र त्याग दिया, घर त्याग दिया पर उससे फायदा क्या ? फायदा तो तब है जब कि अन्तरङ्ग परिग्रहका भी त्यागी हो। जो बाह्य आभ्यंतर दोनो प्रकारके परिग्रहोका त्यागी है वह इस लोकमे बडा सुखी है। भीतरकी एक कील ही तो निकालना है। एक अपने स्वरूपका अलौकिक वैभव ही तो निरखना है कि यह मैं ज्ञानस्वभावमात्र हू, तो ऐसे ज्ञानस्वभावकी भावना जिनके है उनके शुद्धता बढ़ती है और जो परके मोह लगावमें ही रहते हैं उनकी दुर्गति होती है। बहुत मोटी बात यह सोचें कि छूट तो सब जाना है। जो छूटेगा नियमसे उससे मोह ममत्व क्यो करना ? मेरा ज्ञान मुझसे न छूटेगा। इसलिए अपने ज्ञानस्वभावमें ही प्रीति रखना। मैं यह हू यह भावना ऐसी दृढ़ बने कि उसे यह भी ध्यानमे न रहे कि मै अमुकचंद हू, अमुक लाल हू। दूसरा कोई पुकारे भी तो झट सुननेमे न आये और न बाहरकी ओर कोई आकर्षण हो। एक निज ज्ञान स्वरूपकी ही भावना निरन्तर चित्तमें रहे। तो हे कल्याणार्थी मुने, इसी तरहका पौरुष करो कि ज्ञानस्वरूप ज्ञानज्योतिर्मय सिद्ध स्वरूपके समान मेरा आत्मस्वभाव मेरे ज्ञानमे रहे। मैं इतना ही हू और इसमें जो कुछ देखने जाननेका काम हो रहा वही मेरा वास्तविक कार्य है, ऐसा ध्यानमें लायें और मोह मिथ्यात्वको दूर करें, यही परमार्थ सिद्धिका उपाय कहलाता है।

भजसु इंदियसेण भजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरण बाहिरवयवेस त कुणसु ॥९०॥

(२५८) इन्द्रियसेनाको भग करने व मन मरकटको भञ्जन करनेका उपदेश—जो अपने आत्माका कल्याण चाहते हैं उनको गुरु महाराज उपदेश करते हैं कि इस इन्द्रियकी सेनाका भंग करो याने इद्रियां जो चाहती हैं रस, गध, रूप देखना, अच्छे शब्द सुनना, अच्छा कोमल स्पर्श आदिक जो जो भी इन्द्रियां चाहती हैं सो ये सब चाह रही हैं इसलिए इनको सेना कहा है। जैसे कोई सेना आक्रमण करती है इसी प्रकार इन्द्रियां इस ब्रह्म राजा पर आक्रमण कर रही हैं। तो इस ब्रह्मराजाको कह रहे कि तुम इस इन्द्रियकी सेनाको भंग करो

और मन रूपी बंदरको प्रयत्नसे भंग करो। जैसे इन्द्रियके विषय इस जीवको सताते हैं ऐसे ही मनका विषय भी सताता है। तो मन रूपी बंदरको भगाओ।

(२५६) **जनमनरंजनके अर्थ साधुवेश ग्रहण करनेमें आत्मपतन**—मनुष्योंके दिल बहलानेके लिये बाह्यवेश मत करो। मावने मनुष्योंको खुश करनेके लिए जो कपट जाल रचा जाय ऐसा काम मत करो। मनुष्य खुश रहें, मगर खुदगर्जीके लिये, खुश करनेके अर्थ खोटी करतूत मत बनायें कि मनुष्य हमसे खुश रहें। मेरी इज्जत बढावें इसके लिए साधु बन जावें यह भाव मत लावो। ऐसी बात मनमें न विचारो कि चाहे कितने ही पापकार्य करने पड़ें फिर भी सब मनुष्य हमको पूजते रहे। तो उन सन्यासियोंको उपदेश कर रहे जो बाहरसे संन्यासीका भेष रख रहे और इन्द्रियोंके वश हो रहे। जिनको अपने आत्मस्वरूपको देखनेका इरादा नहीं रहता उनको उपदेश किया है कि तुम इन बाह्य विषयोंको त्यागकर अपने आपके स्वरूपमें लगो, केवल बाह्य भेष धारण करने वाले मत बनो। तो इसमे तीन बातें कही गई। एक तो इन्द्रियको वशमे करो, तुम इन्द्रियके वशमे मत रहो। दूसरे मनको वश करो मनके आधीन मत रहो। तीसरे लोगोको खुश करनेके लिए जंत्र मन्त्र आदिकका प्रयोग मत करो, ब्रह्मस्वरूप की ही भावना भावो।

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्त चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरूणा करेंहि भत्ति जिणाणाए ॥६१॥

(२६०) **मिथ्यात्व व कषायके त्यागका उपदेश**—हे आत्मकल्याण चाहने वाले साधो! तुम हल्की हल्की कषायोको भी दूर करो। बडी तीव्र कषायोको तो छोड़ो ही पर जैसे लोक व्यवहारमे हँसना, हास्य करना या किसीसे राग करना, प्रीति करना, किसीसे द्वेष रखना, किसी का बुरा मानना, डरना, रंज करना या किसीसे घृणा करना, शीलकी रक्षा न कर पाना, ऐसे भावोको भी तुम छोडो, क्योंकि जिसको ब्रह्मस्वरूपमें मग्न होना है उसे तो जैसे ब्रह्मस्वरूपका दर्शन होवे वैसे बाहरमें सदाचार करना चाहिए। दुराचारमे रहकर और फिर संन्यासीका भेष भूषा रखकर तो वह गृहस्थसे भी बुरा है, क्योंकि गृहस्थ तो स्पष्ट है, कि घरमें रहता है, कितने ही पाप लगते है मगर कोई साधुका तो भेष रखे और इस मनकी करतूतको करता रहे तो वह उत्तम गृहस्थ भी नही है। इसलिए हे साधु, तुम इन कषायोको छोडो, मिथ्यात्वका त्याग करो, भावोको निर्मल बनाओ। मिथ्यात्व उसे कहते हैं कि जीव तो है ज्ञानस्वरूप, ज्ञान ज्योति प्रकाश और देह है जड़, उसे माने कि यह मैं हूं तो यह मिथ्यात्व कहलाता है। कुटुम्ब आदिकको समझे कि ये मेरे हैं इसे मिथ्यात्व कहते हैं। झूठ बातको तो त्याग दो, अपने भावों को निर्मल बनाओ।

(२६१) प्रभु, प्रभुवचन व गुरुकी भक्ति करनेका उपदेश—धर्म ध्यानमें भगवानका ध्यान करो, भगवानकी वाणी सुनो, गुरुवोंकी भक्ति करो। इस प्रकारके धार्मिक प्रसगोंमें रहो। जब कभी इस संसारमें रुलते रहे और विपत्ति आती है तो उससे बचनेका उपाय बनाना है। विपत्तियोंसे घबडानेसे कही विपत्ति दूर नही होती या विषयोमे लगनेसे आनन्द नही मिलता। आनन्दका कारण और शान्तिका करण तो धर्मका सेवन है। धर्म क्या है, उसके लिए चार बातें करनी चाहिऐं—(१) एक तो भगवानकी भक्ति करो जो रागद्वेषसे दूर हो गए, कर्मसे दूर हो गए, केवल आत्मा ही है, उस भगवान ज्ञान ज्योतिके दर्शन करो। (२) दूसरा काम है भगवानकी वाणी सुनो। भगवानने क्या बताया है, किस तरहसे उद्धार होता है उस वाणीको सुनो, (३) तीसरा काम है गुरुजनोंकी भक्ति करना, (४) चौथा काम है भगवानकी वाणी सुनकर अपने आत्माको पहिचानकर अपने आत्माकी दृष्टि बनाना कि मैं हू यह ज्ञानस्वरूप भगवान। इन चार कार्योंमें बढे, केवल धर्मका भेष रखकर ही काम न बनेगा, किन्तु आत्माकी पहिचान करें और उसके लिए प्रभुभक्ति, प्रभुवाणीमनन, गुरुसेवा, ये मुख्य तीन काम हैं। मुख्य काम तो है आत्माकी आराधना। आत्माका जो सहज स्वरूप है उसकी दृष्टि रखना और उसका सहायक है भगवद्भक्ति, भगवत् मनन वाणी और गुरुवोकी सेवा।

(२६२) एकान्त मिथ्यात्वका भाव—मिथ्यात्व क्या चीज है ? तो मोटे रूपमे तो यह है कि शरीरको अन्य पदार्थोंको आपा समझना और उसके विस्तारमे चलें तो, दर्शनके रूपमे चलें तो वे ५ प्रकारके मिथ्यात्व हैं—(१) एकान्तमिथ्यात्व, इस एकान्त मिथ्यात्वके मायने है पदार्थमे शक्ति, धर्म तो हैं अनेक, पर हठ करना एक ही धर्म माननेकी। जैसे बतलावो जो यह जीव है वह सदा रहता है एकसा या बदलता रहता है ? दो बातें जैसे पूछी जायें सो उत्तर तो दोनों हैं कि जीव सदा रहता है, तो सदा रहता है, मगर परिणामसे जो पहले था सो ही अब है, सो ही आगे है, सो स्वभावसे बदलता है। कैसे बदलता कि कभी क्रोध कर रहे, कभी घमंड कर रहे, कभी मायाचार है, कभी लोभकषाय है तो यह रूप बदला ना ? इसीको कहते हैं नित्य और अनित्य। अब स्वभावदृष्टिसे तो जीव एक है और परिणामकी दृष्टिसे जीव भिन्न भिन्न रूप बन जाते हैं, अब उसमे कोई एक हठ करले कि नही, सदा एक सा ही रहता है, उसमें जरा भी बदल नही होती, तो वह सच होकर भी झूठ हो गया। जैसे किसीने पूछा कि बतलावो यह चौकी कैसी है ? तो कोई कहेगा कि यह चौकी ३ इच मोटी है। कोई कहेगा कि ६ इंच लम्बी है, कोई कहेगा कि यह ८ इंच ऊँची है। अब देखो बात सबकी ठीक है क्यो कि जब ऊँचाईकी दृष्टिसे देखा तो ८ इच, लम्बाईकी दृष्टिमे देखा तो ६ इच और मोटाईकी दृष्टिसे देखा तो ३ इंच, अब इसमे कोई यह हठ करे कि चौकी तो ३ इच ही है, बाकी की सब

बातें झूठ हैं, तो वह सच बोलकर भी झूठ हो गया। मोटाईकी दृष्टिसे तीन इंच है मगर वह भी गलत बन गया क्योंकि दूसरोंकी बातको मना किया। ऐसी ही जीवकी बात है। जीव सदा रहता है। जब स्वभावदृष्टिसे देखा तो जीव एकसा रहता और जब पर्यायदृष्टिसे देखा तो उस का नया नया ढंग रहता है। तो उनमेसे एक ही बात माने तो वह एकान्त है।

(२६३) **विपरीत व विनय नामक मिथ्यात्वका भाव**— (२) दूसरा मिथ्यात्व है। विपरीत मिथ्यात्व मायने हो तो कुछ और मान लेवे उसका उल्टा तो यह कहलाना है विपरीत कैसे कि जैसे पशुको मारनेसे हिंसा है और यह कहे कि नही, भगवानका नाम लेकर पशुको मारे तो धर्म है तो यह विपरीत बात हो गई। चाहे भगवानका नाम लेकर पशु मारा जाय चाहे वैसे मारे, वह तो हिंसा है, अधर्म है। अब यह बलिप्रथा जो चली कि किसी देवी देवताके आगे भेड, बकरा, सूकर आदिक चढ़ाना और उसे धर्म मानना तो यह तो महा अधर्म है, हिंसा है। इस प्रकारके हिंसात्मक कार्य कभी धर्म नही हो सकते भला बताओ जो जीव मारा जा रहा उसे सक्लेशसे मरण करना पडता है और यहाँ स्वार्थवश धर्मकी ओटमें भगवानका नाम लेकर जीवहिंसा कर धर्म मानते हैं तो यह विपरीत एकान्त है। और जैसे शरीर तो जीव नही है, शरीर तो अजीव है, पर इसीको ही देखकर कोई माने कि यह मैं हू तो यह विपरीत बन गया। यह विपरीत मिथ्यात्व नामका दूसरा एकान्त है। (३) तीसरा एकान्त है विनय मिथ्यात्व। अब देखो मोक्ष जानेका रास्ता तो एक है, अनेक नही है मगर सभी लोग आम तौरसे ऐसा कह बैठते हैं कि चाहे किसी भी धर्मसे (मजहबसे) जावो, अन्तमे मोक्ष मिलेगा। पर ऐसी बात नही है। अरे मोक्ष तो आत्माके धर्मको पहिचानना है मायने आत्मा अपना ज्ञान करे और अपने आपमें रमे उससे मोक्ष होता है। अब यह बात करनेसे पहले अनेक बातें व्रत तप आदिककी करनी पडती है, मगर अन्तमें जिसको भी मोक्ष मिलेगा सो आत्मामे रमकर ही मिलेगा, और प्रकार नही मिल सकता।

(२६४) **संशय व अज्ञानमिथ्यात्वका भाव**—(४) चौथा मिथ्यात्व है संशयमिथ्यात्व संशयमें झूलना कि जीव है कि नही है, वैसी ही बात करता रहे, यह भी मिथ्यात्व है। जिसको पक्का श्रद्धान हो कि यह मैं जीव हू, ज्ञानस्वरूप हू और इसही मे मग्न होनेसे, शान्ति मिलेगी, जो ऐसी अपनेमे पक्की श्रद्धा करके रहे उसको तो वह गली मिलती है और जो संशयमें झूले भगवान है कि नहीं, तो उसे मार्ग नही मिल सकता। एक ऐसा कथानक है कि एक मुसलमान और एक हिन्दू दोनो साथ-साथ जा रहे थे, तो रास्तेमे पड़ी एक नदी, सो नदीमें से पार हो रहे थे। उस नदीमें पानी था विशेष सो अब वे अपने अपने भगवानका स्मरण करने लगे। मुसलमान तो अपने खुदाका ही स्मरण अन्त तक करता रहा और आ-

रामसे नदी पार हो गया, पर हिन्दू भाई कभी तो किसी देवताका नाम ले कभी किसीका मानों कभी कहा हे शंकर जी रक्षा करो, अब मानों शंकर जी रक्षा करने आ रहे थे तो इतने में ही बोल उठा, हे विष्णु भगवान रक्षा करो। लो आ तो रहे थे शंकर रक्षा करने, पर विष्णुका स्मरण किए जानेपर शकर वापिस हो गए, फिर मानो विष्णुका स्मरण करनेपर विष्णु भी पहुँचे, पर इतनेमे ही वह कह उठा, हे ब्रह्मा जी रक्षा कीजिए। मानो ब्रह्मा जी भी रक्षा करने दौड़े मगर इतनेमें कह उठा—हे दुर्गामाता रक्षा कीजिए। यों अनेको देवी देवताओंका बार बार स्मरण करता रहा, किसी एक देवपर आस्था न रखी तो उसका फल यह हुआ कि वह नदी पार न कर सका। उस नदीके जलमे डूब गया। तो यह संशय भी मिथ्यात्व है। आत्माके बारेमे इस प्रकारका सशय न करें कि आत्मा है कि नही। मै जीव हूं, ज्ञानस्वरूप हू, मेरेमे कोई सकट नही। मैं चैतन्यस्वरूप हू, ऐसी दृढ़ भावना हो तो सम्यग्दर्शन है। नही तो सशय मिथ्यात्व है। (५) पाँचवां मिथ्यात्व है अज्ञानमिथ्यात्व अज्ञान मिथ्यात्वमे अज्ञान ही अज्ञान भरा रहता है, कोई कोई लोग तो यो भी कह डालते कि कुछ भी ज्ञान न करें तो मोक्ष मिल जायगा और यदि ज्ञान करेंगे तो मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते रहेगे, पर ऐसी बात नही है। तर्क वितर्क तो होते हैं अज्ञान दशामे। देह जीवको जो एक मानता है वह भी अज्ञान है। तो ये ५ तरहके मिथ्यात्व हैं। सच्चा ज्ञान न हो सकना यह सबसे बडा पाप है। मिथ्यात्वयुक्त ज्ञानके बराबर दुनियामे कोई पाप नही।

(२६५) **भावशुद्धिसे संकटपरिहार**—भैया, भावशुद्धि करो याने सच्चे स्वरूपका अनुभव करो। शुद्ध बुद्ध जो एक ज्ञानस्वभाव है, आत्मा है उसकी रुचि करे, भगवानके दर्शन करें, भगवत् वाणीका आदर करें, शास्त्र पढ़ें, ज्ञान सीखें, जो हितका उपदेश देने वाले गुरु जन हैं उन गुरुवोकी भक्ति करें, तो ऐसी भक्ति द्वारा कमसे कम सद्गति तो मिलेगी, फिर आगे बढ़ेंगे। धर्मके लिए ब्रह्मस्वरूपमे मग्न होना होता है तब धर्म है। यह बात यदि अभी नही कर पाते तो आगे बन जायगी। प्रभुकी भक्ति करें ताकि हृदय निर्मल रहे और पापकी बातें चित्तमे न आयें सो शुभ व शुद्ध कार्य करके अपने आत्मकल्याणमे लगें। आत्मकल्याण चाहने वाले पुरुषोको सर्वप्रथम इन चार दुराशयोंको छोडना चाहिये—१–अहकार, २–ममकार, ३–कर्तृत्वबुद्धि, ४–भोक्तृत्वबुद्धि। जो मैं नही हूँ उसे "मैं" मान डालना अहकार कहलाता है। एक नटखटी बालक दूसरोको धोखा देकर कपडोसे सजा हुआ घोड़ेपर चढ़ा जा रहा था। एक नगरमे शाम हो गई। मां मां कहकर अपना 'तू ही तो था' नाम बताकर एक धुनेनीके यहां ठहर गया। उस दिन धुनिया बाहर गया था। इस नटखटीने पासकी एक बनियेकी दूकानसे आटा आदि लिया और "मैं था" नाम बताकर उसकी सुबह पैसा देनेकी

कह दिया। इसने रातको रोटी बनाई और धोवन धुनी हुई रुईपर फेंक दिया। सुबह होते ही वह चला गया। अब दुपहर धुनिया आया व रुई खराब देखकर धुनेनीसे पूछा कि यह सारी रुई किसने खराब की है? यहां कौन ठहरा था? धुनेनीने उत्तर दिया—"तू ही तो था" धुनियाने कई बार पूछा, धुनेनी यही उत्तर देती रही, क्योंकि उस नटखटोने यही नाम धुनेनी को बताया था। तब धुनियाने धुनेनीको लाठीसे मारा। धुनेनीका रोना सुनकर बनिया दया-वश दौडकर आया और धुनियासे बोला कि इसे मत मारो, जो यहां ठहरा था वह 'मैं था।' तब धुनियाने बनियेपर लाठी बरसाई। सो जो 'मैं मैं' करता है वह विपत्ति पाता है। दूसरा दुराशय है ममकार—परवस्तुको जो मेरा मेरा मानता है वह बरबाद हो जाता है। कोई पर-वस्तु त्रिकाल भी मेरा नही हो सकता। एक सेठके चार लडके थे, उनमे बडा कमाऊ था, दूसरा जुवारी था, तीसरा अधा था और चौथा पुजारी था। कमाऊने पितासे न्यारा होनेको कहा। पिता सब लडकोके साथ एक तीर्थयात्रा करने चला। रास्तेमे एक नगरके बाहर ठहर गया। पहले दिन पिताने कमाऊ लडकेको १०) रु० देकर खाना लानेके लिये भेजा। उसने एक मोहल्लेसे १०) का कुछ खरीदकर दूसरे मोहल्लेमे बेचा उसे १ रु० का लाभ हुआ, वह ११ रु० का भोजन लाया। दूसरे दिन जुवारीको १०) दिये, उसने रास्तेमे दाव लगाया, १०) के २०) हो गये, वह २०) का भोजन लाया। तीसरे दिन अंधेको उसकी स्त्रीके साथ १०) देकर भेजा। रास्तेमे अधेको ठोकर लगी, पत्थर उखाडा तो सैकडो सोनेकी मुहरोका भरा हडा मिला। अधा खूब भोजन लाया व मुहरें भी। चौथे दिन पुजारी लडकेको १०) देकर भेजा। वह चादीका कटोरा खरीदकर मंदिरमे आरतीको बैठ गया। एक देवने उस बालकका रूप धरकर गाडियोमे भरकर भोजन लाया, गाव भरको खिलाया। पाचवें दिन कमाऊ लडके से पिताने पूछा— क्या अब भी न्यारा होना चाहते हो? उसने पितासे क्षमा मांगी। परवस्तु मे कुछ करनेका किसीको अधिकार नही। सो कर्तृत्वबुद्धिमे विपदा ही है। चौथी विडम्बना है भोक्तृत्वबुद्धि। ये अज्ञानी प्राणी इन्द्रियोके विषयोको भोगनेकी मान्यता करके भोग भोगकर प्राण गवा देते हैं। सो भैया! भोगमे ही यह जीव नाना जन्म मरण करता। सो अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धिको छोडे और ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वमे आत्मत्व अनुभव कर सहज आनन्दसे तृप्त होकर सदाके लिये संकटोसे छुटकारा पावें।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।

भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

(२६६) सम्यक् श्रुताभ्यासका अनुरोध— भगवानने जो पदार्थोंका निरूपण किया है और भगवानकी वाणी झेलने वाले गणेशोंने जिसको भली-भांति बताया है उसे आगमका रूप

दिया है, ऐसे अनुपम श्रुतज्ञानका हे कल्याणार्थी जनो विशुद्ध भावोंसे चिन्तन करो अर्थात् भगवानने जो हितके लिए उपदेश किया है उस उपदेशको बड़ी भक्तिपूर्वक सुनो। भगवानका उपदेश क्या है कि पहले तो आत्माका ज्ञान करो। समस्त पदार्थोंका सही-सही ज्ञान करो। इस ज्ञानके होनेसे मिथ्यात्व मोह दूर हो जायगा और जब मोह दूर हुआ तब रागद्वेषको जीतने के लिए तपश्चरणमे लगो। तपश्चरण क्या है? मुख्य तपश्चरण तो यह है कि अपने आत्मा का जो चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपमे मग्न होओ। और फिर व्रत, तप, उपवास एकान्त अध्यासन आदिक कार्योंको करो। इन धार्मिक क्रियावोंसे भावोमे निर्मलता आती है। इन्द्रियाँ जो उद्दण्ड होती हैं उनकी उद्दण्डता खतम हो जाती है। सो प्रभुकी वाणीमे जो उपदेश किया गया है उस उपदेशको मनकी दृढतासे ग्रहण करो।

(२६७) **मोक्षमार्गके तीन पौरुष**—भगवानका क्या उपदेश है—(१) आत्मज्ञान, (२) तपश्चरण, (३) आत्मसाधना। जब तक आत्मा आत्मामे मग्न न हो जाय तब तक सयमसे अपना कार्य करना। किसी जीवकी हिंसा न हो, रसोई बनानेमे, आरम्भ करनेमे, दूकान आदिकमे ऐसी सावधानी बने कि हिंसा न हो। फिर प्रभुभक्ति, सामायिक, वाणीका श्रवण इन सभी धर्मोंको करें। यह ही प्रभुकी वाणीमे बताया गया है। सो हे कल्याण चाहने वाले पुरुष! अपने जीवनमें स्वाध्याय और सत्सग कभी मत छोडो। यदि स्वाध्याय और सत्सग छोडा तो भटक जानेपर कोई समझाने वाला भी नहीं मिल सकता। रात दिनके २४ घटेमे जहाँ बहुतसे काम करते हैं वहाँ एक आध घटेका समय इसके लिए भी रख लो। मान लो जब कोई काम नहीं है, खाली बैठे हैं तो इस समय धर्मध्यानमे यदि अपना मन नही लगाते तो बताओ क्या हाल होगा? बुद्धि बिगड जायगी। इससे खाली समयमे धर्मध्यानमे अपना मन लगाओ। यह धर्मध्यान ही इस जीवनमे और आगे भी मदद कर देगा। तो जिसको ज्ञान नहीं है उसके लिए सब दिशायें सूनी हैं। धन कम होनेसे गरीबी न मानें, जिसका मन गरीब हुआ वह गरीब हो गया। इससे ऐसी सद्बुद्धि बनानी चाहिये कि यदि सकट आता है तो धर्मध्यानमे अधिक लगो, ठाली मत बैठो। ठाली बैठनेसे कई प्रकारके चित्तमे विकार भाव आते रहते हैं। इससे प्रभुवाणीका सहारा लें और जो उपदेश किया है उसके अनुसार चलें तो इस आत्माका कभी निकट कालमे उद्धार हो जायगा।

पाऊण णाणसलिल णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का।
होंति सिवालयवासो तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९३॥

(२६८) **शाश्वत सत्य आराम पानेके प्रोग्रामकी गवेषणा**—ज्ञानरूपी जलको पाकर वे भव्य प्राणी दुर्निवार तृषादाह और शोषसे रहित होकर मोक्षके वासी होते हैं, तीन लोकके

चूडामणि होते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं। एक विचार करना चाहिए कि मुझे क्या होना चाहिए जिससे कि सदाके लिए मेरे संकट दूर हो जायें। थोड़े समयके लिए माना हुआ कोई संकट दूर हुआ और दूसरा संकट आया यो परम्परा चल रही तो ऐसे सुख और आराममें कोई तथ्य नही है, आराम वह मिले जो सदाके लिए हो, और देखिये—आत्मा हैं हम आप सब और अपनी ही बात सोचना है, क्योंकि जितना झमेला है, समागम है, कुटुम्ब है क्या है यह ? जैसे जगतके अन्य जीव है वैसे ही ये घरमे आये हुए जीव हैं। मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, इनके कर्म इनके साथ, इनकी करनी इनके साथ। कोई गुंजाइस नही, केवल एक लोककल्पना से यह बात चलती है। तो बाहरके चेतन अचेतन पदार्थोंकी गुंजाइसमें, लगावमे कोई हित नही है, इसलिए बेकार है। हाँ गृहस्थधर्मका पालन करने वाले लोगोको परिस्थितिके कारण जरूरी है सो इतनी प्रीति, इतना राग उनके चलता है, मगर ज्ञानी गृहस्थ यह बात सही समझता है कि इससे मेरा क्या प्रयोजन चलेगा ? इन बातोंमे तो कोई हित नहीं।

(२६६) **केवल आत्मज्ञान रहनेमें ही संकटहीनता**—मुझे क्या बनना चाहिए जिससे संसारके संकट सदाके लिए दूर हो जायें ? ये घोडा, बैल वगैरह तो बनना ठीक नही, उनकी तो बडी खोटी जिन्दगी है। मनुष्य भी बने तो मनुष्यमे भी क्या पाया ? इसमे भी बचपन, जवानी और बुढ़ापेके दुःख आते हैं, इसमें भी इस आत्माको क्या लाभ मिला ? कोई कोई सोचते होंगे कि खूब सुख तो मिल रहा, तो वे बतायें कि आज तक कितना सुख वे जोड सके ? क्या कुछ आज गांठमे है ? जैसे गेहूंका बोरा गेहुवोसे भरा जाय तो वह तो भर जायगा, पर यह तो रीताका ही रीता रहा। तो संसारकी किसी भी स्थितिमे कुछ तथ्य नहीं है। तब क्या बनना चाहिए। तो बात यहाँसे सोचो कि हम आप जितने लोग हैं वे तीन प्रकारके पदार्थोंके पिण्ड हैं। जीव, कर्म और शरीर। यहाँ केवल अकेला कुछ नहीं है सब तीन चीजोके पिण्ड हैं। तो जितना यह संसारका नटखट हो रहा वह सब यो समझो कि विडबना है, विपत्ति है। वह इन तीनके मेलकी करतूत है। तो इस विडम्बनाको हमे दूर करना है और सीधा भाव देखें कि तीनकी मिलावट न रहे, केवल यह आत्मा रह जाय तो सारे सकट दूर होंगे। इन तीनकी मिलावटसे जो परिणाम बनता है उससे संकट ही रहे हैं। तो यहाँ अन्तमे यह निष्कर्ष निकला कि मैं आत्मा अकेला रह जाऊँ, इसके साथ शरीरका, कर्मका सम्पर्क न रहे तो मेरे सकट खतम हो सकते हैं। दूसरा कोई उपाय नही है कि जिससे मेरे संकट दूर हो, एक ही उपाय है। तो इसके लिए क्या उपाय रमायें ? यह उपाय बनाना है कि इस मिलावटके समय भी स्वरूपसे तो मिलावट है नहीं, पर बन गई वस्तुओंकी मिलावट, इस वक्त भी तुम स्वरूपदृष्टि करके अपनेको निराला निरखते रहे तो यह उपाय ऐसा है

कि जिसके बलसे कभी हम आत्मा सिद्ध होंगे, अकेले रह जायेंगे। अकेला आत्मा रहे उसे कहते हैं सिद्ध। अरहंत भी सिद्धकी तरह हैं। थोडा अघातिया कर्म और शरीरका सम्बध है अरहंतके, मगर वह संबंध कुछ अनर्थ नहीं कर रहा। बिल्कुल साफ स्पष्ट पूर्ण निर्लेप तो सिद्ध भगवान हैं।

(२७०) ज्ञानसलिलसे तृष्णादाह मिटा कर शिवालयवासकी प्राप्ति—वे जीव सिद्ध होते हैं जिन्होंने ज्ञानजलको पाया और ज्ञानरूपी जलसे अपने आपको धोया। वह ज्ञानजल यही है कि जो अपनेको स्वरूपमात्र दिख रहा। मैं ज्ञानस्वरूपमात्र हू, इससे बाहर कुछ नहीं। बाहरसे इसमें आता कुछ नहीं, स्वरूप तो स्वरूप ही रहेगा, और जब ऐसा ही ध्यानमें लाते हैं तो भय भी तुरन्त खत्म हो जाता है। मैं स्वरूपमात्र हू। घबडाहट किस बातकी, बाहरमे कुछ भी होता हो, कही इष्टका वियोग हो गया हो तो, धनकी हानि हुई हो तो, कैसी ही विपत्ति हुई हो तो वह सब बाहरी चीज है, वे सब दूसरेके परिणमन है। मुझपर विपत्ति कहाँ है? मैं स्वरूपमात्र हू, इस मुझपर कोई विपत्ति नही। संसारकी मानी हुई कठिनसे कठिन विपत्ति हो, मगर जिसने ज्ञानस्वरूपको निरखा है वह जानता है कि मुझको रच भी विपत्ति नहीं है। किसी बाह्य पदार्थके परिणमनसे मेरा कुछ सुधार बिगाड नही। और यदि कुछ चारित्रमोहकी दुर्बलता है तो यह ध्यानमे रहे कि मेरे ही ज्ञानकी निर्बलतासे मुझपर विपत्ति है, किसी परपदार्थके कारण मेरेको रच भी विपत्ति नही। यही बात मिथ्यादृष्टि जीवके लिए भी है, पर वह समझ नही पाता। वह तो यही जानता है कि इस परपदार्थके कारण मेरेको विपत्ति है, ज्ञानकी कमजोरीके कारण मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकारसे सोचता है। चाहे ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी हो, पर जो जितने संकट मान रहा है वह अपने ज्ञानके विपरिणमनसे मान रहा है, बाहरी पदार्थके कारण सकट नही है। तो पहले सम्यग्ज्ञानरूपी जलसे अपने आपको शान्त करें और इसी ज्ञानको पानेके लिए वस्तुका स्वरूप समझा जाता है। अनन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र सत् हैं, प्रत्येक द्रव्यमे अनन्त शक्तियाँ हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने आपके गुणो में परिणमन करता है। एकका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नही, सब अपने-अपनेमे परिणम रहे हैं। ऐसा ज्ञानजल मिले तो तृष्णा, रज, शोक आदि ये सब दूर हो जायें। किसीको प्यासकी दाह लग रही हो सो पानी द्वारा ही तो वह अपनी प्यास बुझाता है। इन ससारी जीवोंको तृष्णाकी दाह लग रही सो वह ज्ञानजलसे ही तो बुझ पायगी दूसरा कोई उपाय नहीं।

(२७१) आत्मशौर्य—भैया, इतना साहस तो बनाना ही चाहिए कि उदयानुसार जो हो सो हो, हमें वाञ्छा कुछ नही है। जो परिस्थिति मिले उसीमे गुजारा करनेकी मुझमें कला

है। मेरा मुख्य कर्तव्य तो अपनेको स्वरूप मात्र लखते रहना है, मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपके बाहर मेरी कोई बात नही है, मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं है। मैं ज्ञान स्वरूपमात्र हूं। मेरेमें मेरा परिणमन चल रहा है। मेरेमें किसी परपदार्थका कोई दखल नहीं। मैं हूं ज्ञानस्वरूप, तो मेरा परिणमन क्या हो रहा कि उस ज्ञानकी वृत्तियां चलती रहती हैं। इससे बाहर मेरी ओरसे मेरा कोई कार्य नही हो रहा, पर हो रहा है जो बिगाड़का काम, सो सब कर्मउपाधिके सम्पर्कमे हो रहा है।

(२७२) परमार्थ अमृतपान—लोग तो यों कहते हैं कि अमृतका पान करो और अमर हो जावो। तो वह अमृत किसीने देखा है क्या कि पानीकी तरह है या डलेकी तरह, फलकी तरह है? बताओ किसीने अमृत देखा है क्या? यो तो इसके सम्बधमे अनेक लोग अनेक तरहकी कथायें भी कहते हैं कि उसने उसको अमृतफल दिया, पर वह अमृत क्या चीज है उसकी कल्पना तो बनाओ। देखनेकी तो दूर बात रही। अगर कहो कि वह एक फल जैसा है तो ठीक है उसे खा लो, पर जो फल खाया जानेपर, कुचला जानेपर स्वयं मर गया, चटनी बन गया वह दूसरोको क्या अमर करेगा? अब यह जिज्ञासा होगी कि फिर अमृत नाम पडा क्यो, और अमृत चीज वास्तवमें है क्या? तो ठीक है, अमृत है, और उस अमृतका पान अगर कोई कर लेवे तो अमर हो जाय यह भी बात है, पर वह अमृत बाहर कहीं नही है। रस, फल आदिरूप नही है, किन्तु आत्माके स्वरूपका जो सच्चा ज्ञान है वह अमृत है। उसका नाम अमृत क्यो रखा गया? अमृतका अर्थ है न मृतं इति अमृत। जो मरेगा नही, जो मरता नहीं, जो मरा नही उसका नाम अमृत है। तो आत्माका जो ज्ञानस्वरूप है वह कभी मरता है क्या? कभी मरेगा क्या? नहीं, वह शाश्वत तो अमर है। वह है अमृत। उसका पान करना अर्थात् उसको ज्ञानमें लेना और ज्ञानको, ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमे रखना यह ही अमृतपान है। सो यह कोई कर सकता है तो वह अमर हो गया। कैसे अमर हो गया? क्या यह शरीर छूटेगा नही? छूटने दो शरीर, वह शरीरवियोगको मरना मानता था इसलिए डरता था। अमर तो प्रत्येक जीव है। जीव कभी नष्ट नहीं होता, मगर मानता तो नही था कि यह मैं अमर हूं, मैं यह ज्ञानस्वरूप हू। देहको ही निरखकर पर्यायबुद्धिसे जन्मना मरना मानता रहा। जिस क्षण इसे आत्मस्वरूपका बोध हुआ, यह सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ उसी क्षण उसका निर्णय बना कि मैं हूं। अपनेमे हू, यही मेरा सर्वस्व है, इतनी ही मेरी दुनिया है, यह जहां रहेगा, जहां जायगा वहां पूराका पूरा है, इसका मरना कहां होता। तो जो इस सम्यग्ज्ञान जलको पी लेता है वह अमर हो जाता है और मिथ्यात्व सम्बधी तृष्णाकी दाह शान्त हो जाती है।

(२७३) देहमुक्त आत्माका सर्वोपरि निवास—इस ज्ञानस्वरूपका अभ्यास बनाये रहने

का फल क्या होता है, देह दूर होता है, कर्म दूर होते हैं, आत्मा अकेला रह जाता है, फिर वह आत्मा कहाँ रहता है ? इसमें है ऊर्ध्व गमनस्वभाव। जैसे तूमडीमे राखका वजन हो और पानीमें डाल दिया तो नीचे डूबी रहती है तब उसकी राख घुल जाती है, केवल तूमी रह जाती है तो ऊपर पहुंचती है, ऐसे ही इस जीवके साथ कर्मका जब तक बंध है तब तक यहाँ वहाँ कहीं भी रहता है, कर्मबन्ध जब मिटता है, कर्मरज जब घुल जाती है, अकेला आत्मा रहता है तो ये एक ही क्षणमें, एक ही समयमें लोकके अन्तमे विराजमान हो जाते हैं, उसे कहते है शिवालय मायने मोक्षका स्थान, तो ऐसे जीव शिवालयके वासी होते हैं और तीन लोकके वे सिरताज है। एक तो ३ लोकमें ऊपर रह रहे यो ही सिरताज हैं, दूसरे–तीन लोकके सबके त्रिकालके ज्ञाता बन गए हैं, सर्वज्ञ हुए हैं, इसलिए भी सिरताज। तो ऐसे ये जीव सिद्ध हो जाते हैं।

(२७४) सहज परम ब्रह्मस्वरूपके आश्रयसे सिद्धिकी सिद्धि––सिद्ध जितने भी अब तक हुए वे इस ज्ञानस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) के आश्रयसे ही हुए। तो हम आप भी अपने इस ब्रह्म स्वरूपका आश्रय लें, आत्माके सहज स्वरूपको देखें। अहा, अपनी सत्ताके कारण वह ब्रह्म सहज ज्ञानानन्दमय है, इसका जिन्होंने अभ्यास किया, यह ही जिनके ज्ञानमें रहा उन्होने सिद्धि पायी, मुक्ति पायी। तो सर्वस्व कल्याण पानेकी तो हम मूर्ति हैं, धर्मस्वरूप हैं, दृष्टि मात्रसे वह काम बनता है, फिर भी वह काम न बनाया जाय तो यह मनुष्यभव पाना बेकार रहेगा, क्योंकि मरेके बाद तो न जाने कहाँ जन्मे, कैसा जन्मे ? जैसे गधे, घोडे, सूकर ये विह्वल विकल नजर आते हैं, ऐसे ही यदि हो गए तो फिर वहाँ क्या स्थिति बनेगी ? आज मनुष्य हैं, श्रेष्ठ मन मिला है तो ऐसी सद्बुद्धि करें कि अपने आपके ब्रह्मस्वरूपका परिचय पा लें और इस ही में तृप्त रहनेका अपना परिणाम बनायें। किसी अन्य बातमे मुझको संतोष नहीं। मुझको तो सिद्ध होना है। चाहे कितने ही काल लग जायें, दूसरा कोई कर्तव्य ही नहीं मेरा कि जो अंतिम बात रहे। ऐसा पुरुष भावसंयुक्त होकर याने आत्माके स्वरूपकी दृष्टि करके तृप्त रहनेकी स्थिति पाकर सहजपरमानन्दमय शिवालयका वासी होता है।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघाद पमोत्तूण ॥ ९४ ॥

(२७५) सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी धुनमें परीषहविजयकी आसानी—हे आत्म-कल्याण चाहने वाले साधु, तू भगवानकी वाणीके आज्ञा प्रमाण प्रमादरहित होकर संयमका घात न करके २२ प्रकारके परीषहोंको सहन कर। देखो किसी गृहस्थको जिसको धनकी बड़ी तेज धुन लग गई है वह धन कमानेकी धुनमें कितना दुःख सहता है ? न जाने कहाँ कहाँ

जाना ? किस-किससे लेन-देन करना, कितना ही परिश्रम करता है, कितने ही कष्ट सहता है फिर भी वह, उस कार्यको करता है। यह सब क्यों होता है कि उसको धन अर्जन करनेकी तीव्र धुन हो गई है, इसलिए उसको संकट कुछ महत्त्व नहीं रखते। धन महत्त्व रखता है तो यह तो हुई ससारी जीवोकी बात। अब यहाँ देखिये—जिसको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन हो जाय, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इस ही बातकी जिसको धुन हो जाय तो उसपर कुछ भी सकट आये, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मच्छर अपमान आदिक कितने ही उपसर्ग आयें, वे उसको कुछ महत्त्व नहीं रखते। उनका सह लेना उनके लिए अनन्त आसान रहता है। यह तो मोही जीव सोचते हैं कि ये साधु देखो कैसा कठिन परीषह सह रहे हैं। पर उनको कहाँ है परीषह ? जिनको ज्ञानकी धुन लगी है, और ज्ञानमें ही तृप्त रहते हैं उनके लिए संकट कुछ नही है, परीषह कुछ नही है। ऐसे परीषह २२ प्रकारके होते हैं। जैसे भूखका दुःख सहना, प्यासका दुःख सहना, ठड, गर्मीका दुःख सहना। ज्ञानकी धुनमे सर्व परिग्रह उसने छोड दिया था, वस्त्र तककी भी वह चिन्ता न चाहता था। सर्व परित्याग कर दिया, अब जो सहज बात हो सो रहो। तो ऐसी स्थितिमे भी लज्जा ग्लानि न करना, किसीसे द्वेष न करना यह सब उसे कर्तव्य चाहिए ना ? सो जो उसके विरोधी परीषह हैं उनकी ओर दृष्टिपात तक भी नहीं है, क्योकि उस ज्ञानीको तो ज्ञान आराधनाकी तेज धुन लगी है।

(२७६) सहजात्ममननमें अप्रमत्तता व संयमपूर्ति—मैं ज्ञानमात्र हूँ, और ऐमा ध्यान बनाकर उसने अलौकिक आनन्द पाया है। इस कारण उसके लिए संकट कुछ भी संकट नही मालूम होते। सो हे मुने तू अन्तरमे ऐसा ध्यान बना कि जिससे परीषह समतापूर्वक सह लिए जायें। सो इसी विधिमे तू अप्रमत्त रह पायगा, मायने कषायका अनुभव न हो, मोक्षके मार्गमे, ज्ञानस्वरूपकी आराधनामें रंच भी प्रमाद न रहे, ऐसी स्थिति बनेगी। और इस ज्ञानकी धुन मे, इन परीषहोके विजयमें संयमका घात भी नही है। जैसे कोई जानवर खाने आया (साधुवों की बात कह रहे) और उस समय जो उसे जानवरसे द्वेष हुआ या उसके सम्बंधमें कुछ अपने मे विषाद माना तो सयमका घात हो गया। संयम मायने शुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग आत्म-स्वरूपमे ही रमे, बाहरी पदार्थोंमे ख्याल न लाये, यह है वास्तविक संयम, अथवा अन्य कोई आरम्भ न करने लगे संकटोको दूर करनेके लिए, यह है संयम। सो हे मुने ! तू संयमका घात मत कर और परीषहोको जीतकर अपने ज्ञानस्वरूपकी आराधनामें लग, ऐसा आत्मसाधनामे लगने वाले पुरुषको समझाया गया है।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू ण विभिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥६५॥

(२७७) परीषह उपसर्गोंसे भी साधुकी अचलितता—पूर्व गाथामें बताया था कि हे आत्मकल्याण चाहने वाले साधुजनो इन परीषहोंको सहन करो और नियमका घात न हो, एत-दर्थ प्रमत्त रहित बनो। तो प्रमत्तरहितकी क्या दशायें होती हैं इसका इस गाथामें संकेत मिला है। जैसे पत्थर बहुत काल तक भी पानीमें डूबा रहे, पानीमें खडा हुआ होकर भी पत्थर भिदता नही, अपने स्वभावसे विगता नही, इसी प्रकार जो साधु पुरुष हैं वे उपसर्ग और परी-षहोंसे भिदते नही। चारों ओरसे परीषह और उपसर्गसे घिरे हो तब भी वे विचलित नही होते इसका कारण क्या है ? यहाँ तो जरा सी फुंसी हो जाय तो घबडाते हैं, जरा सा बुखार हो जाय तो घबडाते हैं, सिरदर्द हो जाय तो ध्यान नही लगता। और जो ज्ञानीजन हैं उन्होंने कौनसी औषधि पी ली जिससे बडे बडे उपसर्ग परीषह आयें तो भी वे विचलित नही होते ? वह औषधि है आत्माके सहजस्वरूपकी धुन। यहाँ भी तो जिसको धनकी तृष्णामे धुन है वह भी तो बडे-बडे परीषहोंसे घबडाता नही। हवाई जहाजसे जाय या जलके जहाजसे जाय, जल्दी-जल्दी दौड-दौडकर जाय, गर्मीमें जाय, ठडमे जाय, भूख भी सहे, गाली भी सहे, अपमान भी सहे। ये धनकी तृष्णा करने वाले लोग परीषहविजयमे मुनियोसे कम नही हैं (हँसी)। मुनि सहते हैं परीषह समतासे और ये तृष्णा करने वाले धनिक लोग उपसर्ग सहते हैं ममतासे। इन गृहस्थोको रहती है कषाय, मुनिजनोंके कषाय नहीं होती यह एक अन्तर है।

(२७८) सहजज्ञानस्वरूपकी धुनका चमत्कार—उन ज्ञानीजनोने कौनसी वस्तु पायी ? आत्माके सहजस्वरूपकी धुन। अन्तरङ्गमे परखो कि मैं हू, जब मैं हू तो अकेला ही तो सत् हू। दो सत् पदार्थ मिलकर एक नही बना करते। तो यह वस्तुस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे ही सत् है। भले ही आज मिलावटमे हू और इस देहबधनमे फँसा हू। और यह सब हो रहा है निमित्तनैमित्तिक योगवश, मगर सत्ता सबकी अपनी ही है, किसी अन्यकी कृपासे अन्यकी सत्ता नहीं होती। तो मैं सत् हू, तो मेरा कोई वास्तविक परमार्थ स्वरूप तो है। वह परमार्थ स्वरूप क्या ? ज्ञानमात्र। अनेक मिली हुई दवाई या शर्बतमें परख करने वाले लोग परख कर लेते हैं कि इसमे ये ये दवाई पडी है, यह दवा इतने अंशमे है यह इतने अशमे। भले ही यह मनुष्यपर्याय है, यह केवल आत्माकी तो नहीं है मनुष्य पर्याय। यह केवल कर्मकी तो नहीं है मनुष्यपर्याय, यह केवल शरीरकी तो नहीं है मनुष्य पर्याय। तो क्या तीनोकी मिलकर है मनुष्यपर्याय ? सो तीनकी मिलकर भी नहीं है मनुष्य पर्याय। तो क्या जादू है ? कौन सा मदारीका खेल है ? सबकी अपनी अपनी परिणति होती रहती है तिसपर भी निमित्त नैमित्तिक योग वश तीनो ही बिगड रहे हैं। इन तीनका जो बिगाड है, उनका जो एक जोड है वह है मनुष्यपर्याय। तो इस बीचमें भी ज्ञानबलसे केवल

आत्माके सत्त्वको निहारो । मैं ज्ञानस्वरूप हूं ।

(२७९) सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी अलौकिक वैभवरूपता—इस ज्ञानस्वरूपका वास्तवमें क्या कार्य है ? स्वयंका, अकेलेका वास्तवमें कार्य है ज्ञानकी वृत्ति लहर उठना । शुद्ध रहे, केवल जानन जानन हो । देखो बिगड़ी हालतमें बिगड़ेपर ही दृष्टि दें तो बिगाड़ी मिटेगी कि बढ़ेगी ? बढ़ेगी और बिगडी हालतमे बिगाड़पर दृष्टि न दें ध्यानके लिए, उपासना के लिए और आत्माके सहज स्वरूपपर दृष्टि दें तो बिगाड मिटेगा । और कोई माने कि बिगाड है ही नही मेरा, तब तो अच्छा कुछ नही बननेका । करेंगे क्या ? क्या करना है फिर ? जब बिगाड ही कुछ नही है । बिगाड़की बात दृष्टिमें लेना भला नहीं है, दृष्टि रखना है परमार्थ स्वरूपकी । तो ज्ञानी साधु संतोने सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति की । उसकी धुन बनी, उसकी तृष्णा बढ़ी, तृष्णा नही किन्तु तीव्र धुन । वही पसंद है, वही इष्ट है, अन्य कुछ मूल्यवान है ही नही । देह, प्राण ये कोई मूल्यवान वस्तु नहीं, किन्तु सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि यह ही इसके लिए मूल्यवान है । तो इसके लिए वह परीषहोंसे क्यो विचलित हो ? विचलित होनेसे तो यह ज्ञानघन छूट जाता है इस कारण वे विचलित नही होते ।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।
भावरहिएण किं पुण वाहिरलिंगेण कायव्वं ॥९६॥

(२८०) भावरहित बाह्यभेषकी अप्रयोजकता—हे साधु तू बारह अनुप्रेक्षाओका चिंतन कर, २५ भावनाओका चिंतवन कर, क्योंकि भावसे रहित मात्र बाहरी भेषसे क्या किया जा सकता है ? अर्थात् कुछ भी नही किया जा सकता । कोई अपने पुजावाकी चाहसे या घरकी परिस्थिति भली नहीं, इस कारणसे या घरमे कुछ लड़ाई वगैरह हुई, किसी कारणसे दूसरे साधुवोंका सम्मान देखकर अगर निर्ग्रन्थ भेष धारण कर लिया तो उससे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है । भावसहित होकर निर्ग्रन्थ भेषमें हो तो वहाँ मोक्षमार्गमें प्रगति है । तो वह बात बनेगी चिन्तन आत्ममननसे होती है । इस कारण हे साधु ! तू बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन कर । अनुप्रेक्षाके मायने, अनुसार प्रकृष्ट ईक्षण करना, अनुप्रेक्षामें तीन शब्द हैं—अनु प्र ईक्षा, जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा यह आत्मस्वभाव दृष्टिमे आये, उस ढगसे प्रकृष्ट निगरानी करना, बार-बार चिन्तवन करना इसका नाम है अनुप्रेक्षा ।

(२८१) अनित्य भावनामें अनित्यसे उपेक्षा कर नित्यमें उपयुक्त होनेका पौरुष—अनित्यभावना । यदि वह ही यह कोई रट लगाये कि राजा मरेंगे, राणा मरेंगे, छत्रपति मरेंगे, पड़ोसी मरेंगे, मैं मरूंगा, जो जन्मा है सो मरेगा, तो इतने मात्रसे अनुप्रेक्षा नहीं बनती, इससे तो घबड़ाहट बढ़ेगी…हाय मर जाना होगा, सब मर रहे हैं, मैं कैसे बच सकूंगा, यो

सोच-सोचकर वहाँ घबड़ाहट बनेगी। अनुप्रेक्षा कहाँ बनी ? अनुप्रेक्षा तब बने जब यह दृष्टि रहे कि पर्याय अपेक्षा मरण है। शरीरका संयोग है, उससे विकार होते हैं, ये सब सांसारिक बातें हैं। मैं तो नित्य हू, अमर हूं, ध्रुव हू, मेरी सत्ताका कभी विनाश नही होता। यो आत्मस्वभावके अनुसार वहाँ दृष्टि जगे वह है अनित्य अनुप्रेक्षा। अनित्यके लिए, रोनेके लिए यह भावना नहीं है, किन्तु नित्य जानकर उससे लगाव हटाकर नित्यमे प्रवेश करनेके लिए यह भावना है। यह हुई अनुप्रेक्षा।

(२८२) अशरण अनुप्रेक्षामें शरण्य स्वतत्त्वका शरण ग्रहण—अशरण भावनामे निगरानी करें। मेरेको शरण नही है, केवल इतनी ही बात दिखे बाहरमे कि ये सब धोखा देने वाले हैं, कोई मेरा सहाय नही और मरते वक्त तो कुछ भी शरण नही, इतनेसे अनुप्रेक्षा नहीं बनती। यह तो उसका प्रारम्भिक रूप है, पर इस द्वारसे यह जानकर कि बाहरमे कुछ भी कारण नही, उनका लगाव छोडें और जो वास्तविक शरण है उसकी दृष्टि करें, आत्माका आत्मा ही शरण है उसकी दृष्टि करें। आत्माका आत्मा ही शरण है, एक यह दृष्टि जगे, मैं स्वरूपमात्र हू, ज्ञानमात्र हू, शाश्वत शुद्ध हू, इसमे कष्टका नाम नही। स्वरूप निहारो, परिपूर्ण हूँ, ऐसी दृष्टि रखने वालेको वास्तविक शरण मिला है और जो बाहर बाहर ही अपनेमे लगाव करे वहाँ कुछ शरण नही।

(२८३) संसार अनुप्रेक्षामे मायासे हटकर परमार्थमे उपयुक्त होनेका पौरुष—ससार भावनामें चिंतन करना कि ससार असार है। देखिये एक तो झुंझलाई दशामे बोला जाता है—भाईने धोखा दिया, स्त्रीने धोखा दिया, लडकोने धोखा दिया, मित्रोने धोखा दिया। अरे कुछ नहीं, सब बेकार यह जो झुंझलानेकी आवाज है और ऐसी आवाज तो शायद घर घरमें दो चार दिनमे एक बार सब कह लेते होगे, क्योकि झंझट हैं ना अनेक, पर इससे ससार भावना नहीं बनती। स्वरूपदृष्टि होनी चाहिए। हाँ ससार असार है, क्योकि यह मायारूप है। माया किसे कहते हैं ? अनेक पदार्थोंके सयोगसे बनी घटनाको माया कहते हैं, लक्षण लखलो और सब लोगोसे पूछ लो, जो लोग माया माया चिल्लाते हैं—प्रकृति, माया, पुरुष ब्रह्म, उनसे भी जरा पूछो कि मायाका अर्थ क्या है ? तो आपका यह लक्षण ऐसा है कि सर्वत्र घटित करते रहे। एक पदार्थको कहते है परमार्थ और अनेक पदार्थोंके सम्बन्धसे हुई बातको कहते हैं माया। हम आपको जितना यह कुछ दिख रहा है, बताओ यह परमार्थ है कि माया ? यह माया है, अनन्त परमाणुओंके सयोगसे बना है, और जितने बैठे हैं ये सब परमार्थ हैं कि माया ? ये भी अनेक पदार्थोंके सम्बन्धसे बने हैं, माया है। तो जरा घरमें जिन-जिनसे नेह लगाया हो उन उनका नाम ले लेकर प्रश्न तो करो। जिसे लड़का माना

बताओ यह वास्तविक है कि माया ?····माया।···बो देह लगा है बताओ यह वास्तविक है कि माया ?····माया। इस मायाके लगावसे क्लेश ही क्लेश है। परमार्थकी धुनमें परम आनंद है। यह सब संसार माया है, यह असार है, किन्तु परमार्थभूत जो मैं ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हूँ यह ही मेरे लिए सार है। मैं भी क्या निःसार हूं ?···नहीं, असार तो माया है, मैं तो सहज आत्मस्वरूप हूं सो यह सारभूत हूं। असारको छोडें, सारको ग्रहण करें, यह है अनुप्रेक्षण। जैसे स्वभावका विकास हो उसके अनुसार निरीक्षण करना अनुप्रेक्षा है।

(२८४) एकत्व अनुप्रेक्षामें परमार्थ एकत्वका ईक्षण—एकत्वभावना—दुःखोंसे घबडाये हुये पुरुष बोल देते हैं—कोई किसीका नहीं, सब अकेले हैं, अकेले ही कर्म भोगते, अकेले ही जन्मते हैं अकेले ही करते हैं। देखिये—ये ही शब्द तत्त्वज्ञानी बोले तो उसने पाया है तत्त्व और ये ही शब्द झुंझलाया हुआ व्यक्ति बोले तो उसने कुछ नहीं पाया। और यह तो एक ऊपरी एकत्व है, पर वास्तविक स्वरूपका जो एकत्व है उसकी भावना करनी है—मैं यह एक अखंड ज्ञानात्मक पदार्थ हू। जिसकी एकत्वपर दृष्टि है उसको कष्ट नहीं। बाहरमें कुछ हो रहा है तो उसको चिन्ता नहीं। यह बाह्य पदार्थोंका परिणमन है। मैं तो यह अखण्ड ज्ञानस्वरूप हू, यह है एकत्व अनुप्रेक्षा।

(२८५) अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्यके अन्यत्वका चिन्तन और उसका प्रयोजन—अन्यत्व अनुप्रेक्षामे चितन चलता है कि सब अन्य हैं, भिन्न हैं, दूसरे हैं, मेरा नहीं हैं कुछ। कोई तो दुःखसे घबडाकर बोलता और ज्ञानी स्वरूपदृष्टि रख कर बोलता कि प्रत्येक पदार्थका अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें सत्त्व है और अन्य पदार्थ अन्यके स्वरूपमें प्रवेश करता नहीं। जगह मे प्रवेश करना और बात है, स्वरूपमे प्रवेश करना और बात है। स्वरूपमें तो पर पदार्थोंका किसीमे प्रवेश नहीं है। यदि प्रवेश हो जाय तो स्वरूपका अभाव हो जायगा। बिगडा होकर भी स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं है, पर बिगडा नाम किसका कि निमित्तके सन्निधानमें उपादान अपने आपमें विकाररूप परिणमता है तो वह है बिगाड़। पर ऐसा बिगाड होनेपर भी स्वरूपमें बिगाड नही है, उस द्रव्यमें बिगाड है, उस पदार्थमें बिगाड है। स्वरूपमें बिगाड़ नहीं है। पदार्थसे स्वरूप निराला नही, फिर भी यह जच रहा है। यह कितना तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिका दर्शन है। जल गरम हो गया, अग्निका संयोग पाकर जलने अपनी शीत अवस्था विलीन कर उष्ण अवस्था उत्पन्न कर ली। अब पूछें कि जलका स्वभाव गरम है कि जल गरम है ? तो यह कह देंगे कि जल गरम है, पर यह न कहेंगे कि जलका स्वभाव गरम है। कितनी एक अद्भुत बात है कि स्वभाव कहीं अलग नहीं पड़ा जलसे और स्वभावका वहां विकास भी नहीं है, फिर भी वहां दम भरकर कहते हैं लोग कि जलका स्वभाव गरम नहीं है। इसलिए है।

यद्यपि बल स्वयं कोई एक द्रव्य नही, वह भी परिणमन है, पर एक मोटा दृष्टान्त है। आत्मा रागद्वेष आदिक रूप चल रहा है। तो यह जीव तो इस अज्ञानभावसे परिणत हो रहा है मगर जीवका स्वभाव विकाररूप नही। जीव विकारी है उस कालमें, जब कि विकृत है, मगर स्व स्वभाव विकारी नहीं। तो यहीसे परख लीजिए कि बिगडा होनेपर भी स्वभावकी उपासना करना धर्मपालन है। कोई बिगाडको मना करे तो धर्मपालनकी जरूरत क्या? बिगाड ही नही है। कोई विकारको मना करे तो विकारसे हटनेको चिल्लाते क्यो? तो स्वरूपदृष्टि करके एक एक वस्तुको परखा, वहाँ समझमे आया कि एकका दूसरा कुछ नही है। अनन्तानन्त देहके परमाणु इस समय लगे हैं। अनन्तानन्त कर्मपरमाणु लगे हैं, उनमेसे एक भी अणु इस जीवका कुछ नही है। सत्त्व सबका निराला, इस तरहसे देखना यह है अन्यत्व भावना।

(२८६) **अशुचित्व अनुप्रेक्षामे अशुचिताका चिन्तन और शुचि अन्तस्तत्त्वका ईक्षण**—अशुचिअनुप्रेक्षा, यह देह अपवित्र है, हाड, मांस, मज्जा, लोहू, चमडा, रोम और जिसकी दुर्गंध और भीतरी मल, मूत्र, पीप आदि कितनी ही दुर्गन्धित वस्तुओका यह पिण्ड है। पर मोही पुरुष इस अपवित्रतापर दृष्टि नही देता है और चाम चादर लाल, पीली, सफेद चिकनी है उसमें यह दृष्टि लगाता है कि देखो इसमे कितनी सुन्दरता है, कितनी एक अच्छी वस्तु है, इस तरहकी दृष्टि अज्ञानी जीवके होती है, जब कि ज्ञानीको इस शरीरके भीतरका खाका सामने नजर आता है। कही तो देखा भी होगा हाड़का पिंजरा अस्पतालोमे या कही जहाँ शिक्षा दी जाती है। एक मनुष्यका हाड़का पिंजरा खडा कर देते हैं जिसमे एक एक पसली दिखती है। बच्चोंकी पढ़नेकी किताबोमे तो इस तरहका छपा हुआ दृश्य देखा होगा, और कही ऐसा भी है कि ज्ञानके बलसे बाहरकी चमडी न देखकर कहो भीतरका ही सारा दृश्य दृष्टिमे आये, इस तरहसे देखनेपर यह शरीर बडा अपवित्र लगेगा। लगे अपवित्र, इतनेपर भी अभी सही मायनेमें अनुप्रेक्षा नही हुई। उसके मुकाबलेमे प्रतिपक्षमे अतस्तत्त्वको भी तो देखें। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा परम पवित्र है। पवित्रको निरखनेका प्रयोजन है कि अपवित्रसे हटकर पवित्र स्वरूपमें आवो। यह है अशुचित्व अनुप्रेक्षा।

(२८७) **आत्मपवित्रता और उसका प्रभाव**—कोई भव्य प्राणी अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको निरखकर उस ही मे लीन हो तो मानो उसे यो कहो कि वह खुदमे खो गया। स्वयंमें लीन हो गया, उस समय उसकी पवित्रताका भान करें, पवित्र हो जायगा। ऐसे ही पवित्रताका जहाँ सम्बन्ध हो वहाँ शरीरकी भी पूजा होने लगती है। जहाँ पवित्रता समाप्त हुई वहाँ शरीरपर डडे बरसते हैं। कोई पुरुष गाली बके, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पापमें लगे, असद्व्यवहार हो तो वह है आत्माकी अपवित्रता। उस पवित्र आत्माके सम्बंध

से तो शरीर भी लोगोंके द्वारा पूजा जायगा। जहाँ आत्मपवित्रता है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका भाव बसा है तो कहते हैं ना कि रत्नत्रयसे पवित्र शरीरसे ग्लानि न करो, बल्कि प्रीति करो, भक्ति करो, सेवा करो। साधु जनोंको नहानेकी जरूरत नही, फिर भी पवित्र। जो पाप करे सो नहाये, और-और बातें करे, अनेक दंड भोगे, वह नहाये। और जो निष्पाप है, जिसकी आत्मदृष्टि है वह तो समझता है कि नहानेसे पाप हो जायगा। न जाने किस जीवपर पानी पड जाय और वह दुःखी हो जाय। और फिर इस शरीरकी क्या नहा धोकर सफाई करना। यह दृष्टि जगती है ज्ञानस्वरूपकी धुन होनेपर। और कोई गृहस्थ अगर मुनियोंकी होड करे कि मुनि भी तो नही नहाते सो हम भी नहीं नहायेंगे, यह सोचकर १०-१०, १५-१५ दिन न नहाये तो उसकी यह भूल है। उसकी तो ऐसी दशा समझो कि जैसे गाडीमे जुतने वाले बैलोके पैरोमे नाल ठोकी जाती है तो एक मेंढकी भी उसे देखकर अपने पैरोमे नाल ठोकाने चली। अरे भावसहित क्रिया हो तो वह सार्थक है। भावसहित क्रिया एक वह पवित्र वातावरण है कि जिसमेसे गुजरते हुए भावोंमें प्रगति कर लो। निर्ग्रन्थ भेषमे रहकर निःशल्य होनेका अवसर मिलता है वहाँ आत्मसाधना द्वारा मोक्ष मिलता है। वहाँ भी यह निर्णय रखना कि निर्ग्रन्थभेषसे मोक्ष नही मिलता, किन्तु आत्मदृष्टिसे मोक्ष मिलता, मगर वह आत्मदृष्टि निर्ग्रन्थ भेषमें रहे बिना बन नही पाती। मोक्ष मिलता है आत्म उपासनासे, न कि मात्र शरीरके भेषसे। सो हे साधु पुरुष! भावोंसे रहित मात्र बाह्य लिङ्गसे सिद्धि नही है, अतः अपनी आत्मदृष्टिकी भावना कर।

(२८८) **आस्रवानुप्रेक्षामें आस्रवकी दुःखकारिताका कथन**—साधु जनोंको उपदेश है कि भावरहित बाह्य लिङ्गसे कुछ प्रयोजन नही सधता, अतः बारह अनुप्रेक्षावोंको भावो। अभी तक अशुचि भावनाका वर्णन हुआ था अब आस्रवभावनाकी बात सुनो—आस्रवका अर्थ है चारो ओरसे स्रवण होना, चूना। जैसे बरसातमें कभी छत कोई नीचे गीली हो जाती है, एक-एक बूंदसा दिखता है वह चूना कहलाता है। इसी प्रकार आत्मामें चारों ओरसे कर्मोंका आना होता है, कर्मोंके आनेका एक रास्ता नही है कि पैरकी ओरसे आये कि सिरकी ओरसे आये। आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें कार्माणवर्गणायें भरी पड़ी हैं। तो जैसे ही मिथ्यात्व, कषाय, अविरति भावका निमित्त पाया कि कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं, इसे कहते हैं आस्रव। ये आस्रव बहुत दुःख देने वाले हैं। अन्यत्र ऐसा कथानक है कि एक संन्यासी गुरुके अनेक शिष्य थे। तो गुरुने विचार किया कि अपने बाद किसे उत्तराधिकारी बनायें, तो गुरुने उन शिष्योंकी परीक्षा ली। क्या किया कि एक-एक चिड़िया दे दी और यह कहा कि इसे ऐसे एकान्तस्थानमें जाकर वध करो जहाँ कोई दूसरा देखता न हो। तो और तो सभी शिष्योंने

किसी एकान्तस्थानमे उस चिड़ियाका बध किया, पर एक शिष्यको कहीं भी एकान्त न दिखा, उसकी समझमें यह बात बैठी हुई थी सर्वत्र भगवान व्यापक है, और कोई यदि कहीं देख रहा तो भगवान तो देख ही रहा। इसलिए उसने उस पक्षीका बध न किया। उसने बहुत बहुत एकान्त स्थान ढूंढा– पर्वत, नदी, श्मशान, जगल, गुफा आदि, पर उसे कही एकान्त न दिखा और वह सीधा गुरुके पास चला आया। तो उससे पूछा गुरुने कि बेटे तुमने इस पक्षीका बध क्यों नहीं किया ? क्या तुम्हें कोई एकान्त स्थान नही मिला ? तो वह शिष्य बोला गुरुजी मैंने तो बहुत बहुत ढूंढा एकान्त स्थान, पर कही एकान्त न दिखा, हमे तो सब जगह भगवान दिखाई दे रहे थे, मान लो यहाँ तो कोई नही देख रहा था, पर भगवान तो देख रहे थे, इस लिए हमने इस चिड़ियाका बध नही किया। तो ठीक है, यहाँ कोई कितना ही लुक छिपकर पाप करे, पर कर्मोंका आश्रव तो जरूर होगा। इसमें कैसे पर्दा डाला जा सके। और, आश्रव हुआ तो उसी समय कषाय भी है तो स्थिति बँध और अनुभाग बध भी होता है। अब अपने समयपर उदय उदीरणाके कालमे वे कर्म अपने आप भयकर रूप धारण करेंगे और उस समय यह जीव ज्ञानस्वरूपसे विचलित होकर खुद अज्ञानरूपमे परिणम कर अपना नाश करेगा। तो यह आश्रय दुःखदायी है।

(२८६) **आस्रवानुप्रेक्षमें अन्तः स्वनिरीक्षण**—आस्रवके आनेके द्वार हैं मन, वचन, काय। वास्तवमें तो कषाय है आनेका द्वार, योग है आनेका द्वार, मगर उस योगका व्यक्ती करण मन, वचन, कायकी क्रियासे होता है इसलिए उसका नाम दिया जा रहा है। बेचारा शरीर जड़ है उसका क्या अपराध है कि हाथ अगर यहाँसे उठाकर दूसरी जगह रख दिया तो आश्रव हो गया। वस्तुत द्रव्य मन, वचन और कायकी चेष्टासे आश्रव नही होते, पर यह चेष्टा हुई क्यों ? भीतरमें कोई वासना बनी तब चेष्टा हुई ? तो वासनाकी बात इसपर आरोप करके कही जाती कि मन, वचन, कायको चेष्टासे आश्रव होता है, अथवा एक यह कर्तव्य समझनेके लिए कि तुम मन, वचन, कायको वश करो तब आत्मध्यान बनेगा सो यह भी प्रेरणा मिलती है कि मन, वचन, कायको वश न करेंगे तो कर्मोंका आश्रव चलता रहेगा। आश्रव दु.खकार घनेरे, गुणवन्त तिन्हे निरवेरे, यह है आश्रवकी कथा, मगर यह आश्रव ही आश्रव दखते रहे तो अब वास्तविक अनुप्रेक्षण नही हुआ। आत्माको तो देखो वह निराश्रव है। आत्माका स्वरूप स्वभाव अविकार है। जो कि स्वयं सत् होता, जो उसका सहज स्वरूप है वहाँ विकारका गंध नहीं है। केवल ज्ञान और ज्ञानकी वृत्ति, ज्ञान ज्योतिका परिणमन इतनी ही बात स्वरूपमें पड़ी है, बाकी बात तो सम्पर्कज हुई है। अपने आपको निराश्रव निरखना यह है आश्रव अनुप्रेक्षा।

(१६०) संवरानुप्रेक्षामें संवर उपकारी तत्त्वकी भावेयता—संवर अनुप्रेक्षा, संवर कहते हैं रुक जानेको, कर्मोंका आस्रव रुक जाय आस्रव न हो सके उसको सम्वर कहते हैं। आते हुए कर्म रुक जायें, यह सम्वरका अर्थ नहीं है। आते हुए को कौन रोकेगा? पर आता ही न होवे इसे कहते हैं संवर। इन कर्मोंका आना रुके तो इस जीवको मोक्षमार्गमे प्रगति मिलेगी। और भावसम्वरको दृष्टिसे देखें तो विभाव परिणाम न हो सके, ऐसा ज्ञानबल बढ़ायें, ऐसा सहजस्वभावकी दृष्टि दृढ़ करें कि वहाँ विभावोंको न अपनाया जाय, स्वभावदृष्टि ही बनी रहे तो वहाँ भावसम्वर होता है। सम्वर उपकारी तत्त्व है। सम्वर स्वरूप खुद आत्मा है। आत्मा अकेला है, उसमे संवर स्वरूप है। तो ऐसे सम्वर स्वरूप अंतस्तत्त्वका निरीक्षण करें यह है सम्वर अनुप्रेक्षा।

(२६१) निर्जरानुप्रेक्षामें भावनिर्जराकी साधनाका महत्त्व—निर्जरा अनुप्रेक्षा कर्मों के झडनेको निर्जरा कहते हैं। जैसे पीछीमें से पंख झड़ते हैं, कोई पंख पूरा नहीं झड़ता, थोडा थोडा रेसा निकलता रहता है। तो रेसा रेसा निकलकर कुछ ही दिनोंमें वह पिछी ठूठ जैसी हो जाती है। पूरा निकलनेका नाम निर्जरा नही है। वह तो कहलायगा मोक्ष, और उन कर्मोंमे से कुछ परमाणु निकल गए, कुछ बदल गए, उनका क्षीण होना यह कहलाया निर्जरा। निर्जरा तत्त्व इस जीवका उपकारी तत्त्व है। पर अन्तरमें देखें, भावनिर्जरा स्वभावदृष्टिकी प्रखरतासे विभावोंका झडना है, वासनाओंका मिटना यह है भावनिर्जरा। जिसके भावनिर्जरा है उसके उपभोगकी दशामे भी उपभोग बंधका कारण नही होता। यद्यपि रागांशके अनुसार बंध है, मगर विशेषता यह बतायी कि वर्तमान उपभोगमें राग न होनेसे, उसके भोगनेका राग न होनेसे वह नवीन बंधका कारण नही बनता सो निर्जरा ही हो गयी। विषयोका राग और विषयोको भोगनेका राग इन दो मे कुछ अन्तर है ना? पदार्थोंका राग और पदार्थोंको चिपटानेका राग इन दो में अन्तर है। परिस्थितिवश पदार्थोंमे राग चलता है। अगर राग न चले तो गृहस्थ क्या गृहस्थोमें रह सकता? नही रह सकता। ज्ञानी भी गृहस्थ होते हैं, उनके भी राग चलता है, नही तो वे गृहस्थोमें रह कैसे सकते? मगर उन्हें रागमें राग नहीं होता। पदार्थको चिपकानेमे राग नही है कि यह मेरे सदाकाल बना रहे, इस भोगनेका राग न रहनेसे भावनिर्जरा होती है। यह निर्जरा तत्त्व जीवका उपकारी है।

(२६२) लोकानुप्रेक्षामें लोकभ्रमण मिटानेके अर्थ भावशुद्धिकी प्रेरणा—लोकानुप्रेक्षा—लोकका स्वरूप विचारना। लोक कितना बड़ा है? भगवानने जैसा दिव्यध्वनिमें बताया, गणधरोने जैसी वाणी झेली, आचार्य संतोंने जैसा विस्तार बताया, वैसा लोकके आकारका चिन्तन करें। बहुत विशाल लोक है। इस लोकमें यह जीव अज्ञानवश कषायवश हुए प्रदेशोंमें

जन्म ले चुका । लोकका कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचा, जहाँ कि इस जीवने अनेक बार, अनन्त बार जन्ममरण न किया हो । तो इस जीवने सारे लोकका परिचय कर डाला, मगर जिस भवमें यह जीव गया बस वही जगह उसे अनोखी लगती रही । खूब घूम आया सारे लोकमे, घर बना डाला सारे लोकमे, मगर मोहदशामे जहाँ यह जीव जन्मा, जहाँ यह रह कर वहा की भूमिको यह अपना वैभव समझ लेता है । तो अज्ञानसे यह जीव इस लोकमे भ्रमण कर रहा । यह भ्रमण न चाहिये हो तो उसका उद्यम है आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान करना और अपनेको सहज स्वरूपमय अनुभवना । यह है लोक अनुप्रेक्षा ।

(२१३) **बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षामें रत्नत्रयकी दुर्लभताका प्रतिबोधन**—बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—जगतमे सब कुछ मिलना सुलभ है, राजपाट धन-वैभव आदि जो-जो भी सांसारिक बातें हैं ये सब सुलभ हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका मिलना दुर्लभ है, और जो जो अपना नहीं है उसके बीच तो यह आराम कर रहा है और जो अपना है उसकी इसको सुध भी नहीं है । जैसे एक कहावत है ना ? "पानी बिच मीन पियासी, मोहि सुन सुन आवत हाँसी" पानीमें रहकर मीन मछली प्यासी है, इसको कोई सच मान लेगा क्या ? अगर कदाचित् ऐसा हो जाय अथवा ऐसा होता ही नही, लेकिन यह आत्मा इस आनन्दस्वरूपमे बसता हुआ तृष्णासे प्यासा बना रहता है । स्वरूप तो है इसका सहज आनन्द, मगर तृष्णाके कारण यह निरन्तर प्यासा और आकुलित रहता है । तो यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह तो आत्माका स्वाभाविक रूप है, यह तो अत्यन्त सुगम हो जाना चाहिए । मगर कोई उल्टा ही चल रहा है तो उसे दुर्लभ बन गया । तो रत्नत्रयकी प्राप्ति बडी दुर्लभ है । उसको अन्दर मे देखिये तो विदित होगा कि रत्नत्रयका लाभ जितना सुलभ है उतना सुलभ अन्य कुछ हो ही नही सकता । परद्रव्यपर मेरा अधिकार क्या ? हो गया संयोगवश समागम, पर अधिकार इनपर कुछ नही । आत्माका इनपर क्या अधिकार ? किंतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रपर हमारा पूर्ण अधिकार है । मेरा स्वरूप है कि बाह्य विकल्पोको छोड़ू और स्वरूपमे आऊँ । यह कौन सी कठिन बात है, लेकिन दुर्लभ बना है । किस कारणसे ? इस कारणसे कि मोहमे दृष्टि पड़ी है इसलिए दुर्लभ है ।

(२१४) **विषयकषायभावनाके परिहारपूर्वक ज्ञानामृतपानसे बोधिकी सुलभता**—वेदान्तकी काशीशी टीकामें एक कथानक आया है कि कोई दो दूकानें थी पास-पडोसकी । उसमें एक तो थी शक्करकी दूकान और एक था नमककी दूकान । एक बार शक्करकी दूकान में रहने वाली चीटी अपनी बहिन नमककी दूकानमें रहने वाली चीटीके पास गई और बोली, बहिन तुम यहाँ क्या खाती हो ? तो वह दूसरी चींटी बोली— हम नमककी डली खाती हैं ।

...अरे यह क्या ? रोज-रोज खारा-खारा खाती हो, तुम हमारे साथ चलो, वहाँ तुम्हें रोज-रोज मीठा मीठा ही खानेको मिलेगा। पहले तो उस चीटीको विश्वास न हुआ, पर बहुत-बहुत कहनेपर वह चलनेको तैयार हो गई, मगर सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि भूखों मरना पड़े सो अपनी चोंचमें एक दो खुराक खानेके लिए नमककी डली रखकर चली। जब शक्कर की दूकानमे पहुची तो नमककी डलीको तो मुखसे अलग किया नही और शक्करके दानेपर मुख रख दिया तो वहाँ भी खारी खारी ही लगे। शक्करकी दूकान वाली चींटीने पूछा-कहो बहिन मीठा स्वाद आया ना ? तो वह बोली—नही। ...तुम कुछ मुखमे रखे तो नहीं हो ? ...हाँ एक-दो खुराक खानेके लिए नमककी डली अपनी चोंचमे रखे हैं। ... अरे, तो फिर कैसे मीठा स्वाद आये। तू इस नमककी डलीको मुखसे निकाल दे, फिर देख कि मीठा स्वाद आता है या नही। उसने नमककी डलीको मुखसे निकाल दिया तब उसे मीठा स्वाद मिला। और बडी कृतज्ञ होकर बोली—बहिन, तुम बडी भाग्यशाली हो जो रोज-रोज ही मीठाका स्वाद लेती रही। तो जैसे नमककी डली अपनी चोंचमे रखे रहनेके कारण चीटोको मीठा स्वाद नहीं आया, इसी प्रकार जब यह जीव अपने उपयोगरूपी चोंचमे बाह्यपदार्थोंसे ममत्व रखे हुए है तो इसको अपनी सहज ज्ञानमूर्तिका भान कैसे बने ? आखिर उपयोग ही तो है। इस उपयोगको चाहे विषय कषायोकी ओर लगा दें, चाहे सहज परमात्मतत्त्वकी ओर लगा लें, चाहे शान्ति पा लें चाहे अशान्ति। तो मोह रागद्वेषवश इस जीवको यह रत्नत्रय दुर्लभ रहा। तत्त्वज्ञान जगे और परभावोसे दृष्टि हटे तो इसको बोधिलाभ सुलभ है।

(२९५) धर्मानुप्रेक्षामें भावशुद्धि—धर्म अनुप्रेक्षा—धर्मके स्वरूपका विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है। धर्म है आत्माका स्वभाव। आत्माका स्वभाव है ज्ञाताद्रष्टापना। ज्ञानमात्र। सो ज्ञाता द्रष्टा रहें, ज्ञानवृत्तिरूप रहे, अन्य पदार्थोंको न अपनावें तो वहाँ धर्मपालन है। इस धर्मपालनका बहुत ऊँचा फल है। कुछ राग शेष रहे तो उत्तम देवभव मिले, उत्तम मनुष्य पर्याय मिले, रागका क्षय होनेपर मुक्ति मिले। धर्मका फल मांगनेकी जरूरत नही पडती। धर्मका फल सोचनेकी जरूरत नही पडती। जहाँ धर्म है वहाँ धर्मका फल अवश्य मिलता है। बहुतसे लोग कहने लगते कि हमको पूजा करते करते बीसो वर्ष व्यतीत हो गए, पर दरिद्रता न मिटी, कोई प्रकारका आराम न मिला, धर्मका कुछ फल नहीं है, मगर ऐसी जिनकी स्थिति है उन्होंने धर्म किया कहाँ ? शरीरका परिश्रम किया। सुबह उठे, नहाया धोया ठडे पानीसे। फिर जल भरा, द्रव्य धोया, यहाँ वहाँ द्रव्य चढाया, पूजा पाठ किया, कोई लोग दर्शन करने आये तो उन्हे देखकर तनकर बैठ गए इस लिए कि लोग समझ जायें कि यह बड़े धर्मात्मा हैं। कितने ही प्रकारके मिथ्याभाव उत्पन्न किये। बताओ वहाँ धर्म कहाँ

किया ? यदि आत्माके स्वभावकी दृष्टि बनती, परमात्माके स्वरूपकी दृष्टि बनती और उस स्वरूपके समान अपने आपको माननेकी दृष्टि बनती तो वहाँ धर्मपालन होता । धर्मका फल बिना वाचना किए, बिना चिंतन किए मिलता है । इस प्रकार साधुजनोंने बताया है ।

(२९६) अहिंसाव्रत—भावरहित बाह्य लिङ्गसे कोई फायदा नहीं है । अनुप्रेक्षावों का चिंतन करें और २५ भावनाओंको भायें । व्रत ५ होते हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । प्रत्येक व्रतकी ५-५ भावनायें होती हैं । उन भावनाओंका यह प्रभाव होता है कि उससे व्रत निर्दोष पलता है । तो उन भावनाओंको भावें । जैसे अहिंसाव्रतकी ५ भावनायें हैं वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च । वचनको वशमें करना—यह अहिंसा व्रतकी भावना है, जिसके वचन वशमे नही, अधिक बोलनेकी आदत है वह खुद दुःखी रहता है और उसके संगमें जो हो वह भी दुःखी रहता है, इसलिए वचनगुप्तिकी भावनासे अहिंसाव्रतकी साधना बनती है । अधिक बोलने वाला कभी ऐसा अट-पट बोल जाता है कि उस पर वह खुद पछताता है । कम बोलने वाला खूब सोच समझकर बोलता है । दूसरोकी बात सुनना अधिक और बोलना कम, यह वृत्ति होनी चाहिए हर एक की । और देखो जो ये दो कान मिले तो मानो डबल सुननेके लिए मिले और जिह्वा एक मिली सो मानो सिंगल वचन बोलनेके लिए । वचनोंको वशमे रखने वाला बहुतसे संकटोसे बच जाता है । सो साधुजन तो वचनगुप्तिका बड़ा प्रयास करते हैं,

(२९७) अहिंसाव्रतकी शेषभावनाओंकी भावना—ऐसे ही दूसरी अहिंसाभावना है मनोगुप्ति, मनको वशमे करना । यह मन बड़ा चंचल होता है, मन विषयमे गया तो उससे दुर्भावना बनी और तत्काल हिंसा हो रही । दुर्भावना होनेसे खुदके चैतन्य प्राणकी हिंसा हो रही । इसलिए मनको वशमें करना । जितने बाह्य क्रियाकाण्ड हैं ये केवल मनको वश करनेके तन्त्र हैं । अभी यह क्रिया करें फिर वह क्रिया करें, लगे रहे क्रिया करनेमे उससे मन विषयोकी ओर नहीं लगता । इस मनको बंदरकी उपमा दी है । बंदर शायद सोते हुएमे तो थोड़ा स्थिर रहता होगा मगर जगते हुएमें कभी स्थिर नही रहता । कभी हाथ उठाता, कभी पैर चलाता, कभी सिर मटकाता, कभी देह खुजलाता, कभी कुछ क्रिया करता । नाटक करने वालोको तो सीखनी पड़ती हैं—आंखोकी भौं नीचे ऊपर चलाना, आंखोकी पुतली इधर-उधर करना, मगर बंदरके लिए ये सब क्रियायें करना बड़ा आसान है । तो जैसे बन्दर निरन्तर चचल रहता है ऐसे ही यह मन भी बड़ा चचल रहता है । कभी कुछ सोचा कभी कुछ । तो ऐसे मनको वशमें करना यह होता है ज्ञानबलसे । तो जिन्होने अपने मनको वशमे किया है उनके अहिंसाव्रत अच्छी तरह पलता है । प्रथम तो परम अहिंसा आत्माके सहजस्वरूपकी दृष्टि है, सो मनको

क्षमाये करने वालेंको आत्मस्वरूपका दर्शन बहुत सुगम रहता है। उस मनोगुप्तिके अभ्याससे, पालनके अहिंसाव्रत पलता है। ऐसे ही तीसरी अहिंसाभावना है ईर्यासमिति—देख-भालकर चलना। ईर्यासमिति वाला सोचता है कि मेरे जीवके ही समान ये सब जीव हैं, ये सब भी परमात्मस्वरूप हैं, इनपर मेरा कहीं पैर न पड़ जाय। (४) आदाननिक्षेपणसमिति—किसी जीव-जंतुको बाधा न हो, खूब निरीक्षण करके वस्तु धरना उठाना, मल-मूत्र, थूक आदिकका वहाँ क्षेपण करना जहाँ जीव-जन्तु न हों, यह भावना रहती है वह अहिंसाव्रत निर्दोष पालने के लिए है। इन भावनाओंको भायें जिससे व्रतका निर्दोष पालन हो।

(२९८) भावशुद्धिके साधक सत्य व्रतकी साधनाके लिये क्रोधप्रत्याख्यानकी भावना—आचार्यदेव यहाँ साधुओंको सम्बोध रहे हैं कि भावरहित बाह्य लिङ्गके धारण करनेसे क्या लाभ है? बारह अनुप्रेक्षावोंको भावो और २५ भावनाओंको भावो। बारह अनुप्रेक्षा और २५ भावनामे से प्रथम अहिंसाव्रतकी भावना तकका वर्णन हुआ। अब सत्य व्रतकी भावना देखिये, सूत्रजीमे बताया है— "क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच" सत्यव्रतकी ५ भावनायें क्या-क्या हैं—(१) क्रोधका त्याग, (२) लोभका त्याग, (३) डरपोकपनेका त्याग, (४) हंसी मजाकका त्याग और आगमके अनुसार बोलना। जिन जीवोंके क्रोधका त्याग नही है, क्रोध रखनेकी आदत बनी रहती है, उनके वचनोंमें सच्चाई नहीं समझी जाती है। स्पष्ट भी झूठ बोलते हैं। किसीपर गुस्सा आये तो उसका बिगाड ही तो करना चाहते हैं। अब यों ही तो बिगाड हो नहीं जाता। वैसे बिगाड़ तो उसका उसके ही पापके उदयसे होगा, और लौकिकदृष्टिसे मान लो तो दूसरेका बिगाड किया जाना बड़ा कठिन है ना? तब असत्य बोलकर और अन्य उपाय बर्तकर बिगाड करना चाहते हैं। क्रोधमें अपनी सुध नही रहती और न सत्यव्रत पालनकी उसे सुध रहती है। बड़े-बड़े लोग भी यदि क्रोधमें आ जायें तो उनके वचन कुछ न कुछ असत्यतासे भरे निकलते हैं। इस कारण सत्य व्रतका पालन करना हो तो क्रोधका त्याग होना चाहिए। अब क्रोधके त्यागका नियम तो होता नहीं कि हमने कहीं नियम ले लिया कि मैं कभी क्रोध न करूंगा। यद्यपि ऐसा भी किया जाता है, पर जब कर्मविपाक उदित होता है तो उनका निमित्तनैमित्तिक योगमें जो होना है सो होता है। तब क्रोधको कैसे त्यागा जाय? ज्ञानबलसे। अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी भावना बहुत-बहुत भाइये, उससे अपना आत्मबल बढ़ेगा, ज्ञानरुचि बनेगी, जिसके प्रतापसे क्रोधका परिहार हो जायगा। तो क्रोधका परिहार करना सत्यव्रत पालनका उपाय है।

(२९९) भावशुद्धिसाधक सत्यव्रतके साधनार्थ लोभप्रत्याख्यानकी भावना—दूसरी भावना है लोभका त्याग। जब चित्तमें लोभ आजाता है तो धन मिले या यह मेरा धन

नष्ट न हो जाय इस आशयमे जैसा बोलनेसे काम बने वैसा बोलना पडता है, क्योंकि उसको तृष्णा लगी है। तो लोभ कषाय जब चित्तमें है तब असत्य वचन निकल जाते हैं। प्रायः देखते ही हैं। कितने ही लोग तो कसम भी खा लेते हैं धनके लोभसे। तो जिनके लोभ कषाय नही मिटी उनके सत्य वचनका व्यवहार नही बन पाता। तब सत्य व्रत पालनकी जिनके इच्छा है, भावना है, नियम ले लिया है उनका कर्तव्य है कि वे लोभका परित्याग करें। लोभकषाय का भी परिहार करना कठिन है। उसका नियम कैसे लिया जाय? वह तो कषायका उदय आया और उसी तरह ढल गया। तो इसका भी प्रक्षय ज्ञानबलसे होता है। अपने आपमें निरखिये मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दके वैभव वाला हू। इसके समक्ष तीन लोकका भी वैभव सामने इकट्ठा हो तो उससे कुछ लाभ नही मिलता है। तो यह ज्ञानी पुरुष अपने सहज स्वभाव का आदर करता है और उसकी दृष्टिमे यह ही लोकोत्तम है, इस कारण लोभका परिहार हो जाना उसके लिए बहुत आसान है। लोभका परित्याग यह सत्य व्रतका निर्दोष पालन कराता है। अनेक पौराणिक कथायें और लोक पद्धति है कि लोभमे केवल कष्ट ही पाया। अच्छा अपनी ही बात देख लो, लोभमें रँगे रहे, धर्म हेतु, उपहार हेतु कुछ भी खर्च करनेकी भावना न बने, ऐसी जिन्दगी बिताई जाय, बहुत सा धन इकट्ठा भी कर लिया जाय तो उमसे इस आत्माको लाभ क्या है? लाभ नही बल्कि तृष्णाका पाप लादे रहनेसे तो दुर्गति हो होगी। तो लोभका परित्याग हो तो सत्य व्रतका निर्दोष पालन बनेगा।

(३००) भावशुद्धिके साधक सत्य व्रतके साधनार्थ भयप्रत्याख्यान भावना— भय का त्याग—अगर कायरता है, डरपोकपना है, भयभीत हो रहे हैं तो ऐसी स्थितिमे जैसी अपनी रक्षा समझी उस ढंगसे वचन बोलते हैं। और वह बोल असत्य निकलता है। जैसे जीवनमें कितने ही अवसर आये होंगे। छोटे-छोटे बालक तो भय दिखाया जाने पर अनेको बार झूठ बोल जाते हैं। मान लो किसी बच्चेने गिलास फोड दिया, उसके दादा बाबा किसी ने पूछा यह गिलास किसीने फोडा? तो वह बच्चा बोलता हमने नही फोडा। यो एक बार नहीं, अनेकों बार झूठ बोलना है। वही बच्चा जब जवान हुआ तो अनेको भय उसके सामने आते हैं। कभी किसो साम्प्रदायिक झगडेमे फस जाय, बडी भारी कलह हो जाय, और निकल गया किसी दूसरी जातिके मोहल्लेसे तो वह अपनी जाति बदलकर किसी तरहसे अपने प्राण बचाता है। तो एक ही क्या, अनेको ऐसी घटनायें बनती हैं जिनमे अनेकों बार झूठ बोलना पड़ता है। और बुढ़ापेमे कोई सत्यकी मूर्ति थोड़े ही बन जायगा। यहाँ भी अनेक भय बनते हैं, वहाँ भी झूठ बोल सकते हैं। सत्य व्रतका निर्दोष पालन वही कर सकता है जिसके किसी भी प्रकारका भय नही। जिसने आत्माका अन्त. स्वरूप अनुभवा है उसका यह दृढ़ निश्चय है

कि मेरा आत्मा अमर है। वह कभी मिटता नहीं, यहाँ न रहा दूसरी जगह चला गया। इस देहसे क्या राग करना ? जिसने आत्मस्वरूपका अनुभव पाया वह नि:शङ्क रहता है और सत्य महाव्रतका पालन सम्यग्दृष्टि पुरुष ही तो कर पाते। तो डरपोकपनेका त्याग होना, निर्दोष सत्य व्रतका पालन कराता है।

(३०१) सत्य वचन बोलनेका व्रत निर्दोष पालन करनेके लिये हास्यपरित्यागकी आवश्यकता—हँसी मजाकका परित्याग हो तो सत्य वचन बोले जा सकते, हँसी मजाक दिल्लगी करने वाला सत्य वचनका व्यवहार नही कर सकता। और फिर कहते हैं ना—लड़ाईकी जड़ हाँसी और रोगोंकी जड़ खाँसी। हास्यसे कलह भी बढ़ता है और कलह बढ़ेगी तो वहाँ सत्य वचनकी सुध थोड़े ही रहेगी। एक बार कोई मित्र अपने कंजूस मित्रके घर पहुंचा। अब उस कजूस मित्रने देखा कि यह आ गया, पता नहीं कितने दिन यह ठहरेगा, तो उसके घर रसोई बनाने वाला एक रसोइया (नौकर) था सो उस नौकरको कुछ समझा दिया कि हम कुछ लाठीसे आवाज करेंगे और तुम रोने लगना, इससे वह ऐसा वातावरण देखकर अपने आप भग जायगा। सो उसने वैसा ही किया। लाठीका प्रहार किया जमीनपर, और उधर वह रसोइया रोने लगा और वह मित्र डरकर वहाँसे बड़ी दूर भाग गया। अब भाग तो गया, मगर फिर सोचा कि हम भाग तो आये, पर मित्रसे कहकर तो नही आये, इसलिए पुन: वही लौट चलना चाहिए। यह विचारकर वह पुन: वापिस लौट आया। इधर वह कंजूस सेठ (घरका मालिक) आंगनमे रसोइयासे बात कर रहा था—हमने लाठीसे पीटा तो नही, तो रसोइया बोला— हमने रोया भी तो नही, तो इतनेमें वह मित्र वही पौरमे खड़ा पीछेसे बोला— मैं भी गया भी तो नही। तो ऐसी कितनी ही घटनायें हो जाती हैं हँसी मजाकमें, लोभमें कि जिनमें सत्य वचन व्यवहार नही बनता।

(३०२) भावशुद्धिमें अनुवीचिभाषणका महत्त्व—५ वी भावना है अनुवीचि भावना। आगमकी आज्ञाकी अवहेलनाका कुछ ख्याल तो रखना चाहिए। आगमविरुद्ध वचन बोलना यह दोष है। जिसकी छायामें रहकर अच्छी जिन्दगीसे जियेंगे, और भविष्यमे भी हम अच्छी प्रकार रहेंगे हमे उस आगमकी आज्ञामे रहना चाहिये। उद्दण्डतासे तो काम नही बनता। भगवानकी वाणीके शासनमे रहना हो तो कोई बात ऐसी न निकल जाय शास्त्रके विपरीत इसका ध्यान रखना चाहिए। अब आजकल श्रद्धाहीन लोग अधिक हो रहे हैं तो उन्हें कुछ परवाह ही नही है, जैसा मनमे आया वैसा बोल दिया। और अपनी कषायके अनुसार पंक्ति का अर्थ निकालना यह बड़ा सुगमसा बन गया है, जब कि आचार्यदेवने किसी आर्ष सूत्रका या ग्रन्थकी टीका की है तो कोई शब्द अगर ऐसा भी आया हो जो वहाँ पूरा फिटसा नहीं बैठता हो, लेकिन टीकाकारोंकी ऐसी दृढ़ श्रद्धा आचार्योंके प्रति, प्राचीन ऋषियोंकी ओर सी कि

ऐसी वाक्यरचनासे टीका की कि उसे जचा दिया कि यह सब लेख पूर्णतया ठीक है ।

(३०२) आगम और युक्तिसे सत्य श्रद्धान करनेमें कल्याण—अब जो स्वच्छंदता चल रही है उसमें इतना तक लोग कहने लगे कि सूत्रजी का तीसरा अध्याय या चौथा अध्याय में से भूगोलकी बातें ये तो निकाल देना चाहिए क्योकि यह सिद्ध हो गया कि जमीन नारंगी की तरह गोल है, कुछ यह भी बतलाते हैं कि एक समान है, थोडी भी युक्ति नही सोचते कि आंखोके देखनेका ढंग ऐसा होता है कि हम कही भी खडे होकर देखें तो दूरकी जमीन ऐसी लगती जैसे नीचे धस गई हो। आंखसे देखनेका तरीका ही यो है । अच्छा और तो जाने दो, रेलकी पटरियोंमें तो एक इंचका भी अन्तर नही होता । जितने चौडे अन्तरसे रेलकी पटरियाँ रखी जाती है उतनी ही रखी जायेंगी । कोई लाइन अगर ऐसी सीधी हो कि आपके एक दो मील तक भी सीधी दिखाई पड़े उसे आप खडे होकर देखें तो सही, जितना अन्तर आप अपने निकट पा रहे हैं क्या ऐसा अन्तर वह मील दो मील दूरका भी नजर आयगा ? नही, वे तो दोनो लाइनें एक दूसरेसे मिली हुई नजर आयेंगी। देखो वे दोनो लाइनें एक दूसरेसे मिली तो नहीं होती, यहाँ तक कि आधा या पाव इच तकका भी फर्क नही होता, यदि फर्क हो जाय तो कितनी ही दुर्घटनायें प्रतिदिन होती रहे, पर ऐसा नही होता। तो आंखोसे देखनेका ढग ही ऐसा है । यो श्रद्धा तो नही बना पाते कि युक्तिसे, मननसे ये सही जाननेकी कोशिश करें कि आचार्योंने जो लिखा है वह अक्षरश: ठीक है। अपनेको मुग्ध लोग अपनेको बुद्धिमान मान लेते हैं, जैसे कि मानो दुनियाके सभी जीवोके लिए कुल दो आंखें मिली हो तो मानते कि डेढ़ आंखें तो हमारे पास हैं बाकी आधी आंखमे सारी दुनियाके जीव हैं, इतना बुद्धिमान अपनेको मान लेते हैं । तो सूत्रविरुद्ध जो बात करता है वह सत्य व्रतका पालन नही कर सकता । तो इन ५ भावनाओंसे सत्य व्रतका पालन होता है । सो हे मुने इन भावनाओंके द्वारा तुम सत्य व्रत का निर्दोष पालन करो ।

(३०३) अचौर्यव्रतके निर्दोष पालनका साधुवोको आगमका उपदेश—तीसरा व्रत है अचौर्याणुव्रत—चोरीका त्याग । चोरी तो बहुत तरहकी होती है—धनकी चोरी, नामकी चोरी, साहित्यकी चोरी । उनके नाम भी अलग अलग चलते हैं । जैसे साहित्यचोर, धनचोर, आचरणचोर आदिक । चोरी किसी भी तरहकी करे, उसका आशय बहुत खोटा होता है। एक बार हम (प्रवक्ता) दुर्गमे थे तो वहाँ एक व्यक्ति एक किताब लिए हुए था उसने कहा—देखिये महाराज जी, यह किताब बहुत अच्छी है, उसे मैंने खोलकर देखा तो एक लाइन देखते ही मैंने कहा कि यह तो मेरी लिखी हुई एक डायरी है, इसका नाम संपादक सुमेरचंद जी ने रखा था—'सहजानन्दवाणी', पर उसमे क्या देखनेमे आया कि उसका कोई दूसरा नाम रख-

कर आचार्य निर्मलसागर नामधारी मुनिने उसमें लेखककी जगहपर बदलकर अपना नाम डलवा दिया था, और उस पुस्तकमें पांच जगह अपना फोटो भी मायाचारीसे लिखते हुएका, और और प्रकारका छपवा रखा था। यह दृश्य देखकर मैं तो बडा दंग रह गया ? निर्मलसागर जी जब मुजफ्फरनगर आये तो छपते ही यह पुस्तक सपादकने निर्मलसागर जी को भेंट दी कि कल्याण करें। निर्मलसागर जी ने दो वर्ष बाद तेज विहार कर औरंगाबादमें मायाजाल कर उसे छपवाया। इतनी बडी साहित्यकी चोरी की निर्मलसागर मुनिने। बताओ— इससे बडा पापकार्य और किसे कहा जाय ? वहीं कई सदस्य थे, 'सहजानन्दवाणी' पुस्तक मँगवाई। लोगोने देखा कि न एक अक्षर कम न एक ज्यादा। पता चला कि औरंगाबाद चातुर्मासमे उन मुनिने हमारी प्रकाशित डायरीको ज्योंकी त्यों प्रेसमे दे करके किताब छपवायी थी। आखिर हम औरगाबाद पहुचे, वहां पता पता लगवाया जिन प्रेसोंमें वह पुस्तक छपी थी, वहां पता लगवाया तो जिस पुस्तकके आधारपर वह नई पुस्तक छपी थी वह भी देखने को मिली। उन मुनिको इतनी भी अकल कहां थी कि वह एक भी अक्षर उस पुस्तकमेसे बदल कर लिख सके। सिर्फ लेखकका नाम बदलने भरकी अकल थी। उस पुस्तकके सम्पादकको जब इसकी वास्तविकताका सही पता पडा तो वह भी बडा भयभीत हुआ। निर्मलसागरजीको भी बादमे जब पता पडा कि वर्णीजीको हमारी साहित्यकी चोरीका पता पड गया तो वह भी बडा व्यग्र हुआ, स्थिर चित्त न रह सका। चित्त भंग हो गया। और चोरी करनेके परिणाममे फिर और और भी बुरी बातें आने लगी। निर्मलसागर जो से और भी अनेक अटपट बातें हुई जिससे लोगोने उसे कपडे भी पहना दिये। वह मुनिपदसे च्युत हो गया। पता चला है कि बादमे फिर उसने कपडे उतार दिये। तो साहित्यकी चोरी एक बहुत बडी चोरी है और फिर ऐसे ऊँचे पद पर आकर इस प्रकारका जघन्य काम यदि कोई करे तो उससे बडा पाप और किसे कहा जाय ? निर्मलसागरजी ने चोरी भी की और प्रस्तावनामें लिखा कि कागजकी महगाई आदि कारणसे थोडा लिखा। निर्मलसागर जी ने बादमें घबडा कर मुजफ्फरनगर पत्र भी दिया कि हमने वर्णीजीके इस उत्तम साहित्यका प्रचार हो इससे छपवाया, यदि चोरीका भाव नही था तो पुस्तकनाम लेखक नाम सही रहने देते। अहो ऐसे ही व्यामूढ व्यक्तियोंने धर्मकी ओटमे अपना मौज बनाकर लोगोंको श्रद्धाहीन कर दिया है। तो साधुको अचौर्यव्रतका निर्दोष पालन करना चाहिये।

(२०४) आत्मशुद्धिसाधक अचौर्यव्रतके साधनके पञ्च भावनाओं जाने व प्रयुक्त करने का आदेश—अचौर्यव्रतकी प्रथम भावना है सूने घरमें रहना। सूने घरमें रहनेसे क्या होता कि भाव वहां बुरे चलेंगे नहीं। चोरी करनेका भाव बननेका अवकाश ही नहीं वहां। अगर

कहीं भरी पूरी जगहमे रहें या किसी गृहस्थके घरमें रहे और कोई मूल्यवान चीज दिखे तो उसे देखकर उस मुनिकी भावना बिगड सकती। अगर सगति उत्तम नही है और गृहस्थोंके बीच आवाम अधिक है, ज्ञानबल भी नहीं है तो उसका चित्त डगमगा जाय यह बहुत कुछ संभव है, तो सूने घरमे रहना यह अचौर्यव्रतका निर्दोष पालन करानेका साधन है। छोडे हुए घरमें रहना। जो घर छूट गया या उस घरके लोग अन्य गाँव भाग गए ऐसा घर अब खाली पडा है, वहाँ भी भावना ठीक हो सकती। तो जो विमोचित स्थान है वहाँ रहना भी अचौर्य व्रतका साधक है। मुनि महाराज जहाँ ठहरे हो, वहाँ दूसरेको न ठहरने देना यह उस मुनिके लिए कलक है, और इसके अनेक दृष्टान्त मिल सकते है। कही तो पुरालमे नोट (रुपये) छिपाये हैं, कही चटाईमे छिपाये हैं, उसे छिपानेके लिए किसीको वहाँ न ठहरने दे, लोग जान जायेंगे, चोरीकी पोल खुल जायगी, यह सोचकर दूसरेको न ठहरने देना यह उस मुनिके लिए कलक है। दूसरेको ठहरनेके लिए रोकना नही, यदि जगह है तो दूसरेको भी ठहरने दे, किसीको ठहरनेसे रोकनेका कारण क्या ? या अन्य प्रकारकी चोरी भी सम्भव है। ये हमारे चारित्रको देखेंगे या हम अपनी इज्जत बनानेके लिए जैसे नटखट करते हैं उनका परिचय पा लेंगे, इसलिए न ठहरने देना। तो परोपरोधाकरण। दूसरेको ठहरने देना, रोकना नही यह भावना भाना। तब अचौर्य व्रतका निर्दोष पान होता है। भैक्ष्यशुद्धि, भोजन पान आहार पूर्ण शुद्धिके साथ करना, उसका अचौर्यके साथ सम्बन्ध है। भाई भोजनमे कोई छोटासा बाल निकला यो छिपा लिया, नीचे गिरा दिया या अन्य कोई बात हुई और उसकी उपेक्षा कर देना, ऐसी घटना चोरीसे सम्बन्ध रखती है, इसलिए बताया है कि भैक्ष्यकी शुद्धि होना यह अचौर्यव्रतका निर्दोष पालन करता है। ५ वी अचौर्य भावना है साधर्मीके साथ विवाद झगडा विसम्वाद न करना, क्योंकि अपने साधर्मी भाइयोके साथ अगर विवाद किया, झगडा किया तो उसमे इतना मनमे आ जाता है कि इसका कुछ बिगाड हो जाय। कलहका तो यह ही फल है। यो सोचना कि इसका बिगाड हो जाय, इस धुनमे कहो उसका कुछ नुकसान भी कर दे। गुस्सामे न जाने क्या क्या नही किया जा सकता। तो साधर्मियोके साथ विवाद न करना यह अचौर्य व्रतका निर्दोष पालन कराता है। सो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव साधुजनोको समझा रहे कि हे साधुजन भावरहित भावलिङ्गसे कोई लाभ नही है, अत अपने भावोको सँभालो। बारह अनुप्रेक्षावोको भावो और २५ भावनाओको भावो।

(३०५) **भाव शुद्धि साधक ब्रह्मचर्य व्रतकी निर्दोष साधनाके अर्थ पञ्च भावना**—यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव साधुजनोको प्रतिबोध रहे हैं कि भावरहित बाह्य लिङ्गसे कोई लाभ नहीं मिलनेका। इस कारण भाव बनावें, अनुप्रेक्षाकी भावना भावें और २५ भावनाओंको

भावें । २५ भावनाओंमें तीन व्रतकी भावनायें कह दी गई हैं, अब ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावनायें सुनें। तत्त्वार्थसूत्रमें बताया है—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च । ये ५ भावनायें वे हैं जिनकी भावना भानेसे, जिनका प्रयोग करनेसे निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रतकी साधना होती है । पहली भावना है स्त्रीरागकथात्याग, स्त्रीविषयक राग बने, ऐसी कथाओंका त्याग करना, चर्चा कहानी न सुनना, ऐसी जो स्त्रीविषयक रागकथायें जैसे कि प्रायः आजकल सनीमाओंमें देखी जाती ऐसी कथायें, और भी उस प्रकारकी कथायें न करना । दूसरी भावना है—स्त्रीके मनोहर अंगोंके निरीक्षणका त्याग करना । देखो इसमे लग रहा होगा ऐसा कि पुरुषोको ही सम्बोधा गया तब ही तो स्त्रियोकी बात कही जा रही, पर यही अर्थ यहाँ भी लगायें तो वह अर्थ लगता, होते दोनो अर्थ हैं । स्त्रियोको भी ब्रह्मचर्य व्रतके लिए कहा गया और पुरुषोंके लिए भी । स्त्रियाँ भी आर्यिका आदिक होती है और पुरुष भी मुनि तक होते हैं । पर विशेषतया जो पुरुषोंका लक्ष्य रखकर सम्बोधन मिलता है उसका कारण यह है कि साक्षात् मोक्ष तो पुरुषोको मिलता है इसलिए उनको सम्बोधन करना और उसमे स्त्रियोका सम्बोधन अपने आप हो जाता है । दूसरी भावना है पूर्वमे भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना । यदि पूर्वमे भोगे गए भोगोका ख्याल करेगा तो मलिनता आयगी । तो ब्रह्मचर्यका निर्दोष पालन उनके होता जो इन भावनाओको भाते, प्रयोग करते, पूर्वमे भोगे गए भोगोका स्मरण नही करते । ज्ञानी है ना ? जो गया सो गया मगर अज्ञानियोंको देखो अगर किसी बरातसे दो चार दिन पहले हलुवा पूडी खाकर आये तो उसीकी चर्चा करते कि मैंने खूब अच्छा भोजन खाया था । अरे खाया सो खाया, अब क्या वह धरा है ? उसकी चर्चा करनेसे अब क्या फायदा ? ज्ञानीजन पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण नही करते । चौथी भावना है कामवर्द्धक इष्ट रसोका सेवन न करना । यो खाऊँ, यो बनाऊँ । ऐसा करूँ, ऐसी दृष्टि ज्ञानीजनोंकी नही रहती । तो सारा दिन काहेमें बितायें ? इसलिए ज्ञानीजनोका सारा समय ज्ञानाराधनामे व्यतीत होता है । वे ऊलजलूल बातोमे नही पडते । तो इष्ट रसोका त्याग करें । ५ वी भावना है अपने असार शरीरके सस्कारोका त्याग करना । इस शरीरके लिए न जाने कितने प्रकारके शृङ्गार होते उनके कोई संस्कार शृङ्गार ज्ञानी जनोंके नहीं होता । तभी तो मुनिजनोके शरीरपर धूल मिट्टी चिपटी रहती, क्योकि उनका शरीरके सस्कारोका त्याग रहता है । इन ५ भावनाओसे और इनके प्रयोगसे हे मुनिजनो, ब्रह्मचर्य व्रतका निर्दोष पालन करो और भावशुद्धिमें बढ़ो ।

(३०६) भावशुद्धिसाधक परिग्रहत्यागव्रतकी निर्दोष साधनाके अर्थ पञ्च भावना—५ वाँ व्रत होता है परिग्रहत्याग महाव्रत । उसका निर्दोष पालन करनेके लिए ५ भावनायें हैं

सूत्र जीमे कहा है मनोज्ञ इष्ट और अनिष्ट जो इन्द्रियके विषय हैं उनमे राग और द्वेषका छोड़ना। कोई आदमी परिग्रह क्यो बढ़ाता है, क्यो रखता है कि उसको इन्द्रियके विषयोंमे प्यार है और अनिष्ट बातोंसे द्वेष है और उसके लिए फिर आवश्यकता धनकी विशेष है इसलिए परिग्रहको जोड़ता है। तो परिग्रहका मूल है विषयराग। सो ५ इन्द्रियके विषयोमे रागद्वेष न जगे, रागद्वेषका परिहार हो, ऐसी भावना भाना और प्रयोग करना, इस तरह हे मुने जो भावोकी शुद्धि रही, सम्यग्दर्शन रहा, आत्माके सहज ब्रह्मस्वरूपमे रुचि रही तो उसके साधन बढाया। वह साधन बढ़ता है मुनिभेषमे, क्योकि वहाँ कोई चिन्ता करनेका रूप नहीं है, निर्ग्रन्थ है, कोई परिग्रह पास नही, किसी काममे पडना नही किन्तु उसकी साधनामे रहना। तो उनके लिए सुगम है कि सहज आत्मस्वरूपकी भावना बढायें और यदि कोई मुनि भेष रखकर भी परिग्रह सार समझे, परिग्रह रखें बहुतसे आरम्भ साधन रखे और चेला बनानेका शौक है तो वह भी परिग्रह है। परिग्रह रहते हुएमे भावोकी शुद्धि नही बनती। इस कारण हे मुनिजनो, भावोकी शुद्धि बढ़ाओ और अपना भेष सफल करो।

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइ सत्ततच्चाइ।
जीवसमासाइ मुणी चउदसगुणठाणणामाइ ॥६५॥

(३०७) **सर्वविरत होकर भी ज्ञानभावनाका प्रवर्तन**—सर्व परिग्रहसे विरक्त भी हो गए तो भी हे मुने इन ६ पदार्थोंके मननमे लगो। ७ तत्त्वोके मननमे लगो। जीव समासकी चर्चा भी समझो और १४ गुणस्थानोको भी जानो। सर्व कुछ छोड दिया, मुनि हो गए, पर अब २४ घटे समय काहेमे बिताना? अगर ठाली रहे तो अटपट बातें आयेंगी, समाजकी पडोसकी प्रशसाकी, निन्दाकी, आलोचनाकी, या प्रमाद करेंगे। उसमे भाव शुद्ध नही रहते। तो २४ घटे समय बितानेको चाहिए ना कुछ। तो क्या चाहिए मुनियोको कि तत्त्वविज्ञानका मनन चितन करें। किसमे ये समय बितायें, पर मुनियोका तो जो कर्तव्य है उसे मुनि न करें तो उनका पतन है। मगर श्रावकोकी भी कुछ जिम्मेदारी है कि वे अपना ऐसा व्यवहार रखें साधुजनोसे कि उनका पतन न हो सके। और व्यवहार क्या, बस उनकी भक्ति पूर्वक सेवा करें और उन्हे किसी पचडेमे न पडने दें। अगर वे कोई बात कहते है पचडेकी समाजकी तो यहाँ तक कि मुनियोको तो समारोह विधानमे द्रव्यपूजनमे या अन्य बातोमे भी प्रवृत्ति न करना चाहिए। उनका तो केवल आत्मध्यान और ज्ञानका काम है। अब यदि कोई मुनि अन्य बातोमें पडता है तो श्रावक जन उन्हे करनेसे रोकें। बाहरी बातोमे पडनेसे उनके मुनिपनेमें हीनता आती है और उन विधेयकोमे भी पापबध होता है। हमे चाहिए साधुपर भैक्तित्व, जिनका कि रूप अरहतके करीब निकटका है। तो कुछ उत्तरदायित्व श्रावकोंपर भी

है। सो दोनों ही अपना कर्तव्य यदि नही निभाते तो कहा जाता है सो दोनों ही जायेंगे। तो साधु जनोंको प्रतिबोध किया है कि सर्वविरत होकर भी तत्त्वविज्ञानकी भावनामें रहें।

(२०८) नवतत्त्वपरिचयमें जीव व अजीवतत्त्वका संक्षिप्त परिचय—नव पदार्थोंको जानें कि जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। यदि पुण्य और पाप न कहे तो ७ तत्त्व कहें। ७ तत्त्वोमें भी ९ बातें आयीं और ९ में भी ७ बातें आयीं। पुण्य और पाप तो आस्रवके भेद हैं। अलगसे न बोलें पुण्य पाप तो एक आस्रव ही कह लें, दोनो आ गए। तो ७ तत्त्व समझिये। जीव मायने जो जाननं देखनंहार स्वयं आनन्दमय है, चैतन्यस्वरूप है वह कहलाता है जीव। सो कैसी श्रद्धा करना कि वास्तबमें जीव है कैसा? जीव सत्य ज्ञानस्वरूपी है। अपने ही प्रदेशोंमें अपने ही स्वरूपमे रहने वाला है। सबसे निराला यह जीवद्रव्य है। अजीव—जीवको छोडकर बाकी सब भाव अजीव हैं। तत्त्वविज्ञान की भी दृष्टियां अनेक होती हैं। कहाँ बैठकर देखना? उससे वस्तुकी मुद्रामें विभिन्न दर्शन चला करते हैं। जैसे जब ४–५ मंजिलके ऊपर खडे होकर नीचे सडक पर देखेंगे तो चलने फिरने वाले लोग छोटे छोटे दिखाई दें तो और जब नीचे सडकपर पहुंचकर अपने सामने चलते फिरते लोगोंको देखेंगे पूरे ५–५॥ फिटके दिखाई देंगे, तो ऐसे ही तत्त्वको समझनेका एक मूड होता है जुदा जुदा। झगड़े किस बातपर चलते हैं? एकान्त हो जाय तो झगडा हो जाय। यदि अनेकान्त और स्याद्वादको अपनाये तो कभी झगडा हो ही नहीं सकता जीव और अजीवमें ही देखो—जब पर्याय दृष्टिसे देखा तो जीव लगा कि यह औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक भावमें रहता है और अजीव वह लगा कि जिसमें ज्ञान दर्शन नही है। अब जरा शुद्ध दृष्टिसे देखें तो जीव यह कहलाया कि जो मात्र चैतन्यस्वरूप है, जिसमे विषय नहीं, कषाय नही, गुण पर्यायका भेद नहीं। तो ऐसा जब जीवको देखा जा रहा है तो अजीव क्या रहा? धन वैभव तो अजीव हैं ही, यह देह भी अजीव है, कर्म भी अजीव हैं और कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें जो अध्यवसान, रागद्वेष भाव, तर्क, चिंतन, विचार जो भी चलते हैं वे भी अजीव हैं, अब जिसको समझ न होवे वह तो है अजीव और जिसमें समझ बने वह है जीव। अभी यह जाना, अब यह जाना। अब कहां बैठ कर देखा जा रहा है उसका फल है यह सब। और अजीव वह है जिसमें ज्ञान नहीं है। यहां ७ तत्त्वोंमे अजीव शब्दसे परिलक्षित हैं कर्म, क्योंकि दोनोंका ही गुथन और निवारण इन तत्त्वोका प्रयोजन है।

(२०९) आस्रव तत्त्व—जीव और कर्म ये तो हुए जीव और अजीव आस्रव हुआ जीवमें कर्मका आना। अब उसके विशेष विवरणमे चलें तो जीवमें कर्म कहां प्रवेश करते?

जो कार्माणवर्गणायें हैं वे कर्मरूप बनें इसे कहते हैं आस्रव और ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि एक क्षेत्रावगाह रहते हैं। जैसे बापका लड़केसे प्यार अधिक होता तो लड़का बापको छोड़कर तो न रहेगा। बाप कही जायगा तो वह लडका भी जायगा। यह एक सामान्य बात कह रहे, अगर किसीसे प्रीति करे तो वह साथ रहेगा। ऐसे ही जीवने कर्मके फलसे प्रीति की तो ये कर्म इसके साथ लगे हैं। एक जगह एक बूढ़ा व्यक्ति अपने द्वारके चबूतरेपर आरामसे बैठा हुआ था। उसके पास उसके ही कई नाती पोते खेल रहे थे। उनमेसे कोई लडका उस बुड्ढेका हाथ झकझोर रहा था, कोई सिर हिला रहा था, कोई मूछ पटा रहा था, उससे वह बुड्ढा काफी हैरान हो गया। यहाँ तक कि रोने भी लगा। इतनेमे ही वहाँसे निकला कोई संन्यासी। तो वह संन्यासी पूछ बैठा—कहो बाबा जी, तुम क्यो रो रहे ? तो वह बुड्ढा बोला—क्या बताऊँ, मैं तो बडे सकटमे हू, मेरे ही ये नाती पोते मुझे बड़ा हैरान करते हैं, सीधे बैठने नही देते। तो क्या मैं तुम्हारा यह संकट मेट दू। हाँ हाँ महाराज आपकी बडी कृपा होगी जो हमे इस संकटसे बचा लेंगे। अब वह बुड्ढा तो ऐसा समझ रहा था कि संन्यासी जी कोई ऐसा जादू फेंक देंगे कि ये नाती पोते फिर तो हमारे सामने हाथ जोडे जोडे फिरेंगे, पर संन्यासीने कहा अच्छा उठो, तुम हमारे साथ चलो। इस नाती पोतेके झगडेको छोड दो। तो वह बुड्ढा झुझलाकर बोला—अरे तुम मुझे क्यो बहका रहे ? जावो। चाहे ये हमे पीटें या मारें ये हमारे नाती पोते ही कहलायेंगे, हम इनके बाबा ही कहलायेंगे। हमारे इनके बीचमें इतना फर्क डालने वाले तुम कौन तीसरे आ गए ? तो देखो जिस मोहके कारण ये ससारी प्राणी दुःखी होते जाते उस मोहको छोडना नही चाहते।

(३१०) आस्रवकी दुःखकारिता—मुग्ध व्यामोही यह चाहते है कि राग छोडना न पड़े और आनन्द मिल जाय, पर यह बात कभी सभव नही। इस अनादि ससारमे न जानें कितने ही भव पाये, कितने ही सम समागम पाये फिर भी बताओ इस वक्त भी पासमे है क्या कुछ ? कुछ भी तो नही है। सूनेके सूने हैं, लेकिन इस भवमे भी यह मोह छोडा नही जा पा रहा। धुन बनी है धन वैभव जोडनेको। खूब धन वैभव जोड़ जोड कर, उसे देख देखकर खुश हो रहे। अरे खुश कहाँ हुए ? वे तो बडी बिपत्तिमे हैं। जब भाव शुद्ध नही है, भाव जब अज्ञानमय है तो विपत्तिमे पड़े हैं। जैसे बहुत ऊँचे चढ़कर कोई गिरे तो उसको बड़ी चोट लगेगी ऐसे ही कोई बडा सुख पाकर अपने भावोंसे गिरे तो उसकी बड़ी कठिन दुर्गति होगी। सो मोह रागद्वेष ये आस्रव हैं, ये यहाँ दुःखदायी हैं और जीव इनमे लगाव लगाये तो ये कर्म उसके साथ रहते हैं। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है, कर्मोंका आस्रव हुआ।

(३११) बन्धतत्त्व—जैसी कषाय साथमें है वैसा ही उसका बंध भी होता। बंध मायने है—इस आत्माके साथ कर्मका रहना। पर यह बंध कैसे न हो? कषाय तो साथ लगी है। शास्त्रसभामें बैठे हों और पास ही मे जरा दूर खुदका लडका बैठा हो तो झट उस लडकेपर ही ध्यान पहुंचता है। इतनी भी बात चित्तमें नहीं आती कि थोडी देरके लिए ध्यानसे बैठकर जिनवाणी सुनें। भीतर ये रागद्वेष मोह ऐसा बन पडे हुए हैं कि जैसे पत्थर मे पानीका प्रवेश नहीं, ऐसे ही इस मोह भरे हृदयमें जिनवाणीके शब्दोका प्रवेश नहीं है। इन कषायोको दूर करना पड़ेगा अन्यथा धर्मपालनका ढोंग क्यों रखा जा रहा? अगर यह आशय न बनाया कि ये कषायें बैरी हैं और मुझे कषाय छोडना चाहिए तो इन कषायोंमें और इन बाह्य विषयोंमे कुछ भी सार नहीं है। ऐसा अगर आशय न बने तो मंदिरमें आने का प्रयोजन क्या है, सो तो बताओ? फिर तो ऐसा समझो जैसे उर्दू में कहते तफरी करना (दिल बहलाया) किसी तरहसे समय काटनेकी एक प्रकारकी आदत सी बन गई।

(३१२) भावशुद्धिके लिये सहजात्मस्वरूपकी प्रतीतिकी अनन्यसाधकता—अरे अगर यह आशय बना लिया जाय कि अज्ञान और कषाय ये ही मेरे बैरी हैं और ज्ञान और वैराग्य ये ही मेरे मित्र हैं, मुझे कुछ मिलेगा तो मेरे आत्मा भगवानसे मिलेगा। बाहरसे कुछ नही मिलनेका अरे जितने भी बाहरी संग समागम हैं वे तो मात्र अनर्थके लिए हैं। मुझे तो ज्ञान चाहिए। मुझे तो वैराग्यकी उमंग चाहिए। तो जिनके पूर्णज्ञान प्रकट है, जिनके वीतरागता हुई है उन भगवानकी मूर्ति है यह। उसे निरखकर हम साक्षात् भगवानका ध्यान बनायेंगे तो कुछ तो मेरे पर असर होगा। ज्ञान और वैराग्यके लिए कुछ तो प्रीति होगी। यह प्रयो-जन रखकर घरसे मदिरमे आवें और मंदिरमे अपने आवश्यक कार्य करे तब तो लाभ है अन्यथा जैसे लोग कहने लगते वैसा ही कह लो कि कुछ तो ठीक है। जहां कषाय है वहां ही अधर्म है। धर्मध्यानका पूरा ठेका नही है कही कि मंदिरमे आनेपर मेरे धर्मध्यान बन ही जायगा। अगर ज्ञानभाव है तो बन जायगा नही तो खोटा ही ध्यान बनेगा। और कहो अशुद्ध दशामे हैं, मान लो शौचके लिए गए हुए हैं या अन्य किसी प्रकारसे अशुद्ध दशामें हैं, और कहो उसी अशुद्ध दशामें बडा पवित्र ध्यान बन जाय? जैसे ये मंदिर, शास्त्र, प्रतिमा आदिक धर्मपालनके साधन हैं, पर इनके साथ अपना ज्ञान सही रहे तो ये धर्मके साधन बनते हैं, और यदि वहां भी ज्ञान सही नही है, अज्ञानदशामें चल रहे हैं, कषायें चल रही हैं तो उन धर्मसाधनोंसे भी कुछ फायदा न उठाया।

(३१३) संवरतत्त्वका निर्देश—भैया! इन धर्मसाधनोसे ज्ञानपूर्वक धर्मसाधना करते रहें विषय कषायोसे अपनेको दूर रखें तो वहां कर्मोंका सम्वर होगा याने कर्मोंका आना रुक

जायगा। बताओ यह सम्वर आपको पसद है कि नही ? हाँ पसद होना ही चाहिए, अन्यथा मुक्ति न मिलेगा। अब आप खुद विचारें कि हमारे अन्दर धर्म पालन करके वीतरागताका भाव आता है कि नहीं ? देखा होगा कि लोग मदिरमे कभी कभी स्त्री पुरुष एक साथ दर्शन करनेके लिए खडे होते तो वहाँ क्या करते कि रागवश उस स्त्रीके हाथसे तो बादाम चढवाते और खुद काला एक कमलगट्टा चढा देते। अब बताओ जहाँ राग साथ लगा है वहाँ वीतरागताके दर्शन कहाँसे हो सकते ? बहुतसे लोग कहने भी लगते कि स्वाध्यायमे हमारा मन नही लगता, अमुक ग्रन्थके पढनेमे हमारा मन नही लगता। तो ठीक है, यदि उस ग्रन्थके पढनेमे मन नही लगता तो जो सरल रोचक ग्रन्थ हो उनका स्वाध्याय करें। जैसे भी हो, अपने अन्दर धर्म भाव बनाकर सम्वर तत्त्वमे आइये। इस सम्बर तत्त्वमे कर्मोंका आना रुक जायगा।

(३१४) निर्जरा व मोक्ष तत्त्वका निर्देश—निर्जरा तत्त्वमे कर्मोंका झडना होता है। जो पहले रागद्वेष मोहवश कर्मबन्ध किया वे कर्म निर्जरा तत्त्वमे झडते हैं। सो यह विचार करो कि कर्म जुदे और कर्मफल जुदा। मैं तो ज्ञानस्वरूप हू। ऐसे आनन्दमय ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वमे आइये। कर्म झड जायेंगे। जैसे गीली धोतीमे यदि धूल चिपक जाय तो धूपमे सुखा देनेपर थोडा सा झटक देनेसे ही सारी धूल झड जाती है ऐसे ही भव भवके बाँधे हुए कर्म भी ज्ञान और वैराग्यके बलसे झड जाया करते है। इस तत्त्वके चिन्तनमे अपने लिए शिक्षा भी मिलती है। जहाँ कर्म सब झड गए वहाँ मोक्ष तत्त्व प्रकट होता है, जो एक निज अतस्तत्त्व है ज्ञानज्योति, वही मात्र रहे उसे कहते हैं मोक्ष। तो हे मुने ! बाह्य लिङ्गसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर तो हुए, मगर तत्त्वकी भावनामे चलें जिससे लाभ है, नही तो अपनेको भी ठगा और जिन भक्तोसे सिर रगडवाया उनको भी ठगा। सो दोनो ही किसी एक जगह जायेंगे। सो वह उस से बदला लेगा वह उससे। सो ज्ञानभावनामे आवो और अपने इस दुर्लभ मानव जीवनको सफल करो।

(३१५) जीवसमासोके परिचयनका उपदेश—भावपाहुड ग्रन्थमे मुनिराजको उपदेश किया गया है कि हे मुनिवरो ! सर्व परिग्रहोसे विरक्त होकर तुम ९ पदार्थ ७ तत्त्वको भावना करो और १४ जीवसमास एव १४ गुणस्थानका चितन करो। जीवसमास कहते किसे हैं ? जहाँ जीवोका संग्रह होवे वह जीवसमास है। जिन धर्मोंके द्वारा अनेक जीव ग्रहणमें आयें उन धर्मोंको जीवसमास कहते हैं। जीवोका वर्णन, जीव समासका वर्णन अनेक ढगसे होता है। अब १४ जीवसमास एक प्रसिद्ध ढग है। ५ तरहके जीव होते है, सब जानते है। ससारी जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। एकेन्द्रिय किसे कहते है ? जिसमे सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय है। बस शरीर हो, जैसे पेड, पानी, पृथ्वी, हवा, अग्नि

ये सब एकेन्द्रिय कहलाते हैं। जिसके स्पर्शन रसना ये दोइन्द्रिय हों वह दोइन्द्रिय। रसना जीभको कहते हैं। जैसे लट, केंचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी, सीप। तीनइन्द्रिय जीव कैसे? जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां हों, जैसे चींटा, चींटी, जुवां, लीख, कानखजूरा आदिक ये तीनइन्द्रिय जीव हैं। चारइन्द्रिय जीव उन्हें कहते हैं जिनके आंखें और हों, स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु। जैसे भवरा, बर्र, मक्खी, मच्छर आदिक। पञ्चेन्द्रिय उन्हें कहते है जिनके आंखें और हो, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

(३१६) **एकेन्द्रियादि जीवोंकी पहिचान**—एकेन्द्रियादि जीवोंकी करीब-करीब पहिचान यह है कि एकेन्द्रिय तो सब जानते हैं कि जिनके जीभ न हो। जो दोइन्द्रिय जीव हों उनकी करीब-करीब पहिचान यह है कि उनके पैर नहीं होते और वे सरकते ही रहते हैं। एक सांप जैसोंको तो छोड दो बाकी ये जीव ऐसे मिलेंगे सरकने वाले दोइन्द्रिय। लट, केंचुवा आदि ये सब सरकने वाले हैं, तीनइन्द्रिय जीव हैं। चारइन्द्रियकी पहिचान यह है कि दो से अधिक पैर हो और उडते हो। मक्खी, मच्छर, टिड्डी, भँवरा आदिक उडने वाले जानवर। ५ इन्द्रिय जीव जिनके कान हैं वे पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। एक शास्त्रसभामें कई नवयुवक लोग शास्त्र सुनने आया करते थे। उनसे एक बार किसी साधुने पूछा कि बताओ एकेन्द्रिय जीव कौन है? तो उनमे से एक श्रोता बोला कि महाराज एकेन्द्रिय तो आप हो।....कैसे?.... ऐसे कि आप अकेले हो। न आपके पास स्त्री है, न बच्चे हैं।... अच्छा तो दोइन्द्रिय जीव कौन हैं? ..महाराज दोइन्द्रिय तो हम हैं।...कैसे?....ऐसे कि हमारे घर तो हम हैं और हमारी बीबी है, बस दो प्राणी हैं, इसलिए दोइन्द्रिय हैं। तो अध्ययनके बिना ऐसी कितनी ही अटपट बातें हो जाती हैं।

(३१७) **चौदह जीवसमासोंका संक्षिप्त निर्देश**—यहां जीवसमास बतला रहे कि १४ किस तरहसे हुए। ५ तो ये हो गए जीव। अब इनमे एकेन्द्रिय होते हैं दो तरहके (१) बादर एकेन्द्रिय और (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय। जिसका शरीर दूसरेसे रुक सके वह बादर एकेन्द्रिय है। और यदि एकेन्द्रियका शरीर दूसरेसे न छिड सके वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय है। और पञ्चेन्द्रियके भी दो भेद हैं (१) असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय और (२) सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय। जिन पञ्चेन्द्रियोके मन नही है, जिनमें विचार शक्ति नही है वे हैं असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय। ये दोनोंमें बहुत थोड़े मिलेंगे। बताया जाता है कि जलमे रहते सर्प या कोई कोई पक्षी। ऐसे बहुत कम हैं। न जैसे समझलो। जितने भी पञ्चेन्द्रिय हैं वे प्रायः संज्ञी मिलेंगे। तो अब कितने भेद हो गए? ५ की जगह ७ हो गए। एकेन्द्रिय, फिर दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, और दो पञ्चेन्द्रिय, ये ७ प्रकार के जीव पर्याप्त होते हैं और अपर्याप्त भी होते, तब ये हो गए ७ × २ = १४। पर्याप्तका अर्थ

है कि जिसकी शरीर रचनेकी शक्ति पूर्ण हो गई। जैसे कोई जीव पहले भवसे मरकर आया तो कोई नया शरीर ही तो लेगा। अब जो नया शरीर मिला तो वह तो ऐसा ही पड़ा हुआ है। उस पर जीव आयगा तो पिण्डकी शरीर रचना होने लगेगी। इस प्रकारकी योग्यतामें थोड़ा समय लगता है। तो जब तक शरीर रचनेकी शक्ति नही हो पाती तब तक अपर्याप्त है और शरीर रचने की शक्ति हो जाती है तब पर्याप्त होता है। ऐसे ये १४ प्रकारके जीव-समास है।

(३१८) **जीवसमासोके परिज्ञानसे उपयोग्य शिक्षण**—अब जीवसमासको सुनकर क्या सोचना ? हम आप जो आज बैठे हैं और जरा जरा सी बातपर इतराते रहते है ना, क्योंकि पुण्यका ठाठ है, खाने पीनेकी सब सुविधा है, कुछ पासमे रुपया पैसा भी है, शारीरिक बल भी है। कुछ बुद्धि भी पायी है मगर अज्ञान और कषाय मोजूद हो, जरा जरा सी बाहरकी बातोमे गुस्सा करें, ऐंठ जाय, घमड बगरावे, अनेक तरहकी बातें करते हैं, पर भैया, यह तो जानें कि हम आप कभी एकेन्द्रिय थे। अब एकेन्द्रियकी क्या स्थिति, निगोदकी क्या स्थिति ? पेड वगैरह खडे है। लोग तो उन्हे छू तक नही रहे और मान लो आज मनुष्य भवमे न होते, जैसे ये पेड पोधे खडे ऐसे ही होते आप हम, जो अभिमान कर रहे, लोभकर रहे, कषाय कर रहे, ऊलजलूल अनेक तरहकी चेष्टायें कर रहे, यदि पेड होते तो देख लो क्या करते आप। न आपका यह परिचित नगर होता, न आपका कोई घर होता, बस खडे रहते ऐसे मैदानमे। बताओ आज उनसे अच्छी हालतमे हैं कि नही ? तो सतोष तो होना चाहिए कि हमारी स्थिति योग्य है और जो हमने योग्य स्थिति पायी है सो धर्मसाधनाके लिए पायी है, अन्य बातोंके लिए नही।

(३२०) **मनुष्यभवकी सफलताके लिये कर्तव्यका दिग्दर्शन**—अब कर्तव्य यह है कि ज्ञान ध्यानके प्रोग्राममे अपना समय लगायें। धर्म भी करते है सब प्राय, मगर धर्म इतने तक ही रह गया कि खूब बडा मदिर बना लिया, खूब मदिरमे सगमरमर लगवा दिया, खूब कांच लगवा दिया, पर खुदके ज्ञानके लिए या अपने बाल बच्चोके ज्ञानके लिए अपना तन, मन, धन, वचन कुछ भी नही लगा रहे। फिर बताओ उन्हे शान्तिका मार्ग कैसे मिले ? जो लड़ाइयां घरमे, दुकानमे, लेन देनमे करते है वही फिर मंदिरोमे होती है। क्योंकि ज्ञानका तो अपना कुछ प्रोग्राम ही नही है, और परिग्रह बढानेका प्रोग्राम चल रहा है। तो उसपर कलह भी होती है। ऐसी मनुष्यभवकी योग्यता पायी, पर इसका भी सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इसका खेद नही हो पाता मोहियोको। तो जीवसमासको निरखकर सोचो कैसे कैसे दुनियामे जीव हैं। इससे यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम आज कुछ भली स्थितिमें आये हैं

तो हम अपने आत्माके स्वरूपका ज्ञान करके ही रहेंगे। क्यों रुल रहे हैं ये जीव संसारमें ? कैसे संसारके आवागमनसे छूट सकें, वे सब बातें अब हम पायेंगे और अपनेको धर्ममार्ग पर लगायेंगे। धर्म कहीं बाहर नहीं है। धर्ममूर्ति स्वयं आप है। आत्मा स्वयं ज्ञानका पुञ्ज है वही धर्म है। तो जब अपने अन्दरमें देखेंगे तो धर्म मिलेगा। भगवानको मूर्ति आंख खोल कर देखते रहनेके लिए नही है। उसे देखें, पर अन्दरके ज्ञाननेत्र द्वारा अपने आपमे भगवानके स्वरूपके समान जो स्वरूप है उसको निरखनेके लिए भगवानके दर्शन हुआ करते हैं। सो जीवसमासोंका परिचय पाकर अपने आपमें कुछ संतोष लायें और तत्त्वज्ञानके मार्गपर अपना कदम उठायें।

(३२१) **गुणस्थानोंके परिचयमें प्रथम गुणस्थानका निर्देश**—यहां मुनिवरोंको समझाया जा रहा है कि बाह्य लिंग धारण करके कुछ न पा लोगे यदि भाव नही है जीवके भावशुद्धिके लिए तो। अपने ज्ञानध्यानका प्रोग्राम बनाओ, १४ गुणस्थानोका चिन्तन करो। गुणस्थान कहते हैं गुणोंके स्थानको, दर्जेको। गुण दो हैं—(१) दर्शन और ज्ञान अथवा तीन (१) दर्शन, (२) ज्ञान और (३) चारित्र। मोक्षमार्गमें उपयोगी लीजिए—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनके ही होने, न होने, कम होने, अधिक होनेके भेदसे ये गुणस्थान बन जाते है। जहां सम्यग्दर्शन नहीं प्रकट है और उसकी जगह मिथ्यात्व प्रकट है उसे पहला गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्वके वश होकर अपने आत्माकी सुध नही हो पाती। बाह्य पदार्थोंमे ही सार समझ रहे, बाह्य पदार्थोंमें ही झुक रहे हैं, ऐसी दशा होती है पहले गुणस्थानकी। यह पहला गुणस्थान है। जैसे बच्चे लोग कहते ना कि हमारी यह फर्स्ट क्लास (पहली कक्षा) है, ऐसे ही फर्स्ट गुणस्थान (पहला दर्जा) है। यह है जीवकी अत्यन्त निचली दशा, जिसमें यह जीव संसारमे रुलता है। इस मिथ्यात्वगुणस्थानमे याने सबसे नीचेके स्थान मे इस जीवकी क्या हालत होती है सो तो विचारो। इस मिथ्यात्वगुणस्थानमें यह जीव शरीर और जीवको एक मानता है। यह मैं हूं। थोडे-थोडे समयमे गुस्सा आ जाता, घमड आने लगता, इसका कारण क्या है कि उसे अपने आत्माकी कुछ खबर नही और शरीरको ही मान लिया कि यह मैं हूं। जब देहको ही मान लिया कि 'यह मैं हू' तो अपना सम्मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा ये सब अनुभव करने लगेगा। सो जो देह और जीवको एक मानता है, कर्मके उदयसे हुए विकारको अपनाता है वह कहलाता है मिथ्यादृष्टि। अनादिकालसे यह जीव मिथ्यात्वमें रहा है, और मिथ्यात्वमें ही रहेगा तो बस संसारमें रुलता ही रहेगा। इसका बहुत ध्यान रखें कि इस जीवका बैरी है तो मिथ्यात्वभाव है, जहां अपना कुछ प्रकाश ही नही मिल रहा वहां वह पूरा अंधेरेमें है। कहां संतोष करे यह जीव ? सतोषका धाम तो

अपना आत्मा है । वह आत्मा नजरमे नही, दृष्टिमे नही, उसकी सुध नही तो इसे संतोष कभी मिल नहीं पाता । इसके बिना जो लोग कुछ संतोष करते हैं वह तो एक विवशपनेकी बात है । अपने वशसे सतुष्ट नही हो पाते । अपने वशसे सतुष्ट तब ही हो सकते हैं जब अपने आपके स्वरूपकी सुध हो कि मैं यह हू । मिथ्य दृष्टिको कहा सतोष ?

(३२२) मिथ्यात्वभावमे अटपट चेष्टायें— मिथ्यादृष्टिजनोके सम्बन्धमे एक कथानक आया है कि कोई दो मित्र कही जा रहे थे । वे दोनो ही मूर्ख थे । उन्हे रास्तेमे मिली कोई एक बुढिया । उस बुढ़ियासे उन दोनोने रामराम किया तो बुढियाने उनको आशीर्वाद दिया बेटा सुखी रहो । अब वे दोनो मित्र आगे बढ गए । कुछ दूर जाकर उन दोनो मित्रोमें यह विवाद बन गया कि बुढिया माँने आशीर्वाद किसे दिया । एक कहे कि हमे दिया और दूसरा कहे कि हमें दिया । आखिर दोनोमे यह तय हुआ कि चलो उसी बुढ़ियाके पास वापिस चल कर पूछें कि किसे आशीर्वाद दिया । सो वे करीब मील दो मील जगह वापिस लौटकर आये और उस बुढ़ियासे पूछ बैठे—बुढ़िया माँ हम दोनोमे से तुमने किसे आशीर्वाद दिया था ? सो बुढ़िया घबडा गई । सोचा कि क्या उत्तर दूं । खैर उसे एक युक्ति सूझी और बोली— बेटा हमने उसे आशीर्वाद दिया जो तुम दोनोमे से अधिक मूर्ख हो । सो एक कहे हम अधिक मूर्ख और दूसरा कहे हम अधिक मूर्ख । बुढ़िया ने एकसे कहा बताओ तुम कैसे अधिक मूर्ख । सो एक व्यक्ति बोला देखो बुढिया माँ हम जो लगडे होकर चल रहे सो यह हमारी मूर्खता का ही कारण है, कैसे सो सुनो देखो हमारे दो स्त्रियाँ हैं, सो एक दिन क्या घटना घटी कि मैं अपने मकानके ऊपरकी छतसे सीढीसे नीचे उतर रहा था सो एक स्त्री जो कि ऊपर थी उसने मेरा हाथ पकड कर खीचा कि तुम ऊपर रहो, नीचे न जावो, और जो स्त्री मकानमे नीचे थी उसने मेरा पैर पकडकर खीचा कि तुम नीचे उतर आवो । इसी खीचा तानीमे मेरा यह पैर टूट गया, सो देखो बुढिया माँ मैं मूर्ख हू कि नही ? तो बुढिया बोली हाँ बेटा तुम होवो मूर्ख । अब दूसरेसे कहा तुम अपनी मूर्खताकी बात सुनाओ । तो दूसरा व्यक्ति बोला— हाँ सुनो बुढिया माँ मेरी मूर्खताकी कहानी । यह जो मैं एक आँखका अधा बना बैठा हू उसकी घटना सुनो । मेरे भी दो स्त्रियाँ हैं । सो एक बार रात्रिको हम दोनो स्त्रियोके बीच बैठे हुए थे, मेरे दोनो हाथोका सिरहना बनाकर दोनो स्त्रियाँ सो रही थी । सिरकी ओर ऊपर एक सरसोंके तैलका दीपक जल रहा था । समयकी बात की वहाँ एक चूहा आया, दीपककी बत्ती निकाला और जलती हुई बत्ती हमारी आँखपर आ गिरी । उस समय मैं यह विचारने लगा कि यदि मैं दाहिना हाथ उठाकर बत्ती हटाऊँ तो दाहिनी ओर सोने वाली स्त्रीकी नीद खुल जायगी, उसे कष्ट होगा और यदि बायें हाथसे हटाऊँ तो बायें हाथकी ओर

सोने वाली स्त्रीकी नींद खुल जायगी। वह कष्ट मानेगी। सो मैंने दोनों ही हाथोंसे उस जलती हुई बत्ती को न हटाया। परिणाम यह हुआ कि मेरी आँख फूट गई। सो देखो बुढ़िया माँ मैं कितना मूर्ख हूं। सो बुढ़ियाने उन दोनो की मूर्खता भरी बातें सुनकर कहा— बेटा मैंने तुम दोनो को आशीर्वाद दिया। तो यह तो एक उदाहरणकी बात है, पद-पदपर सबपर ऐसे ही अटपट काम होते हैं। परमार्थ दृष्टिसे देखो तो न जाने कहां कहां चित्त जाता है, न जाने क्या क्या बात सोचते हैं। न जाने क्या क्या चेष्टायें करते हैं। यह सब होता है मिथ्यात्व कारणसे। तो यह मिथ्यात्वभाव इस जीवका बैरी है।

(३२३) **सम्पदामें हर्ष व विपदामें क्लेश माननेकी व्यर्थता**—धन सम्पदा पानेमें अपना भला मत मानें, ये कुछ चीज नही हैं। विपत्तियां कितनी ही आयें उनसे घबडायें नही। विपत्ति कोई वस्तु नही है, ये तो सब बाहरके प्रसग हैं। यदि बाहर बाहरमे ही उपयोग जुटा रहेगा तो उसका फल नियमसे कष्ट ही है। वहांसे उपेक्षा करें और अपने आपके स्वरूपमे दृष्टि दें। मैं हू ज्ञानानन्दस्वरूप। मेरे स्वरूपमें कोई कष्ट नही क्योंकि बाहरके पदार्थ वे अपने आपमे अपना परिणमन करते हैं। उनसे मेरेमें क्या आता है। मैं अपनेमें परिपूर्ण हू, और मेरेमे कोई कष्ट नही। स्वरूप मात्र हूं, सहज आनन्दमय हूं, मैं अपने आपमें तृप्त रहूगा, बाकी प्रसगमे आये हुए पदार्थोका मैं ज्ञाता द्रष्टा रहूगा। पुराणोमें आये हुए कितने ही कथानक ऐसे सुने होगे कि न्यायके सामने राजाने अपने इकलौते बेटेको भी फांसी दे दी। एक यम चाण्डालकी कथा बहुत प्रसिद्ध है, जिसने चतुर्दशीके दिन मांस न खानेका नियम लिया था। उधर उसके पिता राजाने अपने राज्यमे अष्टाह्निका पर्वकी चतुर्दशीको जीवहिंसा का निषेध कर रखा था, पर हुआ क्या कि उस दिन उस राजाके लडकेने मांस खाया जिसके फलमे राजाने उसे फासीका हुक्म दे दिया। अब जिस चाण्डालके द्वारा फासी दी जानी थी उसका भी उस दिनका जीवहत्या न करनेका नियम था सो फांसी देनेसे इन्कार किया। परिणाम क्या हुआ कि राजाने क्रोधमे आकर उन दोनोको एक मगर मच्छसे भरे तालाबमें पटकवा दिया। वहा देखनेमे क्या आया कि उस राजाके लडकेकी तो दुर्दशा हुई और उस चाण्डालको सिंहासन मिला। तो न्यायके बलपर उन्हें अपने बेटको भी फाँसी देनेमे रंच भी घबडाहट न हुआ, कारण क्या कि आत्मा उनका न्यायप्रिय था। वह राजा तो ऐसा निर्मोह था। यहां इतना भी नही सोच सकते कि घरमें जितने प्राणी हैं उनके कर्मोदयसे यह सब हो रहा है। मैं इनका क्या करता हूं ? मैं तो अपने ही पुण्य पाप करनेका अधिकारी हू। सो भाई कुछ तत्त्वज्ञानका ढंग बनायें जिससे कि अपने आत्माका कल्याण हो।

(३२४) **इस जीवका मिथ्यात्वमें अनन्तकाल यापन**—मिथ्यात्वभावमें यह जीव देह

को मानता है कि यह मैं हूं। कर्मके उदयसे जो घटना बनती है, रागद्वेष सुख दुःखकी छाया आती है उसको अपनाता है कि यह मैं हूं। मिथ्यात्वके उदयमे, यह जीव अगर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय है, तो कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुको अपना हितकारी मानता है। कोई एक लौकिक चमत्कार देखकर किसी भी रागी द्वेषी जीवको देव और भगवान मानकर उसे अपना शरण समझता है। गुरुओंमे भी चाहे आरम्भसहित हो, परिग्रह सहित हो, पचाग्नि तप तपता हो, कोई बात जराकी चमत्कारकी या पाचनकलाकी दिखे तो उनको ही गुरु मानते हैं और अपने जीवनमें निरन्तर व्याकुल रहते हैं, क्योकि प्रसग आते है उनको अनेक घटनाओके, और उन घटनाओंमे यह अधीर होता है, घबड़ाता है। अनन्तकाल इस जीवका मिथ्यात्वमे ही गया है।

(३२५) अविरतसम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान—कभी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय किसी जीवको कुछ चेत हुआ, क्षयोपशम भी विशेष बना, फिर उससे ज्ञानमे अपना उपयोग लगाता है, मनन करता है, कषायें मंद होने लगती हैं और उस समयके तत्त्वज्ञानके अभ्यासका निमित्त पाकर जो सम्यग्दर्शनका घात करने वाली प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबधी क्रोध, अनन्तानुबधी मान, अनन्तानुबधी माया और अनन्तानुबधी लोभ, इन ७ प्रकृतियोका उपशम करता है। फिर समय पाकर क्षयोपशम करता है, फिर समय पाकर क्षय करता है। सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है, उसके बाद कुछ भी होता रहे, कितने ही बार छूटे, उपशम हो, यह बात अलग है कभी क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वके बाद चाहे वह छूट जाये, फिर चाहे कभी उपशम भी बन पाये, कुछ भी होता फिरे, पर क्षयोपशम सम्यक्त्वके अनन्तर क्षयोपशम सम्यक्त्वकी हालतमे हो सम्यक्त्वघातक ७ कर्मप्रकृतियोका क्षय होता है तो क्षायिक सम्यक्त्व बनता है। यो किसी भी प्रकारके सम्यग्दृष्टि जीवके सयम जब तक नही है तब तक उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह है चौथा गुणस्थान।

(३२६) द्वितीय और तृतीय गुणस्थान—किसी भी मिथ्यादृष्टि जीवको जिसको अब तक सम्यक्त्व नहीं हुआ उसको पहले गुणस्थानके बाद चौथा हो, ५ वाँ हो, ७ वाँ हो, दूसरा और तीसरा गुणस्थान नही बनता। हाँ यह सम्यक्त्व हो गया हो पहिले, फिर सम्यक्त्व छूटे और अनंतानुबंधी कषायके उदयसे वह दूसरे गुणस्थानमे आता है यदि मिथ्यात्वका उदय नहीं आया तबकी देर। बादमें जल्दी मिथ्यात्व आता है सो दूसरा गुणस्थान मिथ्यात्वकी ही तरह है। जिसके उपशमसम्यक्त्व हो चुका उसके सम्यक्त्वके नष्ट होनेपर मिथ्यात्वका उदय न आने तक दूसरा गुणस्थान बनता है। जैसे कोई छतसे गिरे, जमीनपर जब तक न आ पाये तो उसको

हड्डी नहीं टूट रही मगर उसकी तो हड्डी टूटेगी। किसी सम्यक्त्व हो गया, कभी मिथ्यात्वमें आया तो भी सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें तीसरे गुणस्थानमें आ सकता अथवा सम्यक्त्वसे छूटकर सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे तीसरे गुणस्थानमें आ जाता। तीसरे गुणस्थानका नाम है सम्यग्मिथ्यात्व। जिसका न सम्यक्त्वरूप भाव हो न मिथ्यात्वरूप भाव हो, एक कुछ नहीं, ऐसा जात्यन्तर है, वह है सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान। मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन गुणस्थान हैं अशुद्ध।

(३२७) चतुर्थ और पञ्चम गुणस्थान—चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन है, पर व्रत नहीं है, हां संयमके प्रति तीव्र भावना है कि मैं कब संयम धारण करूँ। ५वां गुणस्थान कहलाता है श्रावकका। जो सम्यग्दृष्टि श्रावक है वह पंचमगुणस्थानवर्ती है। पहली प्रतिमासे लेकर क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका तक पंचम गुणस्थान वाले कहलाते हैं। यथार्थतया सब श्रावक हैं, पर क्षुल्लक ऐलक, आर्यिकाको श्रावकोत्तम कहते हैं। आर्यिका मायने श्रेष्ठ। क्षुल्लक मायने छोटा ऐलक मायने अत्यन्त कम कपड़े वाला। (यह शब्दका अर्थ बोल रहे) क्षुल्लकका अर्थ है छोटा। पर क्या छोटा? इसमें विशेषण क्या लगावोगे? क्या छोटा श्रावक, यह अर्थ लगाओगे? नहीं। यहां क्षुल्लकका अर्थ है छोटा मुनि। तो क्षुल्लकका अर्थ हुआ छोटा मुनि और ऐलक मायने बहुत कम कपड़े वाला मुनि। यथार्थतया यह मुनि नहीं है, पर मुनिके निकट होने से क्षुल्लकके साथ मुनि विशेषण होता है, ऐलकके साथ मुनि विशेषण होता है और पूर्ण मुनि जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर है। तो चाहे क्षुल्लक मुनि कहो चाहे श्रावकोत्तम कहो। श्रावक, मुनि ये शब्द जरा रूढ़िमें प्रसिद्ध हुए इसलिए सुननेमें अटपट लगते होंगे, किन्तु जो व्याकरण और शब्द शास्त्र जानते हैं उनको अटपट नहीं लग सकते। है यह श्रावक, श्रावकमें सर्वोत्कृष्ट। यहां तक कहलाया पंचम गुणस्थान।

(३२८) मोक्षमार्गका अवलोकन और मोक्षमार्गपर गमन—चौथे गुणस्थान वालेने मोक्षमार्ग देख लिया और पंचममें मोक्षमार्गपर चल दिया। मोक्षमार्गपर चलने वाला पंचम गुणस्थान और इससे ऊपरके गुणस्थान हैं और मोक्षमार्गको दिखाने वाला चतुर्थ गुणस्थान है। चतुर्थ गुणस्थान वाला मोक्षमार्गपर बढ़ नहीं रहा, किन्तु उसने मोक्षमार्ग देख लिया। नहीं बढ़ रहा फिर भी मोक्षमार्गके देख लेनेसे उसको धीरता है, बल है, साहस है। जैसे एक घटना लो। कोई मनुष्य किसी दूसरे गांवसे शामके समय अपने गांवको जा रहा था। उसे जाते हुएमें देर हो गई, थोड़ी पगडंडी भी भूल गये। रास्तेमें किसी जंगलमेंसे अब वह गुजर रहा था तो अंधेरा आ गया, उसे कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा था। रास्ता भी पगडंडियों का था। वह अंधेरा हो जानेसे कांटोंकी झाड़ियोंमें फंसता जा रहा था। उसके मनमें आया

कि अब तो जंगल पार करना बहुत मुश्किल है। वहीं कुछ रास्ता ही न सूझ रहा था। सो वह उसी जंगलके बीच एक स्थानपर बैठ गया। बहुत घबड़ा रहा था कि न जाने अब क्या होगा? पता नहीं, जंगली जानवरोंसे प्राण बचेंगे भी या नहीं। अब कभी रास्ता मिलेगा या नहीं। रात्रि काफी बीत गई, वह मुसाफिर उस घनघोर भयानक जगलके बीच भयभीत हो रहा था। इतनेमें एक क्षणिक बिजली चमकी और उतनेमे ही करीब १ फर्लांग दूर उसे सड़क दिख गई, बस उसकी घबड़ाहट दूर हुई, धैर्य बँधा, मनमे यह विश्वास जम गया कि अब तो हमारा जानेका मार्ग अत्यन्त स्पष्ट है, प्राप्तः काल होते ही उस मार्गसे चले जायेंगे। सो उसी जगह वह बैठा रहा फिर भी रास्ता दिख जानेसे उसका भ्रम दूर हो गया। जब प्रात काल हुआ तो पगडंडीसे चलकर सड़कपर पहुच गया। जब सड़क मिल गई तो खूब पसरकर, खूब शान्त होकर एक ठसकके साथ चला जा रहा था। वह निश्चित हो गया कि अब तो गांव मिल ही जायगा। तो ऐसे ही समझिये कि यह जीव इस जगवनमे भटक गया। अज्ञान रूपी अन्धकारमें पड़ा हुआ बड़ा दु:खी हो रहा है, पर कोई बुद्धिमान ऐसा भी होता जो यह सोचता कि हम इस विषय कषाय भरे वनमें भटक रहे हैं तो अब अधिक मत भटकें। इन विषय कषायोंमें अधिक प्रीति न करें, जरा रुकें और सोचें कि बात क्या है असलमे? उसको फिर ऐसा मनन करते-करते बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा होकर एक भीतरमे ज्ञानप्रकाश जगेगा जिससे आत्माका अनुभव बनेगा, और समझ लेगा कि शान्तिका धाम तो यह है। यह हुआ सम्यग्दर्शन। पर उस ज्ञानानुभवको बनानेके लिए जब वह आत्मपौरुष करने चलेगा तो उसमे कुछ न कुछ संयम आयगा जहाँ थोड़ा सयम आया, श्रावकव्रत हुआ, तो वह कहलाया पगडंडियोंपर चलना, और जहाँ महाव्रत हुआ, सकल सयम बना तो हुआ सडकपर चलना। अब वह आनन्दसे चल रहा।

(३२९) **मुनिव्रतकी साधनामें अप्रमादी रहनेका कर्तव्य**—बाह्य घर कुटुम्ब छोडकर, नग्न होकर भी अब यह उनके अपने भविष्यकी बात है कि घर छोडकर, सब कुछ छोडकर फिर एक गृहस्थोसी बसाये, मोटर, रिक्शा, तांगा आदि रखे और अपने आरामके लिए स्त्री, पुरुष, भोजन-सामग्री साथ रखे, कुछ करे तो यह तो उसके लिए चिंता, शल्य, विकल्प वाली बात है। अरे उस निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी मुनिको तो चाहिए कि वह स्वतन्त्र, निर्भय, निःशङ्क विचरण करे। जो होगा सो होगा। अपने भाग्यपर विश्वास रहे। यदि अपने भाग्य पर विश्वास नहीं है तो फिर गृहस्थ और मुनिमें अन्तर ही क्या रहा? इसलिए मुनिको निष्परिग्रह रहना बताया है। मान लो साथमे अनेक लोग हैं तो उनके प्रति उसे यह ध्यान रहे कि इन सबका अपना-अपना भाग्य है, जिसका जैसा योग होगा सो होगा, किसीकी चिन्ता

रखनेसे फायदा क्या ? अपने लिए भी उसे आहार सम्बन्धी कोई विकल्प न रहे। जब जहाँ जैसा योग होगा सो होगा। यह महाव्रत तो एक ऐसा खड्गधार है कि जहाँ केवल एक अपने आत्मासे ही लगन है। वही ध्यान, उसको समाजका फंसाव नहीं, किन्हीं विधि विधानोंमे पडनेसे उसे कुछ प्रयोजन नहीं, किन्ही बाहरी बातोमे पडना यह उनका कार्य नहीं, केवल ज्ञान ध्यान तपश्चरण कार्य ही इनको बताये गए—ज्ञानध्यानतपोरक्तः, ज्ञान, ध्यान और तपश्चरणमें लीन, चौथी बात ही नहीं, ऐसी सडकपर बडी ठसकके साथ मुनिको चलना चाहिए। मुनिकी ठसक क्या ? अपने आत्मामे ज्ञानस्वरूपका अनुभव ले-लेकर उस रससे तृप्त हो रहा, यही उसकी ठसक है और इस प्रकार अपनी ज्ञानप्रीतिमे ज्ञानानुभूतिमें रह-रहकर मोक्षमार्गमें बढ़े।

(३३०) सातवां व छठवां गुणस्थान—जहां अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हुआ कि महाव्रत हुआ, वहां आता है ७वां गुणस्थान। उसके बाद छठा फिर सातवां, छठा यों दौडता रहता है। जैसे झूलेपर झूलनेमें आगे झूला गया तो पीछे आयगा, पीछे आया तो आगे आयगा, ठीक इसी प्रकार वह मुनि छठे ७वें गुणस्थानमें झूलता रहता है। सातवें गुणस्थानमे संज्वलनकषायका मंद उदय है, छठवें गुणस्थानमें मंद उदय नहीं। पंचमकालमे यहां तक तो बात आती है और ७वें गुणस्थानसे ऊपर बात अब नही आ सकती।

(३३१) उपशमश्रेणिके ८वां, ९वां, १०वां व ११वां गुणस्थान—सप्तम गुणस्थान से ऊपर है उपशम श्रेणी। यदि चारित्रमोहका उपशम करता है तो उपशम श्रेणीपर चढ़ेगा। चारित्रमोहका क्षय करता है तो क्षपक श्रेणीपर चढ़ेगा। दोनों ही श्रेणी इस पंचमकालमें नही बनती। सप्तम गुणस्थान तक भावलिङ्गी मुनि हो सकते हैं पंचमकालमे, पर इनकी स्थिति ऊपरके गुणस्थानकी नही होती। उपशम श्रेणीमें चारित्रमोहका उपशम कर-करके बढ़ा तो ११वें गुणस्थान तक पहुचकर आगे नहीं है गति उसकी। वह गिरेगा। यदि वह जीवित है तो क्रमसे गिरेगा। ११वें से १०वें में, १०वें से ९वेंमे, ९वें से ८वेंमें और ८वेंसे ७वें में, ७वें से छठेमे, इसके बाद फिर कैसे ही गिरे ? सम्यक्त्व बिगड़ जाय, नष्ट हो जाय, उपशमसम्यक्त्व हो तो वह उसके नष्ट होनेपर मिथ्यात्व तकमे आ सकता। इतनी विशेष साधना करके भी, इतने महंत बननेके बाद भी, वीतराग होनेके बाद भी गिरकर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। ११वां गुणस्थान वीतराग है, हां सर्वज्ञ नही है, छद्मस्थ है, वह भी जब गिर जाता है तब फिर धर्म-साधनाके लिए बहुत जागरूक रहना चाहिए। कोई योग ऐसा न मिले जिससे कि हमारा आत्माधार भंग हो जाय।

(३३२) क्षपकश्रेणिके १२वें गुणस्थानमें पहुँचनेपर १० प्रकृतियोंका क्षय—यह

जीव क्षपकश्रेणीमें चढ़ा तो ८वें गुणस्थानमे अपूर्वकरण हुआ, वहां बहुत ऊँचे परिणाम होते हैं। अभी कर्मोंका यहां क्षय नहीं होता। ९वें गुणस्थानमे चारित्रमोहकी २० प्रकृतियोंका क्षय होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका पहले क्षय हो गया। अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषाय ८ ये, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ९ ये और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ३ ये, इन २० प्रकृतियोंका क्षय होता है। १०वें के बाद १२वें गुणस्थानमे पहुचा तो वहा क्षय हुआ १६ प्रकृतियोंका। निद्रा प्रचला, फिर ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी बाकी ४ और अंतरायकी ५ इन १६ प्रकृतियों का क्षय होते ही समग्र चार घातियाका क्षय हो चुकता है। फिर बनता है सयोगकेवली। जो लोग कर्मदहनका विधान करते हैं, १०वी एक करना, ९वी २० करना, बारस १६ करना आदि तो उनका अर्थ क्या है कि जिस गुणस्थानमे जितने कर्मोंका क्षय होता है, बस उस गुणस्थानके नम्बरके बराबर तिथिमे इतने उपवास बताये गए हैं।

(३३३) **सयोगकेवली व अयोगकेवली**—क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानके अनन्तर यह जीव सयोगकेवली हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है। १३वें गुणस्थानमे किसी भी प्रकृतिका क्षय नही होता। जो अघातिया कर्म शेष रह गए उनमें से क्षय नही हो रहा, पर वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं। हितोपदेश होता है, विहार होता है, सब क्रियायें हो रही, वह सयोग केवली हैं। अन्तमे योग निरोध करके अयोगकेवली बन जाते हैं। १४वें गुणस्थानका समय है करीब करीब समझिये दो चुटकी बराबर। शास्त्रीय शब्दोमे अ इ उ ऋ लृ इन ५ ह्रस्व अक्षरोको बोलनेमे जितना समय लगेगा उतना समय प्रभु १४वें गुणस्थानमे रहता है। १४ वां गुणस्थानके पूर्ण होते ही अघातिया कर्मोंसे वे रहित हो जाते। पहले ७२ फिर १३ प्रकृतियोंका क्षय करके सिद्ध भगवान हो जाते हैं। तो यहा कुन्दकुन्दाचार्यदेव साधुजनोको सम्बोध रहे हैं कि तुमने सर्व परिग्रहोका त्याग भी किया तो अब तत्त्व, पदार्थ, जीवसमास, गुणस्थान इनका अर्थ देखो, चिन्तन करो, और वहां एक अपने लिए शिक्षा लो।

(३३४) **अध्यात्मग्रन्थोंमे १३ गुणस्थानोंको आस्रवहेतु बतानेका प्रयोजन**—अध्यात्मदृष्टिसे देखो कि १३ गुणस्थान आस्रव करने वाले हैं। १० वें गुणस्थान तक बंध होता है। ११ वें १२ वें में सिर्फ आस्रव होता है। तो यह बताया गया कि ये १३ गुणस्थान आस्रवके कारण हैं, यह बात सुननेमें कुछ अटपट सी लग रही होगी कि इतने ऊँचे मुनिराज और त्रैलोक्यपति अरहंत भगवान जिनको हम सयोग केवली कहते हैं और यह बतायें कि १३ गुणस्थान आस्रवके हेतु हैं। तो लो, अच्छा, प्रारम्भसे बात देखो मिथ्यात्व आस्रवका हेतु है या ? है। अविरति ? वह भी आस्रवका कारण है। अच्छा और कषाय ? वह भी आस्रव

का कारण है और योग ? वह भी आस्रवका कारण है। तो ये जो चार आस्रवके कारण हैं इन ४ का ही पसारा तो १३ गुणस्थान हैं। और उन्हें यों समझ लीजिए कि ये गुणस्थान बनते हैं कमीसे और यह भी कह सकते कि ये गुणस्थान बनते हैं विकाससे। तो गुणोंके विकाससे गुणस्थान बनते हैं, इस दृष्टिसे अभी न देखिये—गुणोंकी जो कमी रहती है उससे ये गुणस्थान बनते हैं यों निरखिये तब आस्रवकी बात समझ लेंगे। जैसे किसी मनुष्यके बारेमें कहा कि यह ६० वर्षका हो गया तो उसे यों भी कह सकते और ऐसा नहीं कह सकते क्या कि यह ६० वर्षका कम हो गया ? यह भी कह सकते। अब जिसका जैसा प्रयोजन है वह उस दृष्टिसे देखेगा। यह ६० वर्षका हो गया, ऐसा सुनकर वह खुश होगा और यह ६० वर्षका कम हो गया, ऐसा सुनकर वह पश्चाताप करेगा कि मैंने कुछ आत्मकल्याण न कर पाया। जैसे यह आत्मदृष्टि है ऐसे ही गुणस्थानके बारेमे भी दो दृष्टियाँ हैं। विकाससे गुणस्थान बने, एक यह दृष्टि और कमीसे गुणस्थान बने, एक यह दृष्टि और दोनों ही सत्य हैं, तो जब हम कमीको ये गुणस्थान मानते तो बड़ी कमीसे मिथ्यात्व, उससे हल्की कमी, फिर उससे हल्की कमी यों लेते जावो वह १३ वें गुणस्थान तक कमी है। हैं अरहंत भगवान, मगर योग मौजूद हैं तो वह भी कमी है। यदि वह कमी नहीं तो उसको भी खतम क्यों किया जाये ? तो ये गुणस्थान बनें उस उस प्रकारके कर्मविपाकके रहनेपर, जब यों दृष्टि जायगी तो समझमें आयगा कि ये १३ गुणस्थान आस्रवके हेतुभूत है। १४ वाँ गुणस्थान निरास्रव है अयोगकेवली। उसे कह लीजिये सिद्धके समान।

(३३५) शाश्वत आत्मस्वभावके आश्रयसे मुक्ति होनेका निर्णय—इन गुणस्थानोंके मननमें यह निरखना चाहिए कि आत्माका जो शाश्वत चैतन्यस्वरूप है उस स्वभावका आश्रय करनेसे गुणोंके विकास होते हैं। विकास कर सकें इसके लिए श्रावक होना और मुनि होना गुजारेकी चीज है, कहीं श्रावकके भेषसे मोक्ष नहीं या मुनिके भेषसे मोक्ष नहीं किन्तु मुनिके भेषमें रहकर वह साधना बन पाती है जिस साधनासे मुक्ति मिलती है। इसलिए यह सब आत्मभावनाकी लगन वालेके लिए यह गुजारेके रूपमें है। कैसे मैं अपने आत्मामें लीन होऊँ ? जिसको यह धुन लग गई वह सब परिग्रहोंका त्याग कर देता है। घर छोड़ा इससे मोक्ष नहीं मिला किन्तु घर छोड़नेपर आत्मामें लीन होनेका पुरुषार्थ बन पाया और उस आत्मपौरुषसे उसको मुक्ति मिलती है। तो ध्यान क्या देना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे मोक्ष मिलता है। इन तीनका अर्थ क्या है ? आत्माके सहजस्वरूपका विश्वास ज्ञान और सहजस्वरूपमें रमण इनकी पूर्तिसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। तो यहाँ आचार्यदेव मुनिवरोंको सम्बोध रहे हैं इस गाथामें कि सर्वसंगसे विरक्त होकर तुम तत्त्व पदार्थ गुणस्थान आदिक तत्त्व विज्ञानमें अपना उपयोग लगावो ताकि अन्य फजूल बातें न आयें और आत्म-

रमणकी अक्रिया बन जाय ।

सत्तविहबंभ पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण ।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥९८॥

(३३६) **भावशुद्धिसे आत्महित**—यह भावपाहुड ग्रन्थ है, इसमे भावोका महत्त्व बताया गया है । जीवका धन भाव है । भाव शुद्ध है तो जीवको शान्ति है और भाव अशुद्ध है तो जीवको व्यग्रता है । आज जितना भी कष्ट हो रहा, लोग अपनेको आकुलित अनुभव कर रहे वह भावोंकी अशुद्धिके ही कारण । मिथ्यात्व ममता, अहंकार, क्रोध, विषयोंमे प्रीति परिग्रहका लगाव ये सारे असंयम भाव जो चल रहे हैं उनके कारण उन्हें प्रकृत्या ही दुःखी रहना पडेगा । तो इस आत्माके सही शुद्धस्वरूपका परिचय मिले और यह मैं हू इस प्रकार का अपने आपमे निर्णय बने तो उसको संक्लेश नहीं रह सकता । भावशुद्धिके प्रकरणमें आचार्य कुन्दकुन्ददेवने मुनिवरोको समझाया कि केवल बाह्य भेषसे काम न चलेगा, मोक्षमार्ग न मिलेगा किन्तु बाह्य परिग्रहका त्याग किया है तो भावोकी निर्मलता बनावें, सम्यक्त्वकी उपासना बनावें आत्मामें रमण करनेका पौरुष करे तो मोक्षमार्ग मिलेगा ।

(३३७) **शीलकी बाड़ मर्यादा रखनेके प्रकरणमें प्रथम द्वितीय तृतीय व चतुर्थ बाड़का वर्णन**—उसी प्रकरणसे सम्बधित इस गाथामें आज यह कह रहे हैं कि ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करें तो भावशुद्धि बनेगी । ९ प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रकट करें । मनसे, वचनसे, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे ९ प्रकारका ब्रह्मचर्य है, उस ब्रह्मचर्यका पालन करें और साथ ही जो ब्रह्मचर्यकी ९ बाडे है उनकी मर्यादा रहे । जैसे खेतके चारो तरफ बाड लगी होती है तो पशु उस खेतको खराब नही कर सकते, ऐसे ही ९ प्रकारकी ये बाडे हैं । इनकी मर्यादामे जो रहेगा उसके ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है । वे ९ बाड क्या हैं ? इन्हे शीलकी ९ बाड कहते हैं । पहली यह है कि स्त्रीविषयक अभिलाषा न होना, मायने मुनिवरोको समझा रहे ना तो स्त्रियोंका नाम लेकर समझायेंगे । स्त्रियां समझें तो पुरुषोंका नाम लेकर समझें । स्त्री जन परपुरुषकी अभिलाषा मनमे न रखें । ब्रह्मचर्य शुद्धिके अर्थ स्त्रीको कामना न करना उनसे प्रीति करनेकी, संगतिकी इच्छा न रखनी चाहिए, क्योकि अभिलाषाके बाद ही और कुछ बन-बनकर कुकार्य-परिणति होती है, सो ऐसी जडको ही मिटायें ना ? स्त्रीविषयक अभिलाषाका त्याग करें । दूसरी बात है अंगविमोक्खो याने अपने कामसाधनभूत अगको उत्तेजित न करना । तीसरी बाड़ है वरिष्ट रसका सेवन न करना, जैसे कुछ रस होते हैं शिलाजीत या और कुछ या खानेमे भी बहुत गरिष्ट भोजन इनका त्याग होवे तब शीलकी बाड पलती है । जो जिह्वाका स्वच्छंदी है उसके सारे विषयोंमे स्वच्छंदता बन जाती है । कोई कहे कि खानेपर इतना जोर क्यो दिया,

अरे दो मिनटमें खावें और खूब बढ़िया खाना खावे, मगर खानेमें लम्पटता है तो इससे सिद्ध है कि मन स्वच्छंद है, और जिसका मन स्वच्छंद है उसके सब स्वच्छंदता बढ़ती चली जाती है। फल यह होता है कि वह अपना ब्रह्मचर्य नहीं रख सकता है। इस कारण जिह्वाको वशमें करना, गरिष्ट भोजनका सेवन न करना। चौथी बाड़ है—स्त्रियोंसे सम्बंधित वस्त्रादिकका सेवन न करना। जो कपड़े स्त्रियां पहनती हैं किसी समय उन्हें छूना, रखना या पहिन ही लेना, कभी-कभी तो अगर चौकेमे धोती शुद्ध नहीं है और किसी स्त्रीकी कोई सूती साड़ी पड़ी है तो पुरुष उस साड़ीको भी पहिनकर आहार दे देते हैं। कितने ही लोग ऐसे देखे गये। तो यह बात बतला रहे कि स्त्रीजनोंके कपड़ोंका सेवन न करें।

(३३८) शीलकी पांचवीं बाड़—५वी शीलबाड़ है स्त्रीके अंगोपांग आदिकका न देखना। अब देखिये कि सारा शरीर अत्यंत अपवित्र है। अंग तो बहुत हैं पैर हैं, हाथ हैं, पेट है, और सिर मुख भी हैं वहाँ एक बात यह बताइये कि सबके अधिक गंदा कौन सा अंग है जिसमे अधिकसे अधिक मैल पाया जाय ? तो सबसे ज्यादह गंदा अंग मुख है। हाथमें थूक न मिलेगा, नाक न मिलेगी, कफ न मिलेगा, और जो हाथमें गंदगी है वह सब गंदगी तो मुखमें है ही मगर उसके अतिरिक्त थूक, लार, कफ, नाक, आंखका कीचड़, कानका कनेऊ याने इतना अधिक मल मुखमें है कि इतना अधिक मल अन्य जगह नहीं मिलता। और लोग जो हैं वे मुखको दर्शनीय बतलाते और जितना आकर्षण होता है खोटा वह मुख निरखनेसे होता है, और सबसे गंदा है मुख। तो जो विवेक करता है वह जानता है कि शरीर क्या है। यह शरीर अशुचि पदार्थोंका पिण्ड है और फिर उसमें एक रूप रंगकी भी बात देखो तो सांवला हो तो, काला हो तो, इसमें क्या फर्क ? यह रूप रंग कही हाथसे पकड़नेमें तो आता नही, केवल एक दूरसे निरखने निरखनेकी बात है। और, जिसका मन पवित्र है वह तथ्य निरखकर अपने मन को शुद्ध बनाता है, तो ५ वीं बाड है स्त्रीके अंगोपांग आदिकको न देखना।

(३३९) शीलकी छठी सातवीं आठवीं व नवमी बाड़—छठी बाड़ है स्त्रीका सत्कार पुरस्कार न करना। इसके मायने यह नहीं कि अपमान करे, किन्तु उमंग लेकर अधिक बोलने की आदत पुरुष बनावें स्त्रियोंसे तो वह बाड़के विरुद्ध है। कभी कोई साधारण काम हो तो बोले, मगर ऐसी भीतरमें उमंग बनाना कि मैं खूब प्रशंसा करूं, तो उसका अभिप्राय खोटा होता है। ७वीं बाड़ है पूर्व समयमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना। अगर पहलेके भोगों का स्मरण करेंगे तो वहाँ भावोंमें अशुद्धि बढ़कर ब्रह्मचर्यके घातका अवसर आ सकता है। ८वी बाड़ है आगामी कालमें भोगोंकी इच्छा न करना। मुझे ऐसी देवियां मिलें, ऐसे आगे भोग मिलें, यह चाह न करना। ९वीं बाड़ है इष्ट विषयोंका सेवन न करना। जो कानोको

प्यारे लगें, ऐसे शब्दोंके सुननेकी रुचि न करना, सुनना ही नहीं, जो आंखका विषय बने, जैसे सिनेमा या बड़े थियेटर इनको देखनेका त्याग। सभी इन्द्रियके विषय जो इष्ट लगें उनमें सन्तोष धारण रखें। जैसे सुगंधित इतर तैलके सूंघते रहनेका शौक लग गया, किसी भी इन्द्रिय का किसीका शौक बन गया तो वह बाडको तोड देगा और कुशीलकी ओर प्रवृत्ति करा देगा। सो इन ६ प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पालन करें।

(२४०) कामवासनाके फलमें दस दुर्दशायें—देखिये—कुशील सेवनका जिसको कुछ भाव पड़ता है तो उसकी खोटी १० अवस्थायें बनती हैं कि पहले तो वह मामूली बात लगती है और उससे बढ़-बढ़कर मरण तकका मौका आता है। पहले तो स्त्रीविषयक चिन्तन चला, विचार चले, ख्याल करें, कैसा है, सुन्दर है, अमुक है, यों किसी प्रकारका चिंतन किया—वह चिन्तन जब चल रहा है तो फिर उसको देखनेकी इच्छा होने लगती है। जिसके बारेमे ऐसा सुनते हैं वह है कैसा? फिर उसको देखनेकी चाह उत्पन्न होती। चाह हुई, देखनेको मिले अथवा न मिले, मगर वह चाह भीतरमें ऐसी दाह उत्पन्न करती है कि उसके फिर हाय की श्वास चलती है। जैसे कभी कोई गहरी चिंता हो जाय तो एक श्वाससी निकलती जिसको सुनकर लोग पहिचान जाते हैं कि यह किसी रंजमें है। फिर वही बढ बढकर ज्वर तक आ जाता है। एक कामविषयक भावना अभिलाषा वासना रखनेसे धीरे-धीरे बढकर यहाँ ज्वर तकका नम्बर आता है। उसके बाद फिर दाह पड़ने लगती। जिसको कामकी वासना है उसकी दशा बतला रहे। आपने पुराणोमें कभी-कभी पढ़ा होगा कि कोई राजपुत्र किसीपर आसक्त हुआ तो उसकी क्या क्या दशायें बनती रही हैं। वही दशा यहां बतलायी जा रही है। फिर भोजन आदिकमें अरुचि हो जाती है। भोजन न करना, दुर्बल होना, श्वास लेना, जिसके अज्ञान है उसको कितनी बडी विपत्ति होती है, भोजन आदिकमे अरुचि होना, ७वी बात है मूर्छा हो जाय, बेहोश हो जाय, गिर जाय, यहां तक नम्बर आ गया। चिन्तनसे चलते-चलते कामबासना वालेकी यहां तक खोटी दशायें हो जाती हैं। फिर पागल हो गया यह उसकी ८वीं दशा है। फिर प्राणोंमे भी संदेह होने लगा, आखिर मर भी गया। एक कम होकर ये १० अवस्थायें जीवकी होती हैं।

(२४१) भावशुद्धिके लिये निर्दोष ब्रह्मचर्यके पालनका कर्तव्य—वह बड़ा पवित्र है जिसका तत्त्वज्ञानमें उपयोग लगता है और उस ही ज्ञानप्रकाशमे बढ़नेकी धुन रखता है। गृहस्थ भी हों तो जितनी देर कमाईका कार्य करते हैं वह तो गृहस्थोमे आवश्यक है। उतनी देर कमाईका कार्य करें दूकानका, आफिसका, पर चूंकि शेष समय जो है वह आपको ऐसा अमूल्य जचना चाहिए कि हम सारे समयका पूरा सदुपयोग करें। स्वाध्यायसे, अध्ययनसे,

स्वाध्यायिकसे, मननसे, सत्संगमें बैठकर तो उसके सहज स्वयं ही ब्रह्मचर्यका भली-भाँति पालन होता है। ब्रह्मचर्यका पालन करो, ऐसा आचार्यदेव उपदेश करते हैं, क्योंकि यह जीव मैथुन संज्ञामें आसक्त होकर इस भयानक संसार-समुद्रमें भ्रमण करता रहता है। तो हे मुनिवर! ब्रह्मचर्यमें रंच भी दोष आ गया तो उसके फलमें इस संसारमें परिभ्रमण करते रहोगे।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥६६॥

(३४२) भावशुद्धिमें सम्यक्त्वाराधनाका उपदेश—जो मुनि श्रेष्ठ आत्मभावनासे सहित हैं वे तो चार प्रकारकी आराधनाको प्राप्त होते हैं, और जो भावरहित हैं वे इस संसारमें चिर काल तक जन्म मरण करते हैं। चार आराधनायें क्या हैं? (१) दर्शन आराधना (२) ज्ञान आराधना, (३) चारित्र आराधना और (४) तप आराधना। सम्यक्त्वके भावकी आराधना करना। सम्यक्त्व तो जीवका परम मित्र है। सम्यक्त्व ही जीवको सन्मार्ग दिखाता है। सम्यक्त्वके प्रतापसे जीव शान्त रहता है। यह सम्यक्त्व मेरा स्वरूप है। कुछ बाहरसे नहीं लेना है। जैसा मेरा सहजस्वभाव है उस रूपमें अपने आपका श्रद्धान करना यह है सम्यक्त्व। इस की रुचि प्रतीति प्रयोग होना सम्यक्त्वकी आराधना है। इस सम्यक्त्वको प्राप्त करनेकी वही तो चाह करेगा जिसको आत्मकल्याणकी इच्छा हुई है। देखो जो लोग समर्थ हैं, धनी हैं, खाने पीनेकी उनको चिन्ता ही कभी नहीं है, मौजसे सब आता है ऐसी स्थिति पाकर उनका कर्तव्य क्या है? इसी मौजमें रहना और दुनियासे अपनी गप्प लडाना यह तो कर्तव्य नहीं है। ये पुण्यके ठाठ कितने दिन रहेंगे? यदि हम उल्टे चल रहे हैं तो वे अधिक दिन न रहेंगे और चलें तो भी उस पुण्यमें रखा क्या है? ये विषयोंके सुख मिल गए तो उससे अशुद्धि कहाँ मिटी? तब अगर योग्य वातावरण मिल गया है तो सदुपयोग करें यह कि अपना अधिक समय तत्त्वज्ञानमें सम्यग्ज्ञानमें उपयोग लगे। और जिसको कुछ तंगी है, जो धनिक नहीं है, जिसके पास कोई अधिक काम नहीं है, किसी तरहसे अपना टूटा फूटा गुजारा कर लेता है तो वह भी यह ज्ञानप्रकाश चित्तमें लाये कि हमारा जो समय शेष बचता है सो मैं उसका ऐसा सदुपयोग करूँ जो बड़े-बड़े धनिकोंको भी नहीं मिल सकता। तत्त्वज्ञानमें, पढ़नेमें, स्वाध्यायमें सत्सगमें अपना समय बितावें। दर्शन आराधना—सम्यक्त्वकी महिमा सम्यक्त्वका स्वरूप उपयोगमें बसे वह है दर्शन आराधना।

(३४३) भावशुद्धिमें ज्ञानाराधना व चारित्राराधनाका उपदेश—ज्ञानआराधना—सम्यग्ज्ञान ही इस जीवका समस्त वैभव है। बाहरी वैभवकी तृष्णा क्यों करते? कुछ आवश्यक है इसलिए उसे बनाये रखें, मगर तद्विषयक तृष्णा क्यों करना? छूट जायगा सब।

इस समय भी आपका कुछ नहीं है। आपमें आप है। प्रत्येक पदार्थमें वही है। यह तृष्णा दुःखदायी चीज है और आत्माका यह सहज ज्ञानस्वरूप इस ओर दृष्टि आये, यह मैं हू ऐसा बोध बने, उसको शान्ति मोक्षमार्ग सब कुछ अवश्य प्राप्त होगी। ज्ञानका अपूर्व महत्त्व है। ज्ञानमय ही तो यह जीव है, सो अपने ज्ञानस्वरूपकी निरन्तर उपासना करना यह है ज्ञान आराधना। चारित्र आराधना—मैं अपने ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहू, अन्य कुछ काम न बने, अन्य कहीं ख्याल न जाय मेरे ज्ञानमें यह ज्ञानस्वभाव ही रहे, ज्ञाताद्रष्टा रहू, रागद्वेषकी वृत्ति न आये, ऐसा अपना ज्ञानव्यवहार रहनेकी भावना रखना यह है चारित्र आराधना। स्वरूपमें चलनेका नाम है चारित्र। ऐसा संयम बन जाय, ऐसा अपने आपमे फिट बन जाय कि इसका उपयोग जगतके किसी बाहरी पदार्थमे न रहे यह है संयम आराधना। इस चारित्र आराधना के लिए अपने स्वरूपको अपने उपयोगमे निरन्तर लिए रहनेकी आवश्यकता होती है।

(३४४) व्यवहारचारित्रकी उपयोगिता—वास्तवमे चारित्र भेष नही है या जो विधि पूर्वक खाये, विधि पूर्वक चले, ऐसा चलना ऐसा बैठना जो कुछ भी क्रिया मन, वचन कायकी होती है वास्तवमे वह चारित्र नही है। चारित्र तो आत्माका उपयोग आत्माके सहज स्वरूपमे लीन हो इसे कहते हैं चारित्र। मगर यह जो वास्तविक चारित्र है तो इस चारित्र को करनेके लिए जो चलेगा सो वह किन स्थितियोसे गुजर कर अपना यह काम बना पायगा। उन स्थितियोका नाम है यह सब व्यवहार चारित्र। माचिस का नाम आग नहीं है। सीकका नाम आग नही है, सीकमे जो मसाला रखा है उसका नाम आग नही है, वह तो रगडनेसे जो ज्वाला बनी उसका नाम आग है, मगर वह आग प्रकट कैसे बने उसके लिए ये स्थितियां हैं। तो आत्माका ज्ञान आत्मामे कैसे रमे उसके लिए ये स्थितियां हैं कि सब कुछ छोड दे। केवल शरीरमात्र ही रहे और निःशक फिर अपने आपमे अपने स्वरूपकी आराधना करे, यह है चारित्र आराधना। जो चारित्राराधनाके लिए अपना प्रयोग कर सके उस महापुरुषको चूंकि शरीर साथ लगा है तो अनेक परीषह आयेंगे, उपसर्ग आयेंगे। तो यह ज्ञानी इतना धुनका पक्का है कि उन परीषह और उपसर्गोंसे विचलित नही होता और उसका यह कुछ खेल भी खेलता है। कौन ? मुनि महाराज ! वह क्या खेल खेलते हैं ? नही हैं परीषह, नहीं है उपसर्ग तो जान बूझकर तपश्चरण करना, यह उनका खेल है। बच्चे कैसे खेलमे रमते हैं, जवानोंका कुछ और खेल है, तो मुनियोका खेल तपश्चरण है। तपश्चरण भी किसलिए करते हैं ? जान-कर उपवास करें। कदाचित् अंतराय कर्मवश आहार विधि २–४ दिन न मिलें तो वहां वे समताले अपने धर्मपालनमें रह सकें, उसके लिए यह अभ्यास है। समाधितंत्रमें बताया है कि

बड़े मौजसे पाया हुआ ज्ञान, बिना कष्टके पाया हुआ ज्ञान कष्ट आनेपर खतम हो सकता है। इसलिए आत्मकल्याणके भुनियाको जानबूझकर भी अपनेको कष्टमें डालना चाहिए, आपने तपश्चरण करना चाहिए ताकि इसकी दृढ़ता हो जाय कि कठिन स्थितियोंमें भी हम अपनी समतासे च्युत न हो सकें। ऐसे तपश्चरणकी आराधना करना तपआराधना है। सो इन चार प्रकारकी आराधनाओंको भावसहित मुनिश्रेष्ठ प्राप्त करते हैं।

(३४५) भावकी प्रक्रियामें सुख दुःख व शान्तिका भाव—जिसको दृष्टिमें आ गया कि मेरी सारी दुनिया मेरा यह आत्मस्वरूप है। जो यहाँ भाव जगता है वही मेरा वास्तविक वदन है, यह मेरा स्वरूप सत् है, यह कभी मिट ही नही सकता। स्वरूपमे किसी अन्य पदार्थका प्रवेश नही होता, फिर विपत्ति ही क्या? किसी भी परपदार्थसे मेरेमें विपत्ति नही आया करती। आती हो तो बताओ। कोई धन कम हो गया या कोई मकान गिर गया, वहाँ से कोई विपत्ति आती हुई देखी क्या किसीने? पर यह मोही खुद अपने आपमे अपनी कल्पनायें बनाकर अपनेको विपत्तिमे फँसाये रहता है। बाह्य चीजसे विपत्ति नही, मान लो किसी का लडका कुपूत हो गया तो लोग मानते कि यह बड़ा दुःखी है, इसका लडका खोटा निकल आया और किसीका लडका सपूत निकला आज्ञाकारी बडे नम्र शब्द बोलता तो बताओ उसे सुख है कि दुःख? अरे उसे ज्यादह दुःख है। कुपूतका दुःख अधिक नही हुंता। उससे मन हट गया तो एकदम सोच लिया कि जो इसका होना हो सो हो, हमे इससे कुछ मतलब नही। घोषणा करा दी कि मेरा इस पुत्रसे कोई मतलब नही। मगर सुपूत है घरमे तो रात दिन सभी लोग उसकी बडी फिक्र रखते। कैसे मैं इसे धनिक बना दूँ, खूब पढा लिखा दूँ, इसको किसी प्रकारका कष्ट न होने दूँ, यह मेरेको बडा प्यारा है। यो चिंतन कर करके सारे जीवन भर उसके पीछे दुःखी रहेगा। फिर बतलावो सुख है कहाँ? जो भी दुःख है वह क्या है? यह जीव भीतरमें अपनी कल्पना बना बनाकर दुःखी होता है। तो ऐसे ही भावरहित मुनि इस दीर्घ संसारमे चिरकाल तक भ्रमण करते हैं, अतएव हे मुनीवरो, अपना हित चाहो तो अपने आत्माके स्वभावकी आराधनामे चलो।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइ सोक्खाइं।
दुक्खाइ दव्वसवणा नरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥

(३४६) भावश्रमणके कल्याणपरम्परापूर्वक शाश्वतानन्द लाभ—जो भावश्रमण है अर्थात् सम्यग्दृष्टि भावलिङ्गी मुनि हैं वह कल्याणपरम्परासे सुखको प्राप्त करता है, किन्तु जो द्रव्यश्रमण है, मिथ्यादृष्टि मुनिभेषी है वह खोटा मनुष्य, तिर्यंच, खोटा देव इन योनियोंमें दुःखको प्राप्त करता है। भावश्रमण छठे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक है। १२वां गुणस्थान तो क्षपक श्रेणीमें है। जिसे १२वां गुणस्थान प्राप्त होता है वह नियमसे मोक्ष

जाता है उसी भवमें, पर जो अन्य मुनि हैं, भावश्रमण हैं उनकी शुद्ध भावनाके कारण उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है और गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक, निर्वाणकल्याणक, इन कल्याणकोंको प्राप्त कर मोक्ष पहुंचता है। गृहस्थ श्रावक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सोलह कारण भावनायें भाकर तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करते हैं। यहा मुनियोंका प्रकरण है इसलिए भावश्रमणकी बात कही गई है। तीर्थंकर होना ही कल्याणकी बात हो सो बात नही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कल्याणकी बात है। न भी तीर्थंकर हो तो भी जो भी मोक्ष गए जैसे श्रीराम, हनुमान, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर आदि, वे सब मुक्तिमें समान हैं। मुनि मोक्ष गए तो उनके सुखमें, उनके ज्ञानमे और जो तीर्थंकर होकर हुए उनके मुक्त सुख व ज्ञानमें कोई अन्तर नही। बस ससारमे रहते हुए उन मुनियोंमें अन्तर था कि जो तीर्थंकर प्रकृतिबन्ध वाला मुनि है वह तीर्थंकर केवली होता, दिव्यध्वनि खिरती, विराट समवशरणकी रचना होती, अन्य मुनियोंके केवलज्ञान होनेपर समवशरणकी रचना नही है। गधकुटी है और जो उपसर्गसे सिद्ध हुए हैं उनके गंधकुटी भी नही बन पाती, मोक्ष हो जाता, पर मुक्त हुए बाद समस्त मुक्तोका एक समान ज्ञान और आनद है। तो भावश्रमण पचकल्याणक परम्पराओंमे पाकर शाश्वत सुखको प्राप्त करता है।

(३४७) **द्रव्यश्रमणके कुयोनिजन्मका व क्लेशका लाभ**—द्रव्यश्रमणने भेष तो मुनि का रख लिया, पर मिथ्यात्वविष नही छोड़ा। देहको आत्मा मान रहा, अपनेको मुनि मानकर प्रवृत्ति कर रहा, चैतन्यस्वरूप नही मान पाता और इसी कारण लोक व्यवहारमे लग रहा, जरा जरा सी घटनाओंपर क्रोध, मान, माया, लोभ उत्पन्न होता है। उसमे स्थिरता नही है' ऐसा नग्नभेषी अज्ञानी मुनि नरकमें खोटे मनुष्योमे तिर्यञ्चमे कुदेवमे उत्पन्न होता है। यह बात इसलिए कही जा रही कि मुनिवरोको सम्बोधा है कि मिथ्यात्वका विनाश करें और सम्यक्त्व उत्पन्न करें, अपने आत्मामे रमण करनेकी दृष्टि बनावें, तब तो साधु साधु कहलाता है अन्यथा वह अपने आपको ही ठग रहा है।

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण।
पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥

(३४८) **मुनिपदमें दोष न लगानेका आदेश**—मुनिवरोको सम्बोधा है कि हे मुनिजन! ४६ दोष दूषित आहारको खाकर, अशुद्ध भावोंसे जीवन बिताकर पराधीन होकर तू तिर्यञ्चगतिमें गया और महान दुर्दशाको प्राप्त किया। बताया है एषणासमितिमें कि छियालिस दोष बिना सुकुल श्रावकतने घर असनको। लैं तप बढ़ावन हेत नहिं तन पोषते तजि रसनको। जो अन्तरङ्गसे विरक्त है वे मुनि ४६ दोष टालकर आहार करते हैं। तो ४६ दोष

कौनसे हैं सो अभी बतावेंगे । सो अशुद्ध भावोंसे दोषदूषित भोजनको करके यह पराधीन होकर अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगता है, जन्ममरण करता है । वे अशुद्ध भाव क्या थे जिनके वश होकर अटपट क्रियायें कीं ? ख्यातिकी चाहसे मुनि बने—मेरी विशेषता होगी, लोग जयकारा करेंगे । अनेकोंकी आज भी क्रिया चारित्र देखकर पहिचान सकते हैं कि किसके कौनसे भाव थे जिससे प्रेरित होकर वह मुनि हुआ । कोई पूजाकी चाहसे मुनि बना । तो जब मूलमें ही भूल रही, उद्देश्य ही गंदा रहा तो साधु बनकर अटपट काम करते हैं और फिर वे कठिन दुःखको प्राप्त करते हैं, क्योंकि यहाँ कोई ठग ले तो ठग ले, पर खोटे भाव करेगा, कर्मबंध होगा, उसे कोई नही बचा सकता । एक बात और यहाँ जानना कि कोई साधु अशुद्ध परिणामसे रह रहा है तो श्रावक यह सोचें कि यह अपनी करनीका फल पायगा, हमे तो इसकी भक्ति करना है, तो यह जैनशासनमे नही बताया गया । जो अनुचित है, मिथ्यात्वसे ग्रस्त है लोकपूजाकी चाह आदिकमें मग्न है सो उनके साथ उनके सेवक भी खोटी गतिमें जाते हैं ऐसा जैनशासनमे बताया है । तब थोडा अपनेको भी चेत होनी चाहिए, और गुरुजनोंके प्रति प्रीति होनी चाहिए कि उनके प्रति सही व्यवहार हो । अनेक व्यवहार ऐसे होते हैं कि कोई मुनि पहले दीखा तो उसकी परीक्षा करके नमस्कार करें, ऐसा नहीं है. किन्तु मुद्रा जब देखी तो उन्हें नमस्कार करना ही चाहिए । जब बहुत कुछ अपने परिचयमें आया है और सन्मार्गपर बिल्कुल नही है ऐसा जचा है तो उसकी उपेक्षा कर दें, किन्तु छोटे मोटे दोषोंसे मुनि नही गिरता, आखिर साधना कर रहा है तो दोष तो होंगे, मगर महादोष अगर आ जायें तो वहाँ मुनिपद नही रहता । इससे थोडी कुछ जानकारी करना चाहिए कि मुनिपदके मायने क्या है ?

(३४१) **मुनिपदका संक्षिप्त परिचय**—प्रथम तो यह बात है कि आत्मामें ज्ञानका प्रकाश हो, निज सहज ज्ञानस्वभावमें रमनेकी धुन हो, जिससे बाहरी लोकमें न प्रीति करता न द्वेष करता । यदि कोई प्रकट ऐसा दिखे कि अपमान करने वालेपर, निन्दा करने वालेपर उपेक्षा करने वालेपर कोई मुनि नाराज हो रहा तो समझो कि वहाँ मुनिपना नहीं है । उसे नाराज या गुस्सा होनेकी क्या आवश्यकता है ? जब उसने व्रत ले लिया है—अरि मित्र महल मसान कंचन काच निन्दन थुति करन, अर्घावतारण असिप्रहारणमें सदा समता धरन । चाहे शत्रु हो, मित्र हो, सबमें साम्य परिणाम । दुश्मनसे द्वेष न करे । चाहे कंचन हो या काँच हो निन्दा हो या स्तुति, दोनोंमें समता रखें । अज्ञानवश हैं इसलिए अपनेको नहीं सम्हाल पाते लेकिन जो मुनि निन्दा और स्तुतिमें समान परिणाम रखता है, शत्रुपर द्वेष नहीं करता उसकी तो लोकमें पूजा होती है । आखिर वे शत्रु भी चरणोंमें नम जाते हैं उनकी अन्य

निरखकर। तो मुनिमें समताकी मुख्यता हो, रागद्वेष न हो, अपने स्वरूपमें दृष्टि हो, आत्म-कल्याणकी धुन हो, यह ही सब मुनिका परिचय है। इतनी बात तो होनी ही चाहिए। और कदाचित् कहीं ये बातें न मिलें, अंधभक्तिसे उनको बढ़ावा दिया तो यह उनका अकल्याण है। उन्हें समझाना चाहिये कि महाराज शुद्ध ढगसे प्रवृत्ति बनायें तो आपका भी कल्याण है और हम भक्तोंका भी उद्धार है।

(३५०) निर्दोष आहार ही ग्रहण करनेका मुनिवरोंको आदेश—यहाँ बहुत प्रकारसे से मुनिवरोंको भावशुद्धिके लिए सम्बोधा है। यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड नाम का ग्रंथ है। इसका विषय ही यह है। कहते हैं कि शुद्ध भावोंसे जो ४६ दोषोंसे दूषित आ-हार करके मौज मानते हैं वे मनुष्य परवश होकर तिर्यंचगतिमे जन्म लेकर दुःख प्राप्त करते हैं। ४६ दोष क्या-क्या हैं सो सुनो—१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० एषणा दोष, ४ संयोजन दोष, ये सब ४६ दोष होते हैं। उद्गम दोष गृहस्थके सहारे हैं। आहार बनाने वाला गृहस्थ १६ प्रकारके दोषोंका अगर आहार बनाये तो वह मुनिजनोंके लिए अग्राह्य है। वे १६ उद्गम दोष क्या हैं उन्हें भी ध्यानसे सुनो, क्योंकि आहार चौका बनाने वालेके सहारे ये दोष उत्पन्न होते हैं। ये दोष गृहस्थसे बनते हैं। ऐसा दोष किया है गृहस्थने तो वहाँ मुनि आहार न लेगा, वे गृहस्थ द्वारा किए गए दोष कौन-कौन हैं? इसे बतानेसे पहले एक बात समझें कि सबसे महान दोष होता है हिंसायुक्त भोजन याने बिना म्यादका आटा हो, पानी हो, अभक्ष्य हो, खूब घसीट-घसीटकर भोजन बनाया है, चौकी बारबार सरकाना, बर्तन फेंकना, ऐसी असावधानी रखते हुए जो भोजन बनता है उसे महादोष कहा गया है। इसका नाम है अधः कर्म। यह सबसे महान दोष है। अन्य दोष तो बादके हैं। तो अधःकर्म दोष यहाँ लगते हैं वहा चाहे अन्य दोष बचाया हो तो भी वह बड़ा भारी दोष है। और यह बात आगे तुलनामे मिलेगी।

(३५१) उद्दिष्ट नामक प्रथम गृहस्थाश्रित उद्गम दोष—उद्गम दोषमे (१) प्रथम दोष है उद्दिष्ट दोष। मुनिके ही उद्देश्यसे बनाया हुआ भोजन उद्दिष्ट दोष है। इसको बहुत ध्यान देकर सुनना है। दो बातें होती हैं—उद्दिष्ट और अतिथिसम्विभाग। अतिथि-सम्विभाग तो कायदेमें है। कोई व्रती है, रोजका नियम लिए हुए है यह कि मैं एक अतिथि को, मुनि आदिकको आहार कराकर भोजन करूँगा। न मिलें मुनि वह बात अलग है। मिलते हों तो उनको आहार कराकर भोजन करें। यह अतिथिसंविभागव्रत है। इसमें उद्दिष्ट का दोष नहीं लगा। भले ही उसने सोचा कि मैं मुनिको आहार दूँगा, यों सोचे हुए भोजनसे उद्दिष्ट नहीं होता, किन्तु किस तरह उद्दिष्ट होता कि यह मुनिको ही आहार बनाया है

अथवा जितने भी मुनि आयें उनके लिए मैं यह आहार बना रहा हूं। यानि खुद उसे निर्माल्य सा समझे, खुद न खाये और एक ऐसा सोच लिया कि यह तो मुनियोंके लिए ही बन रहा है तो वह उद्दिष्ट है। या अन्य साधुवोंके लिए बन रहा हो तो उद्दिष्ट है या जो कोई भी आयगा उसके लिए ही बन रहा है तो यह उद्दिष्ट है और चाहे मुनिका नाम लेकर भी बने, किन्तु खुद भी उसमें खा सके, ऐसा भाव रखकर भोजन बनाये तो वहाँ उद्दिष्ट नहीं है, वह तो अतिथिसम्विभाग है। यदि ऐसा न हो तो चौथे कालमें भी भोजन नहीं मिल सकता। आज जो उद्दिष्टका नाम लेकर एक बहुत बडा तूल मचाया है लोगोंने मुनियोंके खिलाफ वह उचित नही है, क्योंकि एक तो उद्दिष्ट दोष महादोष नहीं है। प्रथम तो यह बात है। जैसे अन्य ४५ दोष हैं उनमें भी एक साधारण दोष है। अधःकर्म महा दोष है। फिर दूसरी बात मुनि मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना इन ६ बातोंसे उस आहारमें सामिल हो तो मुनिका दोष है, पर जो मुनि न तो मनसे सोचता कि यह ठीक बना रहा, बनाने दो, न वचनसे कहता न कायसे चेष्टा करता, स्वयं करता नहीं, कराता नहीं, अनुमोदना करता नही, चाहे गृहस्थ मुनिको ही सोचकर बना रहा हो शुद्ध भोजन पर उसमें मुनिका यदि मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना नहीं है तो वह मुनिके लिए उद्दिष्ट दोष वाला भोजन नही कहलाता। आलोचना करने वाले लोगोंका यदि आशय धर्मसंबंधित हो तो उन्हें खुद शुद्ध भोजन करना चाहिये और अतिथिसंविभागव्रत पालना चाहिये तथा श्रावकोंकी आलोचना व उन्हे डाटना चाहिये कि उद्दिष्ट दोष गृहस्थके आश्रित है अतः गृहस्थको शुद्धभोजन करना करना चाहिये व अतिथिसंविभाग करना चाहिये। कोई यदि रोज अमर्यादित भोजन करता है वह किसी दिन नियम करे कि आज मैं शुद्ध भोजन करूंगा व अतिथि संविभाग करूंगा तो भी उसका अनुद्दिष्ट आहार है।

(३५२) अध्यधिनामक उद्गम दोष—(२) दूसरा दोष है अध्यवधि, गृहस्थ भोजन बना रहा है और सुना कि अमुक मुनि आ रहे, उस बीचमें ही कुछ चावल और डाल दिए तो यह अध्यवधि दोष है। यह भी गृहस्थके आश्रित दोष है। उसे मुनि ने नही किया, गृहस्थने ऐसा सोचा और किया, अथवा भोजन बनानेमें देर हो रही है और मुनिको आहार चर्याके लिए उठनेका समय हो गया है तो उन्हें जरा देरमें उठना चाहिए, ऐसा भाव रखकर गृहस्थ उनको बातोंमें लगाये, किसी तरहसे वह उठनेमें देर कर दे तो वह भी अध्यधि दोष है।

(३५३) मुनियोग्य आहारका एक संक्षिप्त निर्देशन—एक बात यह जानना कि मुनिका भोजन बहुत सुगम भोजन होता है। जब हो उसे क्षुधा लगी चाहे ९ बजे दिनमें,

चाहे १० बजे, चाहे १ बजे चाहे २ बजे...., यो दिनमें किसी भी समय वह आहार चर्याके लिए उठना चाहे उठ सकता। उस समय सुगमतया जो आहार मुनिको मिल गया वह उसके लिए योग्य आहार है। तो दोष बतानेका अर्थ यह है कि आहारके लिए गृहस्थको कष्ट न उठाना पड़े। अब आप एक कुञ्जी जान जायेंगे तो ये सब बातें भली प्रकार विदित होने लगेंगी। आहार बनते हुएमें मुनि पहुच जाय तो उस कालमे आरम्भ स्थगित करके आहार दे दिया। अब यदि कोई एक घटा पहलेसे ही चूल्हा बुझा दे, चूल्हेकी राख साफ कर दे और चूल्हा पोत कर रख दे और पात्रदान करनेके पश्चात् फिर चालू करे तो यह तो एक बनावटी बात है और इतना बनावटी होकर भी आहार लिया जाय जानकर तो यह उनकी एक अजानकारी है। एक कुञ्जी रख लीजिए कि जिसमें गृहस्थको आहार सम्बन्धी कष्ट न उठाना पड़े, ऐसा सुगम भोजन मुनियोका भोजन कहलाता है, हां शुद्ध जरूर होना चाहिए, क्योंकि अशुद्ध होगा तो उसमे अध:कर्म दोष लगता है, वह महादोष है। तो जितने भी दोष निषिद्ध बताये जायेंगे आप उनमे यही बात पायेंगे कि इसमे गृहस्थको अलगसे कष्ट कुछ उठाना पड़ा। यदि गृहस्थको आहार सम्बन्धी कष्ट उठाना पड़ा तो यह मुनियोके लिए योग्य आहार नही है, अथवा उसमे किसी प्रकारकी हिंसाका दोष आया है तो मुनिके लिए योग्य नही है। पहले ऐसा ही रिवाज था। लोग एक अन्तराय बताते कि जलती हुई आग दिखे तो वह मुनि के लिए अतराय है, मगर उसका प्रयोजन यह था कि नही ऐसी आग जल रही हो कि असावधानी हो कि कही कही कोई अङ्ग जल जाय, किसीकी साडी जल जाय, कपडा जल जाय तो ऐसी सम्भावना होती हो जिस अग्निके जलनेमे उसे देखकर अतराय है, पहले यह बात खूब अच्छी तरह जान लें। मुनि कभी यह नही चाहता कि मेरे लिए गृहस्थको कष्ट उठाना पड़े। गृहस्थ शुद्ध बना रहा, उस बीच मुनि पहुच गया और आहार ग्रहण किया बस लौट कर अपनी धर्मसाधनामे लग गए। आहारका समारोह कोई मुख्य बात नही है, विशेषतया किसीको पता ही न पड़े कि कब आये और कब आहार कर गए। एक ज्ञान ध्यान ही उनका मुख्य कर्तव्य है।

(३५४) पूतिनामक उद्गम दोष—(३) तीसरा दोष है पूतिदोष। जिन बर्तनोमे, जिन बर्तनोंमें अन्य भेषी कुभेषी कुगुरुवोको भोजन दिया जाता हो उसमे पकाया हुआ भोजन मुनिके लिए अग्राह्य है। देखिये गृहस्थ है, उस पर बहुत सी सम्हालकी जिम्मेदारी है। जो भी आया कोई मांगने वाला, उसे भी भोजन देना पडता और ऐसी साधारण सी बात है कि कोई जोगी गुरु अन्य भेषधारी भी आ गया तो गृहस्थका कुछ ऐसा दर्जा है या उसका ऐसा कोमल मन है कि वह भक्तिसे तो नहीं देता मगर लोकाचार करुणावश या व्यवहारवश देना पड़ता

है । तो ऐसे पात्रमें और ऐसी विधिमें बना हुआ भोजन मुनिके लिए अग्राह्य है । मुनिको तो केवल एक यह विचार है कि गृहस्थने शुद्ध भोजन बनाया, जैसा घर वाले खायेंगे, उसमेंसे उसे भी दे दिया । अतः एक बातका ध्यान रखना आवश्यक हो जाता कि आहार दान देनेके लिए घर वालोको शुद्ध भोजन करनेका नियम रखना चाहिए । चाहे वह रोज अमर्यादित भोजन करता हो, पर जिस दिन आहार दान करे उस दिन उस घर वालोको शुद्ध भोजन करना चाहिए, तब दोषसे बच सकेगा अन्यथा नहीं बच सकता । वहाँ एक दो चार लोगोका तो नियम होना ही चाहिए कि आजके दिन मैं शुद्ध भोजन करूँगा । फिर बने तो वह आहार उनके योग्य होता है

(३५५) मिश्र एवं स्थापितनामके उद्गम दोष—(४) चौथा दोष है मिश्र नामका दोष । जो आहार अप्रासुक आहारसे मिला हो याने गर्म ठंडा मिलाकर जो भोजन रखा हो वह मिश्र दोष कहलाता है । वह भी आहार मुनिके लिए उचित नही है । देखिये मुनिको यदि इस प्रकार के दोषका पता पड जाय तो उसे स्वयं यह सोचना चाहिए कि इस प्रकारका दोषवाला आहार लेना योग्य नही । प्रासुकमें अप्रासुक मिला दिया जैसे प्रासुक पानीमें बिना प्रासुकका ताजा छना पानी मिला दिया तो यह प्रासुक दोष कहलाता है, और ये सब दोष गृहस्थके आश्रय हैं । मुनि तो कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय, नवकोटिसे विशुद्ध है । उसे कोई संकल्प ही नही है कि ऐसा खायें, ऐसा बनो, न उसके प्रति आकर्षण है । वह तो ज्ञान ध्यानकी साधनाको अपनी जिन्दगीमे सहायक जानकर जिन्दगीकी रक्षाके लिए, केवल क्षुधा मेटनेके लिए आहार करता है । (५) पांचवां दोष है स्थापित । जिस बर्तनमें भोजन पकाया गया उसमेसे निकाल कर जो अन्न अपने घरके या दूसरेके घरके या अन्य बर्तनमे रखा जाय तो वह स्थापित दोष है । इसके मायने यह है कि ज्यादह अदल बदल आहार क्रियामें न होना चाहिए, किन्तु उस बर्तनसे ही निकालकर सीधा उन बर्तनोंमें रख ले जिनसे कि आहार देना है, थाली सजाना है अनेक बर्तनोमें अदल बदल नही की जानी चाहिए ।

(३५६) बलि एवं प्राभृत नामके उद्गम दोष—(६) छठा दोष है बलि दोष—यक्षकी भेंटके लिए, भूत प्रेत आदिक कुछ मान्यतावोंके लिए जो भोजन बनाया जाता है उसी भोजन को मुनिको देना यह बलि दोष है । या कोई मुनि जन आयेंगे तो उनको आहार अलग रख दिया और भूत प्रेत आदिकको अलग रख दिया तो ऐसा अलग अलग रखना भी योग्य नहीं । अलग उस समय किया जाता जिस समय मुनि घर आ गया हो । पहलेसे अलग करके रखना कि यह आहार मुनिके लिए, यह आहार अन्य जनोंके लिए तो इसे कहेगे स्थापन दोष । (७) सातवां दोष है प्राभृत दोष ये सब दोष गृहस्थको लगते हैं, मुनिको नही लगते, पर यह बतला रहे हैं कि ऐसा दोषयुक्त आहार लेना मुनिको योग्य नहीं । मैं आहार इस ऋतुमे दूंगा, इस

दिन सूझा, इस प्रकारका भाव रखना अथवा जिस दिनके लिए नियम रखा है कि मैं चतुर्थीको, पंचमीको आहारदान करूँगा और उस दिनको टालकर दूसरे दिन सोचे तो प्राभृत दोष कहते हैं। यहाँ एक बात यह जानना कि पहले ऐसा नियम रहा करता था कि किसीने नियम लिया कि मैं पूर्णिमाको आहारदान दूंगा या दोजको आहारदान करूँगा, तीजको आहारदान करूँगा, इस तरहका नियम रखते थे। अन्य दिन अमर्यादित भोजन बनता था, एक दिन शुद्ध भोजन बनेगा शुद्ध भोजन करूँगा और अगर योग मिला तो आहार दान करूँगा, ऐसा नियम रहा करता था, तो उस नियमका हेर फेर करना यह प्राभृत दोष है।

(३५७) प्राविष्कृत एवं क्रीत नामके उद्गम दोष—(८) आठवां दोष है प्राविष्कृत दोष। पहलेसे ही यह जताना कि महाराज यह मेरा घर है अथवा बर्तनोको बहुत बहुत हेर-फेर करना, बडी जल्दी-जल्दी टाल मटोल करना ऐसी स्थितिका जो आहार है वह मुनियोंके लिए युक्त नही है। इस दोषको मुनि नही करता, गृहस्थ करता। चाहे गृहस्थ रोज शुद्ध भोजन नही बनाता, लेकिन जिस दिन बनाया गया उस दिन खुदके लिए नियम होना चाहिए कि मैं आज शुद्ध भोजन करूँगा। और ठीक समितिसे भली प्रकार करे, फिर उसमेसे आहार दे तो दोष नहीं है। (९) नवां दोष है क्रीत दोष। मुनि आहार कर रहे और उसी बीच बड़ी भाग-दौड मचाना कि जाओ सेब ले आवो, सतरा ले आवो, अमुक चीज ले आवो सो खरीदकर लाया अशन हो तो यह क्रीत दोष है। अरे ये सब सामान तो पहलेसे ही मँगाकर रख लेना चाहिए। और फिर अनुचित कमाये हुए द्रव्यसे खरीदकर लाये तो वह है सदैव ही क्रीत दोष।

(३५८) प्रामृष्य नामक उद्गम दोष—(१०) दसवां दोष है प्रामृष्य दोष। किसीसे कर्ज लेकर आहार सम्बन्धी चीज सामान जुटाना यह भी दोषमे शामिल है। इन सब दोषो को सुनकर एक कुञ्जी जानना कि जो सुगम भोजन हो, जिसमे श्रावकको कष्ट न हो वह आहार साधुके लिए आदेय है और उसके ही श्रावक और मुनिका यह सब व्यवहार निभता है। जिस आहारका इतजाम करनेमे बडी कठिनाई हुई हो, बडा श्रम करना पडा हो, एकदम कुछ नई घटनासी लग रही हो तो ऐसा आहार उचित नही होता, किन्तु कोई कष्ट न हो, सामान्यतया सीधे ढंगसे बने तो वह भोजन मुनिके लिए योग्य होता है। यहाँ इतनी बात जानना कि यदि चूल्हेकी सब राख निकाल दी और चूल्हा पोतकर रखा तो वह बनावटी कहलाता है। भले ही कुछ प्रथा चल गई तो ऐसा लगता है कि यह तो कुछ अयोग्य नही है, ऐसा ही करना चाहिए, मगर बच्चोकी तरहका भोजन बताया है मुनिका। जैसे बच्चेको जब भूख लगी तो झट वह खानेके लिए पहुचा और कहा—माँ जी मुझे भूख लगी, खाना खिलाओ

दो, तो उसकी माँ झट उसे खाना खिला देती है, ऐसे ही मुनि मुखसे तो न कहेगा कि मुझे भूख लगी, किन्तु जो संकेत है—जैसे कंधेपर हाथ रखकर आहारचर्याके लिए मुनिका निकलना तो उसका अर्थ है कि माँ मैं क्षुधानिवृत्तिके लिए आया हू, नो झट उसे खिला दिया, तो इस प्रकारकी पहले एक साधारण व्यवस्था थी। उसमें जो विशेष बनावटकी बात बनी तो वह अटपट दोषसे सहित बात बनती रहती है, और आज चर्चा तो इसीलिए बहुत है कि बहुत बनावट आ गई है आहारदान करनेमे। चाहिये तो यह था कि बन रहा था आहार सो, थोड़ी देरको आरम्भ छोड़कर आहार दे दिया, जब आहार करके मुनि चले गए तो अपना फिर रसोईका काम कर लिया। उसमें यह बात न होना चाहिये कि बीचमें ही चूल्हा बुझाकर राख साफ कर दिया और चूल्हा पोत दिया। यह तो बनावटमें आ जायगा, क्योंकि रोज तो इस तरहसे चूल्हा पोतकर नहीं रखते थे। यदि जलती हुई आगको देखकर अंतराय मान लिया जाय तो फिर सुगम आहारका मिलना बड़ा कठिन पड जायगा। हां ज्वाला वाली आग न हो। बनावटीपनकी बढ़वारीसे मुनिधर्मके प्रसारमे कुछ कमीसी आ गई है। नहीं तो कितने ही मुनिराज हो, आहारदान शुद्ध होना चाहिए। बहुतसी बातें जो की जाती हैं विडम्बना की, जिनमे कष्ट है, उनको नहीं करना चाहिए। गृहस्थकी ओरसे जो दोष होते हैं वे बतला रहे हैं।

(३५९) परिवर्तित नामका उद्गम दोष—(११) एक होता है परिवर्तित दोष। कोई चीज किसीको देना, उसके एवजमें कोई दूसरी चीज उससे लेकर आहारदान देना, जैसे अपने घरमे मोटे चावल हैं और किसी दूसरेके घर जरा अच्छे वाले चावल हैं तो उन्हें बदलकर आहारमे देना, यह परिवर्त दोष कहलाता है। देखिये—सब जगह एक कुन्जी मिलेगी कि गृहस्थको कष्ट न होना चाहिए। वह बनाये सीधा अपने लिए शुद्ध भोजन और उसी बीच भोजन करके मुनिराज चले गए, सो तो ठीक है, पर किसीसे चीज सामान अदल-बदलकर आहार लगाना यह परिवर्त दोषसे सहित होता है।

(३६०) अभिहृत नामक उद्गम दोष—(१२) बारहवां दोष है—अभिहृत दोष। किसी दूसरे गांवसे या किसी दूसरे मौहल्लेसे बना हुआ आहार आया हो वह आहार भी मुनि के लिए योग्य नहीं। देखिए सीधी पंक्तिमे दूसरे घरका आहार तो आ सकता है, पर कहीं सड़क पार करना पड़े या अनेक मार्गोंसे कैसा ही घूमकर आना पड़े इस प्रकारका आहार यहां योग्य नहीं बताया। कुन्जी क्या है कि गृहस्थको कष्ट न होना चाहिए। कई गलियां छोड़कर आना है तो बचाकर आयगा, देखकर आयगा, उसे थोड़ा कष्ट होगा तो वह आहार योग्य नहीं। इन दोषोंके वर्णनसे आप निरखते जायें कि मुनिका आहार कैसा सुगम आहार हुआ करता

है ।-बस फर्क इतना है कि भोजन शुद्ध हो, मर्यादित हो, गृहस्थको कुछ आभास ही न हो कि कष्ट है, पर जहां ऐसी बनावट चल गयी कि कोई अगर दो तीन दिन आहार दे तो वह इतना थक जायगा कि कहो कुछ ज्वरसा भी आने लगे या चोका बंदसा करना पडे, तो ऐसा आहार न हो । बन रहा है शुद्ध । उसीमे पहुच गए, हो गया आहार । इन बातोंसे मुख्य बात एक यह लेना कि आपका बनता हुआ आहार है उसीमे पहुच जाय और उस बनते हुएके समयमे ही थोडी देरको वह आरम्भ कार्य बद करके आहार दे दिया तो उसमे कोई बनावट नही आती । मगर बहुत सुबहसे अधेरेसे आहार तैयार करना और एक घटा पहले तैयार करके रख लेना और फिर रसोईघरको पोतकर साफ कर देना, यहा तक कि वहा राख तक भी न दिखाई दे तो यह तो एक कष्टकी चीज है और बनावटकी चीज है । यह शिवपंथमे अप्राकृतिक बात है, पर कुछ जिनको ज्ञान ध्यानसे फुरसत नही वे मुनिजन कुछ अधिक निगरानी नही करते, सीधे थोडा क्षुधानिवृत्ति की और वापिस आकर ज्ञान ध्यानमे लग जाते । कही-कही तो चौकेका सोला देखते ही बनता । वह सोला ऐसा चलता कि जिसमे बडी छू छैया चलती । चौकेकी लकीरसे जरा भी हाथ या पैरका अग लग गया या जरा भी किवाड वगैरहसे धोती छू गई तो बस चौका अशुद्ध । चौकेकी लकीर पार करना हुआ तो उसमे भी कई उचककर जाते । भला बताओ चौकेकी शुद्धिमे इतन छुआछात बढ़ा रखनेको क्या आवश्यकता थी ? अरे मुनियोका आहार तो जगलोमे भी हुआ करना था । जगलोमे तो अनेको पशु-पक्षी पास भी आ जाया करते थे । बताओ उनसे भी अशुद्ध हो गए क्या ये घरके लोग ? अरे उनसे तो अधिक शोध है ही गृहस्थके घर । तो मुनियोका आहार तो एक उत्सर्ग मात्र है, पर एक इतना बडा शोध बढा दिया कि जो एक मर्यादासे अधिक है तो वह सब बनावट फिर एक तीर्थके मुनिधर्मके प्रसारमें बाधक हो जाती है । तो इन दोषोसे यह ज्ञान होता कि श्रावकको कष्ट न होना चाहिए ऐसा आहार मुनिके लिए योग्य है ।

(३६१) उद्भिन्न एवं मालारोहरण नामके उद्गम दोष--यह जीव निराहार स्वभावी है । आहार करना इस जीवका स्वभाव नही है, इस कारण जो तत्वज्ञानकी रुचिसे निराहार रहकर समाधिमे स्थित होते है वह कार्य तो अपूर्व ही है, किन्तु जो कर्मविपाकवश समाधिस्थ होनेमे समर्थ नही हैं, क्षुधाकी वेदनासे अधीर हो जाते है उनको आहार करना आवश्यक हो जाता है । सो यदि अपनी आयु बढानेके लिए अर्थात् मैं खूब जिन्दा रहू इसके लिए या शरीर की पुष्ट करनेके लिए आहार करता है तब तो वह मुनिके व्यवहार धर्ममे नहीं आता, किन्तु संयमके प्रयोजनसे आहार चर्या करता है, तो वह व्यवहार चारित्रका अग बनता है । मुनि किस प्रकार आहार करे, कौनसे दोष टाले, यह प्रकरण चल रहा है । १६ उद्गमके दोष उनमे

श्रावक करता है, जिन दोषोका भागी श्रावक है उन दोषोंका वर्णन चल रहा है। १३—तेरहवाँ दोष है उद्भिन्न। जो भोजन उघड़ा पड़ा है, ढका नहीं हैं उसे उद्भिन्न कहते हैं। जो उघडा पडा हो भोजन वह उद्भिन्न दोष क्यो है, कि उसमे हिंसाका सम्भय रहता है। कोई मक्खी बैठ जाय, मच्छर बैठ जाय तो उसको हिंसाका आश्रव जानकर मुनिजन उस आहारका त्याग कर देते है। (१४) चौदहवाँ दोष है मीलारोहण। मुनि आहार कर रहे हैं, उस समय श्रावकका भाव हुआ कि अटारी पर मटकेमे लड्डू रखे है वे भी मँगाकर आहार दें, तो वह सीढ़ी पर चढ़ेगा और वहाँसे उतरेगा तो ऐसा लाया हुआ आहार मुनि नही लेते। उसमे दोष क्या आता कि यदि यह परम्परा रही कि सीढीपर जल्दीसे चढे, फिर जल्दीसे उतरे, इसी प्रसगमें कहीं पैर फिसल गया तो पैर टूट सकता है या कुछ भी चोट आ सकती है, इस प्रकारका आहार मुनिके योग्य नही है।

(३६२) **आच्छेद्य व अनिसृष्ट नामके उद्गम दोष**—(१५) पंद्रहवां है आच्छेद्य दोष किसी राजा या चोरके भयसे कोई चीज छिपाकर यदि मुनिको दी जाती है तो वह आच्छेद्य दोष है। जैसे किसी चीजके प्रति राजाज्ञा है कि नही दे सकते, यो ही चोरोका भी डर है। अकाल जैसे जमाने भी अनेक आते कि दे रहे आहार, उन दिनो लोग भूखो मरते हैं, कहो हाथपर रखी हुई चीज भी उठा ले जायें, सभी तरहके जमानेकी सम्भावनासे बताया जा रहा है कि लुक छिपकर यदि मुनिको कोई चीज दी जा रही है तो उसमे आच्छेद्य दोष है, क्यो कि इसमे मुनिके सिंहवृत्ति नही रहती। (१६) सोलहवा दोष है अनिसृष्ट दोष। घरके मालिक की सम्मति बिना जो आहार दिया जाता है उसमे अनिसृष्ट दोष है। यदि घरका मालिक नही चाहता और उस घरके बच्चोका भाव है कि मैं आहारदान दूं तो वह सदोष आहार है। मालिककी सम्मति अवश्य होनी चाहिए।

(३६३) **उद्गम दोष टालनेके लिये श्रावकोंको प्रतिबोधनकी आवश्यकता**—उक्त प्रकार १६ उद्गम दोष है। ये श्रावकके आश्रित दोष होते है। इनके जिम्मेदारी श्रावकके ऊपर है। इसीमे आया है वह उद्दिष्ट दोष जिसकी जिम्मेदारी श्रावकपर है। यदि मुनिधर्मसे प्रेम हो तो आज उद्दिष्टका नाम लेकर मुनि धर्मका विरोध करने वाले श्रावकोंको फटकारते कि हे श्रावक, शुद्ध भोजन कर ताकि उद्दिष्ट दोष न लगे तो एक श्रावकको तो बोलते नही, न स्वय शुद्ध भोजन करते और आलोचना करते तो नियमसे यह खोटे भाव पूर्वक ही प्रचार प्रसार कहलायगा, क्योकि जब उद्दिष्ट दोष श्रावकके आश्रित हैं तो यदि खुद श्रावक है तो उसे अपनी गल्ती महसूस करना चाहिए। तो श्रावकको अधिक उपदेश करते कि उद्दिष्ट दोष न आ सके। मुनिको तो नवकोटिविशुद्ध आहार करनेसे दोष नही रहता।

(३६४) प्रारंभिक सात उत्पादन दोष—अब १६ दोष हैं उत्पादन दोष। ये दोष मुनिके आश्रित हैं, मुनि करता है इन दोषोंको। सो उस आहारको मुनि नहीं लेता। (१) पहला दोष है धात्रीवृत्ति। गृहस्थको बच्चोंके पालनकी कलाका उपदेश देकर, बताकर प्रयोग कराकर गृहस्थको प्रभावित करना, फिर प्रभावित कर जो आहार लिया जाय वह धात्री दोष है। ऐसी एक कल्पना करो कि बहुत गरीब जनता है तो मुश्किल पडता है खुदका भी जीवन निर्वाह करना, तब ही लाजवश देना ही पडता ऐसा आहार। किसी क्षेत्रमे आहार मिलनेकी सम्भावना नहीं है तो आहार मिले इसके लिए मुनिजन कोई अपनी चतुराई बनायें तो वह दोषीक माना गया है, उसीमे यह एक धात्री दोष है। बच्चोंको ऐसा पाले, ऐसा खिलावे ऐसी बात कहकर एक गृहस्थका अनुराग बने ताकि वह आहार प्रक्रिया बनाये यह धात्रीदोष है। (२) दूसरा दोष है दूतत्व, दूतपना। मुनि आहारको जा रहे हैं तो यहाँके किसी आदमी का संदेश लाना और वहाँ सुनाना, वह तुम्हारा अमुक सम्बन्धी है, उसने तुमको यो कहा है, ऐसा कुछ व्यवहार बनाकर अनुराग बढ़ाना गृहस्थका यह दूतदोष कहलाता है। (३) तीसरा दोष है भिषग्वृत्ति दोष, वैद्यपनेकी वृत्ति। लोगोंको अनेक प्रकारकी दवाइयाँ बताकर आहार ग्रहण करना यह भिषग्वृत्ति दोष है। आशयकी बातें हैं, यह बात कभी किसीको बता भी दे पर आशयमें उसके एवजमें अपने आहारका जोग जुडाना, यह न हो तो यह बात नहीं आती मगर इसमें अपने आहारका जोग जुडाना, यह आशय बनता है तो यह सब दोष कहलाता है। (४) चौथा है निमित्त नामका दोष। निमित्तकी बातें दिखाकर श्रावकोंको अपनी ओर आकर्षित कर आहार लेना। जैसे ग्रह, तिल, मस्सा, हस्तरेखा आदिक, स्वप्नके फल वगैरह बताकर आहार ग्रहण करना, यह निमित्त दोष है। (५) पाँचवाँ है इच्छाविभाषण दोष। कोई श्रावक पूछता है—क्या कुत्तोंको रोटी खिलानेसे पुण्य है ? पुण्य हो या पाप हो, यह बात अलग है, मगर यह मुनि उस आश्रयसे उसकी इच्छाके अनुसार बोलते हैं—हाँ पुण्य है, ठीक है, मायने किसी प्रकार श्रावक आकर्षित हो, राजी हो और फिर वहाँ आहार लेना, यह इच्छाविभाषण दोष है। (६) छठा दोष है पूर्वस्तुति दोष। श्रावककी कुछ प्रशसा कर देना, अहो सेठ तुम जगतमे प्रसिद्ध दातार हो···यो कुछ भी वचन बोलकर उसे हर्ष उत्पन्न कराना और वहाँ आहार लेना यह पूर्वस्तुति दोष है। यह दोष इस ध्यानसे जल्दी समझमे आयगा कि मानो कहीं आहारकी व्यवस्था नहीं बनती है, कम बनती है तो वहाँ ऐसा जोग जुडाने की यदि मुनि चेष्टा करता है तो यह सब दोष है। (७) सातवा है पश्चात्स्तुति दोष। आहार करने बाद उस गृहस्थकी प्रशंसा करना—तुम बहुत धर्मात्मा हो, बहुत दानी हो, मुनियों के प्रति तुम्हारा बड़ा ख्याल है, यों किसी प्रकार स्तवन करे, मानो ऐसा तैयार कर देना कि

हम अभी कई दिन आगे पड़े हैं, सो व्यवस्था बनती रहेगी, यह पश्चात्स्तुति दोष है।

(३६५) अंतिम नौ उत्पादन दोष — (८) आठवां है क्रोध दोष—क्रोध दिखाकर आहार करना क्रोध दोष है। आहारकी ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं बनती सो खूब डांटना फटकारना, इस तरहसे आहारविधि कराना क्रोध दोष है। (९) नवां है मान दोष—मान घमंड दिखाकर आहार करना यह सब क्या चतुराई है? वह दोषमें है। (१०) मायादोष—माया दिखाकर कुछ कपट वृत्ति कर किसी प्रकार आहार प्राप्त करना माया दोष है। (११) लोभदोष—लोभ दिखाकर आहार प्राप्त करना लोभ दोष है। आहारदान करनेसे अमृत मिलेगा, भोगभूमिके जीव बनोगे कुछ बात कहकर उसका जोग जुडाना यह लोभदोष है। (१२) वश्यकर्मदोष वशीकरणका, मन्त्र-तंत्रका उपदेश देकर आहार प्राप्त करना वश्यकर्म दोष है। गृहस्थोंमें झगडे तो चलते हैं। कोई स्त्री चाहती है कि पति वशमें नहीं है, उल्टा चलता है, यह मेरे वशमें हो जाय, तो वह स्त्री उस मुनिसे कहे और वह उसे उसका उपाय बताये—ऐसा जाप जपो, अमुक तंत्र करो और फिर आहार ले, ये सब दोष हैं। प्रथम तो कहना ही न चाहिए और फिर आशय बनाया आहारका तो यह दोष है। (१३) तेरहवां दोष है स्वगुणस्तवन। अपने ज्ञान, तप, जाति कुलका वर्णन करके अपनी एक प्रशंसा द्वारा लोगोंके दिलमें यह बात बैठाना कि यह बहुत ऊँचे साधु हैं, फिर आहार प्राप्त करे तो यह स्वगुणस्तवन दोष है। (१४) चौदहवां दोष है विद्योपजीवन दोष। सिद्ध की हुई विद्याको दिखाकर आकर्षण कर आहार ग्रहण करना यह विद्योपजीवन दोष है। (१५) पंद्रहवां दोष है मंत्रोपजीवन दोष—मंत्रोंका उपदेश देना, कोई लोग आकर पूछें कि मेरी बडी गरीबीकी स्थिति है, अब मेरा कोई काम-काज नही चल रहा, मेरे पास कैसे धन हो जाय? तो वह उसे जंत्र मन्त्र बताये और फिर उनके यहां आहार ग्रहण करे तो यह मंत्रोपजीवन दोष है। (१६) सोलहवां दोष है—चूर्णोपजीवन दोष जैसे मंत्रादिक बताकर आहार लिया, ऐसे ही अनेक प्रकारके चूर्ण आदिकका उपदेश देकर या अन्य कोई आजीविकाकी वस्तुके बतानेका उपदेश देकर फिर आहार ग्रहण करे तो यह चूर्णोपजीवन दोष है। तो सोलह दोष तो गृहस्थोंके आश्रित थे, ये १६ दोष पात्रके आश्रित हैं। इन्हें कोई मुनि करता है। यहां तक ३२ दोष बताये गए।

(३६६) अशन सम्बन्धी दस दोष—अब १० दोष देखिये आहारसम्बंधी। १—शंकित दोष—जिस भोजनके बारेमें शंका हो जाय कि यह शुद्ध है या अशुद्ध है, फिर उस भोजनको न लेना चाहिए। (२) म्रक्षित दोष—चिकने हाथसे या चिकने बर्तनसे जो आहार दिया जाय उसमें म्रक्षित दोष लगता है, क्योंकि चिकनेका प्रयोग करनेसे कोई मक्खी, मच्छर वगैरह उड़ता हुआ चिपक जाय तो उसमें हिंसाका संदेह है। (३) तीसरा है निक्षिप्त दोष—निक्षिप्त

वस्तुपर भोजन रखा हो तो वह निक्षिप्त दोष है। वह आहार नही लिया जा सकता। (४) चौथा दोष है पिहित दोष। सचित्त पत्ते आदिकसे ढका हुआ जो भोजन है उसमे पिहित दोष है। वह भोजन भी नहीं लिया जा सकता। (५) पाँचवाँ है उज्झित दोष याने ज्यादह गुरु पदार्थ हो या जिसमे से थोड़ा ही खाने योग्य पदार्थ हो, बाकी सब फेंकना पडता है, ऐसा आहार मुनि नही लेते। ऐसे आहारमे उज्झित दोष होता है। (६) छठा है व्यवहारदोष—जल्दी-जल्दीमें जैसे मुनि आ रहे हैं तो केवल हडबडाहट होती है या आदर अधिक करनेका भाव होता हो उस समय झट-झट काम करे बर्तन घसीटने, वस्त्र घसीटने आदिके तो यह व्यवहार दोष कहलाता है। (७) सातवाँ है दातृ दोष—याने कैसा व्यक्ति आहार देने वाला होना चाहिए, उसके विरुद्ध हो तो वह दातृ दोष है। जैसे कोई शराबी हो व शराब पी लेने से बेहोश हो गया हो या अंधा हो या मृतक श्मशानमे गया हो, तीव्र रोगी हो, जिसके शरीर में फोड़ा फुसीके बड़े-बड़े घाव हों, जिसने मिथ्यादृष्टिका भेष रखा हो" ये सब अयोग्य दाता हैं अथवा ५ मासमे अधिक जिस स्त्रीके गर्भ हो, वेश्या हो, दासी हो, पर्देके भीतर छिपकर खड़ी हो आदिक अनेक अयोग्य दातार हैं। अयोग्य दातासे आहार ग्रहण करना दातृ दोष कहलाता है। ८वाँ अशन दोष है मिश्र—जिस आहारमे छह कायके जीव मिल गये हो वह मिश्रदोषदूषित अशन है। ९वाँ अशनदोष है अपक्व—अग्नि आदिसे जो पक न पाया हो, कच्चा हो, जिसके वर्ण गंध रसादि परिवर्तित न हुए हो वह अपक्व दोषदूषित अशन है। १०वाँ अशनदोष है लिप्त—घी आदिसे लिप्त चम्मच आदिसे जो आहार दिया जाय अथवा अप्रासुक जल मिट्टी आदिसे लिप्त बर्तनोसे आहार दिया जाय तो वह लिप्तदोषदूषित अशन दोष है।

(२६७) मुनिको आहारप्रक्रियामें टालने योग्य चार अन्य दोष—साधु जनोको ४६ दोष टालकर आहार करना चाहिए, यह प्रकरण चल रहा है जिसमे ४२ दोषोका वर्णन हो चुका। १६ उद्गम दोष और १६ उत्पादन दोष और १० एषणा दोष। अब शेषके चार दोषोंका वर्णन करते हैं। ये चार दोष महादोष हैं। सबसे अधिक महान दोष तो अधःकर्म है। वह तो इतना बड़ा दोष है कि उसे दोषमे नही कहा, किन्तु वह तो अगमे आता है। इन चार दोषोंमे प्रथम दोषका नाम है सयोजन। स्वादके लिए भोजनको एकमे दूसरा मिला देना वह संयोजन दोष है। जैसी ठडी वस्तुमे गर्म मिलाना, गर्ममे ठडा मिलाना, यह सयोजन दोष अनेक रोगोका कारण है और इसमे असंयम होता है। दूसरा दोष है अप्रमाण दोष। विधि यह है कि आहार आधा करना चाहिये। इसे कहते हैं आधा पेट आहार करें, चौथाई पेट पानीसे भरें और चौथाई पेट खाली रखे, जिसमे वायुका सचार होता रहे। इसके विरुद्ध

अगर अधिक आहार करे तो वह अप्रमाण दोष है। इस अप्रमाण दोषसे क्या नुकसान है ? ध्यानमें भंग रहेगा, अधिक खानेसे आलस्य आयगा, पड़े रहेंगे, अध्ययन न कर सकेंगे। शरीर में पीड़ा होगी, निद्रा अधिक आयगी, आलस्य विशेष होगा तब मोक्षमार्गमें प्रकट बाधा है, इस कारण आहार करना इस ढगसे बताया गया है। आधा पेट भोजन, चौथाई पेट पानी और चौथाई खाली। तीसरा दोष है अङ्गार दोष। जैसे भोजन रुचिकर हो ऐसा भोजन मिले तो रागभावसे उसे खाना, रुचिसे प्रेमसे मौज मान करके खाना यह अङ्गार दोष है, क्योंकि साधुवोंको इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें रागद्वेष न करना चाहिए। एक क्षुधानिवृत्तिके लिए आहार है, इसी कारण इसका नाम गर्तपूरण वृत्ति है। जैसे कि कोई गड्ढेको भरना है तो उसमें ईंट डालो तो, मिट्टी डालो तो, इसमें कोई यह ख्याल नही करता कि अरे इसमें कूडा क्यों डालते ? चाहे टूटी ईंट डाले, चाहे कुछ डाले, कुछ भी पड़े वह गड्ढा भरना चाहिये, तो ऐसे ही साधु जन अपनी इस क्षुधानिवृत्तिके लिए गड्ढा जैसा भरते चाहे नीरस मिले, चाहे सरस मिले। हाँ इतना यहां विवेक रहता कि अशुद्ध ग्रहण न करेगा, उसमें इष्ट अनिष्टका भाव न रखेगा। अगर रागभावसे सेवन करे तो अङ्गार दोष है। चौथा दोष है धूमदोष। कुछ अच्छा न मिले, नीरस मिले, अनिष्ट मिले तो द्वेषपूर्वक उस आहारको करे, मनमे बुरा लगता, बराबर क्रोध भी आता जा रहा और कर रहे हैं तो यह धूमदोष है। ये चार दोष भी साधुजन बचाते हैं।

(३६८) आहार लेनेके मुनिके प्रयोजनका दिग्दर्शन—आहार लेनेका प्रयोजन है क्षुधा की शान्ति। खूब रसवान भोजन करनेपर जो रसीले भोजन करते हैं वे ही बतायें कि उनको लाभ क्या मिलता है बादमे, केवल एक रागवश करते हैं और लाभकी तो बात छोडो, नुक्सान ही पाते हैं। तो आहार करनेका प्रयोजन है क्षुधाकी शान्ति। यह साधुवोंकी चर्चा चल रही कि जिनको आत्माके ध्यानकी धुन लगी है, इस ज्ञानप्रकाशमें ही रहनेका जिनका प्रयोजन रहा करता है उनको कहाँ ऐसी फुरसत कि आहार करनेमें मौज मानें, राग करें ? हाँ क्षुधा एक ऐसी वेदना है कि आहार बिना जीवन नही चलता। तो क्षुधाकी शांतिके लिए आहार करना साधुवोंका होता है। आहारका प्रयोजन है कि थोडा बल रहेगा तो आवश्यक कार्य अच्छी तरहसे किए जा सकते हैं। वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि ये भले प्रकार होते रहें, इसके लिए आहार ग्रहण करते हैं, क्योंकि यह मानवजीवन ऐसा है कि जिसमें संयम सधता है, ज्ञानकी विशेष जागृति होती है। तो प्राणोंकी रक्षा रहे तो संयममें प्रवृत्ति चलती रहेगी। असमयमें मरणका फल अच्छा नहीं होता। यहांसे मरकर न जाने किस गतिमें गए, संयम नहीं बने। इसलिए प्राणरक्षाके अर्थ आहार करते हैं, और मेरा धर्म-

पालन हो, चारित्रका पालन हो, अन्य मुनिजनोंकी सेवा करते रहें, इसके लिए मुनि जन आहार करते हैं। आहारका प्रयोजन विषय नही है, किन्तु सयम, सेवा, ध्यान, ये सधते रहें, इसलिए आहार ग्रहण करते हैं। मुनिजन कब कब आहार छोड देते हैं ? ऐसी कौनसी स्थितियां है कि जब वे आहार ग्रहण नही करते ? उनपर कोई बडा उपसर्ग आ रहा हो, कोई बडे भयकी घटना चल रही हो अथवा सन्यास मरण ले लिया हो या अनशन, उपवास, तपश्चरण धारण कर लिया हो अथवा ब्रह्मचर्यमे कुछ दोष लगने जैसा वातावरण बनता हो तो वे आहारका परित्याग कर देते है। तो मुनिजन इन ४६ दोषोको टालकर आहार करते हैं। सो कुन्दकुन्दाचार्य यहाँ उपदेश कर रहे हैं कि दोष टाले बिना अशुद्ध भावसे जैसा चाहे खाकर विषयोमे मौज मानकर खोटी योनियोको प्राप्त होता है यह जीव, इस कारण भावशुद्धिपर ध्यान देना चाहिए।

(३६९) मांसादिवीक्षण, काकाद्यमेध्यपात, वमन व स्वनिरोधन नामके अन्तराय—अब निरखिये कि आहार करते समय या पहले ऐसी कौन सी घटनायें होती हैं जहाँ अतराय कर देना पडता है ? उनका भी परिचय करें। ऐसे अंतराय ३२ हैं उनमे पहला अतराय है कि कोई पीप, हड्डी, मांस, रक्त चमडी, आदिक दिख जायें तो वहाँ अन्तराय है। उनके शरीर पर कोई पक्षी बीट कर दे, चर्याको जा रहे है, कोई उडता हुआ पक्षी बीट कर दे या घरमे आहार होते समय कोई मलोत्सर्ग कर दे तो अतराय हो जाता है। थोडा ही आहार कर पाया, स्वय मुनिको वमन हो जाय तो वहाँ अतराय हो जाता है। कोई पुरुष उन्हे आहार करनेसे रोक दे, कुछ कह दे कि आप मत जाइये मत आहार करें, किसी ढगसे रोके तो अतराय है, फिर वे आहार नही करते।

(३७०) अश्रुपात, पिण्डपात, काकादिपिण्डहरण व स्वक्तसेवन नामके अन्तराय—कोई ऐसा दुःख माने कि आंसू आ जायें या किसीको ऐसा दुःखी देख ले कि जो आंसू डारकर रो रहा हो तो ऐसी स्थितिमे उनके भोजन करनेका भाव नही होता। ये तो अतराय बतलाये जा रहे है, सो इनमें कुछ तो हैं अशुद्धताके कारण और कुछ हैं व्यथाके कारण। या कायरता न जगे इस कारण अंतराय किए जाते है। मुनिजन आहार कर रहे हैं और हाथका ग्रास गिर जाय तो उन्हे अन्तराय हो जाता है। इस अतरायमें कई बातें ऐसी मिलेगी कि अगर अतराय न करें तो यो जचेगा कि इसको खानेमे बडी आसक्ति है। जैसे कौर गिर गया और फिर भी लेते जा रहे हैं तो साधुजनोके लिए यह आसक्ति जैसा सूचक बन जाता है। कौवा आदि कोई पक्षी उनके हाथमे ग्रास उठाकर भाग जाय क्योकि खुले मैदानमें भी उनका आहार होता, हाथपर रोटी रखी गई और कोई पक्षी उड करके कौरको ले जाय तो उन्हें

अंतराय हो जाता। यहाँ यह बात परखते जाइये कि साधु कितना मनस्वी पुरुष है कि उसके खानेके विषयकी लालसा नहीं है, तब ही ऐसी घटनाओंसे वह अन्तराय कर दिया करता है। कोई वस्तु छोडी हुई हो और वह खानेमें आ जाय तो वहाँ अंतराय हो जाता है। जैसे मान लो मीठा छोड रखा हो और दूधमें मीठा पडा हो और भोजनमें आ जाय, क्योंकि दूधमें मीठा दिखता तो नही है। जिस दिन आ गया तो वे अंतराय कर देंगे।

(३७१) पादान्तरालपञ्चेन्द्रियगमन, स्वोदरकृम्यादिनिर्गम व निष्ठीवन नामके अन्तराय—मुनिजन खडे होकर आहार लेते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि वे यह परीक्षा करते हैं कि मेरे पैरोंमें जब तक खडे होनेकी शक्ति है तब तक इस शरीर नौकरकी सेवा की जायगी। जब खडे होनेकी शक्ति न रही तो इस शरीरकी सेवासे क्या लाभ? फिर तो वे समाधिमरण कर लेते हैं। एक तो यह कारण है। दूसरा कारण है यह जो हमको अपने ख्यालसे लग रहा है कि उन साधुवोंको इतनी फुरसत नही है कि वे ऐसा आरामसे खूब बैठकर मौज मानकर खायें। जैसे खेलने वाले बच्चेको आरामसे बैठकर खानेकी फुरसत नहीं, उसकी माँ जबरदस्ती पकडकर बैठा लेती और खाना खिला देती, बडी जल्दीसे वह थोडासा खाना खाता और खेलने निकल जाता ठीक इसी प्रकार मुनिजन जो कि अपने आत्मामें रमण करते हैं, अपने आत्मवैभवसे खेलते हैं उनको इतनी फुरसत नहीं कि वे आरामसे बैठकर खावें। पैरोंके बीचसे कोई पशु या पक्षी निकल जाय तो उनको अंतराय हो जाया करता है। कभी किसी रोगवश उनके पेटसे कीडा मल मूत्र रक्त पीप आदिक कुछ भी निकल जाय तो उनका अन्तराय हो जाता है। वे थूक दें तो अन्तराय है। तब ही क्योंकि समय भोज्यके समय उन्हे कभी थूकते न देखेंगे। एक बात और जानना कि अधिक थूकनेकी आदत बहुत गन्दी है। थूक जब तक मुखके अंदर है तब तक खराब चीज नही है, बल्कि थूक तो एक निरोगताको उत्पन्न करता है, जठराग्नि बढ़ती है, थूक कोई ऐसी अशुद्ध वस्तु नहीं है जब तक मुखके अन्दर है। कभी कोई खाँसी हो, कोई बात हो तो थूक दे सो तो ठीक है, पर जरा जरासी बातमे थूकनेकी आदत भली नहीं होती। तो खास करके आहारके समय अगर थूक दे तो वह अन्तराय हो जाता है।

(३७२) सदंष्ट्रादिदर्शन, उपवेशन, पाणिबन्धरोमादिदर्शन प्रहार व ग्रामदाह नामके अन्तराय—किसी हिंसक जानवरको या किसीभी विशिष्ट घटनाको देख लिया तो अंतराय है। खड़े हैं मुनिराज आहारके लिए, न खड़े रह सकें, बैठना पड जाय तो फिर अंतराय हो जाता है। उनके हाथमें या मुखमें कोई बाल आदिक दिख जाय तो अंतराय है। कोई उनपर प्रहार करे तो अंतराय है। कहीं आग जलता हुआ दिख जाय तो अंतराय है। देखिये यहाँ रसोईघर

मे आग दिखी उसका अंतराय नही आया। खूब ग्रन्थोंमे देखलो कोई बात बहुत बढ़ा चढ़ाकर की जाती है तो वह मर्मको सुगम नही बनाती। रोटियाँ कही आकाशसे नही उतरती। हाँ कोई लकड़ीकी आग ऐसी जले कि जिसमे यह सन्देह रहे कि किसीकी साडी कपडा या कोई शरीरका अंग न जल जाय, कोई प्रकारका अनर्थ न हो जाय, उसका तो टाल होता है, मगर यहाँ बतला रहे हैं ग्रामदाह। ऐसी तेज आग दिख जाय कि जिससे गाव जला जा रहा हो तो वह अंतराय है।

(२७२) अशुभोग्रबीभत्सवाक्श्रवण, उपसर्ग, पात्रपतन, अयोग्यगृहवेशन व जान्वधः स्पर्श नामके अन्तराय—कोई खोटी वाणी बोल जाय या कोई निर्दयताके भयानक शब्द सुनने मे आ जायें तो वह अन्तराय है। कोई उपसर्ग आ जाय तो अन्तराय है। दातारके हाथसे गिरता हुआ कोई बर्तन दिख जाय तो वह अंतराय है किसी अयोग्य घरमे प्रवेश हो जाय, किसी हिंसकके घरमे, क्योंकि उनकी तो चर्या है। मुनि घरमे वहाँ तक जा सकता है जहाँ तक आँगन हो। जहाँ प्रायः अनेक लोग जाते रहते हैं। वहाँ तो द्वार पर ही कोई पड़गाहन करता है तब भीतर जाते हैं। न भी कोई द्वार पर मिले तो भी घरके भीतर वहा तक जा सकता है जहाँ तक प्रायः और लोग भी जाया करते हैं। वैसे भी पड़गाहा हो तो चले जायेंगे चौकेमे, नही तो लौट आयेंगे। तो ऐसे अगर किसी अयोग्य घरमे प्रवेश हो गया तो वह अंतराय है। कभी घुटनेके आस-पास या घुटनेके नीचे कोई मान लो मच्छरने काट लिया हो, किसी भी कारणसे मुनिका हाथ यदि घुटने या घुटनेके नीचे तक चला जाय तो वह अन्तराय है। अब देखना कि कितना वह गम्भीर महापुरुष है। शका कर सकते कि इसमे क्या अंतराय हो गया कि अगर घुटने खुजा लिये? तो देखो—वहा यह बात तो जाहिर होती है कि शरीरमे इसके बहुत तीव्र राग है। चर्यामें जा रहा है सिंहवृत्तिसे और न सहा गया थोडासा भी काटना तो वह बीचमे अपने पैर खुजा रहा है। तो यह स्थिति साधुके लिए शोभायुक्त नही है। वह अंतराय है। ऐसी कुछ घटनायें घटी कि दिल खुद स्वीकार कर लेता है, मनुष्यमे कमी आयी या जीवदया मे कमी आयी, ऐसी घटनाओंको देखकर उनके अंतराय हो जाता है। इस कारण साधुजनों को उपदेश है कि वे योग्य द्रव्य, क्षेत्र काल भाव जानकर उस प्रकारसे चेष्टा करें तो ऐसी शुद्ध निर्दोष चर्यासे तो आत्मध्यानके लिए उमग रहती है और जो इस चर्यामे चल रहे याने उन दोषोंको छुपाकर आहार लें तो उसका भाव अशुद्ध हैं और ऐसे अशुद्ध भावसे रहने पर वह स्फूर्ति नहीं आती है कि जिससे आत्मध्यानके लिए उमग बढ़े। अतः इन दोषोंको टाल कर चर्या करके जीवन यापन करें और आत्मध्यानमें बढ़ें।

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेऽणधी पभुत्तूण।

पत्तोसि तिव्वदुक्खं अरणाइकालेरण तं चित्त ॥१०२॥

(३७४) बुद्धि व दर्पसे सचित्तभक्षणका फल तीव्रदुःखसहन—हे आत्मन् ! तूने बुद्धिहीन होकर याने विवेक छोडकर आहारकी तीव्र इच्छा की । ऐसा गर्व हुआ, अहंकार हुआ या लोभ आया कि सचित्त वस्तुओंको भी ग्रहण किया, तो मुनिव्रत धारण करके भी निर्दोष वृत्ति न रहनेसे अनादिकालसे दुःख ही पाता रहा, अशुद्धतासे दुःख ही पा रहा था, और कभी मुनिभेष भी धारण किया और गृद्धता न छोडी तो वह अपना जन्ममरण नहीं मेट सकता । भोजनकी लम्पटता अज्ञानदशामे होती है । लोकमें कहावत है कि घाटी नीचे माटी, इस गले से जहाँ ग्रास नीचे उतरा कि वह माटी हो गया, लेकिन मोह ऐसा होता कि खाते समय स्वाद लेते वह तो लेते ही हैं, मगर खा चुकनेके बाद भी घंटों या अनेक दिन अपने स्वाद लेने का अहकार बताते हैं कि मैंने ऐसा ऐसा बढिया खाया । अरे जो खाया सो तो मिट्टी हो गया, पर अब वह लगाव रख रहा है । तो अज्ञानदशामें भोजनकी लम्पटता की, बल पाया या कोई चमत्कार पाया तो गर्वसे यथा तथा भोजन किया, बारबार उपभोग कर अनादिकालसे नरकादिक गतियोके तीव्र दुःख पाये । यहाँ तो खूब खाने पीनेका मौज है और मरकर नरक गये तो क्या हाल होगा ? बताया है ना कि "तीन लोकका नाज जु खाय । मिटे न भूख, कणा न लहाय ।" सारा अन्न खा ले नारकी जीव फिर भी भूख नहीं मिटती । मगर वहाँ खानेको एक दाना नही मिलता ।

(३७५) ज्ञानानुभूतिके प्रकरणोंसे ही सुयोग्य सुविधा पानेकी सफलता—जरा अपने आपके बारेमे तो चिंतन करें । आपके इस भिन्ड नगरमें देखनेमे आता कि सभी गलियोमे सैकडो सुवर फिरा करते हैं । उनका सारा शरीर मलसे लिपटा रहता है । उनका मुख हमेशा गदी चीजसे भिडा रहता है, वे कितनी अशुद्ध दशामे हैं । बताओ हम आपकी भी क्या ऐसी स्थिति न हो सकती थी ? या हुई नहीं ? आज हम आप कितना पवित्र स्थितिमे हैं । इन थोड़ा खच्चर गधा, भोटा, भेड, बकरी आदि पशुओंकी दशायें देखो, उनकी अपेक्षा हम आपकी कितनी अच्छी स्थिति है । आपके इस नगरमें तो ऊँट भी बहुत दिखते, जिनके नाकमें नकेल लगी है, जिन्हें लोग डंडोंसे मारते, वे चिल्ला चिल्लाकर इधर उधर भागते फिरते । उनकी अपेक्षा तो हम आप बहुत कुछ ठीक स्थितिमें हैं, सब प्रकारके आरामके साधन मिले हैं फिर भी सन्तोष नही है । तृष्णा बनी हुई है । धन वैभवके संचयका बडा ख्याल रखते है । यदि अपने आत्माके अनुभवकी तृष्णा बन जाय तब तो कल्याण हो जाय, पर यह क्यों नहीं बनती ? मैं अपनेको ज्ञानस्वरूप ही निरखा करूँ ऐसा ध्यान मेरे निरन्तर रहे, यह बात धुनमें आनी चाहिए । तब तो मनुष्य जीवन पाना सफल है, और यदि एक विषयोंकी ऊठ बाठोंमें ही अपना

समय गमाया तो उससे अपनी बरबादी ही है। आज तो मन करता कि अच्छे महल चाहिए, सोफा सेट चाहिए, बड़े ठाठ बाटके साधन चाहिए, पर क्या लाभ मिलेगा उनसे। क्या पहले कभी ये सब साधन नहीं पाये ? अरे कितने ही बार पाये और छोडे फिर भी आज कुछ पास नहीं है। ज्योके त्यो हैं। आज भी बहुत कुछ संग्रह करके धर जायें मगर मरेके बाद क्या है मेरा ? मरे और सब गया। तो बाहरी बातोमे तृष्णाका होना इस जीवपर बडी विपत्ति है। अब आप समझलो, चैन नही पडती। तो जो हो सो हो, जो होगा सो भाग्यके अनुकूल अल्प प्रयाससे हो जायगा। उसके लिए अधिक क्या सोचना ? सोचिये तो अपने आत्मस्वरूपको कि जिसके जाने बिना अनन्त काल भ्रमण किया। तो इस जीवने आत्मज्ञान बिना विषय साधनो में रह रहकर, नरकादिक गतियोंमें उत्पन्न हो होकर अनेक कष्ट पाये। अब हे मुनि तुमने मुनि अवस्था प्राप्त की तो कुछ विवेक जगाओ। अगर विवेक न जगा और दोष होते ही रहे उसी प्रकार दुःख उठाना पड़ेगा जैसेकि भोगते आये। इस कारण अपनी चर्यामे दोष मत लगे, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द देव इस अष्टपाहुड ग्रन्थमे मुनिश्रेष्ठको समझा रहे हैं।

कद मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वे भमिओसि अणतससारे ॥१०३॥

(३७६) **कंद मूल आदि सचित्त भक्षणके फलमें संसारभ्रमण**—हे जीव ! तूने अपनी मान्यताके घमडमे आकर कंद मूल बीज पुष्प पत्र आदि सचित्त पदार्थोंको खाकर अनन्त ससार में भ्रमण किया है। देहबुद्धि होनेसे घमंड बनता है। घमंड आनेसे एक तरहका शौक बनता है और जैसा चाहे खानेकी प्रवृत्ति बन जाती है। सो गर्ववश अनेक प्रकारके अभक्ष्य पदार्थ खाये। अनेक सन्यासी जन मात्र कद मूल खाकर ही अपनेको धर्मिष्ठ समझते हैं सो यहाँ यह जानना कि इसमे तप तो क्या किन्तु हिंसाका दोष लगता है। साधुवोको तो स्वय कोई आरभ का काम करना ही न चाहिये।

(३७७) **पञ्च प्रकारके अभक्ष्य**--अभक्ष्य ५ तरहके बताये गए हैं—(१) एक तो वे अभक्ष्य जिनमें त्रस जीवोका घात होता है, जैसे गोभीका फूल, बाजारकी जलेबी, बाजारकी सडी गली चीजें, और ये अचार मुरब्बा, इनमे त्रस जीवका घात है। तो इनमे एक ख्याल दिला रहे हैं गोभीके फूलका। वह तो छूने लायक भी नहीं है, खरीदनेकी बात तो दूर जाने दो। गोभीके फूलमें बहुत कीट होते हैं, बड़े भी होते हैं, छोटे भी होते हैं, तो उनको जब बनाया, छौंका तो वे सब जीव उसीमे भरता हो गए, मांस बन गया। गोभीके फूलमें मांसका साक्षात् दोष है, वह ग्रहण करने लायक वस्तु नहीं है। (२) दूसरा अभक्ष्य बताया अनंत स्थावरकाय—जैसे सूरन, लहसुन, प्याज, मूली, गाजर आदि ये सब अनन्त स्थावर कायके

पदार्थ हैं, ये अभक्ष्य हैं, मगर इनसे अधिक अभक्ष्य त्रसघात वाले हैं। तो इतना खुद सोच लो कि अगर कोई गोभीका फूल खाता हो तो उसे छोड देना चाहिए, क्योंकि उसमें साक्षात् मांसका दोष आता है। रही यह बात कि अच्छा लगता है तो उसकी भी बात सुनो—एक बार हमने गोभीका फूल खाने वाले एक भाईसे पूछा कि बताओ गोभीके फूलका स्वाद कैसा होता है ? तो उसने बहुत-बहुत बतानेकी कोशिश की, पर सही-सही न बता सका। उसने बताया कि गोभीके फूलमे यों तो कोई स्वाद नही होता, हां मिर्च मसाले आदि पड जानेसे उसमें विशेष स्वाद होता। बताया कि खाली गोभीके फूलका स्वाद तो ऐसा समझो जैसे कि बाजरेके पेडमे ऊपरी भागमें जो एक डठलसा होता उसको यदि आगमे भूना जाय तो उसमे गोभीके फूल जैसे अश निकलते हैं, उनको खानेमे जो स्वाद आता वैसा ही स्वाद गोभीके फूल का होता है। याने जैसे उसमें एक भुरभुरासा स्वाद होता, ठीक वैसा ही स्वाद गोभीके फूल मे होता। गोभीके फूलमे खुदमे कुछ स्वाद नही। अच्छा मान लो गोभीके फूलमे स्वाद हो तो भी उसे न खाना चाहिए। उसमे त्रस जीवोका घात है। अडा और मासकी तरह ही अभक्ष्य इस गोभीके फूलको भी समझो। कोई अच्छी तरह निरखे तो मालूम पडेगा। कुछ तो होते हैं त्रसघात वाले अभक्ष्य और कुछ होते हैं अनन्त स्थावरघातवाले अभक्ष्य। (३) कुछ अनिष्ट कहलाते हैं। चीज शुद्ध है, उसमे कोई दोष नही, मगर किसीको खासी आ रही है खूब तेज तो चाहे कैसी ही शुद्ध बर्फी हो, उसे अभक्ष्य बताया है। किसीके बुखार चढ़ रहा हो तो चाहे कैसा ही शुद्ध पकवान हो उसके लिए अभक्ष्य है इसे कहते हैं अनिष्ट अभक्ष्य। (४) एक होता है प्रमाद (नशा) उत्पन्न करने वाला अभक्ष्य और (५) एक होता है अनुपसेव्य। जिससे कुछ नुकसान भी न हो फिर भी सज्जन पुरुष उसका सेवन न कर सकें, जैसे मूत्र पशुओंका या गायका मूत्र। एक बार तो हमने सुना कि जो आज अपने नामके पूर्व भगवान लगाते हैं उन्होंने खुद लोगोंको औषधि बतायी कि तुम सब लोग अपना-अपना मूत्र पियो। अब कैसी क्या कब तक बात थी सो पता नहीं, तो यह अनुपसेव्य चीज है। लार—मुखसे जो लार गिरती है, तत्कालकी लारमें कोई दोष नहीं है, न कोई जीवहिंसा है, मगर उसे कोई खा सकता है क्या ? अरे वह तो अभक्ष्य है। ऐसे ५ प्रकारके अभक्ष्य होते है। तो जो गर्वमें आकर छककर अभक्ष्यका सेवन करता है वह इस संसारमे परिभ्रमण करता है।

विषयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्ति न पावंति ॥१०४॥

(२७८) त्रियोगसे पञ्चप्रकारविनयपालनका उपदेश—हे आत्मन् ! यदि अपना अभ्युदय चाहता है, सदाके लिए अपनेको संसारके सकल संकटोसे दूर रखना चाहता है तो मन

वचन, कायसे ५ प्रकारके विनयका पालन कर, क्योंकि विनयरहित मनुष्य सुविहित अर्थात् विधिसे प्राप्त होने वाले अभ्युदय और मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकते। विनय ५ प्रकारके कहे गए– (१) सम्यग्दर्शनविनय अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषका विनय, (२) सम्यग्ज्ञान विनय-सम्यग्ज्ञानके धारी पुरुषोका विनय, (३) सम्यक्चारित्र विनय—सम्यक्चारित्रके धारण करने वाले मुनिवरोंका विनय, (४) सम्यक् तपविनय–तपस्वी पुरुषोका विनय और (५) उपचार विनय– पूज्य पुरुषोंके प्रति यथायोग्य हाथ जोडना, यह उपचारविनय है। पूज्य पुरुष सामने दृष्टिगत हो तो उस समय क्या हाथ लटकाये खडे रहकर मेढेकी तरह देखते रहना चाहिये? भावविनयसे गुरुजनोंके प्रति हाथ जोडकर यथायोग्य वचन कहना यह उपचार विनय है। उनके चरणोंमें पडना, चरणोका स्पर्श करना यह उपचार विनय है। जिनके अभिमान है और अपने आपको कुछ समझ रहे हैं अज्ञानवश, ऐसे पुरुष अभिमानसे भरे हुए होते हैं, उन्हें चाहे तुच्छ जीवोके भी हाथ जोडने पड़ें, जैसे ग्राहक आया कोई नीच है, चांडाल है फिर भी हाथ जोड़ें, विनय करें, मनायें, मगर पूज्य पुरुषोके प्रति उनके हाथ नही जुड सकते, महापुरुषोंके प्रति सद्भावना नही बन सकती, गुणप्रमोद नही हो सकता, सद्‍वचन नही कहे जा सकते, यों धर्मके विषयमे इतनी तीव्र कषाय होना अनन्तानुबंधी कषाय कहलाती है। जिनको अपने उद्धारकी भावना है उनका कर्तव्य है कि धर्मीजनोको देखकर उपचार विनय करना। पूज्य पुरुष आ रहे हो उनको आते देखकर उठकर या भले पधारे आदि किसी प्रकार उस शुभागमनके प्रति शब्द कहना, यह उपचार विनय है।

(३७१) **विनयपालनका माहात्म्य व अविनयका फल**—हे निकट भव्य, तू इन सब विनयोंका मन, वचन, कायसे पालन कर। मन भी विनयशील हो, वचन भी नम्र हो और कायकी चेष्टा भी सही हो। विनयका बडा महत्त्व है। विनयसम्पन्नता तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत सोलह कारण भावनाओमे दूसरी भावना है विनयसम्पन्नता। विनयका इतना माहात्म्य है। इन भावनाओंके प्रतापसे जिसके तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है। तीर्थंकर प्रकृतिके बध बिना भी मोक्ष होता है, किन्तु एक यह विशेषता है कि उस आत्माका विशिष्ट सद्‌भाव है कि जिसके प्रतापसे तीर्थंकर होता हुआ मोक्षको प्राप्त करता है। किन्तु विनयरहित पुरुष न तो सांसारिक अभ्युदय प्राप्त कर पाते हैं और न मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। इस कारण हे निकट भव्य! तू त्रियोगसे पच प्रकारके विनयोका पालन कर।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपर विज्जावच्च दसवियप्प ॥१०५॥

(३८०) **मुनिवरोंको दशविध वैयावृत्य करनेका उपदेश**—हे महायश, हे साधुजन, अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिसे, अनुरागसे जिनभक्तिमे तत्पर पुरुषोकी वैयावृत्ति करो। पहले बताया गया था, वैयावृत्तिके १० भेद हैं—आचार्यवैयावृत्य, उपाध्यायवैयावृत्य आदि। उन १० प्रकारके धर्मात्माजनोकी तू विनयपूर्वक वैयावृत्ति कर। जिसको धर्मके प्रति प्रेम होता है उसका धर्मात्माजनोसे लगाव होता है। यह एक प्राकृतिक बात है। जिसको पुत्रमे मोह है उसको पुत्र ही पुत्रका स्वप्न आता है। जिसको धर्मकी धुन है उसे धर्मभाव और धर्मभावके धारण करने वाले धर्मात्मा पुरुष इनमे भक्ति पहुचती है। और जिनमें भक्ति पहुची उनकी हर प्रकारसे सेवा करनेका परिणाम रहता है। तू यह तो निर्णय कर कि अपना साथी वास्तवमे है क्या? "धर्म बिन कोइ नही अपना।" खूब निर्णय कर लो, जगतमें अनेको मनुष्य मिलेंगे, मगर उनसे क्या लाभ होता है अपने आपमे विशुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सयमी जनोके प्रति रुचि करते है तो उसका फल उत्तम है, शान्ति है। मगर अवशिष्ट रागवश कर्मबध चल रहा है तो ज्ञानीके सातिशय पुण्यबध चलता है। जिसके उदयमे स्वय ही अनेक ऐसे साधन मिलते है कि जिनमे निश्चिन्त रहते हुए आगे धर्मसाधनामे बढते रहते है।

(३८१) **सर्व परतत्त्वकी उपेक्षाकर ज्ञानानुभवमे लगनेका कर्तव्य**—एक बात यहाँ यह जाने कि इस समय भी कोई असुविधा वाले पुरुष नही है, जो भी बैठे है सभी समाजके बन्धु यथायोग्य सुविधा वाले है और तृष्णाके द्वारसे देखे तो किसीको भी शान्ति नही है और शान्ति रखकर मोक्षमार्गमे बढ़नेकी रुचि हो तो सबके लिए सुविधा है। जितना भी कुछ अर्जन होता है उतने ही मे गुजारा करते हुए धर्ममार्गमे आगे बढ सकते है। कोई कहे कि हमारे पास कुछ सामग्री नही है कि हम भले प्रकार गुजारा करलें तो जरा अपनेसे अधिक गरीबोपर दृष्टि करके तो देखें, कममे भी गुजारा होता कि नही। अरे ससारकी अन्य स्थितियोपर क्या ज्यादह ध्यान देना। जो कर्मोदयका मजूर है सो हमे मजूर है, क्योंकि उसमे मेरा कुछ लगाव नहीं। मुझमे यह कला है कि जो भी स्थिति होगी उसीमे गुजारा कर सकेंगे। आत्मानुशासनमे बताया है कि कर्म ज्यादहसे ज्यादह कष्टकी बात कोई कर सकेंगे तो दो बातें कर सकेंगे (१) निर्धनता और (२) मरण, किन्तु ज्ञानी यह कहता है कि मैं तो निर्धनता और मरण दोनोका स्वागत करता हू। उसको अन्तरगमे ऐसा ज्ञानबल मिला है कि वह निर्धनतामें अधिक आनन्दमग्न रह सकता है। और मरणको समझता है कि यह तो माया स्वप्नकी बात है, मेरा कही मरण हो सकता है क्या? मैं तो सद्भूत पदार्थ हू। किसीकी भी सत्ताका कभी नाश नही हो सकता। मेरा मरण ही नही है। जैसे कोई पुरुषा

कमरा बदलकर नये कमरेमें पहुचता है, ऐसे ही यह मैं पुराने शरीरको छोडकर नये शरीरमे पहुंचता हू। फिर एक बात और समझें—जन्मके बाद किसीका कल्याण नही होता, मरणके बाद कल्याण होता है। जन्मके बाद मोक्ष कभी नही मिलता, मरणके बाद मोक्ष मिलता है। मरणशून्य जन्म कोई नही होता, पर जन्मशून्य मरण हुआ करता है। तो जन्म और मरण इन दोनोकी तुलना करें तो मरणका महत्त्व विशेष है। जो निर्धनताको ही वास्तविक धनिकता समझें और मरणको ही अपना सत्य जीवन समझें उनके लिए कर्म और क्या करेंगे ? तो धर्मके प्रति जिनको अनुराग है उन धर्मात्मा जनोकी भक्ति सेवामे रहे। सेवाका विशिष्ट पुण्य भी होगा और परम्परामे मोक्ष भी प्राप्त होगा।

ज किंचि कय दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण।
त गरहि गुरुसयासे गारव माय च मोत्तूण ॥१०६॥

(३८२) अशुद्धभावविहित दोषोको मान माया तजकर गुरुसे निवेदन करनेका कर्तव्य—हे मुने ! अशुद्ध भावसे मन, वचन, कायके द्वारा कदाचित् कोई दोष किया गया हो तो घमंड और कपट छोडकर गुरुके समक्ष अपने आपके दोषकी गर्हा करें। अपने दोष अपने मुखसे प्रकट करना बहुत बडे साहसका काम है। इस जीवको यह डर बहुत रहता है कि कही कोई मुझको तुच्छ हीन आचार वाला न समझ ले। हीन आचरण करते हुए ही यह भाव रखते है कि मुझे कोई हीन आचरण करने वाला न समझ ले। उच्च आचरण करने वालेको यह विकल्प नही रहता, फिर जिन्होने इस समस्त समागमको माया समझा है और इससे अपना रंच भी सम्बन्ध नही है, ऐसा जिनका पूर्ण निर्णय है वे अपनी रक्षाके लिए अपने दोषोको अपने मुखसे कहनेमें रच भी सकोच नही करते, क्योकि वे जानते है कि दोष किये जायें, छिपाये जायें, उन्हें प्रकट न करे तो एक दोष करनेकी आदतसी बन जाती है और फिर मुझे तो चाहिए समस्त संकटोसे मुक्ति, आत्माके सहज सत्य स्वरूपका विकास। इतने बडे वैभवके पानेके समक्ष दोष प्रकाशन यह कुछ महत्त्व नही रखता ऐसा लोकदृष्टिमे कि जिसे छिपाया जाय। तो हे मुने ! तू साधु है, साधना करने वाला है, दोष कदाचित् लगते रहते हैं, पर किसी प्रकारका दोष लगा हो तो उस दोषको अपने गुरुके समक्ष अभिमान और कपट छोडकर प्रकट करें। दोष छिपानेके दो कारण होते है। मुख्य कारण है अभिमान। जिसके अभिमान है वह इस मायापर अपने दोष मुखसे प्रकट नही कर सकता। दूसरा कोई ऐसा समझकर कि दोष तो कुछ बताना ही चाहिए तब वे दोष दूर होगे अन्यथा उनके जबरदस्त पाप लगा रहेगा। दोष बढते रहेगे तो इस लोभसे भी कुछ दोष कहना भी चाहिए, किन्तु अन्तरंग की कषाय नहीं छूटी, वह हीन आचरण वाला अपनेको हीन सिद्ध नही करना चाहता, इस-

लिए वह कुछ कपटसे बोलता है। कुछ दोष छिपा लेता है और कुछ दूसरे ढंगसे कहता है। वचनोंकी कला नाना तरहकी होती है। किन्तु हे मुनि तू किसी प्रकारका कपट न करके और रंच भी अभिमान न रखकर तू यथार्थ जैसाका तैसा दोष प्रकट कर दे।

(३८३) **बालकवत् सरलतासे आलोचना करनेका प्रभाव**—सरलतासे तथ्य कह देना यह गुण बच्चोंमे पाया जाता है, उनसे कोई दोष हो गया हो तो पच बैठे हो वहाँ भी अपने दोष कहनेमे उन्हे कुछ सकोच नही होता। उन्हे कुछ पता ही नही है कि ऐसा कठिन दोष होता है जो छुपाने लायक है। यह बात बच्चोंके हृदयमे नही होती है। बच्चे तो बिल्कुल सीधे सरल होते हैं। एक ऐसी घटना है कि एक बाबू साहब किसी सेठके कर्जदार थे। एक दिन बाबू साहबने अपने घरकी खिडकीसे देखा कि वह सेठ तकादा करनेके लिए आ रहा है, वह कुछ तग करेगा सो उसने अपने बच्चेसे कह दिया कि बेटा, तुम बाहर चबूतरेपर खडे हो जावो। देखो वह सेठ आ रहा है। वह अगर हमको पूछे तो कह देना कि बाबू जी घरमें नही है। ठीक है। जब वह सेठ द्वारपर आया और उस बच्चेसे पूछा कि क्या बाबू जी घरपर हैं तो वह बच्चा बोला—नही, बाबू जी घरपर नही है। कहाँ गए ? तो वह बच्चा बोला—अच्छा ठहरो, यह भी बाबू जी से पूछकर बतायेंगे। तो बच्चे कुछ छुपाना नही जानते। बडे सरलहृदय होते है। तो हे मुने उन बच्चोंकी तरह सरल हृदय रखकर तू अपने दोषोंको ज्योका त्यो निकाल दे, अपने गुरुवोंके प्रति आदरकी बुद्धि कर।

(३८४) **गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्तको निःशङ्क पालनेका प्रभाव**—गुरुजन तुझे जो प्रायश्चित्त बतायें उसे आदरसे, उमगसे कर और यह दृढ श्रद्धान रख कि गुरुके बताये हुए मार्ग पर चलनेसे फिर कभी दोष नही आया करते। सो यहाँ मुनि जनोंको अपने किए हुए दोषों की आलोचना करनेका उपदेश किया है। दोष हुआ करते हैं अशुभ भावसे। अशुभ भाव मायने रागद्वेष मोह आदि विकार। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक किसी भी विकार से प्रेरित होकर इस जीवसे दोष हुआ करते है, और उन दोषोंके होनेमे मन, वचन, काय इन तीन योगोंका सम्बध रहता है।

(३८५) **मन वचन काय कृत समस्त दोषोंकी आलोचनाविधि शुद्धि**—कुछ दोष ऐसे होते हैं जो मनसे किए जा रहे हो, कुछ दोष वचन बोलकर लिए जाते है। कुछ दोष शरीरसे ही किए जाते है। इन दोषोंमे बडा अन्तर है, तारतम्य है फिर भी यह कौन निर्णय कर सकेगा किसी दोषके प्रति कि मनसे किए गए दोष छोटे है या बडे ? या शरीरसे किए गए दोष छोटे है या बडे हैं ? अनेक उत्तर आयेंगे और उसका कारण है कि जीवके अभिप्राय नाना तरहके हुआ करते है। मनसे कोई पापकी बात विचारी और उसको न वचनसे बोला,

न उस दोषको शरीरसे किया, वह दोष छोटा माना जा सकता है शरीरसे दोष करे उसकी अपेक्षा। तो शरीरसे दोष बन जाय यह बडा दोष है और मनमे विचार मात्र आया वह कम दोष है, ऐसा क्यो ? कि मनमें विचार आया तो वह थोडा आया। अगर अधिक आता तो वह कायसे चेष्टा जरूर कर डालता। तो जब कायसे दोष किया है तो वह इस बातका अनुमान कराता है कि बहुत बडा दोष बना है। अच्छा, एक घटना और लीजिए एक मनुष्यसे कायसे दोष बन जाता है, पर उसका मन नही है जरा भी दोष करनका, ऐसी भी स्थितियाँ होती हैं। किसीके ऐसा कठिन आग्रह होता है कि वह कायसे दोष बन जाता है मगर मन उससे विरक्त रहता है। तो अब यह निर्णय दीजिए कि कायसे किया हुआ दोष बडा है या मनसे किया हुआ दोष बडा है ? वहाँ कायकृत दोष बडा नही रह पाता। मनसे विचारा तो दोष बड़ा है। तो यो अनेक ढगोसे १०८ तरहके पाप कहे गए वे दोष बनते हैं, उन दोषोकी विशुद्धि के लिए हे मुने ! तू गुरुके समीप दोषोकी यथार्थ आलोचना कर।

दुज्जणवयणचडक्क निटठुरवडुय सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठ भावेण य णिम्ममा सवणा ॥१०७॥

(३८६) आत्महितके अर्थ निष्ठुर कटुक दुर्जनवचन सह लेनेका उपदेश—जिन पुरुषो को आत्माके सहज स्वभावकी रुचि हुई है उन दिगम्बर मुनियोका एक ही लक्ष्य रहना है कि मेरी दृष्टि स्वभावमे ही रमे। ऐसी धुन रखने वाले पुरष दुर्जन मनुष्योके वचनकी चपेट समता से आनन्द पूर्वक सह लिया करते है। वचनोकी चपेट बहुत कठिन चपेट है। हर एक आदमी की बात सह ली जाय, यह जरा कठिन है जिसको ज्ञानबल है, अपने आत्माके स्वरूपकी सुध है, जो सत्यस्वरूप जानता है। मेरा सर्वस्व मुझमे है, मेरा सब कुछ मेरे ही परिणामसे होता है, सर्व कुछ जिसको भली भाँति निर्णीत है उस पुरुसको दुर्वचनकी चपेट सह लेना आसान है। वह तो उल्टे बचन बोलने वाले पर भीतरसे दया रखता है। क्या करे बेचारा, यह तो बडी विपत्तिमे फसा है। इसपर अज्ञानकी विपत्ति छायी है। इसको अपने स्वरूपकी सुध नही है, सो यह सब निमित्तनैमित्तिक भाववश हो रहा है। परमार्थत तो यह परम ब्रह्मस्वरूप चेतन पदार्थ है, मगर कर्मविपाकका ऐसा सयोग चल रहा कि यह घटना घट रही है इसपर। ज्ञानी पुरुष तो खोटे बचन बोलने वालेपर भीतरमे करुणा रखता है, वह उसपर रोष क्या करेगा ? तो हे मुने ! अपने आपके स्वरूपकी सुध रख और किसीपर रोष मत कर।

(३८७) कर्ममलविनाशके अर्थ दुर्जन कटुक वचन सुनकर भी ज्ञानीके क्षोभका अभाव—जो दुष्ट मिथ्यादृष्टि है, नाम मात्रके श्रावक है वे गुरु और देवकी निन्दा करते है और अप्रिय शब्दोसे उनको सम्बोधते है उनको कोसते है, किन्तु उनके निर्दयता पूर्ण ये शब्द ज्ञानी जनोको

चुभते नहीं है। वे जानते हैं कि जैसे किसी मांका कोई बेटा कुपूत निकल गया तो वह बेटा अपनी मांको अटपट शब्द बकता है पर वह मां उससे बुरा नही मानती। वह जानती है कि मेरा बेटा कुपूत निकल गया, इसलिए ऐसे दुर्वचन बोलता है, तो ऐसे ही धर्मात्मा साधु त्यागी ज्ञानी मुनि ये इस धार्मिक समाजके मां है, मानो समाजके सब लोग इनके पुत्र है, उनको कोई निन्दा कर रहे तो वे यह देखते हैं कि मेरे ही परिवारके लोग ये कुपूत पैदा हुए सो उनकी बातका क्या बुरा मानना? वे तो जानते हैं कि ऐसा ही हो रहा। तो ज्ञानी दिगम्बर सम्यग्दृष्टि मुनि अथवा धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अपने कर्ममलको धोनेके लिए दुर्जन पुरुषोंके दुर्वचनोको समतासे सह लेते हैं। वे अपने आपमे क्षोभ उत्पन्न नही करते, क्योंकि ज्ञानी जन जिनको आत्मस्वरूपमे धुन लगी है उनका लक्ष्य इन बाहरी थोथी बातोमे नही जाता। इस कारण इन मुनि जनोको दुर्वचन सुनकर भी क्षोभ उत्पन्न नही होता। सो हे महा मुने! तुमने जब सर्व संगोका त्याग किया है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रामे रहते हो तो कर्ममलके नाशके अर्थ ज्ञानमे रुचि रखकर, ज्ञानकी धुन रखकर अपने इन व्रतोको सफल करो।

पाव खवइ असेस खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरनराणं पससणीओ धुवं होइ॥ १०८॥

(३८८) क्षमाके लिये ज्ञानीका चिन्तन—जो क्षमासे सहित है वह मुनि समस्त पापो का क्षय करता है और जगतमे विद्याधर, देव, मुनि सभी उसकी प्रशंसा करते हैं। क्षमा मायने क्या है? क्रोध न आने देना। क्रोध न आने देवे इसका उपाय क्या है? अपने आत्मा का जो स्वरूप है अविकार स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सहज आनन्दमय स्वरूप, उस चैतन्यस्वरूपमे यह ध्यान रखना कि मै तो यह हू और इस मुझको यह कोई लोक जानता भी नही, जो मेरा वास्तविक स्वरूप है उसे कोई नही जान रहा। तो जब मुझे कोई नही जान रहा तो कोई मुझे गाली ही क्या दे सकेगा? तो अपनेको चैतन्यमात्र अनुभव करें तब ही असली क्षमा आ सकती है। लौकिक क्षमामे तो एकने दूसरेसे माफी मांग ली तो उससे भीतरमे क्षमा हो ही गई सो बात नही है। पर ज्ञान अपने ज्ञानमे आये तो उसने अपनेको क्षमा कर लिया।

(३८९) क्षमा द्वारा आत्माकी मुक्ति—उत्तम क्षमाके द्वारा समस्त कर्म दूर होते हैं। जब ६३ प्रकृतियां नष्ट होती है तब अरहत भगवान होते है। पूजामे कहते है ना—कर्मनकी त्रेसठ प्रकृति नाश। कर्मोंकी ६३ प्रकृतियोंको नष्ट करके अरहत भगवान होते है, फिर बाकी बची ८५, तो उनमे से ७२ का तो नाश अरहत भगवानके उपान्त्य समयमे होता है सो वे सिद्ध हो जाते है। यह सब क्षमाका फल है। जब मुनि थे तब खूब क्षमा धारण किया, अन्तरंग क्षमा, बहिरंग क्षमा। उस क्षमाके कारण कर्मोंका नाश होता है। इसलिए हे मुनि-

करो ! क्षमाको धारण करो । क्षमा होनेसे तत्काल शान्ति है और भविष्यमे भी शान्ति है । गृहस्थ भी क्षमा धारण करता है तो उसको भी परम्परया मोक्ष मिलेगा । तेज क्रोध अज्ञान में होता जब यह जीव जानता है कि यह देह मैं हू और दूसरेको जानता है कि जो देह है सामने वह दूसरा जीव है तो जब ही उसके मुखसे कुछ अपशब्द निकले कि तब ही इसने यह माना कि इसने यह मुझसे अपशब्द बोला और उसके चित्तमे बुरा लगता है तो वह भीतर कुढ़ता है या उसपर प्रहार करता है । दोनो ही दशाओमे इस जीवकी दुर्गति होती है, इस- लिए क्षमाभाव धारण करें । गृहस्थ क्षमाके प्रतापसे स्वर्ग जायगा और वहाँसे चलकर मनुष्य होकर मुनि होकर मोक्ष चला जायगा ।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाण ।
चिरसचियकोहसिहि वरखमसलिलेण सिचेह ।।१०६।।

(३६०) क्षमासलिलसे क्रोधाग्निका शमन—इस ग्रन्थका नाम भावपाहुड है । यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है । वे मुनियोको समझा रहे है । तो जो बात मुनियोको समझा रहे उसे अपनेको भी समझना चाहिए कि हमे भी समझा रहे । हे मुनिवर, हे क्षमागुणधारी मुनिराज तुम मन, वचन, कायसे सब जीवोको क्षमा कर दो । जैसे कोई लोभी पुरुष अपने धनकी हानि समझकर गम खाते है और दूसरेको माफ कहते हैं । चाहे वह कितना ही प्रहार कर रहा हो, पर जहाँ समझते हैं कि इनसे हमको इतनी निधि मिलनी है, वहाँ अपनी शक्ति के अनुसार सब सह लेते है और उसपर क्रोध नही करते । यह तो है लोभी जनोकी कथा । अब ज्ञानी जनोकी कथा सुनो—ज्ञानीको लोभ है तो अपने ज्ञान और धमकी रक्षाका । ज्ञानी जानता है कि दूसरे लोग जो बुरा बोल रहे हैं या प्रहार कर रहे है, यदि मैं उनमे लग जाऊँ तो हमारी ज्ञान और आनन्दकी निधि खतम हो जायगी । हमारा जो आत्मध्यान है वह नष्ट हो जायगा । सो अपनी आत्मनिधि बचानेके प्रयोजनसे ये मुनि ज्ञानी गृहस्थ सब जीवोको क्षमा करते है । तुम्हे जो करना हो सो करो, हमे कुछ प्रयोजन नही । मैं तो अपने इस ज्ञान- स्वभावमें ही रमूगा । तो अपना धर्म बचानेके लिए, अपना ज्ञान और आनन्द सही रखनेके लिए वे सब जीवोको क्षमा करते हैं । सो क्या करें ? चिर कालसे सचित जो क्रोधरूप अग्नि है उस क्रोध अग्निको उत्तम क्षमारूपी जलसे सीचिये याने क्षमारूपी जल क्रोधअग्निपर डाल दीजिये जिससे क्रोध कषाय बुझ जाय । कितने जीवोको क्षमा करें ? क्या इन मनुष्योको ? बाकी मनुष्योको क्षमा न करें क्या ? सब मनुष्योको । तो बाकी पशु-पक्षियोको क्षमा न करें क्या ? अभी कोई मच्छर काट ले तो झट उसे चपटा मारकर खतम कर देते । तो ऐसा करना चाहिये क्या ? नही, सब जीवोको क्षमा करे । एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके सब

जीवोंको क्षमा करें। उन्हें सतायें नही, और उनके द्वारा कोई तकलीफ पहुचती हो तो भी उन्हें क्षमा कर दें। कभी भी किसीके प्रति खोटे भाव मत करें।

(३६१) धर्मधुन में अन्य सबकी उपेक्षा—जिनको अपने धर्मकी रक्षाकी धुन है और अपनेको ज्ञानप्रकाशमे रखनेकी धुन है वह विशुद्ध चिन्तन करता है। यदि दूसरेने गाली दी वह मुनि सोचता है कि इस भाईने मुझे गाली ही तो दी, मारा तो नही, इतनी तो खैर है और कदाचित् उसने पीट भी लिया तो इसने पीटा ही तो है मुझे, जानसे तो नही मारा, यह भी खैर है। कभी जानसे भी मार दे तो वह ज्ञानी मुनि यह सोचता है कि इसने मेरा धर्म तो नही नष्ट किया, आखिर प्राण ही तो नष्ट किया, क्योकि वह तो स्वभावकी धुनमें लगा है—मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नही है, मैं भगवानके स्वरूपकी तरह हू। यहाँ इतना सोचनेकी बात है कि यहाँ तक मुनि जन क्षमाभाव रखते हैं। सो अपनेको शान्तिमे रखना पसद करें, और यह बात तब ही बन सकती है कि दूसरे लोग कुछ भी करें उनको उपेक्षा कर दें। कैसे उपेक्षा बने ? मानो दूसरा अपशब्द बोल रहा तो उसका मुख है, उसका हृदय है, उसका अज्ञान है सो वह अपनी चेष्टा कर रहा है, वे शब्द मेरेमे नही आये, और न उसने मुझको गाली दी। मैं भी यदि उसकी ही तरह अज्ञानी बन जाऊँ तो अपने आप दु:खी होऊँगा। सो हम अपने ज्ञान विवेककी संभाल करें और अपने पर क्षमा भाव लायें।

दिक्खाकालाईय भावहि अवियार दसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराइ मुणिऊण ॥११०॥

(३६२) विरक्तिको कायम रखनेके लिये उपदेश—जो मुनि अपने व्रतके माफिक ठीक नही चल रहा उसे समझाया है इस गाथामे कि हे विचारहीन साधु! इस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिए असार और सार बातको जानो और अपने सम्यग्दर्शनको निर्मल कर। और थोड़ा ध्यानमे लावो कि जब तुमने दीक्षा ली थी उस समय तुम्हारा कितना ऊँचा भाव था, अब उसी भावमे रहो। प्राय: ऐसा होता है कि जब कोई दीक्षा लेता है तो उस समय उसके बहुत ऊचे भाव रहते हैं, खूब विरक्ति, किसीसे प्रयोजन नही। जब मुनि हो गए तो कुछ समय बाद उसके भाव उतने ऊँचे नही रह पाते। और ऊँचे भाव न रह सके तो कुछ प्रमाद करने लगा, कुछ दोष करने लगा, तो ऐसे मुनियोंको समझाया है कि हे मुने! दीक्षाके समय तुम्हारे जैसे ऊँचे परिणाम थे उनका ख्याल करो। अब कहाँ भाग रहे हो ? अत: विश्रामसे बैठ जावो और अपने अंदर चिन्तन करो कि अनादि कालसे मैंने विषयोंमें लीन होकर संसारमे परिभ्रमण करते हुए अनगिनते दु:ख पाये और

निरन्तर चाहता रहा कि मेरेको सुख मिले, पर रंच भी सुख न मिला, बल्कि ज्यों ज्यों उसने सुखके लिए विषयोंके साधन बनाये त्यों त्यों मेरे दुःख बढ़ते गए। सो मैंने अपने ही हाथों अपने पैर पर कुल्हाडी मारी, मोह राग बढ़ाया और कष्ट पाया। उस रागको दूर करनेके लिए और भी राग बढ़ाया फल यह हुआ कि दुःख और भी बढता गया।

(३६३) व्यामोहमें अपने ही प्रयत्नसे अपना ही घात—एक उदाहरण है कि कोई कसाई किसी बकरेको कत्ल करनेके लिए लिए जा रहा था, कसाईखाना दूर था, वह रास्ते में एक पेडके नीचे ठहर गया और कसाईका बहुत खोटा भाव ऐसा चल रहा था कि उसको मारनेमे देर हो रही थी, वह यह चाह रहा था कि मैं इसे जल्दी ही मारूँ। तो उसी समय बकरे ने क्या किया कि वहीं अपने पैरोंसे मिट्टी खरोचने लगा, कुछ ही खरोच पाया था कि उसमें से कोई गडा हुआ चाकू निकल आया। कसाईने उस बकरेका वहीं बध कर दिया। बताओ उसके बध होनेमे अभी कुछ तो देर थी ही, पर अपने ही पैरोंसे खुरोचकर अपनी जल्दी ही हत्या करवा ली। यही कहलाता है अपने हाथों अपने पैरमे कुल्हाडी मारना। तो ऐसे ही समझो कि संसारके ये सब जीव अपने हाथों अपने आप पर छुरी चलवा रहे है, कैसे कि हो रहे हैं दुःखी, आकुलित और उस आकुलताको दूर करनेके लिए विषय साधनोंमे लग रहे हैं, कुटुम्बके प्यारमें लग रहे, परिग्रहके संचयमे लग रहे तो उसका फल क्या होता है कि और भी दुःख बढ़ते रहते हैं। तो दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करते हैं, मगर उसी प्रयत्नसे दुःख और भी बढता रहता है।

(३६४) व्यग्रताके साधनोंसे हटकर शान्तिके साधनोंमे अपनेको लगनेका उपदेश—जो ज्ञानी पुरुष है वह चिंतन कर रहा है कि इस संसारमे, इन नारकादिक गतियोंमे मैंने ऐसे दुःख भोगा कि जिनका स्मरण आये तो दिल दहल जाय। अच्छा जो दुःख भोगा उनकी तो चर्चा छोड। तू इस ही भवके दुःखका ख्याल कर, एक ही दुःखका स्मरण कर ले। तू ने निर्धन अवस्थामें कामकी बाधासे युक्त होकर स्त्री जनोंमे राग किया और काम शस्त्रके द्वारा तेरे चैतन्य प्राणका घात होता रहा, पर जरा मन स्वस्थ हुआ, कुछ भोग सामग्री मिल गई तो उस दुःख रूपी अग्निकी ज्वालाको तू ने भुला दिया, कितने दुःख पाये यह भुला दिया कोई जरा सा विषय पाकर। सो उस समय जब तेरेको दुःख हो रहा था उस दुःखके होते समय जो तेरे बुद्धि जग रही थी वह अगर स्थिर रहती तो आज तुझे दुःख न होता। सो हे मुने खूब चिंतन कर और अपनेको विषय कषायके भावोंमे मत लग। तू अपने अविकार ज्ञानस्वरूपका चिंतन कर। जब तू दीक्षा ले रहा था या जब तेरे पर और दुःख आ रहे थे तो कैसा आत्मा निर्मल बना रहा था, अब उन सब बातोंको तू भूल गया है और विषयोंकी ओर चित्त लगा दिया है। सो

हे अपात्र मुनि ! यदि तू रत्नत्रयको पाना चाहता है तो अपने विवेककी बना और सार असारका सही निर्णय कर, अविकार अपने स्वरूपको निरख । देख यह ही तो यह देह है । इसको अगर विषयोंके साधनोंमें जुटाया तो जीवन व्यर्थ गमाया और इस अस्थिर शरीरसे अपार स्थिर आत्माका ध्यान बनाया तो तूने एक बड़ा लाभ पाया । सो देख अगर इस अस्थिर शरीरसे कोई स्थिर बात बनती है, स्वच्छ बात बनती है तो क्या उसे न करना चाहिए ? अर्थात् अवश्य ही करना चाहिए । याने इस भवको मोक्षमार्गमें लगाओ जिससे कि निर्मल अनंत गुणोंसे श्रेष्ठ वह मोक्षपद प्राप्त हो । तो तू सार असारका निर्णय कर कि सार क्या है और असार क्या है ?

(३९५) आलोचना, निजनिन्दा व आरंभनाकी सारभूतता—प्रथम तो यह बात जान कि दोष शरीरसंगसे होते हैं, पर दोषोंकी आलोचना न करें तो वह असार है और दोषों की आलोचना करें तो सार है । आलोचना कहते हैं उसे कि अपने गुरुवोंसे दोषको प्रकट कर देना कि महाराज हमसे यह अपराध हो गया है । वे गुरु उसे कोई प्रायश्चित्त बतायेंगे और उससे वह शुद्ध हो जायगा । दूसरेकी निन्दा करना असार है और अपनी निन्दा करना सार है । खुदसे जो अवगुण बना, अपराध बना, उसकी निन्दा कर रहा, मैंने बुरा किया, अब यह न करना चाहिए । यदि बहुत बहुत सम्पदा मिल गई और दूसरोंकी निन्दामें ही चित्त जाता रहा तो उससे मार्ग अच्छा न मिलेगा । जो व्रत ग्रहण किया उनका निर्दोष पालन करे तो सार है और व्रतमें दोष लगना असार है ।

(३९६) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तपकी सारभूतता—सच्चा ज्ञान बनाना सार है और अज्ञान रखना, मोह रखना, वस्तुस्वरूपका परिचय ही नहीं सो अंधेरेमें बना रहना असार है । मिथ्यात्व असार है और सम्यग्दर्शन सार है । यह जीव अनन्त कालसे अब तक जो भटका वह मिथ्यात्वमें ही भटका । मिथ्यात्व दो तरहका है—अगृहीत मिथ्यात्व व गृहीतमिथ्यात्व । शरीरको माना कि यह मैं हूं उसको तो हुआ अगृहीत मिथ्यात्व, क्योंकि इसकी कहीं पाठशाला नहीं होती कि इस शरीरको मानो कि यह मैं हू, यह जीव स्वयं अज्ञानी बन रहा, पर जो कुदेवको पूजता, वृक्षोंको पूजता, अनेक प्रकार के कुदेवोंको पूजता वह उसका गृहीत मिथ्यात्व है । इसे कोई समझाता है तब करता है या अपने माता पिताको उस तरह करता हुआ देखता है तो इस मिथ्यात्वको करता है । सो मिथ्यात्व तो असार है और सम्यग्दर्शन सार है । विषयोंमें रमण करना असार है और आत्मस्वरूपमें रमण करना सार है । खोटा तप असार है, योग्य तप सार है । जो करने योग्य कार्य नहीं हैं वे सब असार हैं । जो विषय खिलानेके काम हैं, करने योग्य नहीं है वे सब असार हैं ।

सो हे मुनि ! तू सार असारका निर्णय कर । असारसे हट और सारमें लग ।

(३१७) अभयदान, सत्यवाद, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व रात्रिभुक्तित्यागकी सारभूतता— जीवोंकी हिंसा करना असार है और जीवोंको अभयदान देना सार है । कोई चींटीपर पानी आ रहा तो उस चींटीको वहाँसे उठाकर अन्यत्र कहीं बैठा दे, वह अभयदान हुआ । किसीको कोई घबड़ाहट है, व्यग्रता है तो बड़े नम्र शब्दोंमें उसे ऐसा समझावे कि उसकी घबड़ाहट दूर हो जाय, यह अभयदान है । यह अभयदान सार है । मिथ्या भाषण करना असार है । यहाँ किसके लिए झूठ बोला जाता ? कोई यह मत समझे कि ये जगतके सुख साधन झूठ बोलनेसे मिले । हाँ पुण्यका उदय है सो मिल गए हैं । झूठ बोलकर तो स्वयं ही अपने आत्माको ठगा जा रहा है । उससे होता पाप बंध और उसका फल बहुत काल तक भोगना पड़ेगा । तो झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब असार हैं और सत्य भाषण करना, चोरी का त्याग करना, शीलसे रहना, निर्ग्रन्थ रहना यह सब सार है । रात्रिभोजन असार है और दिनमें ही एक बार प्रासुक भोजन करना सार है । जैन धर्ममें रात्रिभोजनके त्यागकी बड़ी मुख्यता थी, रात्रि भोजन त्यागका उपदेश न देना पड़ता था, कोई समय ऐसा था । अधिकसे अधिक, पानीके त्यागकी बात कहते थे कि रात्रिजलका त्याग कर सकते हो तो करो, पर रात्रि भोजनके त्यागका उपदेश नहीं करना पड़ता था, किन्तु आजका इतना श्रद्धाहीन समय है कि जा रहे और रात्रिके १२ बजे हैं, जा रहे धर्म करने, पर आधी रातको ही कुछ न कुछ खाते पीते रहते हैं, मुख चलता ही रहता है, शुद्ध अशुद्धका कुछ विचार नहीं करते, अभक्ष्य भक्षण करते, उसमें बड़ा मौज मानते और अहंकारभरी मुद्रामें जा रहे, पर कहाँ जा रहे ? किसी तीर्थ देवकी वंदना करने, धर्म करने । अरे यह रात्रिभोजन बड़ा पाप है । सो रात्रिभोजनमें केवल इतनी ही बात नहीं कि हिंसा हो गई, किन्तु उसका मन खराब हो गया, मन स्वच्छंद हो गया, आत्माकी वहाँ सुध नहीं ले सकते, मोह अज्ञानमें बढ़ गए हैं । यो सभी खराबियाँ होती हैं । तो रात्रिभोजन करना असार है और रात्रिभोजन छोड़ना सार है ।

(३१८) शुक्लध्यान आदिकी सारभूतता—आर्तध्यान, रौद्रध्यान जैसे खोटे ध्यान करना असार है और धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान ये सारभूत हैं, तो हे मुने, तू सार असार का विवेक कर । सारसे प्रीति कर और असारको छोड़ । असंयम तो असार है और संयमपूर्वक रहना सार है । जो मुनिओंके मूल गुण बताये गए हैं वस्त्ररहित रहना केशलुञ्चन करना, स्नानका त्याग करना, भूमि पर शयन, खड़े खड़े आहार लेना, दंत धोवन न करना, हाथमें ही आहार लेना, आदि ये तो सब सार हैं आत्माके मार्गके अविरुद्ध हैं और इनके विरुद्ध चेष्टा करना यह सब असार है । क्रोध असार है । क्रोध करनेका फल बहुत ही खोटा होता

है और क्षमा सारभूत है। सभी कषायें असार हैं, घमंड करना, मायाचार करना, लोभ करना यह सब असार है और इनका त्याग सार है। संतोषमें सार है, किसी प्रकारकी शल्य रखना असार है। और आत्माको सबसे निराला अकेला ज्ञानमात्र निरखकर निःशल्य रहना यह सार है। अविनयकी चेष्टा करना असार है। किसीका अपमान करना दुर्वचन बोलना यह सब दुःख रूप है और विनयभाव सार है। ममता करना असार है, और समता रखना सार है। ममता करके किसीने सुख नहीं पाया और कर रहा ममता। बताओ जिनमें ममता की जा रही उनका संयोग कब तक रहेगा? उनका वियोग नहीं होगा क्या? अरे कोई समय शीघ्र ही आने वाला है जब कि उनका वियोग हो जायगा तो ममता करके जो पापबंध हुआ है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। तो ममता असार है और निर्मोह होना सार है। विषयोंका उपभोग असार है और विषयोंसे विरक्त रहना यह सार है। सो हे मुनिवर! तू सार और असारका निर्णय रखकर सारको तो ग्रहण कर और असारको छोड़। यही बात सब गृहस्थोंको करना चाहिए। असारसे प्रीति न करें और जो सार चीज है उसमें अपनी प्रीति बनायें तो इस तरहके शुद्ध भाव रखकर जो अपना जीवन व्यतीत करता है उसको अब भी आनन्द मिलेगा और मोक्षमार्गको भी पा लेगा।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भतरलिंग सुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुड भावरहियाणं ॥१११॥

(३९९) अन्तरङ्गशुद्धिको प्राप्त करते हुए बाह्यलिङ्गके धारणकी कार्यकारिता—यह श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड ग्रन्थ है। यहाँ मुनिजनोंको सम्बोधित किया है। जो मुनिजनोंको सम्बोधित किया है उसके अनुसार श्रावकजन भी अपने योग्य सम्बोधन समझ सकते हैं। हे मुनिजनो अतरग लिङ्गकी शुद्धिको प्राप्त होते हुए तुम बाह्य लिङ्गका सेवन करो, क्योंकि भावरहित मुनियोंका बाह्यलिङ्ग अकार्य होता है। अन्तरङ्ग लिङ्ग क्या? सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनमे जो मार्ग दिखा उसपर चलना। सम्यग्दर्शनमें तो मोक्षमार्गका देखना होता है और पंचम और ऊपरके गुणस्थानमें मोक्षमार्गपर चलना होता है, मोक्षमार्ग जिनको दिखा उनको इतनी शुद्धि है जिसमे कि देख लेनेमें भी निर्जरा होती है फिर मोक्षमार्गपर जो चलते हैं उनके विशेषतया निर्जरा होती है।

(४००) मोक्षमार्गदर्शन व मोक्षमार्गगमनके अन्तरका दृष्टान्तपूर्वक विवरण—जैसे कोई पुरुष किसी जंगलमे फंस गया, टीले पर पहुंच गया तो जरा भी विवेक करता है तो वहीं ठहर जाता है भयानक अंधेरी रात्रिमे। जो जंगलमें फंसा है तो वह सोचता है कि अब आगे बढ़ना योग्य नहीं। उसको रात्रिमें बिजलीकी चमकमें सामने कुछ ही दूरीपर सड़क

नजर आ गई अब फिर वही अंधेरा । सडकपर चल तो नहीं पा रहा मगर वह सडक है, यहाँ जाना है इतनी समझ आनेपर उसको धीरता आ गई और जैसे ही सवेरा हुआ, मौका मिला कि वह सडकपर चलकर आगे बढ़ जाता । तो मिथ्यात्व वनमें घूमते हुए इस प्राणीको एक सम्यक्त्वका प्रकाश मिला और उस प्रकाशमें इसको मार्ग दिख गया यह है सहज आत्मस्वरूप और इसमें मग्न होना यह ही है मोक्षमार्गपर चलना, पर अभी अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें यह इतना निर्बल है कि उस अनुभवमें नहीं आ पा रहा । कभी कभी स्पर्श तो होता है, पर उसमें रमे यह बात नहीं बन पाती । तो ऐसे एक उसके स्पर्शसे या उस सहज शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शनसे उसको धीरता है और अनेक प्रकृतियोंका सम्वर बना है और निर्जरण भी चलता रहता है ।

(४०१) सम्यक्त्वशून्य बाह्यव्रतमें मोक्षमार्गस्थताका अभाव—जिसने अपने उस शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं निरखा और ज्ञानी पुरुषोंका मुनिपद आदिक देखकर इतना भी भावसे जो चित्तमें आया हो कि मुनि होना चाहिए, हो गए मुनि तो ऐसे मुनि जनोंको यहाँ प्रतिबोधा है कि आभ्यंतर लिङ्गकी शुद्धिको प्राप्त करते हुए इस बाह्य लिङ्गका सेवन करो । मुक्ति मिलती है शुद्ध अतस्तत्त्वके आश्रयसे । और शुद्ध अतस्तत्त्वका थिर आश्रय कर सके यह बात मिलती है बाह्य परिग्रहके त्यागमें जैसे वातावरणमें, इस कारण बाह्य निर्ग्रन्थ भेष बिना यह आत्मा सिद्धि न पायगा, तिस पर भी मुक्ति जो मिली है सो उपादान कारणपर दृष्टि दें, क्योंकि वही सिद्ध हुआ है ना, तो शुद्ध अंतस्तत्त्वके आश्रयसे ही मुक्ति मिली है । जिसे कहेंगे कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके भावसे सिद्धि मिली है, पर वह भाव बाह्य परिग्रह के त्याग वाली मुद्रामें आये बिना नहीं बन सकता । तो इस बाह्य भेषमें गुजरकर ही वह अंतरङ्ग शुद्धि प्राप्त होती है जिससे मुक्ति मिलती है और इसी कारण दोनों बातोंका सिद्धान्त में उपदेश है कि अन्तरङ्ग शुद्धि बनाओ और उसको प्राप्त होते हुए बाह्य लिङ्गका सेवन करो तो मुक्ति प्राप्त होगी । अतरग शुद्धि बिना, सम्यग्दर्शनकी लब्धि बिना बाह्य लिङ्ग अकार्य होता है । बाह्य लिङ्गोंमें मुख्य क्या है जो लोगोंको तुरन्त दिखे ? एक तो नग्नता, दूसरा केशलोंच और तीसरा पिछी कमण्डल । जो तुरंत ही नजर आता है । यह जो बाह्य लिङ्ग है सो इसमें रहते हुए अपनी शुद्धिकी ओर प्रगति करो । ऐसा मुनिजनोंको इस गाथामें उपदेश किया है ।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं ।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥

(४०२) संज्ञामोहित जीवका अनादिसे संसारभ्रमण—हे जीव ! तू आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंमें मुग्ध होकर पराधीन होकर इस संसारवनमें अनादिकालसे

भ्रमण कर रहा है। जो जीव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय नहीं है, जिनके मन नहीं है वहाँ एक यह जिज्ञासा हो सकती है कि जिसके मन नहीं वह खानेकी इच्छा कैसे करेगा ? यह तो मनका काम है कि कुछ चाहे, या अन्य विषयोंकी अभिलाषा कैसे करेगा ? प्रवृत्ति कैसे करेगा ? पर मनका काम यह है सो बात नहीं। यह काम तो संज्ञाओंका है। चाहे एकेन्द्रिय हो, दोइन्द्रिय हो, तीन इन्द्रिय हो, चौइन्द्रिय हो, चाहे पञ्चेन्द्रिय हो, सैनी हो, वह काम संज्ञाओंका है, पर संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें इतनी बात अधिक बन गई जो अज्ञानी हैं कि उन संज्ञाओंके बलसे अन्य विषयोंमें प्रवृत्ति हो तो रही थी पर इस मनने उसमें और तेजी ला दी। इस मनके दोनों ही काम हैं, अच्छी ओर लगना चाहे तो अच्छी ओर लगा दे, बुरी ओर लगना चाहे तो बुरी ओर लगा दे। यद्यपि मनका लक्षण तो यह किया गया है कि जिससे हितोपदेशकी शिक्षा ग्रहण कर सके उसे मन कहते हैं, इतनी योग्यता है संज्ञी जीवमें कि वह हित और उपदेशको ग्रहण कर सकता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, पर यही मन संज्ञाओंकी ओर अगर आकृष्ट है तो यही मन उन विषयोंको ओर भी कला पूर्वक सेवन कराता है।

(४०३) अज्ञानी संज्ञी जीवोंमें विषयसाधनके लिये मनकी प्रेरणाकी अधिक विपत्ति—साधारण जीव, मनरहित जीव भी विषयोंका सेवन करते हैं, मगर इनकी कलायें अधिक याद नहीं हैं कि अच्छे ढंगसे विषयसेवन किया जाय। वहाँ एक ही ढंग है, जो संज्ञी तिर्यंच हैं गाय, बैल, घोडा वगैरह इनके यद्यपि मन है और उन दो तीन इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा थोडी इनमें कला आयी है, पर मनुष्य जितनी कलायें इन पशुओंमें भी नहीं हैं विषयसेवनकी। इन मनुष्योंमें विषयसेवन साधनाकी बहुत अधिक कला है कितने ही साहित्य बनाना, उपन्यास बनाना, सनीमा थियेटर वगैरह देखकर मनको उत्तेजित करना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना, कितने ही प्रकारके भोजन बनाना आदि। एक चनेका बेसन ही ले लो उससे सैकडों प्रकारके भोजनके आइटम बनाते हैं। ऐसे ही एक एक चीजके सैकडों आइटम बनाते हैं। तो कितनी कलायें हैं इन मनुष्योंमें विषयोंका सेवन करनेमें। इस मन वाले मनुष्यने बडी कलाओंका विकास किया। (हँसी)। तो यह मन विषयसेवनकी ओर लगे तो वहाँ भी बडी कलाके साथ लगता है और यदि यह मन आत्महितकी ओर लगे तो यह सर्वविषयोंसे विरक्त होकर एक सहज ज्ञानानन्दधाम सहज परमात्मतत्त्व कारणसमयसार निज अंतस्तत्त्वकी ओर झुकता है, निर्णय करता है, तत्त्वज्ञानमें बढ़ता है और जो विषयोंमें प्रवृत्त है उसका मूल पैंच मन नहीं है। उसका मूल पैंच ये संज्ञायें हैं जो एकेन्द्रिय आदिकमें भी हैं, मनुष्योंमें भी हैं। मन तो ऐसा है कि जैसे चलती हुई गाड़ीमें और भी धक्का लगा दे। यह स्वयं विषय सेवनका प्रारम्भ नहीं करता। विषयसेवनका प्रारम्भ होता संज्ञाओंसे पर जिनके मन है, मनका उस

कलायें और धक्का लगता। तो ये संसारके प्राणी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन संज्ञाओंसे विमुग्ध हैं। कितने विमुग्ध हैं, इसका उदाहरण लेना है तो मनुष्योंको ले लो। इतना तेज उदाहरण अन्य गतियोंमें न मिलेगा। एक मनुष्यका ही उदाहरण ऐसा है कि ज्यादहसे ज्यादह बुरे कामके लिए अगर कोई उदाहरण मिलता है तो मनुष्यका मिलता है और साथ ही यह भी बात है कि भलेसे भले कामके लिए भी उदाहरण मिलेगा तो मनुष्यका मिलेगा।

(४०४) संसारी जीवकी आहारसंज्ञा व भयसंज्ञासे मोहितताका दिग्दर्शन—कितनी तरहके पकवान बनाकर अपने भोजनकी इच्छाको पूर्ण करना यह कला मनुष्योंमें है। खूब भरा पेट होनेपर भी थोड़ी चाट पकोड़ी खोनेके लिए पेटमे जगह निकाल लेना यह मनुष्योंसे सीखो। इन गाय, बैल, भैंस आदिकमे यह कला न मिलेगी। यदि उनका पेट भरा होगा तो कितना ही बढ़ियासे बढ़िया भोजन उनके सामने रखा हो तो भी वे उसकी ओर देखते नही। इतना संज्ञाओंसे पीड़ित है यह जीव। भय संज्ञासे यह जीव पीड़ित है। इसके लिए भी उदाहरण मनुष्यका मिला। उतना डर किसीको नहीं है जितना मनुष्योंको लगा है। जिनके मन है ऐसे पशु पक्षी भी उतना अधिक नही डरते। उनपर कोई लाठी चलाये या कोई जोरसे बोले तो डरेंगे, पर यह मनुष्य बहुतसे गद्दो तक्कोपर पडा हो, उसके चारों ओर खूब गद्दे तक्के लगे हों, कमरेमे कूलर भी फिट हो, पखा भी फिट हो, अनेक लोग जी हजूरीमे लगे हो, हर प्रकारके आरामके साधन हो इतने पर भी उनको डर इतना तेज लगा होता कि बहुतसे लोग तो आत्महत्या तक कर डालते हैं। कही चोर डाकुओंका भय, कही सरकारी कायदे कानून का भय, कहीं कोई भय, हमसे तो ज्यादह आप लोग इस भयके सम्बधमे बता सकते, क्योंकि आप सबको उनका विशेष अनुभव होना चाहिये।

(४०५) संसारी जीवकी मैथुनसंज्ञासे मोहितताका दिग्दर्शन—मैथुन संज्ञाका भी सब से बड़ा उदाहरण मनुष्योंका मिलेगा। मैथुन प्रसगको जितनी कलायें मनुष्य जानते, उतनी कलायें और जीव नही जानते। पशु पक्षी हैं, क्या हैं, जहाँ रहते हैं ठीक, मगर यह मनुष्य न जाने किस किस तरहसे कमरे सजाता, बढ़ियासे बढ़िया पलग, कोमल गद्दे तक्के और न जाने क्या क्या नग्न नृत्य किए जाते हैं तो ये सब मैथुन संज्ञाके उदाहरण हैं। और तिस पर भी एक कला और है। पशु पक्षी तो सालमें कुछ दिन नियत हैं उनके कुछ समयको, दो चार महीने, वे इस मैथुनप्रसंगमें आते हैं, पर मनुष्योंको तो सालके बारहो महीने एक समान। मैथुन संज्ञाका उदाहरण देख लो, कितना पीड़ित हो रहे, फिर एकेन्द्रिय आदिक जीव, ये भी हैं संज्ञाओंसे पीड़ित। कुछ पता नहीं पड रहा। कर्मके उदय किस ढगसे चल रहे यह पता नहीं पड़ता। यह नहीं आपका भी हमें पता पड़ नहीं सकता। आपका दूसरोंको तो पता

सकता । मगर चूंकि आपपर भी वही बात बीतती है तो अनुमानसे भी वही बात दूसरोंकी भी समझ सकते हैं । जैसे कभी कोई स्वामी आहार कर रहा हो तो कोई गृहस्थ बोलता, महाराज इस चीजको चटनीके साथ खाइये, तो उससे वह स्वामी यह अनुमान कर लेता है कि इसने इसका ऐसा स्वाद पाया होगा तब ही तो बता रहा, तो ऐसे ही उन मनुष्योंपर जो बात बीतती है वही दूसरोंपर भी बीतेगी । अनुमानसे जाना परन्तु एकेन्द्रिय आदिक की संज्ञाओंका अनुमान भी हम मुश्किलसे कर पाते, मगर अनुमानसे जानते । ये संसारी प्राणी चार संज्ञाओंसे बुरी तरह पीड़ित हैं ।

(४०६) संसारी प्राणीकी परिग्रहसंज्ञामोहितताका दिग्दर्शन—परिग्रह संज्ञा—बाह्य तत्त्वको अपनाना यह है बाह्यका परिग्रहण । तो यह परिग्रह संज्ञा एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय संज्ञी तक सर्व जीवोंमें लगी है । हम नहीं समझ पाते कि एकेन्द्रियमें क्या परिग्रह पड़ा है वहाँ मन भी नहीं और एक ही इन्द्रिय है फिर भी परिग्रह संज्ञा लगी है । तो ये संज्ञायें सभी संसारी जीवोंको प्रेरित करती हैं । वृक्षमें नीचे मूल (जड़) में खाद डाले, अच्छी मिट्टी डाले, पानी डाले तो उनको वृक्ष ग्रहण करता है, यह तो सब लोग जान रहे हैं । जैसे कि यह मनुष्य है ना तो इसकी जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे हैं और वृक्ष बिल्कुल सीधा खड़ा है । यह मनुष्य वृक्षसे उल्टा है, वृक्षकी जड़ नीचे है और वहींसे वह अपना आहार पानी ग्रहण करता है और शाखायें सब जगह पुष्ट होती हैं । किन्तु मनुष्यकी जड़ ऊपर है, यह मुख लगा है अगर यह मनुष्य शीर्षासन करे तो यह वृक्षकी तरह सीधा मनुष्य बन जायगा, मगर यह उल्टा है, इसकी जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे फैल रही हैं, हाथ पैर आदिक । वेदमें एक शब्द आया है—ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् । यह मनुष्य अपनी जड़से आहार ग्रहण करता है तो वृक्ष भी अपनी जड़से आहार ग्रहण करते हैं, उनके भी परिग्रह संज्ञा है । दो इन्द्रिय आदिककी संज्ञा कुछ अधिक ज्ञानमें आती है और मनुष्यका तो फिर कहना ही क्या है । लाखका धन है तो भी तृष्णा लगी है कि करोड़ होना चाहिए, करोड़का धन है तो अरबकी तृष्णा, यों तृष्णा कर रहे और उसीमें अपना सारा जीवन व्यतीत कर रहे । अरे मर जानेपर एक पैसा भी तो साथ न जायगा । इस परिग्रहानन्दका दूसरा नाम है विषयसंरक्षणानन्द । अपने अपने विषयके संरक्षणके आनन्द मानना । सभी प्रकारकी संज्ञाओंसे पीड़ित होकर यह जीव अनादि कालसे पराधीन होकर इस संसारमें भ्रमण करता रहा और अनेक प्रकारके दुःख भोगे, फिर भी वहीं यह रमता है ।

(४०७) मोहनशाका उत्पात—अहो, मोहका नशा तो देखिये कि यह जीव दुःख भी पाता जाता और उन्हीं दुःखकी बातोंमें रमता जाता । दुःख हो रहा है मोहसे । इस

समय की देख लो अपनी जिन्दगीमें जब कब भी कोई दुःख आता है तो उसका कारण बनता है मोह। मोहसे दुःख आता है और उस दुःखसे पोडित होकर इस मनुष्यको दुःखसे छूटनेका उपाय मोह करना ही समझमें आता है। सो मोहसे दुःखी होता जाता है और मोह करता जाता है। साथ ही अपनेको बुद्धिमान भी मानता जाता। सो यह जीव इन संज्ञाओंसे पीड़ित होकर इतनी कठिन विपत्तिमें पड़ा है। एक ऐसा कथानक है कि चार लोगोंने कोई एक चोरीकी। चारों ही उस चोरीमें पकड़े गए। जजने उनसे बयान लिया और चारोंको समुचित दण्ड दिया! तो उनमें से एकको बस इतना दण्ड दिया कि कहा धिक्कार— धिक्कार है तुझे जो ऐसा खोटा काम किया। इतनी बात सुनकर उसने बड़ा पछतावा किया और अपने घरकी कोठीमें जाकर आत्महत्या कर ली। यों ही दूसरे चोरको कुछ दण्ड दिया, तीसरे को कुछ, और चौथे को यह दण्ड दिया कि उसका मुख काला करके गधेपर बैठाकर नगरकी गलियोंमें घुमाया जाय। सो जब वह नगरकी गलियोंमें मुख काला करके गधे पर बैठकर घूम रहा था तो रास्तेमें उसका भी द्वार पड़ा। उस द्वारपर उसकी स्त्री भी खड़ी हुई उसको उस दशामें देख रही थी। वह भी बड़ी शर्मिन्दा हो रही थी, मगर वह पुरुष इतना निर्लज्ज था कि उसको कुछ भी शर्म नहीं लग रही थी, बल्कि द्वार पर खड़ी हुई अपनी स्त्रीसे बोला— देखो पानी गरम करके रख लो मुख धोनेके लिए, बस थोड़ी सी जगहमें घूमना और शेष रह गया है। तो हमको तो यह दिखता कि ये ससारी जीव प्राय उस चौथे पुरुषकी तरह है, जो कि मोह करते जाते, मोहसे ही दुःखी होते जाते, फिर भी उस मोहको ही अपनाते जाते।

(४०८) अज्ञानमोहित प्राणियोंकी बेसुधी—मोही प्राणियोंको अपने आत्मस्वरूपका कुछ पता नहीं, मैं क्या हू यह बात उनके ज्ञानमे नहीं है, जो मैं हू उसके अतिरिक्त जो भी पदार्थ हैं उनमे बुद्धि कर रहे कि मैं यह हू। देखो कितनी सी गल्ती है? बस जरा सी? जैसे कोई चीज एक सूत इस तरफ नहीं धरी है तो कहते हैं कि एक सूत जरा यहाँ आ जाय, तो कोई अधिक अन्तर है क्या? ऐसे ही यह उपयोग भीतर ही भीतर है बाहर किसीका उपयोग नहीं है। बाह्यमे उपयोग कहीं नहीं गया। यह तो उपचार कथन है। यह उपयोग भीतर ही भीतर रहकर जिस जिस पदार्थको विषय करता है, जो जो पदार्थ ज्ञेय बनते हैं उनका ज्ञेय भी नाम लेकर बोला जाता है कि यह उपयोग बाहर घूमता रहता है। अज्ञानी का भी उपयोग बाहर कहीं नहीं घूमता किन्तु यह अपने ही प्रदेशोमे रहता हुआ बाह्य पदार्थ विषयक कल्पनाओंका व्यायाम करता रहता है। इसीको कहते हैं कि उपयोग बाहर गया। सो यह जीव यहाँ अन्दर जो स्वयं है उसको नहीं समझ पा रहा और यहाँ ही जो सहज शुद्ध अन्तस्तत्त्व है आत्मस्वरूप, उसके अतिरिक्त जो बाह्य पदार्थ हैं उनमें आत्मीयताकी बुद्धि कर

रहा। मूलतः तो यहाँ यह बात हुई कि कर्मोंका अनुभाग खिला उस कालमें उन कर्मोंमें गुजरो बात गुजरी, क्योंकि जो कर्म बड़े आरामसे सत्तामें रहते हुए एक परमात्मतत्त्वके क्षेत्रावगाह हो रहे थे और सत्तामें रहते हुए उनमें समता थी, क्षोभ न था, कोई बात न थी, उस स्थितिको छोड़कर अब वह आ रहा है तो वह बेचारा क्षुब्ध होकर ही तो जायगा, एक अलंकारमें समझिये, और, होता क्या है ? यहाँ जो अनुभाग बंध हुआ था कर्मबंधके समयमें जो उदयके मायने यह है कि वह अनुभाग खिल जाता है। जैसे कुछ महीनेकी धरी हुई कलीकी डली अपना समय पूरा करनेपर खिल जाती है ऐसे ही ये कर्म भी खिर गए, मायने अनुभाग का उदय हुआ, उस कालमें यहाँ एक ऐसा वातावरण बना कि वह प्रतिफलित हुआ और उसे इस जीवने अपना डाला। यहाँ बाह्य तत्त्वको अपनाया। तो जिसने अपने घरके भीतर हो गडबडी मचायी है और योग्य ही नहीं कि घरकी सम्हाल बना सके तो वह बाह्य पदार्थोंको विषय करके यहाँ गडबडी मचाता है और सम्हाल नहीं कर पाता। तो यह जीव एक स्वयं अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपको भूला है।

(४०९) बाह्यतत्त्वक्षुब्धताके हटनेपर ही शान्तिकी संभवता—सहज ज्ञानके ज्ञानकी शुद्ध वृत्ति चले, जाननमात्र, जहाँ विकल्प नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, ऐसी अन्तर्वृत्ति, वह ही इसका काम था किन्तु इस जीवने उस बाह्य तत्त्वको अपनाकर अपने सहज स्वरूपको तो ढक दिया और उस ज्ञानवृत्तिको एक मलिन रूपमें बना डाला, पर यही इसकी एक छोटी सी कहानी है, जिसके आधारपर लम्बी लम्बी कथायें बन गई हैं। तो यह जीव इन चार संज्ञाओं से व्यामुग्ध होता हुआ अपने आपके वश नहीं रहता, क्योंकि इसमें अपना लगाव ही नहीं, इस की सुध ही नहीं, अनात्मवश होकर पराधीन होकर यह संसारवनमें अनादिसे अब तक भ्रमण करता चला आया। सो हे मुनिजनो ! जीवको ऐसी कथा जानकर और वर्तमानमें दुर्लभ इस जैनशासनको पाकर और ऐसे बाह्य परिग्रहके त्यागकी मुद्रामें आकर एक ही ध्यान बनावें कि आत्माको जानना और उस आत्माकी ओर ही, उस ज्ञानस्वरूपकी ओर ही धुन बनाये रहना, इस विधिसे आत्माका कल्याण होगा।

बाहिरसयणत्तावण तरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥

(४१०) सकुल साधुवोंको संबोधन—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य मुनिवरोंको उपदेश करते हैं कि तुम भावोंसे विशुद्ध होकर पूजाके लाभको न छोडते हुए तीनो ऋतुवोंके योगोंका और उत्तर गुणोंका पालन करो। साधु अनेक प्रकारके हैं। उनके संयम स्थानके असंख्यात भेद हैं, इस कारण एक ही प्रकारके पूर्ण निर्दोष साधुवोंको ही साधु कहना यह आगमकी अवहेलना है।

उन असंख्याते संयम स्थानोंमें सभी स्थानोंके संयमी साधु कहलाते हैं और उनमें छोटेसे छोटे साधु भी कुछ एक मूल गुणकी विराधना भी कर लेते हों तब भी उन्हें साधु माना गया है। वे कहलाते हैं पुलाक नामके साधु। जो मूल गुणोंका तो पालन करते पर उत्तर गुणोंका पालन नहीं कर पाते वे बकुश नामके साधु हैं। इन तीनों प्रकारके साधुवोंका व्यवहार अधिक है। जो रत्नत्रयमें रुचि रखते हैं ऐसे धर्मात्मा ही रत्नत्रय धारियोंके प्रति प्रीति रखते हैं। अगर रत्नत्रयधारियोंके प्रति प्रीति न उमडे तो वह इस बातका द्योतक है कि उसका रत्नत्रयके प्रति प्रेम नहीं है। तो पहिले कुछ साधुवोंका ऐसा वर्णन किया जो सम्यक्त्व हीन हैं उन साधुवोंको समझाया कि तुम्हारी इस बाह्य वृत्तिसे कुछ लाभ नहीं है। यहाँ लाभके मायने मोक्षमार्ग।

(४११) पूजालाभाभिलाषाको मूलसे उखाड़ कर उत्तरगुणोंके पालनका संदेश—अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि तुम भावसे विशुद्ध होकर पूजा लाभकी रंच भी वाञ्छा न करके उत्तर गुणोंका पालन करो। ये कषायें ९ वें गुणस्थान तक रहती हैं, और १० वें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ रहता है। छठे ७ वें गुणस्थानमे तो संज्वलन कषाय बर्तती है, पर शेष १२ कषायें नहीं हैं, साधुवोंसे दोष होते रहते हैं और इसी कारण सुबह शामका प्रतिक्रमण उनके चलता ही है। रात्रिमे हुए दोषका प्रतिक्रमण साधु सुबह करते हैं और दिनमे हुए दोष का प्रतिक्रमण सायंकालमें करते हैं। तो यहाँ उन साधुवोको समझाया जा रहा कि जो बहुत कुछ विधिपर जम गए हैं, किन्तु कभी थोडी व्यवहार बुद्धि बनती है जिसमे कुछ अपनेपर हैं दृष्टि होती है जिसमें कहो पूजा लाभकी चाह हो सके। चारित्रमोहके इतने तीव्र उदय होते कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो और उसके चारित्र मोहका उदय हो तो वह ऐसी चेष्टा करने लगेगा कि जिससे लोग यह ही कहेंगे कि यह तो पागलसा हो गया है। ऐसी पुराणोमे बहुत सी कथायें आती हैं। जिसको खुद मोक्षमार्गपर चलनेका भाव है उसको मोक्ष मार्गपर चलते हुए भी कैसे कब कब दोष होते हैं और वे दोष होकर भी वह मार्ग पर चल रहा है यह बात समझमे आती है, और जिसको मोक्षमार्गपर चलनेका भाव ही नही किन्तु लौकिक प्रतिष्ठा आदिक कषायोमे ही चित्त रहता है उसको यह बात विदित नहीं होती। तो यहाँ उन साधुजनोंको तो बहुत कुछ कहा गया कि जो सम्यक्त्वहीन हैं वे निर्ग्रन्थ भेषसे जो मोक्ष मानते हैं, अन्तरङ्ग शुद्धि नही पायी है उनका प्रकरण बहुत निकला। अब यहाँ कुछ साधुमार्गस्थ साधुवोंको कह रहे कि कुछ उत्तर गुणोंमें प्रयत्न करते हो सो रंच भी रागवासना न रखकर करो।

(४१२) अनीहवृत्तिसे वर्षायोग उत्तरगुणको पालनेका संबोधन—उत्तर गुणोंमें अनेक तपश्चरण हैं, पर यहाँ तीन योगोंका जिक्र किया है— वर्षायोग शीतयोग और ग्रीष्म-

न । वर्षायोगमें बरसातके कालमें वृक्षके नीचे खड़े होकर ध्यान करना। यह कठिन योग है, क्योंकि मैदानमें खड़े होकर वर्षा सह लेना सरल है। पर वृक्षके नीचे जो एक एक मोटी बूँद टपककर गिरती है उसका सहना कठिन होता है और यह भी लाभ है कि पत्तों परसे गिर कर जो पानी गिरता है मुनिके शरीरपर वह पानी प्रासुक है तो ऐसे वर्षायोगको हे मुने तू यशके लाभको मूलसे उखाड़कर पालन कर। जिनकी गुणदृष्टि होती है वे साधुजन उस दोषको कर्मविपाककी जोरावरी जानते हैं और जिनकी दोषपर दृष्टि होती है वो मात्र एक उस जीवका ही अपराध जानता है। दृष्टि दृष्टिमें फर्क है। जैसे माताकी दृष्टि पुत्रपर हितकारी होती है तो उसकी दृष्टि और भाँति होती है, दूसरे लोगोंकी दृष्टि और भांति होती है। जिसको चरित्रसे प्रेम है वह चरित्रधारियोंके प्रति कुछ दोष होकर भी उन दोषोंको कर्म-विपाकके खातेमे डालकर उनके रत्नत्रयगुणोंमे ही अनुराग बढ़ाता है और जिनको चरित्रसे प्रीति नहीं है। केवल देहात्मबुद्धि होनेसे अपनेको ही सब कुछ समझकर अभिमानमें रहते हैं उनकी दृष्टि गुणों पर रच भी नहीं पहुंचती और दोष दोषको ही ग्रहण करके वे अपने उप-योगको गंदा करते रहते हैं। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेवको कितना अनुराग है कि मन, वचन, कायसे सम्बोध रहे हैं। बड़े-बड़े ऊंचे मुनि होकर भी दोष होते ही रहते। न दोष हो तो अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञान हो जाना चाहिये। और उन दोषोंको जो शुद्ध करे याने दूर करे उसे ही साधु कहते हैं। साधुता क्या है? जो ऊपर चढ़ चुका वह साधना वाला नहीं है। जो ऊपर चढ़नेके लिए उद्यम करता है उसे साधना वाला कहते हैं। तो हे मुने तू यशके रागको न करके मात्र एक आत्माकी धुन पूर्वक इन योगो को ग्रहण कर।

(४१३) अनीहवृत्तिसे शीतयोगनामक उत्तरगुणको पालनेका प्रतिबोधन—दूसरा योग है शीतयोग। शीतकालमे नदीके तटपर मैदानमें किसी जगह ध्यानमें रहे। ऐसा करना साधुत्व के लिए नियम नहीं है किन्तु उस पंथमें आगे बढ़नेके ये रास्ते हैं। नियम तो केवल मूल गुणों का है। आज जब श्रावकोंपर दृष्टिपात करते हैं तो श्रावकोंके मूल गुण भी आज श्रावकोंमें प्रायः नहीं पाये जाते। यात्रामे जा रहे, शिखर जी या किसी तीर्थक्षेत्रको जा रहे पर रास्तेमें चाहे रात्रिके १० बजे हों चाहे १२ बजे हों, और प्रायः संफरमें जगते ही तो रहते हैं, तो बड़े-बड़े स्टेशनोंपर चाय, डबलरोटी, मिठाई, बिस्कुट आदि न जाने क्या क्या चीजें खाते पीते रहते हैं। मुख चलता ही रहता है। कभी कुछ खाया कभी कुछ। न जाने कितना रसनाइन्द्रिय के लोलुपी बन रहे हैं। आज देशमे खुदका ही प्रभाव घटा है, मान्यता घटी है, जब कि एक जैन नाम सुनकर ही लोगोंमें क्या आदर होता था जैसे ये कभी रात्रिको नहीं खाते, कभी झूठ नहीं बोलते, ये कभी चोरी नहीं करते, बड़े बड़े अयाच्ची बनाये जाते थे। बड़ी प्रतिष्ठा थी।

तो अपने आचरणसे अपनी प्रतिष्ठा गिरायी और श्रावकोंके हीन आचारसे समक्ष जब देखते हैं साधु जनोंका आचार तो आज अन्य लोग उन साधुवोंके त्याग नियम संयम साधुताकी प्रशंसा करते हैं। सबको अपने आपकी करुणा करनेके लिये अपनी सम्हाल करना चाहिये। यह जीवन कितने दिनोंका है! और थोड़ेसे जीवनमे व्यर्थकी बातोंमे भटक भटक कर जीवन गमा देना, अपने आत्मतत्त्वकी आराधना न कर सकना यह एक बड़े दुर्लभ मानव जीवनको खो देना है। कुछ अधिक दो हजार सागर त्रस पर्यायके मिलते हैं असंख्याते सागरोंके बाद। इतनेमें न चेते तो इसका अर्थ है कि एकेन्द्रिय ही होना पड़ेगा। त्रस पर्यायका काल व्यतीत हो गया और न चेता सके तो समझो कि एकेन्द्रिय ही बनना है, उसके भाग्यमें दूसरा भव नही है। आज तो कुछ मन पाकर, बुद्धि पाकर इतराते हैं, स्वच्छन्द होते हैं, कुछ जैनशासनका उत्तरदायित्व भी नहीं समझते हैं और जब एकेन्द्रिय आदिक भव सहने पड़ेंगे तो फिर क्या हाल होगा? तब तो फिर न की तरह रह गए। सो नम्रता, सरलता, क्षमा आदिक गुणोंको अपने मे प्रकट करनेका यत्न कर। केवल एक कीर्तिकी चाहसे कुछ चेष्टायें कर लीं तो वह लाभदायक नहीं है। तो यहाँ मुनिजनोंको सम्बोध रहे कि रागसे विहीन होकर भावसे विशुद्ध होकर उत्तर गुणोंका पालन करो।

(४१४) अभीक्ष्णवृत्तिसे ग्रैष्मयोग तपश्चरण करनेका प्रतिबोधन—तीसरा योग है ग्रैष्मयोग। ग्रीष्मकालमे पहाड़पर तपश्चरण, खुले तपश्चरण करना ग्रैष्मयोग है। यह एक बढ़कर बात है। जैसे जो परीषह मूल गुणोसे सम्बन्ध रखते हैं उन परीषहोंको सहना तो अनिवार्य है और अन्य परीषहोंको बनाना अनिवार्य नही, किन्तु उत्तरगुण रूप है। अगर उत्तरगुण कोई न पाया जाता तो उससे साधुता नष्ट नही होती। यह ग्रैष्मयोग है। जो भी उत्तर गुण हैं और उनमें भी ऐसे योगोंका धारण करना इसका स्वयं प्रत्येक मुनिको अधिकार नहीं दिया गया। जो समर्थ हैं वे ही करते हैं और जो इसको चाहते हैं उन्हें आचार्यकी आज्ञा लेनी पड़ती है। जैन एक ऐसा मार्ग है जो सबके लिए उपकारी है। इसे कहते हैं आतापन योग। जैसे रात्रिप्रतिमा योग। रात्रि भर वनमें कहीं खड़े होकर ध्यान करना यह समर्थ तो करते हैं और संघस्थ मुनि आचार्यसे आज्ञा लें, वे मना करें तो इस योगको न धारण करें। हे मुने यह योग धारण करें तो रंच भी चित्तमे पूजाकी वाञ्छा न हो। मैं ठीक कर रहा हूं, मैं इतना महान बन रहा हूं, इत्यादिक लगावका चित्रण चित्तमें नही आये। केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूप सहज अंतस्तत्त्वमें प्रवेश करनेकी धुन रखें।

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थपंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥

(४१५) आत्महितभावनाका महत्त्व—हे आत्मन् ! तू ७ तत्त्वोंकी श्रद्धा रख । जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष और मन, वचन, कायसे शुद्ध होता हुआ आत्माको ध्यानमें रख । जो आत्मा मोक्षस्वरूप है याने आत्माका जो सहज स्वरूप है, याने अपने सत्त्वके ही कारण जो इसका स्वरूप है उसे ध्यानमें लें । वह तो ज्ञानमात्र है और उसकी परिणति मात्र ज्ञानपरिणति है, जो स्वतः होता है; जहाँ औपाधिकता नहीं, केवल आत्माके स्वरूपको निरख । मोक्ष पानेका उपाय अपने सहजस्वरूपका ध्यान है । मगर सहजस्वरूपका ध्यान मुनि अवस्थाके बिना नहीं बन पाता, जो मोक्षका कारणभूत होता है, ऐसी जिसको सहजस्वरूपके ध्यानकी धुन है उसके निरन्तर निर्ग्रन्थपनेका आदर है । आत्महितकी भावना, जिसका होनहार भला है उस भव्य पुरुषके होती है । और आत्महितकी भावना तो अब तक नहीं बनी, किन्तु बातों से उसे पूरा करना यह तो एक मनोविनोदका ढंग है । एक यही मनो-विनोद पसंद आता है, पर अपनेपर दया हो कि मैं संसारमें अब तक अपने आत्माकी सुध लिए बिना रुलता रहा । अब तो मैं केवल अपने आत्माके नातेसे ही धर्मपालन करूँगा । आत्माका नाता अपनेसे रखें और आत्माका स्वरूप है ज्ञान, वही धर्म है उस अपनेको प्रतीति में लें । चेष्टा तो करना है ऐसी कि अपना ज्ञान अपने आपके आत्ममर्ममें ऐसा लगे कि कुछ क्षण यह निर्विकल्प हो और अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवसे ही ज्ञानामृतका पान करे । ऐसे ज्ञानामृतके पानेके लिए दुर्भावके त्यागकी आवश्यकता है । और त्याग हो सके तो आगे चलेगा, मगर थोड़ा बहुत ज्ञानानुभव मिले उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ सम्बन्धित मनके विषय कीर्ति यशसे सम्बन्धित खोटी भावनाओंका बलिदान करना होगा, तब हम अपने सहज स्वरूपके ध्यानके अधिकारी बन सकेंगे ।

(४१६) ध्येय जीव तत्त्वकी भावना करनेका उद्बोधन—हे मुने ! तू प्रथम जीव तत्त्वको जान । जो ७ तत्त्वोंसे सम्बन्ध रखकर जीवको जानेगा तो जिससे ७ आदिक बने, उस जीवका ध्यान किया, मगर ७ तत्त्व या ९ तत्त्वोंका सम्बन्ध बनाये बिना मात्र जीवके सहजस्वरूपको जानेगा तो वह परमार्थस्वरूपको जानेगा, कारण समयसारको जानेगा, सहज परमात्मतत्त्वको जानेगा । पर अनेकान्तको छोड़ कर इस सहजपरमात्मतत्त्वका ही एकान्त किया तो वह भी विवाद बनता है । जैसे ऊपर छत है, वह चारों ओर बनी दीवाल, खम्भों पर खड़ी है, पर इसके सामने केवल एक ही भींत दिखती है और यही निर्णय बना कि बस एक ही भींत है और यदि हमारे इस निर्णयका पालन यह छत करे तो यह [illegible] ढा जायगी, पर यह छत बिचारी हमारी आज्ञाका पालन नहीं कर रही, इसलिए खड़ी हुई है और कभी किसी भोलेपनसे कुछ उपासना तत्त्वकी बात निश्चित हो तो दृष्टि तो एक पर ही की,

जाव और करते ही हैं, मगर श्रद्धामें रखे हैं कि और भी मीतें हैं। यहीं किसीके गल्ती हुई; जो एक शुद्ध एकान्त बना जीवका स्वभाव सहज ज्ञानस्वरूप है, उसमें परिणमन नहीं निरखे जाते। तो वह पारिणामिक परमार्थ तत्त्व दिखता है, किन्तु ऐसा ही है, परिणमन है ही नहीं ऐसा एकान्त होनेपर वह स्याद्वादसे बाहर हो गया। सब ओरकी खबर जानकर अपने ध्येय में लगा हुआ निर्विघ्न सफल होता है और अज्ञानवश किसी एक ही बातका एकान्त करने वाला कहीं टिक नहीं पाता। फल यह होता है कि अस्थिरतामें ही जीवन व्यतीत हो जाता है। जानना सब ओर लक्ष्य होना शुद्ध तत्त्वका। तो जीव तत्त्वके परखनेकी दो पद्धतियाँ हैं। एक ७ तत्त्वका प्रकरण बनाकर जीवको परखना और केवल ७ तत्त्वों का प्रकरण न बनाकर मात्र अभेद बुद्धिसे एक सहजस्वरूपको निरखना, मगर यह अलग अलग चलनेकी पद्धति नहीं है। दोनोंको ही समझ रखने वाले ७ तत्त्वोंके भेदमें न पड़कर अभेद अखण्ड अंतस्तत्त्वकी आराधना करें तो उसका अर्थ बनता है, नहीं तो उसके मिथ्या शल्य रहती है। तो सर्वप्रकार से हे मुने इन ७ तत्त्वोंको जानो। अजीव-कर्म। आस्रव-जीवमें कर्मका आना सो आस्रव, बंध-बंध जाना, संवर-कर्मका आना बंद हो जाना, निर्जरा बद्ध कर्मोंका खिरना, समस्त कर्म खिर जायें, वह है मोक्ष। इसको पर्यायरूपसे जानें, द्रव्यरूपसे जानें, भावरूपसे जानें और तीनोंको ही छोड़कर केवल सहज आत्मस्वरूपको जानें ऐसे इस अनादि निधन आत्मतत्त्वका ध्यान करें मन, वचन, कायसे शुद्ध होकर। जिसका मन शुद्ध नहीं, वचन शुद्ध नहीं, काय शुद्ध नहीं वह चारित्रमार्गमें चलनेके योग्य आगे नहीं बढ़ पाता। अतः कह रहे इस गाथा में कि तीन चीजोंसे शुद्ध होकर धर्म, अर्थ काम इन तीन वर्गोंसे विविक्त एक शुद्ध ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका ध्यान कर।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥

(४१७) परमार्थ तत्त्वकी भावना न होने तक जरामरणविवर्जित स्थानका अलाभ— जब तक यह जीव तत्त्वकी भावना नहीं करता, चिन्तनीय तथ्योंका चिन्तन नहीं करता, तब तक यह जीव जरा मरणसे रहित स्थानको नहीं प्राप्त कर पाता। ज्ञानी जीव तत्त्वकौतूहली होता है। किन्तु इन दृष्टियोंसे कब कब क्या क्या तत्त्व चिन्तनमें आते हैं यह उसके लिए कौतूहल सा बन गया है अर्थात् स्पष्ट एकदम समझमें आने वाला दिखने वाला बन गया। जीव-तत्त्वकी भावनामें वह अपने आपमें सहज सिद्ध शाश्वत चैतन्यमात्र निजको निरखता है और जब कभी ७ तत्त्वोंके प्रकरणसे सम्बंधित ढंगसे जीवतत्त्वको निरखता है तो जाना कि यह जीव कर्मोपाधिके सम्पर्कसे आस्रव और बंध अवस्थाको प्राप्त हुआ यह जीव अपने आपके सम्यक्

स्वभावके परिचयसे सम्वररूप हुआ और वैराग्यके बलसे कर्मनिर्जरा भी हुई और यहाँ स्वयं विभावोंका निर्जरण हुआ। विभावका तो निर्जरण होता ही है क्षणके बाद, किन्तु उनका संस्कार निर्जीर्ण होनेके बाद विभावोंकी निर्जीर्णता है, तो ऐसे ही निर्जीर्ण हो होकर मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होनेपर क्या कुछ नवीन पदार्थ हुआ ? जो वास्तवमें परमार्थतः स्वरूप था वही मात्र केवल प्रकट हुआ। अब अन्यका संपर्क यहाँ कुछ न रहा। खालिस आत्मा ही आत्मा रहे, उसके साथ कुछ भी सम्बद्ध न रहे उसही का नाम है सिद्ध भगवान। तो सिद्ध भगवान बननेका उपाय क्या है कि यहाँ ही अपने विविक्त स्वरूपको निरखिये। जैसा होना है प्रकट, वैसा स्वरूप है यहाँ, अन्यथा सिद्ध हो नहीं सकते। तो उस स्वरूपकी भावना जब तक नहीं करता है जीव, तब तक वह जरा मरणसे रहित निज धामको नहीं प्राप्त करता।

(४१८) **चिन्तनीय तथ्योंमें व्यक्त विकर होनेकी विधिका दिग्दर्शन**—चिन्तनीय तथ्योंका चिन्तन ज्ञानी नाना प्रकारसे करता है, पर परमार्थ तत्त्व भावना उसकी प्रकीतिमें, मूलमें पडी हुई है। जीवमे व्यक्त विकार होते हैं उसका ढंग भी जान रहा। उसका चिन्तन भी कर रहा। व्यक्त विकारके प्रसगमें बात क्या होती है कि कर्मविपाक उदित हुआ याने कर्ममें उसका अनुभाग खिला, सो उसी क्षण उपयोगमे प्रतिफलन हुआ और उसके प्रतिफलनकी चपेटको न सहता हुआ वह बाह्यमें विषयोंकी ओर उपयोग लगाने लगा, यह प्रक्रिया है विकारके व्यक्त होनेकी। इस प्रक्रियामें उपादान कारण तो यह जीव है, जैसा वह योग्यतामें है, अज्ञानमय अध्यवसायके संयोगमें है और निमित्त कारण हुआ कर्मप्रकृतिका उदय और आश्रयभूत कारण हुआ इन्द्रियवा विषयभूत पदार्थ। अपने स्पष्ट निर्णयके लिए यह बात ध्यानमें रखना कि मेरे विभाव भावके लिए कर्मातिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ निमित्त कारण नहीं होता। निमित्त कारण एक कर्मविपाक है। जगतके अन्य पदार्थ ये निमित्त कारण नहीं किन्तु आश्रयभूत हैं। इसलिए इसको आरोपित कारण कहते हैं। हम इन विषयोंमें अपना उपयोग लगाते हैं, यही तो एक बात है। मेरेमे विभाव जैसे बने उस तरहके व्यापारसे परिणत नहीं हो रहे ये विषयभूत पदार्थ, किन्तु ये जहाँ धरे हैं, जहाँ खडे हैं सो धरे हैं। उनमें अज्ञानी उपयोग देता है सो विकार व्यक्त होते हैं, उपयोग न दे या अन्यत्र उपयोग रहे, आत्मस्वरूपमें उपयोग रहे, विकार तो होगा कर्मविपाकके कालमें, पर वह व्यक्त न हो पायगा, अव्यक्त रहेगा।

(४१९) **विकारविधिपरिचयसे शिक्षा**—अध्यात्मग्रन्थोंमें बुद्धिपूर्वक कथनोंका जिक्र हुआ करता है। अबुद्धिपूर्वक तथ्योंका विवेचन करणानुयोगमें मिलता है। तो यहाँ निमित्त कारण और आश्रयभूत कारणमें अन्तर जानना। आश्रयभूत कारणके उदाहरण दे देकर उस ही कोटिमें कर्मविपाक निमित्तकारणको नहीं रखा जा सकता, क्योंकि निमित्त कारणके साथ

कार्यका, विभावका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है, पर आश्रयभूत कारणका विभावके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं। कभी ये कर्मविपाक हमारे ज्ञानमे नहीं आ रहे, ज्ञानमें रहे हैं राग-द्वेष भाव, तो कार्य देख करके कारणका ज्ञान होना इसमें ज्ञप्ति मात्रसे निमित्त कारण आरोपित न कहलायगा। वह मात्र ज्ञप्तिमें आरोपित है, उत्पत्तिमे आरोपित नही। जैसे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान हुआ अर्थात् धूम कार्य है, अग्नि कारण है, धूमकार्यको देखकर अग्निका ज्ञान हुआ, इससे अग्निमें कारणत्वका आरोप नही है, किन्तु ज्ञप्तिके प्रसंगमे आरोपित है। इससे शिक्षा क्या लेना कि ये आश्रयभूत कारण तब कारण कहलाते हैं जब इनमें हम उपयोग दें, हम इनका आश्रय करें। यदि उपयोग नही देते, इन विषयभूत पदार्थोंका आश्रय नहीं करते तो ये कारण भी नही हैं। पड़े हैं जहांके तहां और कर्मविपाक यह निमित्तकारण है। जिस उदय क्षणमे उदित हैं उस क्षणमे ये प्रतिफलित होते ही हैं किन्तु हम विषयभूत पदार्थोंमे उपयोग न दें तो ये विकार व्यक्त नही हो पाते। सो व्यक्त विकारको तो ज्ञानबल से दूर करना, फिर इसी उपायसे अपने समयपर अव्यक्त विकार भी दूर होते हैं। तो अपना उपयोग आत्माके परमार्थ स्वरूपपर लगानेका पौरुष करना, सारे हितापेक्षित काम स्वय हो जायेंगे। अगर हमको आत्मस्वरूपमे उपयोग लगानेमे कोई बाह्य अड़चन आती है, जैसे घरका ख्याल, दूकानका ख्याल, अन्य अन्य पदार्थोंका ख्याल, तो इतने बडे आत्मस्वरूपमे मग्न होनेके कार्यके लिए इन सबका त्याग करनेमे सकोच न करना चाहिए, यह अपने लिए शिक्षा है, और साथ जितना बन सके इस ही समय इन बाह्य पदार्थोंका त्याग करना चाहिए ताकि जितना भी निःशल्य हो सकें उतनी निशल्यताके साथ हम आत्मस्वरूपका ध्यान कर सके, यही है चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका एक सहयोग। सो ऐसे सहज प्रशस्ततत्त्वकी भावना जब तक नही जगती तब तक जरा मरणसे रहित स्थान प्राप्त नही होता।

(४२०) **घटना प्रसंगोंमे आदेयोंका वैविध्य**— एक बहुत ऊँचा लक्ष्य लेकर मुनि भी चला तो भी उसके अनेक घटित हेय उपादेयके परिणाम होते रहते हैं, तो गृहस्थो के तो और भी अधिक रूपसे तथ्यों के हेय उपादेयके परिणाम होते रहते है। जगतमे ये बाह्य कुटुम्ब समागम ये रागके नोकर्म हैं, शस्त्र, विष कंटक, शत्रु आदिक ये द्वेषके आश्रयभूत कारण हैं, तो ऐसे समागम हेय हैं, पर जैसे मुनि अनेक घटनाओ से गुजरता है तो उसके ध्यानमे यह रहता था कि शुद्ध विधिसे चर्यासे शुद्ध आहार करना यह उपादेय है और अध:कर्मदूषित आहार करना हेय है, ऐसी भी बातें बीच-बीच आती रहती हैं। पर मौलिक बात यह है कि चाहे शुभ हो चाहे अशुभ हो, सभी प्रसंग आत्महितार्थीके लिए हेय हैं। पर घटना तो सब पर नाना घट ही रही हैं। अगर घटनागत बातो मे अच्छे बुरेका निर्णय न रखे तो भी काम

आगे न बढ़ेगा। जो जैसे कोई भवन बनानेके लिए पुरुष भवन बनाता है तो यह उसका मूल लक्ष्य रहता है, पर रोज रोज उसके अनेक उपलक्ष्य चलते रहते हैं, जैसे आज कारीगरसे मिलना, आज इतने मजदूर तय करना, सीमेन्टकी परमिट प्राप्त करना, लोहा, ईंटा आदिके सम्बन्धमें अमुक-अमुक जगह जाकर बात करना आदि ? ये सब उसके उपलक्ष्य हैं। लक्ष्यके समीप पहुंचनेके प्रयासमें उसके ये लक्ष्य आते रहते हैं। ऐसी बहुत सी बातें घटित होती रहती हैं। तो जीवनपर जो घटित है उसमें जो हेय उपादेयका निर्णय न रख सका तो वह कहांसे भूलकर कहां पहुंच सकेगा। बीत रही है, उसे संभालना तो बहुत आवश्यक है और उसकी मौलिक संभाल मूल लक्ष्यमें होती है। भले ही जाना है ५ मील दूरके गाँवपर, अब चलने वाले के भावों को देखिये—जहांसे वह चल रहा है वहांसे वह प्रत्येक कदम पर अपनी उमंग रखता चला आ रहा है। हाँ अब आ गए इतनी दूर, अब थोड़ी दूर और रह गया, अभी इतनी दूर और चलना है, मूल लक्ष्य तो उसका अन्दरमें है, पर उसके साथ घटनाओं को कहां छोड़े, वहांका भी चिन्तन चलता है। तो जो चिन्तनीय तथ्य हैं उनका जब तक चिन्तन नहीं करना और जो परमार्थभूत भाव है उसकी भावना नहीं करता तब तक वह जीव जन्म जरा मरणसे रहित स्थानको नहीं प्राप्त कर सकता।

(४२१) **अखण्ड द्रव्योंके स्वरूप व प्रदेशोंका चिन्तन**—कभी अखण्ड द्रव्यके अवयव के चिन्तनमें भी चलता है। जो द्रव्य बहुप्रदेशी है और अखण्ड है उसके अवयव अथवा अंश या कहो प्रदेश, उनपर जब यह दृष्टि रखकर ध्यान देता है तो वहां अनेक चिन्तन चलते हैं। वे धर्मद्रव्यके प्रदेश उपादेय है जो निमित्त बने कि जीव उत्तम गतिके स्थानपर पहुंच गया। अरे वे धर्मद्रव्यके प्रदेश हेय हैं, जो निमित्त रहे कि जीव नारकादिक दुर्गतियों के स्थानमे पहुंच गया, ये सब उसके ज्ञानके कौतूहल चलते रहते हैं। धर्म अधर्म द्रव्य एक है मगर वह अखण्ड धर्मद्रव्य समग्र निमित्तभूत नहीं होता। प्रदेश उसके भिन्न नहीं हैं, अभिन्न हैं तो भी गति स्थिति आदिकमें वे अवयव निमित्तभूत होते हैं। इसके आधारपर कुछ दार्शनिकोंमें न्याय शास्त्रके अनुसार भी चिन्तन चलता है। यहां वह आकाश प्रदेश तत्त्व उपादेय है जहां सिद्ध भगवानका अवस्थान है, वे अच्छे हैं। और जो नारकादिकमें है वे हेय है। चीज यह बिल्कुल बाह्य है, पर चिन्तन ही तो चल रहा। यों कितनी प्रकारके तत्त्वकौतूहलों में रहते हुए यह परमार्थ तत्त्वको कभी नहीं भूलता। ये ज्ञानके विकास, ज्ञानकी कलायें इन सब तथ्यों के कौतूहलों को बनाता है। तत्त्वचिन्तनमें भी युक्ति पूर्वक चल रहा, सर्व अखण्ड द्रव्यों का जैसा स्वरूप है वहां ध्यान जा रहा। द्रव्य अखण्ड यों कहलाता कि कोई एक परिणमन हो तो वह सर्वमें होता है। उस पर भी वह सांश है। आकाश सर्वव्यापक है, फिर भी सांश है।

अनन्त अवयव, अनन्त प्रदेश ये स्कंधके अवयव हैं, इस कारणसे अनेक द्रव्योंके संयोगसे बने हुए स्कंधोंकी तुलना नहीं होती, जहाँके अवयव एक-एक द्रव्यरूप हैं, अखण्ड पदार्थके अवयव एक एक प्रदेशरूप हैं, परमाणु एक प्रदेशमें रह रहा। यदि आकाश निरंश होता तो आकाश या तो परमाणु बराबर रहता या परमाणु आकाश बराबर हो जाता। जगतकी इन व्यवस्थाओंको भी यह ज्ञानी अपने तत्त्वकौतूहलपनेसे जान रहा है। सब कुछ जानते हुए भी निजका जो परमार्थ स्वरूप है उसकी प्रतीति कभी नहीं हटती।

(४२२) प्रायोजनिक अनुभूत तत्त्वके स्मरणकी प्राकृतिकता—मैं स्वयं अपने ही सत्त्वसे किस स्वरूप हूँ इसका परिचय अनुभव इस ज्ञानीको हुआ है। तो जो बात अनुभवमें आ जाय वह कैसे भूली जा सकती? जो बात अनुभवमें आ जाय और प्रयोजनभूत न हो वह तो कभी भूली भी जा सकती। और, भूलती ही है और जो प्रायोजनिक है और अनुभवमें आयी हुई है वह बात कभी नहीं भूली जा सकती। यों तो रोज रोज अनगिनते अनुभव बनते रहते हैं, भोजन किया, बात की, नफा है, नुकसान है, सम्मान है, अपमान है, यों अनेक अनुभवमें आते, पर उनसे प्रयोजन कुछ नहीं, इसलिए उस कालमें अनुभव आया, बादमें ख्याल नहीं रहता। पर ज्ञानी जीवको तो इस परमार्थ स्वरूपसे प्रयोजन बना हुआ है। क्योंकि सार ही यही एक मात्र है। और इस अनुभवमें ही वास्तविक शान्ति है। तो इस स्वभावका, स्वरूपका अनुभव करनेपर इसको कभी नहीं भूल पाता, और कभी अन्य प्रसंगमें लग जाय उपयोग तो वह अनुभवरूपसे भूल रहा है। पर उस कार्यको निपटाते ही प्रतीति इसकी निरन्तर बनी रहती है। अपने स्वरूपकी ओर अभिमुख होना, परकी ओर लगकर भी अपनी ओर खिचनेका योग रहना वह प्रतीतिको जाहिर करता है। तो ज्ञानीके निरन्तर अपने सहज चैतन्यस्वभावकी प्रतीति रहती है। मैं हूँ यह, अन्य रूप नहीं।

(४२३) पर्यायबुद्धिमें आत्महितभावनाका घात—पर्यायबुद्धिसे यह घरमें रहे तो वहाँ मोह करता है। कहीं बाहर रहे, यात्रामें रहे, सफरमें रहे तो वहाँ ही यह अपने अज्ञानमय भावका विस्तार करता है और कभी माने गए धर्मके प्रसंगमें रहे तो वहाँ भी अज्ञानमय अध्यवसानका ही प्रसार करता है। आत्महितकी सच्ची लगन नहीं बन पाती। जैसे कहीं भी गृहस्थ रहें तो वे अपने कुटुम्बकी वासनाको नहीं छोड़तेऐ, से ही किसी भी प्रसंगमें रहें पर्यायबुद्धि वाले जीव, तो वे अपने संगकी, सोहबतकी, पक्षकी, पार्टीकी बातको भीतरसे भुला नहीं पाते। और, जिनको केवल आत्मासे ही नाता है उनके इन बातोंका कुसंग नहीं आता। केवल एक स्वतंत्र निजतत्त्व अपने आपके स्वरूपकी ओर अभिमुख रहते हैं। तो जब तक इस परमार्थ चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी भावना नहीं बनती तब तक यह जन्मजरामरणरहित परम पदको प्राप्त नहीं

होगा।

(४२४) आत्माका परमपद व उसकी प्राप्तिका उपाय—वह परमपद क्या है ? ज्ञान से ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह स्थिति बनना परम पद है और इसका परिणाम क्या होता है कि कर्म नोकर्मके बन्धनसे रहित हो जाता है और तीन काल वर्ती समस्त पदार्थोंका ज्ञानहार केवलज्ञान प्रकट हो जाता। कल्याणके लिए केवल एक ही कार्य करना है, सहज ज्ञानस्वभाव-रूप अपने आपको मानना और ऐसा ही उपयोग बनाना कि जिसमें सहज ज्ञानस्वरूप ही सदा अनुभवमें रहे। कठिन भी बात बराबरके अभ्याससे सहज हो जाती है और कठिन जानकर उससे अलग रहनेका निर्णय रखने वाले उस तत्त्वको कभी प्राप्त कर ही नहीं सकते। निजको निजमें दुविधा ही क्या ? मैं हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, जाननका निरन्तर कार्य करता रहता हूं सो सदा निजको ही जाननेका कार्य करता रहता हूं। चाहे मिथ्यात्वमें रहा कोई जीव चाहे सम्यक्त्वमें रहा, सभी जीव निजको ही जाननेका काम करते हैं, पर अन्तर यों बन गया कि निजको पर रूपसे जाननेका काम तो हुआ मिथ्यात्वमें और निजको निज रूपसे जाननेका काम हुआ सम्यक्त्वमें इतना ही तो अन्तर तोड़ना है। कोई अधिक दुविधाकी बात नहीं है। तो निज ज्ञान-स्वरूप मात्र अपने आपको अपने ज्ञानमें अनुभवना, यह ही एक वह कार्य है कि जिसके प्रताप से परम कल्याणमें पहुंचनेके लिए जो होना है सो हो जाता है।

पाव पयइ असेस पुण्णमसेस व पयइ परिणामो ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

(४२५) भावसे पापकी निर्जरणा—भाव ही समस्त पापोंको पचाता है अर्थात् निर्जीर्ण करता है। भाव ही समस्त पुण्यको पचाता है अर्थात् निर्जीर्ण करता है। जिन शासनमें भाव से ही बंध और भावसे ही मोक्ष कहा गया है। भाव उत्तम होनेके लिए प्रारम्भिक बातें तो होनी ही चाहिए जैसे विनय, भक्ति तथा देव, शास्त्र और गुरुके प्रति समर्पण। यदि यह अभाव नहीं है तो इसका कारण मात्र लोगोंमें अहंकार है। जहां अहंकार है वहां कुछ सिद्धि नहीं हो सकती। विनय दूसरोंके एहसानके लिए नहीं है किन्तु अपने आपकी पावनता बनानेके लिए है। नम्रता, सरलता ये कुछ दूसरोंपर एहसान करनेके लिए नहीं है किन्तु ये अपने आपकी पावनता बनाते हैं। तो जहां भाव विनययुक्त हैं, सरलतासे सहित हैं, गुणीजनोंके प्रति समर्पण किए हुए हैं, आत्मिकके प्रति जिनके अनुराग बनी रहती है तो ऐसे भाव पाये जाते हैं और बढ़कर इतने विशुद्ध होते कि पापोंको पचा डालते हैं, निर्जीर्ण करते हैं। तब भाव अपनी पावनता है।

(४२६) भावसे पुण्यकी निर्जीर्णता—भाव ही सब पुण्यको निर्जीर्ण करते हैं। जिसके सम्यक् बोध है उसके परिणामोंमें उज्ज्वलताके साथ राग भी बसा हुआ है तो उसके

पुण्य विशेष बढ़ता है, यह एक मोक्षमार्गमें चलने वालेकी कथा हो ऐसी है कि जब तक संसार शेष है, उसका पुण्य विशेष चलता है और जब मोक्ष होता तो सब खतम हो जाता है तो यह सब भावोंसे ही बंध और भावोंसे ही मोक्षकी व्यवस्था है। वह भाव क्या है जो मोक्ष का हेतुभूत है ? वह है अपने सहज अपने ही सत्त्वके कारण जो कुछ इसका भवन है ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप उसकी दृष्टि। यह एक आधार है कि जहाँ बंध हो तो पुण्यका विशेष बंध हो। और इन भावोंमें शुभकर्मोंमें निर्जराकी बात तो है ही मूलमें और उसमें भी पापकर्मकी निर्जरा विशेष है। जब ऊँचे परिणाम होते हैं तो पापका अनुभाग घटता है और पहले बँधे हुए पुण्यकर्मका अनुभागरस बढ़ता है पापके चार दर्जे बताये गए। पापके दर्जे हैं नीम, कांजी विष और हलाहल। जैसे नीम कड़वी है, पर कम खतरनाक है और कांजीर उससे अधिक कड़वी चीज है, विष उससे अधिक खतरनाक है और हलाहल सबसे अधिक खतरनाक है। तो जब सम्यग्दृष्टिके चारित्रमें वृद्धि चलती है तो वहाँ जो पहलेके बँधे हुए विष और हलाहल वाले पाप थे वे घटकर नीम और कांजीर जैसे रह जाते हैं। और पुण्यके भी चार विभाग हैं—गुड़, खाँड, शक्कर और अमृत, या ऐसे कुछ भी कहो। तो गुड़ और खांड वाले पुण्य बढ़कर शक्कर और अमृतके अनुभागमें पहुंचते हैं। पहले तो ये हुआ करते हैं और हो रहे ये सब स्वयं जीवके शुद्ध भावोंका निमित्त पाकर और आगे जब बढ़ते हैं, ये पाप कर्म नहींके बराबर रह जाते तो जब शुद्ध परिणति किसपर मिसमिसाये ? पुण्य बचा सो उसको शुद्धभाव निर्जीर्ण करता है। तो यों भावोंसे ही बंध और भावोंसे ही मोक्षकी व्यवस्था है।

(४२७) योग्य भावोंसे सुवासित होनेका कर्तव्य—वर्तमानमें सर्व जीवोंसे मित्रताका भाव बढ़ा कर, गुणी जनोंसे प्रमोदभाव बढ़ाकर अपने अहंकार भावको उखाड़कर दयालुचित्त होकर अपने आपको पावन बनाना चाहिए। यह मनुष्यभव बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हुआ और संयमकी सम्भावना इसी मनुष्यभवमें बतायी, सो कोई कर्मोदय आया तीव्र पापका उदय आया तो उसे विवश होकर सहना पड़ता है सो जबर्दस्तीका संयम बन जाता (हँसी)। पापका उदय है, कष्ट आ ही पड़ा है, भोगोपभोगकी सामग्रीमें ही साधनाविहीन है तो वह तो सह लेगा, सहना ही पड़ेगा, पर स्ववश कुछ थोड़ा संयममें भी चले तो यह कठिन पड़ता है। सोचनेकी बात है। जिसको आजकल लोग बोलते—क्या रखा है संयममें ? बस भाव ठीक हों तो सब ठीक हो जायगा। परिणाम यह देखते हैं कि न भावोंमें निर्मलता है और न कुछ संयमके भाव बनते हैं। तो मनुष्यभव एक संयमका धाम है। अन्य गतियोंमें संयम नहीं होता। तिर्यञ्च गतिमें संयमासंयम होता तो वह न के बराबर है। कैसे ? जैसे मानो संयमासंयमकी सामना ५० से लेकर ५० करोड़ तक की डिग्रीकी है तो मनुष्योंमें नम्बरका भी संयमासंयम

रह लेता और ५० करोड़ तिर्यंचोंका भी संयमासंयम रह लेगा, पर तिर्यंचोंमें यों समझिये कि जैसे मानो १०० से लेकर २०० नम्बरकी डिग्रीका संयमासंयम है, तिर्यंचके जघन्य संयमासंयम नहीं होता, उत्कृष्ट तो हो ही नहीं सकता। उसके संयमासंयम होता है तो जघन्यसे कुछ आगे का अंश ही चलता है, और थोड़ा ही ऊँचा चलता है फिर समाप्त हो जाता है।

(४२८) संयमासंयम भी न ले सकनेकी मनुष्यत्वमें बड़ी भूल—संयम विशिष्ट संयमासंयम इस मनुष्यभवमें ही है। तो ऐसा मनुष्यभव पाकर संयमकी दृष्टि न हो और संयमकी खिल्ली उड़ायें तो यह योग्य नहीं। प्रायः आजका नवयुवक वर्ग संयमी जनोंकी दिल्लगी करता है। जैसे देखा होगा कि किसी शादी बारातमें कोई रात्रिभोजनका त्यागी पहुँच गया तो उसके लिए कुछ नवयुवक लोग दिल्लगीसे शब्द बोल उठते। जैसे ये देखो बड़े धर्मात्मा महाराज आ गए···। अब आप देखिये ऐसे लोगोंमें कितनी तीव्र कषाय है। वे तो यह भी कह देते कि इस संयममें धरा क्या है यह तो एक मामूली सी बात है, सिर्फ ज्ञान बढ़ाइये। तो होता क्या कि न तो ज्ञान बढ़ पाता और न संयम धारण कर पाते। अरे इस मनुष्यभवको पाकर तो इस संयममें लगना चाहिये था। पर वह मामूली लगने वाली चीज भी उनसे क्यों नहीं बन पाती? इस ओर जरूर कुछ ध्यान देना चाहिए और इसकी बाट न जोहना चाहिए कि जब मेरेको सम्यग्दर्शन होगा तब संयममें लगूंगा अरे इस जिन्दगीका कुछ भरोसा नहीं, पता नहीं फिर कभी संयम धारण किया जा सकेगा या नहीं? चाहे पूर्ण संयम न बन पावे फिर भी संयमकी ओर दृष्टि रहे। चाहे वह द्रव्य संयम हो। भले ही वह मोक्षमार्गमें न बढ़ पावे फिर भी असंयम से तो अच्छा ही है, मिथ्यात्वमें ही सही, पर दोनोंमें अन्तर तो देखो; जैसे कोई दो आदमी प्रतीक्षा करते हों रास्तेमें तो एक तो धूपमें बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा और एक वृक्षकी छाया में बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा तो प्रतीक्षा तो दोनों ही कर रहे, पर कुछ बाहरी घटनामें उन में अन्तर तो है। ऐसे ही असंयमी और संयमी दोनोंकी बाहरी घटनाओंमें अन्तर मिलेगा। तो संयमकी ओर हमारी वृत्ति रहनी चाहिए और संयमकी ओर लगनेकी भावना रहना चाहिये। मिथ्यात्व व सम्यक्त्वका लेखा, तो कोई लगा सकता नहीं, पर कर्तव्य है ज्ञानाराधनाका, उसमें बढ़ना है। जो होता है वह भीतर चलता रहता है पर ऐसे इस अशुचि शरीरको पाकर जो मरणके बाद जला दिया जाता है और कुछ कठिनाईकी बात भी नहीं है, तो साधारण संयम से भी नहीं रह सकते तो फिर यह मनुष्यभव पानेसे लाभ क्या मिला?

(४२९) मनुष्यभवका श्रृंगार संयम—सम्यक्त्व तो चारों गतियोंमें होता, पर सम्यक् चारित्र या विशिष्ट ज्ञान संयम केवल मनुष्यभवमें होता। जैनधर्ममें जबकी, परम्परा त्यागकी बराबर चलती आयी है, उसको चलाइये, कुछ भी कीजिए। और, कुछ नहीं तो [illegible]

[illegible] जैन धर्मकी मुद्रा हो क्या है ? यह भी समझमें न रहेगा । तो कुछ [illegible] अन्तस्तत्त्वको बढ़ाइये । ऐसा इसमें प्रमाद न करना कि जब हमको कोई बतलाके लोग [illegible] कि अब हुआ इसको सम्यक्त्व तब लें हम कुछ नियम संयम, ऐसी प्रतीक्षा न करें । अपने आपपर दयालु बनें और यथायोग्य चूंकि मनुष्य हुए हैं तो अपनी यथाशक्ति संयमकी प्रवृत्ति करते हुए भीतरमें अन्तः ज्ञान प्रकाशका भी भाव रखें, उसका भी पौरुष करें । तो भाव ही सर्व अपने भविष्यका मूल है । हम क्या बनेंगे, क्या होंगे, क्या हमारा भविष्य होगा ? इन सबका उत्तर भाव है । और, भावोंकी पहिचान खुद करना चाहे तो खूब कर सकते हैं । दूसरेकी पहिचान करना तो कठिन है, हम कुछ समझ भी न सकेंगे । कोई मायाचारी ऐसी भी हो सकती कि अपनी वचनकलापर अपनेको बहुत शुद्ध साबित कर सके, पर हम भीतर की बात नहीं कह सकते कि क्या है । कोई नहीं कह सकता । भले कोई न कह सके, पर अपने अपने [illegible] तो अपने ध्यानमें सकते हैं । थोड़ा अहंकारभाव छोड़कर, देहात्मबुद्धि छोड़कर अन्तरङ्गमें निरखने चलें तो अपने परिणामोंको बराबर निरख सकता है । सो अपने आप पर करुणा करनेकी बात है । कोई किसीपर एहसान रखनेकी बात नहीं है ।

(४२०) कीर्तिचाहकी असारता—जगतमें जीव अनन्त हैं । कुछ लोगोंमें अपनी शान, अपनी प्रतिष्ठा, अपना प्रभाव डालनेकी चाह रखने वाले पुरुष यह तो सोचें कि जब अनन्तानन्त जीवोंको मैं अपनी शान नहीं बता सकता, प्रथम तो सभी मनुष्यों में हमारी शान नहीं नहीं फैल सकती, कुछमें ही फैल पाती है । पशु पक्षियों की तो बात छोड़ो, सभी मनुष्यों में ही शान नहीं फैल सकती । जीव अनन्तानन्त हैं । इन अनन्तानन्त जीवोंने जब मेरी शान न समझ [illegible] तो दो चार दसको अपनी शान दिखाकर क्यों व्यर्थमें कलुषता बढ़ायी जा रही है ? अनन्त काल व्यतीत हो गया तो शानपर कमर कसने वाले व्यक्ति कितने काल तक क्या बना पायेंगे ? उस अनन्त कालके समक्ष यह २, ४, १०, २०, ५०, १०० वर्षका काल समुद्रके बराबरमें एक बिन्दु बराबर भी नहीं है । तो जब सारे समयों में हम अपनी शान न फैला सके तो फिर इस थोड़ेसे जीवनके लिए कमर कस कर क्यों अपनी जिन्दगी बिगाड़ी जा रही ? यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है । एक राजूका विस्तार बहुत बड़ा है और अंदाज यों करलो कि जहां हम रह रहे इसका नाम है जम्बूद्वीप । यह गोल है । और इसकी चौड़ाई अर्थात् आमने सामनेका नाप एक लाख योजन प्रमाण है । दो हजार कोशका एक योजन होता है । और ऐसे ऐसे एक लाख योजन प्रमाण लम्बा है और उस जम्बूद्वीपको घेर कर लवणसमुद्र है, और एक तरफ दो लाख योजन विस्तारका है । इतना ही अब और दूसरी तरफ भी है । वैसे कहते तो हैं ऐसा कि जम्बूद्वीपसे दुगुना है और उसकी जगह अगर देख

कल निकालें तो कई गुना बैठेगा। उससे दूने विस्तार वाला दूसरा द्वीप, उससे दूने विस्तार का दूसरा समुद्र, इस तरह उसके बाद द्वीप, उसके बाद समुद्र यों असंख्यात हैं करीब [illegible] [illegible] नहीं, असंख्याते हैं। तो अब समझिये आखिरी समुद्रका विस्तार कितना है और [illegible] विस्तार यह कितना हुआ? यह सब मिलकर भी पूरा एक राजू नहीं कहलाता। वह हुआ एक सामने सामनेका राजू। उतना बड़ा हो और फिर उतना ही चौड़ा हो, उतना ही मोटा हो, घनराजू जिसे कहते घनफुट जैसा, ऐसे ३४३ घनराजूप्रमाण लोक है, इस सारे लोकके आगे आपका यह नगर, या आपका यह थोड़ा सा परिचित क्षेत्र कौन सी गिनती रखता है। इतने से क्षेत्रमें अपनी शान बनाना अपना प्रभाव बनाना और नाना प्रकारकी कल्पनायें बनाना इन थोथी बातोंको करके क्यों जिन्दगी बिगाड़ी जा रही है।

(४३१) संयत जीवनसे उन्नतिके मार्गका लाभ—अपने भावोंको तो संभालें। आत्माका नाता रखकर सब बातोंका अध्ययन करें तो भावविशुद्धिका मार्ग मिलता है। तो ये भाव ही बंधके कारण हैं भाव ही मोक्षके कारण हैं। वर्तमान समयमें अपने आपको किस तरह बनाना चाहिए, ढालना चाहिए सो वह करतूत सोचो तो सही। दया भक्ति आदिकके परिणाम जहाँ न हो सकें वहाँ शुक्ल ध्यानकी बात सोचना यह तो अपने आपको ठगना है, भैया, प्रभुभक्ति रखते हुए, रत्नत्रयकी प्रीति रखते हुए, ५ प्रकारके विनयमें चलते हुए आत्मा के स्वभावकी सुध रखते जाइये। नीरस, शुष्क बातसे, गप्पसे अपना काम न बनेगा, उद्धार न होगा। आचार्यजन बताते हैं कि परमात्माके नाम मात्रकी कथासे ही भव-भवके संचित-पापोंका क्षय होता है। तो जहाँ प्रभुकी भक्ति है वहाँ प्रभुके स्वरूपका भी तो स्मरण है और अपने आपके स्वरूपका भी तो कुछ संस्पर्श है। वहाँ ही शुद्ध भक्ति बने अपने आपमें जैसी कि अपनी परम्परामें चली आयी हुई बात है—देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान और जैसा जो कुछ चला गया, गुणीजनोंको देखकर हृदयमें प्रमोद होना, उनकी सेवा का परिणाम होना। उस प्रकारकी जिन्दगी रहेगी तो भीतर अंतस्तत्त्वकी साधनाका अधिकार भी है और यदि जीवनको ऐसा नीरस बनाया, भक्तिविहीन, दयाविहीन लोगोंके [illegible] के लेकर यदि जीवनको ऐसा बनाया गया तो यह तो अपने आपको ठगना है, यों समझो कि फिर तो यह जीवन व्यर्थ ही गमाया जा रहा है।

(४३२) जीवनकी मर्यादित रखनेकी आवश्यकता—भैया, ऐसे गाड़ी न चलाओ कि जैसे गाड़ीके एक तरफ कुएमें ऊँटको जोत दें और दूसरी ओर बिल्लीको जोत दिया जाय। एक तरफ तो व्यापार करके, सर्विस करके ग्राहकोंसे अनेक तरहके खूब लाभ करके ये सब बातें भी करते रहे और देव, शास्त्र गुरु भक्ति ये पर द्रव्य हैं, ऐसा सुन रखा, इनको हेय [illegible]

करना, और अपने आपको ऐसा समझना कि मैंने तो सब कुछ खूब पाया, ऐसी भीतरमें श्रद्धा रखकर ऐसी बेतुकी जिंदगी बिताना यह अपने लिए कार्यकारी नहीं है। तो जो परम्परा आचार चला आया उसमें बहुत बल है। बहुत कुछ समझनेकी बातें हैं। कानून आज बना है तो वह आज ही नहीं हो जाता। धीरे धीरे कुछ वर्षोंमें वह कानून सिद्ध हो पाता है। तो ऐसे ही हमारे आचार्यपरंपरासे हमारे महापुरुषोंसे जो कुछ हमने पाया है व्यवहार रत्नत्रयके रूपमें व उसके साधनके रूपमें, वैयक्तिक अपनी चर्याओंके रूपमें उन सबमें उस मूल आधारमें उस प्रकार से जीवन व्यतीत करते हुए फिर तत्त्वज्ञानमें बढ़ें तो इसमें धोखा न मिलेगा। जैसे तलवार और ढाल सहित सजकर तलवार लेकर संग्राममें उतरियेगा तो धोखा न रहेगा ऐसे ही अपने संयम सहित जो कुछ आवश्यक कार्य हैं उन कर्तव्योंसहित रहकर फिर तत्त्वज्ञानमें बढ़ियेगा और अन्तः आराधना चले तो धोखा न रहेगा। ऐसे ही अपने संयम सहित जो कुछ आवश्यक कार्य हैं उन कर्तव्यो सहित रहकर फिर तत्त्वज्ञानमें बढ़ियेगा। और अन्तः आत्माकी आराधना चले तो धोखा न रहेगा। इस प्रकारकी हमारी जिन्दगी बन जाय और हम एक सही रूपसे ज्ञानवासित होकर जीवन बितायें तो यह इस मनुष्य भवकी बहुत बड़ी देन होगी अन्यथा यो ही जीवन खो दिया।

(४३३) मनुष्यभवकी दुर्लभता जानकर भावोंकी सम्हालका अनुरोध—भैया, क्या पता कि इस त्रस पर्यायके बीच अवकाश होगा या न होगा। कुछ अधिक दो हजार सागर प्रमाण त्रसका काल रहता है। यदि वह ही पूरा कर रहे हो तो एकेन्द्रिय ही होना निश्चित है। संयमकी बात हर जगह सम्भव नहीं, चाहे वह द्रव्यलिंग ही हो, ज्ञानका तो किसीने ठेका नहीं लिया ना ?, पर थोड़ा ज्ञान तो सभीको है। आत्माके बारेमें बोध तो है ही है। सो संयममें प्रमाद न करना चाहिए। जिसको लोग तुच्छ समझते हैं, मामूली समझते हैं वह क्यों नहीं रुचता है ? क्यों उसके करनेमें कष्ट माना जाता ? तो वह सब विधिपूर्वक है। बल्कि श्रावककी तो जो परम्परा है, नियमसे रहना, शुद्ध भोजन करना, दूसरोंसे पूछना, भक्ति, विनय व्यवहार रहना, वह ढंगसे रहकर फिर तत्त्वज्ञानमें बढ़े तो कोई शल्य न रहेगी उसे। और निःशल्य हो वह अपनी साधनामें बढ़ेगा। सो यहाँ यह बता रहे कि भाव ही आपका सर्वस्व है, भावसे ही आप विजय पायेंगे, इसलिए भावोंकी सम्हाल यत्न पूर्वक होनी चाहिए।

(४३४) प्रभुभक्तिसे भावविशुद्धि—प्रकरण यह चल रहा है कि भावोंसे पापका नाश है, भावोंसे पुण्यका विस्तार है और भावोंसे कर्मोंका क्षय है। पापके नाश करनेमें मुख्य तो अन्तर्दृष्टि रही, पर प्रयोग व घटना अपने जीवनके कल्याणका प्रोग्राम है तो उनमें सर्वोपरि है प्रभुभक्ति। प्रभुभक्तिमें नाममात्रकी कथासे ही जन्मजन्मकृत पाप नष्ट होना बताया है. फिर

परमात्मासंबंधी ज्ञान और चारित्र व श्रद्धान हो इस मनुष्यको, तो यह जीव निष्पाप तो बनता ही है, वह तीन लोकका नाथ भी बन जाता है। ऐसे ही जिन भावोंसे पुण्यका विशेष आश्रव होता है उनमे भी मुख्य है जिनभक्ति। यह जिनभक्ति ही एक दुर्गतिका निवारण करनेमें समर्थ है और पुण्यको पूरनेमे समर्थ है और जिनभक्ति इस सद्मनुष्यको मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करनेमे समर्थ है, ऐसा स्तोत्रोंमें कहा गया है। परमात्माके उस शुद्ध निर्मल स्वरूपको सोचनेसे चूंकि यह शुद्ध निश्चयनयका विषय है सो अभेद विधिसे निश्चयनयकी गति होती है। तो जहाँ परमात्माके निर्मल परिणमनको निहारा, वहाँ केवल अब दो ही बातें दृष्टिमें रही। एक तो वह स्वरूप जिसकी उपासना करके यह स्वभावपरिणमन चल रहा और एक यह स्वभावपरिणमन। और, इस ही का चिन्तन करते करते स्वभावपरिणमन और स्वभाव ये परस्पर अपनी बुद्धिमें विलीन होकर केवल एक स्वभावदृष्टि रहती है और स्वभावाश्रयणमे स्वभावचिन्तनमें विषय व्यक्ति नही रहता है और इस विधिसे अपने स्वभावका स्पर्श हो जाता है। क्योंकि स्वभावके चिन्तन करनेमे पर जीव तो विषय होता नहीं, और स्वयं कहीं जाता नही। पारिशेष्य न्याय से स्वयं उसका विषय बन जाता है और इस तरह जिनभक्तिके प्रसादसे यह अपने आपके स्वरूपमे उतर जाता है और यही मोक्षमार्गमे बढ़ाने वाला है। तो भावोंसे पुण्यका विस्तार है और भावोंसे ही मोक्षमार्गमे वृद्धि है। तो वह मोक्षका कारणभूत भाव क्या है? आत्माका भाव तो है आत्मस्वरूप अपने आपके एकत्वमें लीन होना। ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो। तो इस तरह हमारा उद्धार कल्याण हमारे भावपर है। ऐसा जानकर परभावोंको आदर न दें और स्वक्षेत्रको आदेय मानें और उस ही ओर लीन होनेका पौरुष करें।

मिच्छत्त तह कसायाऽ सजमजोगेहिं असुहलेसेहिं।
बंधइ असुह कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११७॥

(४३५) एकान्त व विपरीत मिथ्यात्वमें जीवके विभ्रमपना—जो जिनेन्द्रवचनसे पराङ्मुख है ऐसा जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम योग और अशुभ लेश्यावोंके द्वारा अशुभ कर्मका बंध करता है। मिथ्यात्व ५ प्रकारके कहे गए हैं सो मिथ्यात्व भाव तो वह एक ही है, पर आश्रव भेदसे ५ भेद बताये। एकान्तमिथ्यात्व—वस्तुस्वरूपकी जानकारी स्याद्वादसे होती है, और स्याद्वादको छोड़कर किसी एक नयके एकान्तसे अपनी श्रद्धा बनाना, आस्था बनाना यह एकान्त मिथ्यात्व है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, शाश्वत कोई रहता है उस ही में तो परिणमन चलता है। परिणमन होते रहना यह वस्तुका स्वरूप है। परिणमन बिना वस्तु नहीं रहता इसलिए इन दो में से किसी एकको अभेद कल्पना करे तो दूसरेका अभाव स्वयं बन जाता है। उस पर्यायात्मक वस्तुमें एकको न मानकर किसी एकके ही एकान्तमें जो कुछ बुद्धि

बने वह एकान्त मिथ्यात्व है (२) विपरीत मिथ्यात्व--वस्तु है और प्रकार, और आस्था हो रही और प्रकार तो यह विपरीत मिथ्यात्व है ।

(४३६) स्याद्वादका सहारा छोडनेसे एकान्तादि मिथ्यात्वोंका पालन पोषण—स्याद्वादके अंतस्तत्त्वको न जानकर और उसका सहारा न लेनेसे यह सब मिथ्यात्व बन जाता है। जैसे एक स्थूल रूपसे बताया ही है । सप्रतिपक्ष अस्तित्व बताया है । जैसे घट और पट ये शब्द अधिक प्रयोगमें आते हैं और इसके साथ ही एक शब्द चलता है रज्जु मायने रस्सी ये तीन शब्द घट, पट और रज्जु अधिक मिलेंगे जैन दर्शनमें, इनका क्रमश अर्थ है—घडा, कपडा और रस्सी । देखिये पहले जमानेमें अक्सर करके ऐसा होता था कि लोग जब मुसाफिरी के लिए घरसे बाहर निकलते थे तो अपने साथ ये तीनों चीजें रखा करते थे, लोटा, छन्ना, और डोर, काहेके लिए ? पानी पीनेके लिए । आज कल तो यह रिवाज बिल्कुल हट गया । अनछना पानी पीनेमे लोग जरा भी सकोच नहीं करते । सो अब लोटा, छन्ना, डोर इन सब का काम खतम हो गया, याने न घट रहा, न पट रहा और न रज्जु रहा । ये सब बातें लोग भूल गए और लोग झट कह उठते कि पानीको छाननेकी क्या जरूरत, वह तो यो ठीक है, अनेक युक्तियां भी देते कि देखो नगरपालिकाकी टंकीमे इंजीनियर लोग काम करते, वे पानी को दवासे साफ कर भरवाते, उसका बडा निरीक्षण रखते, उसमें जीव नही आने पाते, वह तो प्रासुक रहता है···यों अनेक प्रकारके उदाहरण भी देते, पर बात यह है कि जल तो एक ऐसा पदार्थ है, जीवोकी उत्पत्तिका एक ऐसा आधार है कि जिसमे थोडी ही देरमे स्वय अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं ।

(४३७) स्याद्वादमें विरुद्धधर्मोंका विभिन्न अपेक्षावोसे अविरोध—यहां स्याद्वादमे उदाहरणार्थकी बात कह रहे हैं, (१) घट घटरूपसे है अन्यरूपसे नही है । स्याद्वादकी बात विचारनेके लिए यह एक बात रख रहे हैं । (२) घटका घटरूपसे अस्तित्व है, घटमे पररूप से नास्तित्व है । अब तीसरे कदम पर चलो—घटमे अस्तित्व है, घटमे नास्तित्व है । अब इसी बातको यदि यों कहें कि घट-घट है, पट नहीं तो यह स्याद्वादका रूप नही बना । मोटे रूपसे तो ध्यानमे आता है कि बात तो ठीक कह रहे, पर अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही परस्पर प्रतिपक्ष धर्म एक वस्तुमे रहे तब तो स्याद्वादकी विधि हो, अगर यो ही कहा जाय कि होगा स्याद्वाद, घट घट है, पट नही, तो यो स्याद्वाद सब एकान्तवादियोका बन जायगा और सभी कहते ही है, मेरा कहना सच है, झूठ नही, अमुक बात यों है अन्य नहीं, वस्तु क्षणिक है अक्षणिक नहीं, पर स्याद्वादका मर्म तो यह था कि एक वस्तुमे परस्पर विरुद्ध धर्मोंका अविरोध रूपसे स्वीकार करना । जो अभी दृष्टान्त दिया घट पटका उसमें तो एक

समन्वयापित है, बन भी गया, मगर ऐसी ही मुद्रा अगर सर्वत्र बनाई जावेगी तो अनेक जगह व्यभिचार मिलेगा और स्वच्छंदता बन जायगी, इसलिए अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों का एकत्र अविरोध बने उस भाषाके प्रयोगसे स्याद्वाद बनता है। तो स्याद्वाद शासनको न माननेसे अनेक एकान्तवाद हो गए। स्याद्वादियोंमें कोई एकान्तवादी घुस कर कहे देखो— पदार्थ क्षणिक है अक्षणिक नहीं तो हमारा स्याद्वाद बन गया कि नही ? हर एक लोग भी बोल सकते। जिसको एकान्तवादकी बात रखना है वह इस नकली स्याद्वादकी मुद्रामें अपनी बात भी रख सकता है। सबको छुट्टी। नकली मुद्रामे सबको अवसर मिलता है, असली मुद्रा में सबको अवसर नहीं मिलता। वस्तु नित्य है, अनित्य नही, लो बन गया हमारा स्याद्वाद इस एकान्तको भी नकली मुद्रामें आप स्याद्वादका रूप दे सकते, पर स्याद्वादका यह रूप नहीं है। परस्पर दो धर्मोंको भिन्न अपेक्षासे अविरोध रूपसे सिद्ध करना यह स्याद्वादकी असली विधि है। इसको छोडकर अनेक एकान्त विपरीत आदिक सिद्धान्त बन गए।

(४३८) सांशयिक व वैनयिक मिथ्यात्व—(३) संशयमिथ्यात्व—संशय रहना कि आत्मा है या नही, यह बात सही है या नही, स्याद्वादशासन मानने वालोंको कभी भी किसी से विरोध नही बनता और खासकर जैनमें परस्पर जितने भी कथन हैं उन सबको स्याद्वादकी अगर भक्ति है तो उनको पचानेका सामर्थ्य है। और स्याद्वादमे भक्ति नहीं तो एकान्तवाद होनेसे वह स्याद्वादशासनसे भी बहिर्भूत है, तो उनको अपने आत्मस्वरूपमे मान्यताका आनन्द कैसे मिल सकता है ? ये सब आश्रयके भेदसे मिथ्यात्वके भेद बढ़ गए। मूलमे बात यही है मिथ्यात्वकी कि जो सम्यक्त्व नहीं है ऐसा परिणाम वह सब मिथ्यात्व है। (४) विनय-मिथ्यात्व—हमारे लिए तो सब गुरु है, तापसी हो, सन्यासी हो, जटाधारी हो, पचाग्नि तप तपना हो, निर्ग्रन्थ हो, सवस्त्र हो, मेरे लिए तो सब गुरु हैं, आजके युगमे इस प्रकारसे कहना तो बडा भला लगता है और ईसे कहते हैं राष्ट्रप्रगतिका विचार वाला, मगर वस्तुस्वरूपकी ओरसे देखो तो चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका आशय इस निरीक्षकमें नहीं है इस कारण वह विनय मिथ्यात्व है।

(४३९) अज्ञानमिथ्यात्वका पसारा—(५) अज्ञानमिथ्यात्वमे सारा जगत पड़ा है, बोध किया ही नही अपने आपका। यह प्रवृत्ति क्यों चलती है मनुष्योमे ? जरा जरा सी बातमें क्रोध आवे, दूसरोंको देख करके मान आये, अपनी अपनी बात चलानेका लोभ आवे और अपनी ही बात चलानेके लिए माया। कपटका जाल रचे, यह प्रवृत्ति क्यो हुआ करती है मनुष्योंमे ? इसका कारण है अज्ञान मिथ्यात्व। भीतरमे सुलझ नही है, उससे यह बन नही पाया कि वह अपने आत्माके स्वरूपको और पर जीवके स्वरूपको एक समान समझ सके।

वह दृष्टि नहीं प्राप्त हुई इसलिए ये खोटी प्रवृत्तियाँ, कषाय वाली प्रवृत्तियाँ सब चलती हैं और उससे आकुलित होते हैं। अरे बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला उसे भी ही क्यों खोते ? अहो यह संसारी भ्रम जीव कैसी उदारता बर्त रहा है कि जहाँ अनन्त भव हैं वहाँ एक यह भव भी उन्हींमे शामिल हो जाय हमे कुछ फिकर नही। देखो इस संसारी सुभटकी कितनी बड़ी उदारता है। क्यो उन अनन्तमे से एक कम करें ? खूब रहनेमें अनन्त भव और उनमें यह वर्तमानका भव भी मिला दें, ऐसा उदार बन रहा है यह संसारी सुभट। (हँसी) तो इन ५ प्रकारके मिथ्यात्वोंके वश होकर यह जीव अशुभ कर्मोंका बंध करता है। जीवने तो अशुद्ध परिणाम किया, उसका निमित्त पाकर वहीं एक क्षेत्रावगाहमे अवस्थित कार्माण विस्रसोपचय वर्गणायें भावानुरूप कर्मस्वरूपसे परिणम जाती हैं, इनको कौन रोकेगा ?

(४४०) समझवाला व बेसुधी वाला पाप—लोग प्रायः सब जानते हैं कि यह पाप है और यह नहीं है हम आपकी तो बात छोड़ो, कुत्ता बिल्ली वगैरह पशु भी समझते हैं कि यह पाप है यह नहीं। देखो कोई कुत्ता अगर रोटी चुराकर खाता है तो क्या करता है कि खूब लुक छिपकर पूछ झुकाकार धीरेसे बिना किसी प्रकारकी आवाज किए रोटी चुराकर ले जाता और किसी एकान्त स्थानमे बैठकर उस रोटीको खाता, वह बीच बीच इधर उधर देखता भी जाता कि कोई देख तो नही रहा। तो उसको यह समझ है कि यह पापका काम है। और अगर किसी कुत्तेको मालिक रोटी खिलाता तो उसकी बात देखो कैसा वह खुश होकर अपनी दुम हिलाकर एक ठसकके साथ खाता। तो जो पापका परिणाम रखता है उसका दिल कमजोर रहता है। मगर चूँकि एक व्यसन लग गया है इसलिए उसीको ही लगाये जाता है। तो पापकी बात या अपापकी बात यह भगवान आत्मा बड़ी सरलतासें समझ लेता है और मूल पाप तो ऐसा है कि जिसकी समझ नहीं बन पाती। तो पाप करके भी पापकी समझ न बने, ऐसा पाप है मिथ्यात्व। बाकी प्रवृत्तिरूप पाप तो अज्ञानीके भी प्रायः समझमें आ जाते और ज्ञानके भी। तो यह मिथ्यात्वभाव जहाँ है वहाँ विकट अशुभ कर्मका बन्ध है।

(४४१) अशुभभावसे सर्वत्र अलग रहनेका कर्तव्य—लोग पाप करते हैं एकान्तमें कि कोई देख तो न ले, हमारी निन्दा न हो, हम पर विपत्ति न आये, पर कहाँ एकन्त ढूढ़ोगे ? कहीं एकान्त मिलेगा क्या पाप करनेके लिए ? चाहे गुफामें चले जायें, चाहे कमरेके भीतर रहें, वहाँ भी अशुभ भाव है, खोटा भाव है तो उसको निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। इन्हे कोई नहीं रोक सकता। और सबसे बड़ा दंड दे सकने वाला निरीक्षक कह लीजिये यह साथ लगा हुआ है जीवके, ये विस्रसोपचय कार्माण वर्गणायें बँध गई, इनके अनुभाग उदयके समय यह जीव विपत्तिमे पड़ जाता है। इससे ऐसी आवश्यकता रखना [illegible]

कभी भी अशुभ भाव न करें, क्योंकि उसका फल नियमसे मिलेगा। दूसरा कौन दंड देगा जिससे छुपकर पाप कर रहे ? जो दण्ड देगा उससे छुपकर कोई रह नहीं सकता। तो यह सब समझ कर कि ऐसी घटनायें घटा करती हैं, अशुभ भाव हुए तो वहीं अशुभ कर्म बँधते ही हैं, वहाँ रंच भी रुकावट नहीं है कि इसने नहीं जान पाया। यदि ये कर्म जाननहार होते, चेतन होते तो उनसे छिपकर भी कोई भाव हम बना सकते थे, परन्तु ये बंध्य कर्म चेतन नहीं, जाननहार नहीं। यहाँ तो निमित्त नैमित्तिक योग अनिवार्य है। धोखा दिया जा सकता है, किसी जानने वालेको, जीवको, पर अचेतनको कहाँ धोखा है ? जैसे ही जीवने अशुभ भाव किया वैसे ही वहाँ कार्माण वर्गणाओंका कर्मरूप परिणमन हुआ और कषायके अनुसार वे बँध गई, तो यह जीव विपत्तिमें आयगा, इसे कौन बचायगा ?

(४४२) कर्मत्वहेतुभूत अशुद्ध भावोंसे हट कर शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेका कर्तव्य—इस जीवके साथ अबसे सैकड़ो हजारों लाखों करोड़ों भवों पूर्वके ही नहीं, बल्कि अनगिनते भवों पहिले कर्म बँधे हुए इस समय पड़े हैं, क्योंकि सागर उपमाप्रमाणके अन्दर असख्यात लब्ध्यपर्याप्त भव बीत जाते हैं। उन कर्मोंका अपने अपने समयपर या परिणामके वशसे वेसमयपर विपाक उदय होता है। कोई बड़ा धर्मात्मा पुरुष हो, जिसने कभी कोई दोष नही किया, सारे जीवन भर अच्छे परिणामसे रहा फिर भी बड़ी विपत्तिमे रहा, ऐसा भी देखा जाता है। वह ऐसे रोगसे ग्रस्त होकर मरण भी कर सकता कि जिसे देखकर लोग यह कह सकते कि इसकी बड़ी बुरी मौत हुई, भाई इस जीवनमें तो कुछ नहीं किया, फिर ऐसा उदय कहांसे आया ? तो ये करोड़ों अरबों भव पहलेके भी उदयमें आ सकते हैं, आते ही हैं सब स्थिति पाकर उदय। सो एक इसी भयसे अशुभ भाव न करो। शुद्ध अंतस्तत्त्वकी रुचि से अशुभ भाव न हो तो यह एक मौलिक कदम है। तो यह जीव ऐसे मिथ्यात्वके वश होकर अशुभ कर्मका बंध करता है। और, उसमे प्रेरणा मिली है जैन शासनसे पराङ्मुखतासे। जिन वचनका श्रद्धान हो, उसके अनुसार आत्महितकी भावनासे अपने आपपर दयाके भावसे मोक्ष मार्गमे ही गमन हो तो यह पाया हुआ दुर्लभ मानव जीवन सफल होता है।

(४४३) सत्संगके अभावमें दुर्भावोंकी अहानिसे, वैराग्यकी हानिसे आकुलतामें वृद्धि—अशुभ भावसे अशुभ बंध होता है। इस प्रकरणमे अशुभ बंधके कारण बताये जा रहे हैं। मिथ्यात्व कषाय आदि। मिथ्यात्वका वर्णन किया, अब कषायका वर्णन करते हैं। जो कषे उसे कषाय कहते हैं याने विलक्षण ढगसे दुःख दे, वह है कषाय। अपनेको दुःख देने वाला कषाय भाव है अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभसे ये प्राणी दुःखी रहते हैं, इनको दुःखी करने वाला कोई दूसरा नहीं। दूसरा प्राणी तो इनके दुःखमे निमित्त भी नहीं है। दुःखका निमित्त ।

अशुभकर्मका उदय, और दूसरा योग है आश्रयभूत कारण। तो आत्माको कष्ट देने वाली ये कषायें हैं। हम सब सुनते भी आये, पढ़ते भी आये, बड़ी-बड़ी चर्चायें भी करते, स्वाध्याय भी करते, और इसी बातका प्रतिपादन करते, पर वैराग्यमे वृद्धि नहीं है, वैराग्यकी ओर चित्त नहीं जाता, केवल रोज-रोज एक चर्चा भी कर लेते, चित्तमें यह बात नहीं आती कि हमको किसी लक्ष्यमे पहुचना है तो उसका कारण क्या है कि चर्चा करके भी हमारा राग नहीं घटता, वैराग्यकी ओर नही आते, स्वाध्याय तो बहुत कर लेते, कभी सारा दिन करते कभी थोड़ा करते। तो इसमें मुख्य कारण है सत्संगका अभाव। जब कोई बात प्रयोगात्मक करने चलें तो उसका पता पडता है। जब प्रयोगपर चलते हैं तब पता पडता है कि बात क्यो नही बनती। कमी कहाँ है। तो जब उस प्रयोगपर चलनेका भाव रखें और उद्यम करें तो ये सब बातें ठीक-ठीक समझमे आ जायेंगी। कैसे और क्या किया जाय कि सिद्धि प्राप्त हो? एक बात सोचना तो चाहिए कि राग, कषायें घटे बिना तो उद्धार नही हो सकता। मेरा राग घटे, कषाय घटे यह उद्यम करना है, और स्वाध्याय करते, सुनते, पढते बोलते बहुतसा समय गुजर जाता फिर भी यह पाते हैं कि वैराग्यकी ओर नही चल सके, राग नहीं घट सका। तो कुछ सोचना चाहिए कि कौनसी कमी रह गई। तो वह कमी है सत्सग की। जिसके राग घटा हो, जिसके मद कषाय हो ऐसे पुरुषोका सग रहे तो वह एक ऐसा वातावरण है कि अपनो भी विरक्तिकी ओर उमग चले। सो दो ही तो बातें हैं—स्वाध्याय और सत्सग। ये दोनो प्रयोग अमृतपान हैं। आज स्वाध्याय तो बनता है, पर सत्सग नही मिलता, और इसके बजाय बाकी समय देखो तो कुसगके प्रसग मिलते रहते हैं याने जिनको ससार, शरीर, भोगोसे वैराग्य नही है, ऐसे जीवोका सग अधिक मिलता रहता है, तो परिणाम क्या होता कि ये स्वाध्याय चर्चा आदि भी एक मनोविनोदके साधनमात्र रह जाते हैं। जब प्रयोगरूपसे चलें तब नम्रता भी आयगी, सत्सगमे भाव भी होगा, धर्मानुराग भी चलेगा, अहकार दूर होगा। जो बात जिस विधिसे होती है वह उसी विधिसे बनेगी। मोक्षमार्ग ज्ञान और वैराग्यसे चलता है तो यो ही चलेगा। यहाँ अशुभ बधका कारण कषायभाव बतला रहे हैं। कषाय १६ हैं, ९ नोकषायें हैं, यों २५ कषायें हैं। अनन्तानुबधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन, ये चार प्रकारके क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं। अनन्तानुबधी कषाय क्या है? मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये उस कषायको अनन्तानुबंधी कहते हैं। तेजी और धीरतेजी पर दृष्टि न डालें, उससे इन कषायोका पता न पड़ेगा, किन्तु वह भाव जो मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये सो अनन्तानुबधी। अंतस्तत्त्वके प्रतिबोध बिना मैं वास्तवमें क्या हूं, ऐसे परिचय बिना जो भी भाव होता है वह मिथ्यात्वका सम्बंध बनाये रहता है। कोई धर्म कर रहा है, कहनेको

लिए मंदिर भी आते, ज्ञान भी करते, तप भी करते, स्वाध्याय भी करते और व्यापार भी देंगे और आत्माकी बड़ी चर्चा भी करते, पर उनसे यह भी नियम न बनेगा कि हम अनन्तानुबंधी कषाय न करें। कभी कोई तेज कषाय करता हुआ न भी दिखे तो भी यह नियम नहीं किया जा सकता कि इसके अनन्तानुबंधी कषाय नही है। यह है संसारकी जड। अपने आपके स्वरूपका परिचय न हो और फिर जो भी भाव चलते हैं वे अज्ञानमय भाव हैं। ये अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ प्राय: ये प्रचंड होते हैं, पर किसी समय नहीं है कषायकी प्रचंड प्रवृत्ति और अनन्तानुबंधी हो ऐसा भी होता। तो इस कषायको दूर करनेके लिए आत्मस्वरूपकी भावना करना आवश्यक है। उसके प्रतापसे कषायें दूर होंगी।

(४४५) अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषायकी बन्धहेतुता—अनन्तानुबंधी कषायोके दूर होनेपर फिर अब अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान चलेगा। मोक्षमार्गपर गमन होने लगेगा। इसका बाधक है अप्रत्याख्यानावरण। अ के मायने थोड़ा प्रत्याख्यान मायने त्याग। अ का थोड़ा यह भी अर्थ होता व न भी अर्थ होता है, जहाँ नञ् के साथ समास हो उसका ईषत् अर्थ होता। अ मायने थोडा, प्रत्याख्यान मायने त्याग और आवरण मायने ढकना। जहाँ थोडे त्यागसहित भावका आवरण हो उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। थोडा त्यागके मायने सयम नही, किन्तु संयमासंयमकी वृत्ति न होने देना ऐसे कषायको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। कर्मबन्ध अशुभ बधके हेतुके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है। इस कषायका शुद्ध नाम है अप्रत्याख्यानावरण। इसे कुछ लोग ऐसा भी बोलते—अप्रत्याख्यानावरणी, अब इसमे यदि उनकी कृपा हो जाय तो जी शब्द और लगा दें तो क्या हो जायगा अप्रत्याख्यानावरणी जी (हँसी), तो यहाँ वरणी शब्द बोलना ठीक नही, शुद्ध शब्द है अप्रत्याख्यानावरणीय या अप्रत्याख्यानावरण इतना भर बोलना। यह कषाय देश सयम उत्पन्न नहीं करने देती। तीसरी जाति है प्रत्याख्यानावरण, यहाँ अ शब्द नही लगा है, इसलिए थोड़ा अर्थ नहीं लगा। प्रत्याख्यान मायने सकलसयम। प्रत्याख्यान जो न होने दे उस कषायको प्रत्याख्यानावरण कहते हैं, जो सकलसंयम न होने दे। जैसे जैसे ये बाह्य त्यागमें चलते हैं तो जो विवेकी है, वे निःशल्य रहते हैं और उन्हें उस वातावरणसे आत्मानुभूतिके अनेक अवसर आते हैं। इस कारण त्यागकी भावना नियमतः होनी चाहिए। चौथी कषाय है संज्वलन। सं ज्वलन, सं के साथ जो ज्वलन रहे, संयमके साथ भी जो ज्वलन रहे, नियम भी बना रहे और कषाय भी बनी रहे, ऐसी छोटी कषायका नाम है संज्वलन। जहाँ बडी कषाय है वहाँ छोटी तो है ही। जिसके अनन्तानुबंधी है उसके ये सब कषायें हैं। पर कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण नही है और संज्वलन है।

बंध इसीसे हो रहा है। ये कषाय अशुभकर्म बंधके कारण कहे गये हैं।

(४४६) नव नोकषायोंकी बन्धहेतुता—नव नो कषाय, ये चार तो समझ लिये। इस कषाय वृत्तिके इंजनके चलनेके लिए स्ट्रीम जैसी है, इसमे कैसी स्ट्रीम भरी है? और फिर फल क्या भोगते हैं? हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हँसना, मजाक करना, दिल्लगी करना या दूसरेकी कोई हँसी उडाना न जाने क्या क्या ये सब हास्य होते हैं। इसे आनन्द आ रहा मगर वह इन कषायोंसे पीडित होकर ऐसी चेष्टा कर रहा है। रति प्रेमका नाम है। इष्ट विषयमें राग जगता, प्रेम जगता। अरति द्वेष को कहते हैं। अनिष्टमे द्वेष जगा। शोक रजका नाम है। भय डरका नाम है। जुगुप्सा ग्लानि करनेको कहते हैं और तीन वेद ये काम सम्बन्धी हैं। यो २५ कषायोके द्वारा यह जिन वचनसे पराङ्मुख जीव अशुभ कर्मका बंध करता है।

(४४७) संयमकी बन्धहेतुता—अब बतला रहे हैं असयम। असयम १२ प्रकारका होता है—६ प्राणका असंयम और ६ विषयका असंयम। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय इन ६ प्रकारके प्राणियोंके प्रति संयम न होना, इनकी हिंसासे विरक्त न होना ये ६ असंयम हैं और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन ६ के विषयोसे विरक्त न होना ये ६ विषयके असयम हैं। तो इन असंयमभावोंसे यह जीव अशुभ बध करता है।

(४४८) सम्यग्दृष्टिके संयमका भाव—सयमकी भावना हो, अपनी शक्तिके अनुसार संयमकी साधना करे संयमके धारण करने वालोंके प्रति प्रीति जगे। ये सब मोक्षमार्गके उत्साहक भाव हैं। जहाँ यह सयम नही है, असयम है तो असंयमके कारण अशुभ बध होता रहता है, आत्मामें गुण भी होते, दोष भी होते, जिनको आत्महितकी धुन होती है, सो जो गुण हुए सो तो हुए, पर दोषोंको निरख निरखकर दूर करना चाहिये। और जब आत्म-कल्याणकी भावना नहीं होती तो वहाँ गुण भी प्रकट नही हैं तो भी पुण्यमे ये गुण आ गए, उन गुणोंमें संतोष करके अपना जीवन गुजारते हैं। ये सब लगनके अनुसार भेद पड जाते हैं। जो ज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि है—(१) उसके संयमकी भावना, होती है। (२) यथाशक्ति संयम भी वह पालता और (३) सम्यग्दृष्टिके संयमधारी महंतोके प्रति अनुराग भी होता। यदि ये तीन बातें नहीं हैं तो उसमे वह गुण भी प्रकट नही हुआ कि जिससे वह अपने दोष दूर कर सके। संयम मनुष्यभवमें ही तो मिलता है और इस भवमे भी संयमकी भावना, संयमकी पालना न बनायी जाय तो यह एक भूलकी बात है, प्रमादकी बात है। असंयमसे अशुभ बंध होता है।

(४४९) योगोंसे अशुभास्रव—अब कह रहे हैं योग। मन, वचन, कायका हलन चलन। व्यवहारमें तो यह आता कि कभी शरीरके हिलनेसे आत्मा हिलता, कभी आत्माके हिलनेसे शरीर हिलता। लगता है ऐसा, पर हर जगह बात यही मिलेगी कि आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद होता है उसका निमित्त पाकर यह शरीर हिलता। कभी लोग ऐसी शंका करते हैं कि सोते हुएमें भी तो कभी-कभी हाथ, पैर आदि हिल जाया करते, तो, सुनो, वह कैसे निषेध किया जाता कि वहाँ आत्मपरिस्पंद नहीं होता? इसकी सीधी निमित्त नैमित्तिक योगकी प्रक्रिया यह है कि अज्ञानवश जीवमें कषाय उत्पन्न हुई, और उसके कारण फिर आत्माके प्रदेशोंमें तदनुकूल परिस्पंद हुआ, उसका निमित्त पाकर इस शरीरमें वातका संचरण हुआ। हुआ परिस्पंदके अनुरूप और उस वायुके संचरणका निमित्त पाकर यह हाथ उठा, इसमें क्रिया हुई, फिर आगे उस हाथके अंगुलीमें जो वस्तु आयी सो हाथकी क्रियाका निमित्त पाकर वह वस्तु चली। व्यवहार हो रहा है सबका स्वयंकी क्रियासे स्वयंमें परिणमन, पर जितना भी विकार परिणमन होता वह निमित्त पाये बिना कभी हो ही नहीं सकता। अगर निमित्तके पाये बिना विकार भाव बनने लगें तो विकार स्वभाव कहलायगा और फिर विकार कभी नष्ट नहीं हो सकेंगे। सो यह योग, यह आत्मप्रदेश परिस्पंद यह है कर्मोंके आस्रवका निमित्त कारण तो योगसे भी अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है।

(४५०) अशुभलेश्याओंसे अशुभबंध—अशुभ लेश्याओंसे अशुभबंध होता है। यहाँ अशुभकी प्रधानतामें बात कह रहे हैं। अशुभ लेश्यायें हैं कृष्ण, नील, कापोत। कृष्ण प्रचंड क्रोध हो अथवा क्रोध न दिखे तो भीतर बड़ा गुस्सा भरा रहता हुआ मौका तकता हुआ रहे और कैसे मैं दूसरेका नाश करूँ आदिक आशय रहे ऐसी कुवृत्तिके पुरुष कृष्ण लेश्या वाले कहलाते हैं। कृष्ण लेश्यासे अशुभ कर्म बंधता है। नील लेश्यामें कुछ कम, कापोतमें उससे भी कुछ कम, मगर अशुभ भाव जीवोंमें पाये जा रहे। तो इन लेश्याओंके कारण वे जिनवचनसे पराङ्मुख जीव अशुभ कर्मका बंध करते हैं।

तं विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥११८॥

(४५१) भावशुद्धिप्राप्त ज्ञानीके शुभकर्मबंध व संवर निर्जरा—जो मिथ्यादृष्टिसे उल्टा है अर्थात् सम्यग्दृष्टि है, जो जिन वचनका आदर रखता है वह ज्ञानी जीव भावशुद्धिको प्राप्त होता हुआ शुभ कर्मका बंध करता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके कर्मबंध हो तो पुण्यकी विशेषता बनती है और जो एक न चाहो विरत है ऐसे पंचमगुणस्थानकी स्थितिमें हो, उसके कषाय कुछ हो तो वह दोनों प्रकारके बंधोंको डाल देता है। यह भी व्याख्या स्वयं सहज सिद्ध इसकी

स्वाभाविक, यह ज्ञानभाव स्वयं जो है परसम्पर्क बिना, जिसकी परिणति है शुद्ध ज्ञान तरंग, शुद्ध जानन, मोटे रूपसे यह कहो कि कुछ जाना नहीं जाता है वह है शुद्ध जीवका भाव रहा, पर संसारी प्राणियोंको ऐसी पड़ी है कि जिसमें कुछ विकल्प सा बने; वह जानन कहलाता है। जैसे सब जाकी जानकारी, यह बात ठीक करके बताओ, यदि बता सकते हो तो जानन कह-लायगा। वहां ठोककर बतानेका विकल्प है उसे लोग जानना कहते। किन्तु शुद्ध जानन सहज निष्कलंक तत्त्व है ऐसे ज्ञानका शुद्ध तरंग जो अपने ही अगुरुलघुत्व गुणके परिणामसे होता रहता है वह है मेरा रोजगार और वह है मेरा सर्वस्व और इतना ही मैं वास्तविक हूं, इसका जिसे परिचय है उसके पाप और पुण्य दोनों ही नाशको प्राप्त हो जाते हैं याने वह मोक्षके निकट पहुंचा और मुक्त हो जायगा।

(४१२) तेरह गुणस्थानोंकी आस्रवहेतुताकी दृष्टि—बंधन १० वें गुणस्थान तक है और कर्मोंका आस्रव १३ वें गुणस्थान तक है सयोग केवली अरहंत भगवान, वहां तक आ-स्रव है परंतु वह ईर्यापथास्रव है, जहां बंध है वहां साम्परायिकास्रव है। वहां आस्रव है, तो इसके मायने है कि वह गुणस्थान आस्रवका हेतुभूत है। तब इसका अर्थ क्या निकला कि वह गुणस्थान कर्मोंसे बना हुआ है, तब इसके आगे और क्या बात आयी कि उस उस प्रकारका वहां विपाक उदय है। जब आस्रवके ख्यालसे निगरानी करें गुणस्थानोंकी तब वहां दोष मि-लेंगे और जब गुणोंके विकासकी भक्ति करेंगे तब सम्यग्दृष्टिके उन दोषपर भी उसकी निगाह न होगी, जो रह गए हैं दोष। यह तो दृष्टिसे निर्णय चला। अब उन्हीं निर्णयोंमें एक दृष्टि का हठ कोई कर ले, बस विवाद हो गया। जैनशासनमें विवाद रंच भी नहीं है, न कहीं भी शंका है, क्योंकि यहां स्याद्वादका आश्रय है। एक बार किसी राजाने अपने मंत्रीसे पूछा कि हमारे राज्यमें अच्छे लोग अधिक हैं कि बुरे लोग? सो मन्त्रीने कहा— महाराज सभी बहुत अच्छे हैं और सभी बुरे हैं। तो यह बात राजाकी समझमें ठीक-ठीक न आयी। तो राजाको समझानेके लिए उसने दो फोटो बनवायी एक जैसी, और उनमेंसे एक फोटो किसी ऐसी जगह टंगवा दिया कि जहांसे अनेको लोगोंका आना जाना बराबर बना रहता था। उस फोटोमें नीचे नोटमें लिख दिया कि कृपया इस फोटोमें जिसको जो अंग बुरा जंचे उसपर निशान लगा दीजिए। तो हुआ क्या कि जो जो उसे देखता और उस फोटोमें बने अंगोंमें बुरा देखने की दृष्टि बनाता तो उसे हर एक अंग बुरा दिखता। यों हर एक अंग निशानसे भर गए मत-लब यह हुआ कि लोगोंको हर एक अंग बुरे जंचे। दूसरे दिन दूसरी फोटो टंगवा दिया और नोटमें लिख दिया कि कृपया इस फोटोमें आपको जो अंग भले लगें उनमें निशान लगा दीजिए। तो हुआ क्या कि देखने वाले लोगोंने उसको भली दृष्टिसे देखा तो उसके सारे अंग निशानोंसे

भर जाए। मंत्रीने जब राजाको दोनों ही फोटो दिखाये तो राजा देखकर दंग रह गया और समझ लिया कि मंत्री ठीक ही कह रहा था कि सब अच्छे और सब बुरे। तो ऐसी ही सर्वत्र दृष्टि है। अध्यात्ममें बताया है कि १३ गुणस्थान आस्रवके हेतुभूत है, तो यह बात सुनकर लोग चौकन्ना हो जाते कि क्या बात कही जा रही है। १३ वाँ गुणस्थान तो अरहंत भगवान का है, इसमे आस्रव कैसे कहा ? पर बताया गया है कि चौथे गुणस्थानसे गुणोंका विकास चला तो अनेक गुणोंका विकास हो जाता। कैसे शुद्धोपयोग होता जाता, यह भी वर्णन है। पर इसकी दृष्टि इससे अलग बन गई। एकने गुणविकासकी दृष्टि ली। एकने विपाकोदय और कर्मोकी दृष्टि ली, तो ऐसे ही सर्वत्र दोनों नयोसे, दोनों दृष्टियोंसे दोनो ही तथ्य नजर आते हैं, अब रही अपनानेकी बात, तो जिसके अपनानेमें इस सहज तत्त्वकी लीनता बन सके उसे प्रधान करके अपना लीजिए। तो इस तरह अंतस्तत्त्वके जाननेसे भक्तिमें लीनतासे ये समस्त उपाधियाँ दूर हो जाती है। और यह मोक्षमार्गमें वेगसे गमन करने लगता है।

णाणावरणादीहि य अट्ठहि कम्मेहि वेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हि पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥११६॥

(४५३) कर्म भस्मसात् करनेका ज्ञानीका चिन्तन—जिस वचनके अनुसार चिन्तन और परिणति रखने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी चिन्तन करता है कि ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोसे मैं वेष्टित हो रहा हू सो अब इन्हे भस्म कर अनन्त ज्ञानादि गुणरूप चेतनाको प्रकट करता हू। किसी भी पदार्थकी बुरी दशा नही हो सकती यदि वह केवल हो। पर प्रसंगसे ही पदार्थ की बिगड़ी दशा हुआ करती है। सत्त्व सबका अपने आपमें है और अपने ही द्रव्यत्वगुणके परिणामसे अपनी ही परिणतिसे सब परिणमते हैं। किन्तु परिणमने वाले पदार्थोमें यह कला है कि वे इस प्रकारके निमित्तसन्निधानमें विकाररूप परिणम जायें। तो यहाँ चिन्तन चल रहा है कि मैं ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोसे बिगड़ा हुआ हू, ऐसा ही योग चलता रहता है। जीवके साथ कर्मउपाधि लग रही है जिसका फल है ससारभ्रमण। ये कर्म मूलत: ८ हैं, इनके उत्तर भेद १४८ हैं। और उनके भी भेद किये जायें तो असख्यात हैं। इन असंख्यात अन-गिनते कर्मप्रकृतियोसे मैं वेष्टित चला आ रहा हू अब इन्हें भस्म करके, नष्ट करके अपनी अनन्त ज्ञानचेतनाको प्रकट करूँगा।

(४५४) कर्मोंको नष्ट करनेका उपाय—कर्मोको नष्ट करनेका उपाय क्या है ? जो बँधनेका उपाय है उससे उल्टा चलें तो उनसे छूटनेका उपाय बनेगा। बँधनेका उपाय क्या था ? अपने स्वरूपको भूलकर उन कर्मविपाकोंको अपना लेना। तो इससे उल्टा कहा जा रहा कि अपने स्वरूपकी सुध करके उन कर्मविपाकोंसे उपेक्षा कर देना और अपने आपके

ज्ञानस्वरूपमें उपयोग रखना, ये कर्म अपने आप दूर हो जायेंगे। किसीसे मित्रता तोड़ना हो, किसी महिमानको हटाना हो तो उसका यत्न है उपेक्षा और अपने आपसे काम रखना। अब यह कर्मोंका भी प्रसंग चला है तो इनसे दूर होनेका यत्न है उनकी उपेक्षा और अपने स्वभावका आश्रय। तो अपने स्वरूपका आश्रय करके मैं अनन्त ज्ञानादिक परिणामोंको पाऊंगा ऐसा ज्ञानीका भीतरमें उत्साह और चिन्तन चल रहा।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासी गुणगणाण लक्खाइं।

भावहि अणु दिण णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥

(४५५) शीलके मूल ९ भेद—हे मुने, अधिक प्रलाप करने से क्या लाभ ? तू प्रति-दिन शीलके अट्ठारह हजार तथा उत्तर गुणोंके चौरासी लाख भेदोंका बारबार चिन्तवन कर यही चिन्तन चलेगा, उसकी वृत्ति जगेगी अतएव इसका भाव बनाना अति आवश्यक है। अट्ठारह हजार प्रकारके शील इस प्रकार हैं कि शील कहते हैं दुर्भावनाओंका विनाश करने को ऐसा सद्भाव होना जिससे कि खोटे भाव नष्ट हों, उसे कहते हैं शील। तो दुर्भाव हुआ करते हैं मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे इन दुर्भावनाओंकी उत्पत्ति चलती है उसका मूल कषाय है और भी सभी बातें आयेंगी अभी। तो तीन योग जिनके शुभ अशुभ दो प्रकारके भेद हैं और कुछ ऐसे हैं कि शुभ और अशुभसे मिले हुए हैं। तो तीन तरहका बातें हो गई, शुभ, अशुभ और शुभाशुभ, ऐसे ही तीन होते हैं मन, वचन, काय इस तरह ३ × ३ = ९ भेद हुए। अब इनके शीलकी व्यवस्था यों है कि अशुभ मन, वचन, काय, योग शुभ मनसे घाते जाते हैं और वे ही तीनों अशुभ योग शुभवचनसे घाते जाते हैं। और वे भी तीनो अशुभ योग शुभ कायसे नष्ट किए जाते हैं। ऐसे ये ९ प्रकारके शील हुए। अथवा ९ भेद इस प्रकार हैं। मनसे, वचनसे कायसे करना, कराना अनुमोदना तो ऐसे ९ प्रकारके पापोको दूर करें तो ये ९ भेद शीलके हुए।

(४५६) शीलमूलप्रतिपक्ष नौं के चार संज्ञावोंसे हुए छत्तीस कुशीलोंपर पञ्चेन्द्रिय के विजयसे जीत पानेके कारण शीलके एकसौ अस्सी भेद—ये ९ प्रकारके पाप चार सज्ञावों के वश होकर किए जाते हैं, तो चार सज्ञावोंसे ये ९ बातें बनी तो यो ३६ भेद हुए। इन ३६ प्रकारके दुर्भावोंको पञ्चेन्द्रिय विजयोंसे दूर करना स्पर्शनविजय, रसनाविजय, घ्राणविजय, चक्षुविजय और कर्णविजय। हम आप सैनी हैं तो हम सबमें मनकी प्रेरणा रहा करती है। तो पहिले तो मनोभावोंको ज्ञानबलसे परास्त करना, मैं ज्ञानस्वरूप हूं, स्वरूपमें अकेला हूं, अपने आपमें परिपूर्ण हूं और अपनेमें ज्ञानपरिणमन रूपसे निरन्तर रहा करता हूं। यही मेरा सारा लोक है और इसमें ही मेरी सारी व्यवस्था है। इस ही की निरखना है। यदि बाहरमें मेरा

उपयोग कहीं जाय तो वहीं भेद पाता है। जैसे मछली अपने पानीके स्थानसे हटकर बाहर गिर जाय जमीनपर, रेतपर तो वह तड़फ तड़फ कर मर जाती है ऐसे ही यह उपयोग अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर बाहरमें किसी भी इन्द्रिय विषयपर जाय तो यह भी संक्लिष्ट होकर बरबाद हो जाता है, संसारमें जन्म मरणके चक्कर लगाता रहता है। आत्मचिन्तन यह ही एक बल है कि जिससे हम शान्त सुखी हो सकते हैं। और यह बिल्कुल प्रायोगिक बात है। बाहरमें उपयोग किसी भी विषयपर गया तो (१) परपदार्थसे हमने अपना जुड़ाव जोड़ना चाहा और जुड़ाव होता नहीं, ये अनहोनीको भी होनी करना चाहते हैं, इसलिए कष्ट है। (२) दूसरे जिस पदार्थपर यह उपयोग देता है वह पदार्थ स्वयं स्वयके आधीन है। वह मेरे आधीन नहीं बनता। तो अपनी कषायवृत्तिके प्रतिकूल निरखकर या कल्पनायें करके यह कष्ट पाता है। (३) तीसरा यह उपयोग अपने शान्तिधाम चैतन्यस्वरूपको तजकर अन्य प्रकार बरतने लगा तो जैसे कोई कुलीनता छोड़कर अन्य ढंगसे व्यवहार करे तो उसको संक्लेश होता है। ऐसे ही इस उपयोगने अपनी कुलीनता छोड़कर बाहरमें लगाव बनाया है तो इसमें दुःखी होना प्राकृतिक बात है। तो उन सबका विजय करना। पञ्चेन्द्रियका विजय जबरदस्तीके त्यागसे तो नहीं होता मगर वह भी एक साधन बनता। विजय होती है विशुद्ध ज्ञानके बलसे, क्योंकि विषयवृत्तिमें भी ज्ञानका ही योग रहा था, वह रहा विकाररूपसे। तो ज्ञानके ही प्रयोगसे वह दूर किया जा सकता है। तो उन ३६ प्रकारके दुर्भावोंको पञ्चेन्द्रियविषयविजयोंसे दूर करना। यों ३६में ५ का गुणा होनेपर ३६ × ५ = १८० प्रकारके शील बने।

(४२७) शीलके १८० भेदोंको दस दयासे गुणित कर दस धर्मोंसे गुणित करनेपर शीलके अठारह हजार भेद—शीलमें केवल एक ब्रह्मचर्य वाली ही बात नहीं है। वह तो है, पर अहिंसात्मकता आदि ये सब शीलमें गर्भित हैं। तो १० प्रकारके जीवोंकी दयासे १० का गुणा और उनमें किया जाय। वे १० कौन हैं? पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय, सैनी पञ्चेन्द्रिय, असैनी पञ्चेन्द्रिय, इन १० प्रकारके जीवोंकी दया करना यह उसके साथ गुणित है। यों १८०० भेद हुए और, वे १८०० प्रकारके शील १० धर्मोंसे गुणित हो जाते हैं, उनके साथ पाले जाते हैं तो वे १८००० भेद हो जाते हैं। सर्व जीवोंपर दयाका भाव—खुदको क्षमा करें तो सबपर क्षमाका भाव बनता और खुदमें कषाय रखे, दूसरोंको पीड़ा पहुंचानेका भाव रखे, चाहे वह सूक्ष्मवृत्तिमें हो, चाहे वह किसी विशेषरूपसे हो तो वहाँ न खुदको क्षमा है और न दूसरेको क्षमा है। और जहाँ क्षमा नहीं है वहाँ शील स्वभाव कैसे रह सकता है? यहाँ शीलके मायने एक अहिंसात्मक परिणति है। आत्माका जो स्वभाव है वह स्वभाव जैसे विकसित हो उस प्रकारकी वृत्ति उसका नाम है शील।

तो उसके विकासके लिए घमंडका त्याग चाहिए। ज्ञानबलसे उस घमंडको दूर करना। यदि मैं अपने गुणोंपर दृष्टि दूं तो वे गुण हैं प्रभुसमान और यदि दोषोंपर दृष्टि दूं तो यह हूं मैं अनेक कषायोंसे दूषित ; घमंड होता है बीचकी बातमें। अगर अनन्त गुणोंपर दृष्टि हो तो अभिमान न जगेगा और दोषोंपर दृष्टि हो तो अभिमान न जगेगा। जैसे कहते हैं—'अधजल गगरी छलकत जाय। जो बीचकी बातो पर दृष्टि दी तो उससे अभिमान वृत्ति बनी। तो शील प्राप्तिके लिए अभिमानका छोडना, मायाचारका छोडना, सरल रहना आवश्यक है। जैसे किसीको धनकी तीव्र तृष्णा है तो वह उस धनप्राप्तिके लिए अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहता है ऐसे ही जिसको अपने आत्मस्वभावमे लीन होनेकी धुन है वह अपनी सब प्रकारकी कषायोंका बलिदान कर सकता है। यहाँ किसके लिए मायाचार करना ? सरल रहना, लोभका त्याग करना। लोभ धनका भी होता, लोभ यशका भी होता, लोभ ख्यातिका, प्रशसाका, नामका, अनेक तरहके लोभ हुआ करते हैं, सभी प्रकारके लोभोका त्याग करना और स्वयको यथार्थ सत्य और प्रवृत्ति भी सत्य वचनकी रखना। अहितकारी वचन नही, मृषा वचन नहीं, अपरिमित वचन नहीं, और इस प्रकारसे अपनेको सयममे रखना तो यही होता है अपने चैतन्यमें एक प्रतपन। यह एक बडा तपश्चरण है। लोग कहते है कि चित्त लगाना है अपने आत्मामें और नही लगता है, सो कोई लगाये तो वह तपश्चरण है कि नहीं ? वहाँ भी प्रतपन चलता है, चेतनका प्रताप भी चलता है। तो अपने आपके स्वरूप में अपने उपयोगको स्थिर करना यह एक चैतन्यप्रताप है, तपश्चरण है, फिर समस्त पर-भावोंका त्याग स्वयं होता, उनसे उपेक्षा करना, एक भी परभाव मेरे हितके लिए नही है। परभाव क्यो कहलाते हैं ये विकार ? परका निमित्त पाकर होने वाले जो अपने भाव हैं वे परभाव कहलाते है। जितने भी विकार होते उनमे निमित्त परसग ही होता है। यदि आत्मा ही निमित्त बन जाय और आत्मा ही विकार करने वाला है तब तो सदा विकार करते रहना चाहिए। परभावोंका त्यागी जो होगा वह अपने आपमें अपनेको अकिञ्चन अनुभव करेगा। इसने अपनेको न जाने क्या क्या मान रखा था। मैं पंडित हू, त्यागी हू, मुनि हू, श्रावक हू, जैन हू, अमुक हू, तमुक हू ··· इस देहके नातेसे इसने अपनेको नानारूप मान रखा था। तो हे मुनि, अब तू उन सब किञ्चनोको त्याग और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर। मैं ज्ञान-स्वरूप हू और यह भी एक लक्ष्यरूपमे, इस तरहके विकल्प रूपसे नही, अन्यथा वह भी एक किञ्चन बन जायगा। तो ऐसे अकिञ्चनभावमे जब यह जीव आता है तब इसके ब्रह्मचर्य बनता। जिसे कहते हैं शीलकी परिपूर्णता। जो आत्मतत्त्व है, ब्रह्मस्वरूप है उसमें मग्न होना, लीन होना, सिद्ध भगवानका स्वरूप विचार कर अपने आपके लिए वही भावना करके

यही स्थिति सर्व संकटोंसे परेकी स्थिति है। सो हे मुने, इन अट्ठारह हजार शीलोंका चिन्तन कर अपनेको परिपूर्ण शीलमय रखो।।

(४५०) ब्रह्मचर्यकी मुख्यतासे शीलके अट्ठारह हजार भेद—अट्ठारह हजार शील इस प्रकारसे भी परखिये जो ब्रह्मचर्यकी मुख्यतासे हैं। इनमें ७८० तो अचेतनसम्बन्धी शील हैं और शेष चेतनसम्बन्धी। अचेतनसम्बन्धी ७२० व चेतनसंबंधी १७, सब २२० यों कुल १८००० शील हुए। तीन प्रकारकी अचेतन स्त्री—एक तो काठकी बनी स्त्री, एक पत्थरकी मूर्ति वाली स्त्री और एक कागज आदि पर स्याही आदिका लेप करके बनी स्त्री, इन तीनमें मनोयोग और काययोगसे वृत्ति होना, तो ये ६ भेद हुए। वचनयोगकी यों बात नहीं यहाँ लिख रहे हैं कि अचेतनसे वचन कौन बोलता। सभी लोग जानते हैं कि यह सुनेगा नहीं। तो तीन अचेतन स्त्रीमें मनोयोग व वचनयोगसे। इन ६ विकारोंको कृत कारित अनुमोदनासे किया तो १८ भेद हुए और ये स्पर्श आदिक ५ विषयोंसे किया तो ९० भेद हुए और इनमें द्रव्यरूप और भावरूप हुआ तो १८० और ये क्रोध, मान, माया, लोभके वश किए गए इस तरह १८०×४=७२० अचेतन सम्बंधी कुशील हैं। और, चेतन सम्बन्धी कुशीलमें तीन गतिमें स्त्रियाँ हैं देवी, मानुषी और तिर्यञ्चिनी, नरकमें नहीं होती स्त्री। इनमें कृत कारित अनुमोदनासे दुर्भाव, तो ये ९ हुए, और मन, वचन, कायसे ६ हुए तो २७×फिर पाँच विषयोंके साथ सो १३५ हुए, १३५ ये द्रव्यरूप अथवा भेदरूप होनेसे २७० भेद हुए। और ये सब बोलना है ४ सज्ञावोंके साथ तो २७० को ४ से गुणा करनेपर १०८० भेद हुए, और ये होते है १६ कषायोंमे तो इनमे १६ का गुणा करनेसे १७,२८० भेद हुए। इन कुशीलोंका परित्याग हो तो ये १८००० शीलके भेद कहलाते हैं।

(४५१) मुनियोंके चौरासीलाख उत्तरगुण—हे मुने! इस शीलके प्रकारोंका चिन्तन कर और ८४ लाख उत्तरगुणोंका चिन्तन कर। उत्तरगुण क्या कहलाते हैं कि दोषोंमे सूक्ष्म से सूक्ष्म दोषोंका जो निवारण किया जाता है वे उत्तरगुण हैं। अब उनमें मूल बतला रहे कि २१ दोष छोडने योग्य होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब दोष हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, रतिके साथ हास्य आ गया, अरतिके साथ शोक आ जाता, उनको अलगसे नहीं गिन रहे, मनकी दुष्टता, वचनकी दुष्टता, और काय की दुष्प्रवृत्ति मिथ्यात्व, प्रमाद, चुगली। चुगली—यह बहुत बड़ा अवगुण है। वहाँकी बात यहाँ भिडाना यहाँकी वहाँ भिड़ाना यह सब चुगली है। अज्ञान और इन्द्रियका निग्रह न करना ये सब २१ दोष त्याज्य हैं। ये दोष बनते है चार ढगोंसे—(१) अतिक्रम, (२) व्यतिक्रम, (३) अतिचार और (४) अनाचार। कोईसा भी नियम लिया हो उसका विनाश अति-

करनेसे, उससे बढ़कर व्यतिक्रमसे, उससे बढ़कर अतिचारसे और उससे बढ़नेपर अनाचारसे होता है। मनकी शुद्धि न रहे तो वह अतिक्रम, फिर विषयोंकी अभिलाषा जगे तो वह व्यतिक्रम, फिर उन नियम और क्रियाओंके करनेमें आलस्य हो तो वह अतिचार और उनका भंग हो जाय तो वह अनाचार। ये २१ बातें ४ प्रकारोंमें चलती हैं तो ये २१ × ४ = ८४ भेद हुए और ये सब दश कायिकोंके परस्पर घात न होनेके १०० दयारूप संयमोका गुणा करनेपर ८४०० भेद होते हैं। कुशीलकी १० विराधनायें हैं— (१) स्त्रीसंसर्ग, (२) सरसाहार, (३) सुगंध संस्कार, (४) कोमल शयनासन (५) शरीरमण्डन (६) गीत वादित्र श्रवण (७) अर्थग्रहण (८) कुशील संसर्ग, (९) राजसेवा और (१०) रात्रिसंचरण इन १० प्रकारकी विराधनाओंसे फिर इनकी आलोचनाके १० प्रकारके दोषोंका परिहार न हो तो भी ऐब है। उन १० दोषोंका त्याग करें, उनमे १० का गुणा करनेसे ८,४०,००० (आठ लाख चालीस हजार) भेद हुए, फिर ये दस धर्मोंसे किए जायें तो यों ये ८४,००,००० चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं। बतलावो ५ पापोंका सूक्ष्म विधिसे भी त्याग होना ही तो उत्तर गुण रहा है, सो हे मुने! तू ८४ लाख उत्तर गुणोंका भी चिन्तन कर।

(४६०) भावनाकी सफलता—जो बात विचारमें आयगी बारबार, वह करनेमें भी आयगी। तो यह एक प्रवृत्तिरूप और उन सबका मूल साधक है अविकार ज्ञानस्वरूप अपने आपके स्वभावको निरखना। मैं हू। एक ही हू। जो सत् हूं सो स्वय हू। और मैं जो स्वय हूं सो अविकार हू। मेरे स्वभावमे विकार नही। विकार होते हैं परका निमित्त पाकर। जैसे द्रव्य गुणसे निरन्तर परिणमन चलता इस तरह विकार भी स्वभावसे चलता होता असाधारण गुण रूपसे या साधारण गुण रूपसे तब तो इसके विकार छूटना असम्भव था। पर मैं स्वय ज्ञानमात्र अविकार स्वरूप हू। ये विकार पर प्रसंगसे आते हैं। मैं परकी उपेक्षा कर अपने स्वभावमें दृष्टि रखूं तो ये मेरे सब परप्रसंग दूर हो जायेंगे। इस प्रकार हे मुने! तू इन शील और उत्तर गुणोंका चिन्तन कर।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाण मुत्तूणं।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं॥१२१॥

(४६१) आर्तध्यानकी त्याज्यता—आर्तध्यान और रौद्रध्यानको छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्यावो। इस जीवने चिर कालसे आर्त और रौद्रध्यानको ही ध्याया। एक ओर एकाग्रसे उपयोग लगनेका नाम ध्यान है। ध्यानोंमे ८ तो खोटे ध्यान हैं और ८ ठीक हैं। १६ प्रकारके ध्यान होते हैं—४ आर्तध्यान—इष्टका वियोग होने पर उस इष्टके मिलने

के लिए जो इच्छा प्रतीक्षा आशा चिन्ता रहती है उस ध्यानको इष्टवियोगज आर्तध्यान कहते हैं। अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्तन चलना यह है अनिष्ट-संयोगज आर्तध्यान। शरीरमें कोई वेदना हुई, फोड़ा फुंसी खांसी आदिक वेदनायें होनेपर जो संक्लेश होता है, ध्यान बनता है, विचार चलता है वह वेदनाप्रभव आर्तध्यान है। अपने सुखके साधनोंकी इच्छा रखना, परभवमें भी ऐसा सुख मिले, इस तरहकी इच्छा करना, निदान बांधना यह निदान नामका आर्तध्यान है। इन चारों ध्यानोंमें क्लेश है, दुःख है।

(४६२) रौद्रध्यानकी व्याख्या—रौद्रध्यान—रौद्र कहते हैं क्रूर भावको उसमे आनन्द मानना—क्रूरता की जाय, खोटा काम किया जाय उसमे आनन्द मानना जीवहिंसा करने कराने, अनुमोदनेमे आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्रध्यान है। कुछ लोग जो ऊपरी धर्मात्मा होते हैं ऐसे घर मान लो कोई सांप निकल आया तो उस पुरुषके मनमे तो है कि कोई आ जाय लट्ठ लेकर, पर इस बातको वह स्पष्ट नही कहता अरे भाई देखो यह सांप पड़ा है, जो मारने वाले हैं उनको इस तरहसे आवाज करता है तो यह उसका रौद्रध्यान है। इस तरह से कही हिंसा नही बचती। एक बुढ़िया अपना घर लीप रही थी। घर लीपनेके दो तरीके होते हैं—एक तो गोबरमे पानी डालते जाना और लीपते जाना दूसरे—पानीमें गोबरको घोल दिया और फिर डालते गए, लीपते गए। तो वह बुढ़िया इस दूसरी विधिसे घर लीप रही थी। वहां लीपते हुएमे कहती जा रही थी "चींटी चाटी चढ़ो पहार। तुम पर आयी गोबरकी धार॥ तुम न चढ़ो तो तुम पर पाप। हम न कहे तो हमपर पाप।" तो रौद्रध्यान के कितने ही तरीके हैं। झूठ बोलनेमे—झूठ बुलानेमे, झूठ बोलनेकी अनुमोदना करनेमें, असत्य प्रलाप करनेमे आनन्द मानना, चाहे दूसरे पर कुछ भी होता हो, यह सब है मृषानन्द रौद्रध्यान। कोई झूठ बोलने वाला तो इस पर भी नोकरी कर सकता कि हमे कुछ मत दो, खाना देते जावो और सालमें सिर्फ दो बार झूठ बोल लेने दिया करो। झूठ बोलने की एक ऐसी चीक सी रहती कि बोले बिना रहा नही जाता। जैसे बीडी पीने वालोंसे बीड़ी पिये बिना नही रहा जाता ऐसे ही झूठ बोलनेकी आदत वालोसे झूठ बोले बिना नही रहा जाता। तो झूठ बोलनेमे आनन्द मानना मृषानन्द है। चोरी करनेमे, करानेमे, अनुमोदना करनेमें आनन्द मानना चौर्यानन्द है। किसीसे झगड़ा करके न रहना चाहिए उससे द्वेष बढ़ता है और उस द्वेषसे इसको चोरी करनेके कराने के या अनुमोदना करनेके प्रसंग आ जाते हैं। जैसे सुन लिया कि अमुकके घर चोरी हुई तो उसे सुनकर खुश होना, कितनी ही तरह से चोरीके बावत खुशी मनाना चौर्यानन्द है। विषयसंरक्षणानन्द—विषयोंके साधनोमे आनंद मानना विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है, विषयका साधन होता है परिग्रह, सो परिग्रहके संचय

मे आनन्द मानना, परिग्रहानन्द (विषयसंरक्षणानन्द) है। ये ८ ध्यान खोटे हैं।

(४६३) आर्त रौद्रध्यानोंको छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यानमें आनेका उपदेश—आर्त व रौद्र ध्यानोंके फलमे क्या लाभ मिला आत्माको ? रौद्रध्यान आर्तध्यानसे भी खोटा है। आर्तध्यानमें कर्मविपाक है, पीडा सही नही जाती। वहाँ अज्ञान और ज्ञानकी बात कुछ नही कह रहे, पर आर्तध्यानमें विवशता बहुत रहती है। पर रौद्रध्यानमें क्या विवशता है, किसकी चोट पड रही है सिरमे जो रौद्रध्यान किया जा रहा ? कभी झूठ बोलना तो परवश होता, पर खोटे काम करके इसमें आनन्द माननेकी कौनसी परवशता है ? उदयकी बात कहो तो वह तो दोनो जगह साधारण है। बाहरी बातोंकी कौनसी विवशता है, पर योग्यता ऐसी है, वातावरण ऐसा है कि इन ८ प्रकारके दुर्ध्यानोमे इस जीवने बहुत काल बिता दिया। सो इन दुर्ध्यानोंको छोडकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानमे आवें। शुक्लध्यान तो इस पञ्चमकालमे है नही। शुक्ल मायने सफेद। सफेद ध्यान कैसा कि रागद्वेषका कोई रग जिसपर न चढ़े ऐसा बिल्कुल साफ स्वच्छ ध्यान याने रागरहित ध्यान। जहाँ राग अवस्थामे शुक्लध्यान है तो वह राग अबुद्धिपूर्वक है इसलिए वह रागरहित ही बोला जाता है और जो वीतराग है वह तो है ही। शुक्लध्यान आजकल सम्भव नहीं।

(४६४) धर्मध्यानकी आदेयता—धर्मध्यान—धर्मके सम्बंधमे होने वाला ध्यान धर्मध्यान है। ये चार प्रकारके बताये गए—(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) सस्थानविचय। और इस जगह १० भेद भी बता रहे—(१) अपायविचय (२) उपायविचय, (३) विपाकविचय, (४) विरागविचय, (५) लोकविचय, (६) भवविचय, (७) जीवविचय, (८) आज्ञाविचय, (९) सस्थानविचय और (१०) संसारविचय। इनमे कोई विरोध न समझना, चाहे चारको १० कहो और चाहे १०-२० बना लो। मर्यादा यह है कि धर्मसे सहित चिन्तन होना चाहिए। तो ये दो प्रकारके कथन आते हैं। आज्ञाविचय—जिनागमकी आज्ञाको प्रधान करके जो चिंतन चलता है वह आज्ञाविचय है। भगवान वीतराग सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी वाणीमे असत्यताका कोई कारण नही। जो उनका उपदेश है वह शिरोधार्य है, आज्ञा मात्रसे ग्राह्य है, ऐसा चिन्तन आज्ञाविचय है। अपायविचय—अपाय कहते हैं विनाशको। विनष्ट करनेका चिन्तन करना। अब धर्मध्यानमे किसके नाशका चिन्तन होना चाहिए ? रागके नाशका कि राग नष्ट हो। यह जीव स्वय सहज आनन्दमय है, स्वरूप इसका आनन्द है, पर स्वरूपकी सुध न रखे कोई और अन्य वस्तुवोंमें राग बनाये तो उसका फल कष्ट ही है। तो उस रागके विनाशका चिन्तन करना कि यह राग कैसे नष्ट हो, उसका उपाय सोचना, उसके लिए उत्साह बनाना यह सब अपायविचय धर्मध्यान है। विपा-

कविचय धर्मध्यानमें कर्मविपाकसे सम्बंधित चिन्तन चलता है। कर्मोंका विपाक कैसा ? कैसे कैसे लोगोंने कर्मोदयमे कष्ट पाया, सुख पाया, जो कुछ चिन्तन प्रथमानुयोगसे सम्बन्धित है, वह विपाकविचय है। संस्थानविचयमे लोकके आकारका विचार है, और भी पिण्डस्थ पदस्थ आदिक ढगसे ध्यान करे। संस्थानविचयमे लोकके आकारकी मुख्यता क्यो दी जा रही कि रागके हटानेमे लोकका ध्यान बड़ा सहयोगी है। जैसे मानलो किसीपर ५०,००० रूपयेका कर्जा है और पच लोगोंने उसके लिए यह फैसला कर दिया कि यह बेचारा बहुत गरीब हो गया है, इसका सारे कर्जकी फारकतीपत्र दिया जाय, सिर्फ १००) दिला दिया जाय। तो वह कर्ज देने वाला तो यही कहेगा कि जब ५०,०००) माफ करा दिया तो फिर १००) भी क्यों लेना ? जैसे सब गए वैसे ही १००) भी गए। उनका क्या लेना ? तो ऐसे ही यह ज्ञानी जीव सोचता है कि अब इस ३४३ धन राजू प्रमाण लोकमे कितने ही बार जन्मे मरे, बड़े-बड़े सुख समागम मिले, भोगे, छोड़े। वे सब समागम अब मेरे पास कुछ नही रहे, किसी भी भवका न धन है, न इज्जत है तो आज इस थोड़ी सी जगहका समागम यश, धन, परिग्रह, इनके जोड़नेसे, इनके रमनेसे क्या लाभ है ? जब वे सब न रहे तो इतना और न सही, ऐसी उमंग जगती है।

(४६५) उपायविचय विरागविचय व लोकविचय धर्मध्यान—जो १० प्रकारसे धर्मध्यान बताया उनमे ४ तो वे हैं ही। इनके अतिरिक्त जो नाम आये उनमें एक है उपायविचय। इसका सम्बंध अपायविचयसे लगाया जाता है। यहां स्पष्ट हो गया कि दुःखसे बचनेके जो उपाय हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, उनका चिन्तन करना, उनके योगका विचार करना उपायविचय है। एक है विरागविचय। रागी जीव सदा दुःख पाता है, रागसे सदैव बंध है, किन्तु आत्माका स्वभाव रागरहित है, ऐसा चिन्तन विरागविचय कहलाता है। यह भी अपायविचयमे गर्भित हो सकता है। विपाकविचयमे विरागविचय अन्तर्गत किया जा सकता है। फिर भी चूंकि उपयोगी है यह चिंतन, इसलिए इनको अलग करके बताया गया। लोकविचय— यह समस्त लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है इसमें ऐसा कोई स्थान नही बचा कि जहां मैं उत्पन्न नही हुआ हू। यह बात तो सम्भव है ही। कोई ठेका थोड़े ही है कि मनुष्य ही पैदा हों। या मनुष्यभवसे ही आकार मनुष्य बने। सब जगह घटाओ कि यहां पैदा हुए। कोई निगोदसे निकलकर अभी करीब निकट आया हो तो वहां उसने मनुष्यभवमे मनुष्य क्षेत्र को व्यापा ? पर सामान्यतया देखो तो निगोद बनकर तो सब जगह पैदा हुआ जा सकता है। जहां सिद्ध विराजे हैं सिद्धालयमें भी, जहां आपकी याने मनुष्यादिकी भी गति नही है कि पहुंच जावें वहां भी ये निगोद जन्मे। वहां भी रहे, इससे कही यह बात न समझना कि हमसे

बड़े हुए ये निगोदिया जीव, क्योंकि वे भगवानसे मिल रहे। जहाँ भगवानके प्रदेश हैं उस आकाशक्षेत्रमें निगोदिया जीव भी पड़े हैं, मगर यह अन्तर नहीं है कि चलो सिद्धालयकी जगह पर निगोदिया हैं तो उन्हें कुछ आराम होगा। कर्मविपाक जिसके जैसा है सो होता ही है। जैसे—यहांके निगोदिया दुःखी, वैसे ही वहांके भी निगोदिया दुःखी।

(४६६) भवविचय धर्मध्यान—भवविचय—जीवके चतुर्गतिरूप भवोंका विचार करना यह भवविचय है। अनन्त परिवर्तन किये जीवने। देखिये—परिवर्तन ५ प्रकारके बताये। सो कोई अगर यह समस्या रख दे कि अच्छा बताओ भवपरिवर्तन सभी जीवोंका कहां हुआ? कैसे अनन्त बीता गया? मायने जैसे नरकगतिमें जन्मा, १० हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा, उसमें जितना समय है उतनी बार भटक भटककर फिर नरकमे जन्मे, फिर एक एक समय अधिक स्थिति बढ़ा बढ़ाकर सान्तरतया नरकमे जन्मता रहे। देखो नरकसे एकदम नरकमें जन्मता नही, सो सान्तर जन्म जन्म कर ऐसी ३३ सागर प्रमाण स्थिति बना ले तो वह एक नरकभव परिवर्तन है। ऐसे ही सभीके परिवर्तन है, देवगतिके परिवर्तन हैं वहां ३१ सागरसे अधिक आयु लेकर परिवर्तन नही घटाया जा सकता है। इससे ऊँची स्थितिके सम्यग्दृष्टि होते, उनका फिर परिवर्तन नही चलता। फिर वह एक या दो मनुष्यभव पाकर मोक्ष जाते। अब कोई पूछे कि बताओ जो निगोदसे अब तक नही निकला उसने कहां किया यह नरकभव परिवर्तन, ऐसे ही अन्य परिवर्तनोके बारेमे भी समस्या रखी जा सकती है। किसीने परिवर्तन किया है ऐसा? मगर इन परिवर्तनोमे जितना समय लगता है उतना समय तो सबको लगा। चाहे वह निगोदमे ही रहा, पर एक परिवर्तनमे जितना समय बुद्धिमे आता है उतना सबके चलता है, तो चतुर्गतिरूप भवोका विचार करना। चारो गतियोमे न जाने कैसे-कैसे दुःख हैं? मरणका दुःख और जन्मका दुःख, ये तो निरंतर लगे हैं। जन्ममे भी दुःख होता क्या? मरणमे दुःख हो, चाहे नही, मगर जन्ममे दुःख होता है। मरणमे तो कोई समाधिके शब्द सुन रहा, समाधिसे भर रहा, जिन्दगी भर जो आत्मज्ञान अर्जित किया उसका प्रयोग कर रहा, समतासे मरण कर रहा, पर जन्ममे कहाँ समता होती? उस जन्मके समय बड़ा कठिन दुःख है, और उस जन्म लेने वालेको कुछ खबर भी नही रहती तभी तो बच्चा जब पैदा होता तो उसकी सबसे पहले यही आवाज निकलती—कहाँ कहाँ ··याने मैं कहाँ आ गया? अब देख लो गर्भवासका दुःख, जन्मका दुःख यह कितना कठिन है? ये सब दुःख इस जीवने बार बार पाये, फिर भी इनमें ही यह राजी है। अब उसका कुछ इलाज नही है। जैसे जिस चीजके खानेसे वह रोग बढ़े उसीको बार बार खाता रहे तो डाक्टर भी उसका इलाज करनेसे जवाब दे देता, भाई हमारे वशका नही है, परिणाम यह होता कि उसका रोग कभी दूर नही होता, बल्कि और भी बढ़ता रहता है, ठीक इसी प्रकारकी दशा इन संसारी जीवोकी है। जिन बातोंसे दुःखी

होते रहते उन्हींको अपनाते रहते, परिणाम यह होता कि उनका दुःख कभी दूर नहीं हो पाता। तो आत्मस्वरूपका परिचय होना एक अद्भुत रत्नत्रयका लाभ है। यह तीनो लोकका वैभव मेरे लिए कुछ सारभूत चीज नही। ये मेरे लिए कल्याणकारी नही, पर कल्पनासे मान लेते कि इनसे मुझे सुख मिल रहा। परिणाम यह होता कि उनके पीछे रात दिन तृष्णा करते, उनका संचय करनेकी होड मचाते और सारे जीवनभर निरंतर दुःखी रहते। भले ही कुछ कल्पित सुख मिल गया, पर वह भी वास्तवमे दुःख है। कितना कठिन दुःख लगा है इस जीवपर कि जो बाह्य पदार्थोंमे यह मैं हू, ये मेरे हैं इस तरहकी कल्पनायें उठती हैं, इनसे दुःख ही बना रहता है। यद्यपि यह जीव है आनन्दस्वरूप। जैसा है वैसा ही स्वरूपमे रहे तो कष्टका नाम नही, पर अनादिसे वासना बुरी लगी है। और उस वासनाके साधनभूत उपाधि का सम्बन्ध बना है और उसमे कष्ट है। ये सब बातें विचारना भवविचय है।

(४६७) **जीवविचय और संसारविचय धर्मध्यान—जीवविचय—जीवकी भिन्न-भिन्न** जातियोंका चिन्तन करना जीवविचय है, रास्ता चलते हुएमें कितने ही दुःखी जीव नजर आते। इन घोडा, गधा, खच्चर, भोटा, सूकर आदि पशुओंको दशाओंपर भी तो कुछ ध्यान करो ये बेचारे कैसे कैसे दुःख सह रहे हैं। जरा भी कमी दिखी तो उनपर डंडोंकी बौछार होती। इन सूकरोंको तो देखो—विष्टामें ही इनका मुख भिडा रहता है, जिन्दा ही अग्निमें भून दिये जाते या फिर इनकी गर्दनपर छुरियाँ चलती। कहाँ तक इन जीवोंके दुःखकी कहानी कहे, आप सब देख ही रहे हैं। तो जीवोंकी इस प्रकारकी दुःखद स्थिति देखकर खुदपर भी तो एक ऐसी वासना आनी चाहिये। उन जीवोंपर भी करुणा आनी चाहिये। दोनो ही बातें एक हैं। स्वरूपकी समता होनेसे उनके बारेमे करुणा करना अपनी ही करुणा है। और जो भी किसी जीवका दुःख दूर करता है तो वह अपनेपर करुणा कर रहा। देखा होगा कि जाडेके दिनोंमे भिखारी लोग बडे सवेरे कैसा करुणा उत्पन्न करनेवाले कंपनके स्वरमे वचन बोलकर भीख मांगते तो उसका फल क्या होता कि उनकी दुःखभरी आवाज सुनकर सुनने वाले भी स्वयं दुःखी हो जाते, और फिर उन सुनने वालोने जो कुछ भोजन, वस्त्र आदि दिया तो बताओ निश्चयसे उसका दुःख दूर करनेके लिए दिया या खुदका दुःख दूर करनेके लिये? खुदका ही दुःख दूर करनेके लिए दिया। कर्मदशावोंका निमित्त पाकर हुए सुखी दुःखी पशु पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जातिके जीवोंका चिन्तन करना जीवविचय है। पञ्च परिवर्तनों का स्वरूप चिन्तन करना संसारविचय है। इस तरह शुभ चिन्तन द्वारा आर्तध्यान रौद्रध्यानसे हटकर धर्मध्यानमें आना चाहिए।

(४६८) **धर्मध्यानके लिये एक प्रेरणा**—हम आप चारों प्रकारके धर्मध्यान करनेके

अधिकारी हैं, कर सकते हैं भावोकी ही तो बात है। भावोसे ही खोटा कर सकते और भावोंसे ही तुम अच्छा कर सकते। कभी देखा होगा कि छोटे छोटे बच्चे प्रीतिभोजका खेल खेलते हैं, तो वे क्या करते कि कुछ कंकड परोसते हुए कहते लो गुड, पत्ते परोसते हुए कहते लो रोटी। है वहां कुछ चीज नहीं खानेकी। केवल भावो का खेल है। पर उन बच्चो को कोई समझा दे कि रे बच्चो जब तुम भावो का ही खेल खेलते हो तो भावो मे कजूसी क्यो करते? अरे रोटी की जगह पूडी कचौडी बोल दो, गुडकी जगह लड्डू बोल दो, भावोकी ही तो बात है। यहां भी भावोका सब खेल है, परसे क्या बात आयी, परमे क्या बात जाती? कर रहा तो यह खुद खुदमे ही। तो भावोमे खोटा चिन्तन क्यो करना? जब भाव ही कर रहे तो खोटा चिन्तन न करें, शुभ चिन्तन करें, शुद्ध चिन्तन करें तो ऐसा धर्मसम्बधित भावोका चिन्तन करना यह है धर्मध्यान।

(४६६) **पृथक्त्ववितर्कवीचार व एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान**—यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित भावपाहुड ग्रन्थ है। यहां मुनिजनोको सम्बोधा है कि हे मुनिवरो आर्त रौद्र ध्यान छोडकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्यावो। धर्मध्यानका वर्णन हो चुका, अब शुक्ल ध्यानका वर्णन किया जा रहा है। शुक्ल ध्यानके मायने है रागरहित ध्यान। जो ८ वें, ९ वें, १० वें गुणस्थानमे राग है वह गौण है, अबुद्धिपूर्वक है और सूक्ष्म है। वहां भी शुक्लध्यान कहा है। और ११ वें, १२ वें गुणस्थानमे तो स्पष्ट वीतराग है। वहां भी शुक्लध्यान है। १३ वें १४ वें गुणस्थानमें उपचारसे शुक्लध्यान है अर्थात् मनकी वृत्ति नही चलती है, किन्तु ध्यानका फल कर्मनिर्जरण देखा जानेसे कहा गया है। प्रथम शुक्लध्यान है पृथक्त्ववितर्कविचार, पृथक्त्व मायने अलग-अलग वितर्क मायने ज्ञानको कहते हैं, पृथक्त्व चिन्तनमे जहां योग भी बदलता। विषय भी बदलता ऐसे बदल वाले ध्यानको पृथक्त्ववितर्क वीचार कहते हैं, पर एक ही पदार्थके बारेमे बदलें चल रही है। अन्यथा एकाग्रचिन्तानिरोध नही बन सकता। एक ही पदार्थमे द्रव्यरूपसे चिन्तन, गुणरूपसे चिन्तन और पर्याय रूपसे चिन्तन यह तो है अर्थकी बदल और शब्दकी भी बदल और योगमे भी कभी मनोयोगमे रहते हुए ध्यान, कभी वचनयोगमे कभी काययोगमे रहते हुए ध्यान यह है योगकी बदल। यो पृथक्त्ववितर्कवीचार अष्टम गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थान तक चलता है और १२ वें गुणस्थानमें भी प्रारम्भमे थोडा रहकर एकत्ववितर्क अवीचार बन जाता है। यह सब एक ज्ञानमें ही अर्थपरिवर्तनसाधक क्षयोपशम जब तक है तब तक यह बदल चल रही है और केवल ज्ञान होनेकी जब योग्यता हुई बारहवें गुणस्थानमे वहां यह बदल नही रहती। एक ही पदार्थपर उन ही शब्दोसे, उस ही योगमे रहकर ध्यान चलता है।

(४७०) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान व अनन्त सिद्धदशा— एकत्ववितर्क अवीचारके बाद केवलज्ञान होता है वहाँ सयोगकेवली गुणस्थान बना, वहाँ सारी उम्र तक कोई ध्यान नहीं, किन्तु अन्तमें अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान बनता है। जब स्थूल काययोग भी दूर हो गया, वचनयोग पूरा दूर हो गया, मनोयोग भी जो द्रव्यमन साथ चलता था वह भी पूरा दूर हो गया, केवल सूक्ष्म काययोग रहा, उस समय में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है। १३वें गुणस्थानमें तीसरा शुक्लध्यान सदैव नहीं। इसके बाद १४वें गुणस्थानमें प्रवेश हो तो वहाँ कोई योग नहीं। सो व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान है। इस ध्यानके बाद १४वें गुणस्थानके बाद फिर सिद्ध दशा होती है। मोक्षमार्गमें जो कुछ करनेका पौरुष है वह मौलिक यह है कि अपने आपका जो सहज चैतन्यस्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण सबसे विभक्त अपने आपमें जो कुछ स्वरूप है उस रूप मैं हूं, उसको ही लक्ष्यमें रखना, उसमें ही आपा अनुभवना, ऐसे सहज स्वभावका आश्रय है प्रारम्भसे अन्त तक यही एक मोक्षमार्गमें मौलिक आधार है, फिर सिद्ध दशामें भी इसी सहज ज्ञानस्वभावको उपादान कारणरूपसे उपादान करके याने उपादान कारण रूपसे ग्रहण कर करके प्रतिसमय अति निर्मल ज्ञानवृत्ति रूपसे परिणमता रहता है। यह वहाँ एक सहज बात रहती है, ऐसे इस शुक्लध्यानके ध्यानमें आवो, ऐसा मुनि जनोंको आचार्यदेवने सम्बोधा है।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसमणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥

(४७१) द्रव्यश्रमणोंकी इन्द्रियसुखव्याकुलता एवं संसारविषवृक्षछेदनकी अशक्यता— जो कोई भी द्रव्यश्रमण है, सम्यक्त्वहीन द्रव्यश्रमण, वे इन्द्रियसुखमें व्याकुल होकर इस संसार का छेदन नहीं कर पाते। द्रव्यलिङ्गी मुनि अनेक प्रकारके होते हैं। मूल लक्षण यह है कि भेष तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर है, पर छठे ७वें या ऊपरके गुणस्थानका परिणाम नहीं है वह द्रव्यलिङ्गी है। ५वाँ गुणस्थान हो ऐसा निर्ग्रन्थ दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी है, चतुर्थ गुणस्थान वाला मुनि हो वह दिगम्बर द्रव्यलिङ्गी है, तीसरा, दूसरा पहला किसी भी गुणस्थानमें हो, वे सब मुनि द्रव्यलिङ्गी कहलाते हैं। यहाँ मिथ्यात्ववासित द्रव्यलिङ्गी मुनिको कह रहे हैं कि इन्द्रियसुखमें व्याकुल होकर वह संसारवृक्षको नहीं छेद सकता, किन्तु भावश्रमण ध्यानकुठार से संसारवृक्षको छेद देता है। जिसको अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय नहीं है वह कहाँ रमें? दर्शन, ज्ञान, चारित्र इनके परिणमन प्रत्येक जीवमें चल रहे हैं, चारित्रका परिणाम है रमना। खुदका जिसे पता नहीं, जो स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है उसका जिसने परिचय पाया नहीं और रमण तो अवश्य होगा ही, सो उनके बाह्य विषयोंमें रमण चलता है। बाह्य विष-

योंमें रमण नहीं है परमार्थतः वहां भी निश्चयतः खुदमें ही रमण हो रहा है, मगर वह खुद अखुदसा बना, जो यथार्थ स्वरूप है उस रूपमें अपने आपको नहीं पा रहा। क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, ऐसे जो भीतरमें ज्ञानपरिणाम जग रहे हैं उन कषाय परिणामोंमें रम रहा है, पर वे बाह्य परिणाम व्यग्र हो रहे हैं बाह्य पदार्थोंका उपयोग बनानेसे। अतः यह कहा जाता है कि यह अज्ञानी विषयोंमें रम रहा। निश्चयतः तो बाह्य विषयक उपयोग बना बनाकर जो व्यक्त कषाय हो रही हैं उन कषायोमे रम रहा। सीधीसी बात है कि कोई जीव कषायोंमें रम रहे कोई अविकार स्वभावमे रमते। रमते हैं वे खुदके ही परिणाममें। तो जिन जीवोंको निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अतस्तत्त्वका परिचय नहीं हुआ उनका उपयोग बाह्य विषयोमे ही रमण करता है और बाह्यमें रमनेका फल है व्याकुलता।

(४७२) **इन्द्रियसुखोंके भोगमें व्याकुलताका दिग्दर्शन**—जीव किसी भी इन्द्रियका विषयकषाय भोगे तो वहां आकुलता ही पायी जाती है, और जो लोग थोडा मौज मानते हैं वह भी व्याकुलतापूर्ण परिणति है, शांतिकी परिणति नहीं है। जैसे मानों एक रसनाइन्द्रिय का भोग भोगा तो भोगनेके समय निरीक्षण करके निरख लो कि कोई शान्तिपूर्वक खाता है या क्षोभपूर्वक। जो मौज माना जा रहा वह भी क्षोभ। एक ग्रास मुखमे है, एक हाथमे है, एकको उठानेका विकल्प बन रहा कि कौनसी चीज उठायी जाय ? तो देखिये उसके भोगनेमे भीतरमे कितनी विह्वलता मच रही। इसका बहुत अच्छा स्वाद है, इसे जल्दी खाना चाहिए, इसको बादमे खा लेंगे, यों कितनी ही आकुलतायें मचायी जा रही। शान्तिपूर्वक कहां भोगा जा रहा ? जो मौज माना जा रहा वह एक दुःखकी कमीका मौज है। शान्ति और आनन्द वहां नहीं है, किन्तु क्लेश कम रह गया वह भी मौज कहलाता है। जैसे किसीको १०५ डिग्री बुखार चढ़ गया था और अब उतरकर १०१ डिग्री रह गया। अब उससे कोई आकर पूछता कि कहो भाई कैसी तबियत है ? तो वह कहता है कि अब तो ठीक है, बड़ा चैन है ? ...अरे कहा चैन है ? अभी तो १०१ डिग्री बुखार चढ़ा है। बात वहां यह है कि बुखार कुछ कम हुआ उसमे वह चैन मानता है, वस्तुतः तो चैन नहीं है। यही बात सभी इन्द्रिय-सुखोंकी है। इन इन्द्रियसुखोंमें व्याकुलता भरी है। तो यह सम्यक्त्वहीन द्रव्यश्रमण इन्द्रिय-सुखमें व्याकुल होकर इस भववृक्षका छेदन नहीं कर सकता। और भावश्रमण छठवें और ७वें व ऊपरके गुणस्थानवर्ती श्रमण इस ध्यानरूपी कुठारसे संसारवृक्षको काट डालते हैं।

(४७३) **मोही और निर्मोहीकी वृत्ति**—मोह एक बड़ी भारी विपत्ति है। मिथ्यात्व मोह, अज्ञान ये सब एक ही अर्थको बताने वाले हैं, जिसको अपना परिचय नहीं वह व्याकुल ही रहता है और चूंकि यह पारमैश्वर्य स्वभाव वाला है तो यह कुछ ज्ञान भी इसका

है कुछ आनन्द भी मानता है। तो जो कुछ यह प्रवृत्ति करता है वह मोहवश मिथ्याभ्रमको दृढ़ करता हुआ प्रवृत्ति करता है। जगतमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो अनेक बार देखा न गया हो या इस ही भवमें मिल जाये। अनेक बार देखा है फिर भी आज देखनेको कुछ नया देखना मानता है, सनीमा, थियेटर, रूपादिक बहुत बहुत देखे जानेपर भी ऐसा समझते हैं कि मैं आज कुछ नया सा देख रहा हूं, रोज रोज वही खाना खानेपर भी ऐसा समझने कि आज कुछ नया सा भोग रहा हूं, तो ऐसा कौन पदार्थ है जो नहीं देखा गया मगर इसे यह मोही नया ही मानता है। अनेक बार स्पर्श किया सभी पदार्थोंका, पर यह मानता कि मैं आज कुछ नया सा स्पर्श कर रहा हूं। नया ही कुछ सूंघ रहा। नया ही कुछ स्वाद ले रहा, नया ही सुन रहा। परन्तु जिनका मन सरलतासे सम्पन्न है उनके किसी भी भोगमे अभिलाषा नही। कर्मविपाक है, होता है, भोगना पडता है मगर विरक्ति साथ चलती है, ऐसी अनेक घटनायें मिलेंगी कि जो करनी पड रही हैं, पर अभिलाषा नही है करनेकी। विरक्ति चल रही है। जैसे कैदीको चक्की पीसनी पडती, फावडा चलाना पडता या जो भी काम दे दिया गया सो करना पडता, और उस कामको करनेमे कुछ कमी करे तो ऊपरसे उसपर डडे भी बरसते, तो देखिये उसे कैदमे रहकर परिस्थितिवश सब काम करने पडते हैं, पर उसे उनमें कुछ राग नही है, बल्कि वह तो उन दंदफंदोसे हटना चाहता है। कैसा विलक्षण परिणाम है कि भोग भोगते हुए भी उस भोगसे हटा हुआसा रहता है। कैसा विपाक है कि प्रवृत्ति भी करनी पडती और कैसा अद्भुत ज्ञानबल है कि उससे वह हटा हुआ भी रहता। तो समता-सुखसे सम्पन्न पुरुष कामभोगमे आसक्त नही होता।

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥१२३॥

(४७४) **रागानिलरहित ध्यानप्रदीपका प्रज्वलन**— ध्यानका माहात्म्य देखिये—जैसे गर्भ गृहमे स्थित दीपक वायु बाधासे रहित होकर प्रज्वलित होता रहता है ऐसे ही जहाँ राग रूपी वायु न लग सके ऐसी स्थितिमे यह ध्यान दीपक प्रकट रूपसे जलता रहता है। ध्यानमें बाधा देने वाला है राग और यह बैठे ही बैठे कहां राग चल रहा, किस ओर दृष्टि जा रही, किसका कैसा भाव है, कहां आकर्षण है, यों सारी चक्की चलती रहती है। ध्यान कैसे बने? अविकार स्वभाव अतस्तत्त्वका दृढ़ लक्ष्य लिए बिना और ऐसा पौरुष बनाये बिना, मेरेको मेरा बस एक ही काम है दूसरी कोई धुन नही ऐसी धुन बनाये बिना यह ध्यानकी स्थिरता नहीं बन सकती। बाह्य पदार्थोंका चिन्तन कर करके ध्यानको स्थिर कैसे बनाया जा सकता। जिसका चिन्तन करते वह विनाशीक है और जिसका चिन्तन चल रहा वह मुझसे अत्यन्त

भिन्न। अन्य पर मेरा कुछ अधिकार नही और उन बाह्य पदार्थोंपर उपयोग जाता है तो यह उपयोग भी कुछ हल्कासा छितर बितरसा या अपनी जड़ सी नही रख रहा, इस तरहके प्रयोगमें रहता है, तो बाह्यविषयक उपयोग कैसे स्थिर चल सकेगा ? अतएव आत्माका स्वरूप जानकर इस स्वरूपमे ही रुचि हो, यही आदेय है, इस ही के आश्रयसे वह निर्विकल्पना जगती है कि कर्मबन्धन अपने आप दूर होता है। वही मेरे लिए श्रेयस्कर है, ऐसा आदर जब रहता है तो वहाँ यह जीव अपने आपमे सहज आनन्दको अनुभवता हुआ पवित्रता हुआ पवित्रतामे बढना चला जाता है। तो राग वायुसे रहित हुआ ध्यान स्थिर हो पाता है।

झायहि पच वि गुरवे मगलचउसरणलोयपरियरिसे।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२४॥

(४७५) अर्हंत्सिद्धसाधुधर्मकी उपास्यता—हे आत्मन् ! पचपरमेष्ठियोका ध्यान कर। दर्शन करनेमें सर्वप्रथम णमोकार मंत्र और चत्तारिदण्डक बोलनेका एक रिवाज है, और वह होना भी चाहिए। इसके बाद फिर कोई भी स्तुति पढे। चत्तारि दडकमे चारको मंगल कहा, लोकोत्तम कहा और शरण कहा। उन चारमे अरहत, सिद्ध और साधु कहनेसे परमेष्ठी बनता है। साधुमे आचार्य उपाध्याय और साधु तीनो आते हैं और अरहतसिद्ध ये अलगसे कहे हो गए है। और चौथी बात है केवलीके द्वारा कहा गया धर्म। इसमे अपने करने योग्य कार्य क्या है यह सब लक्ष्यमे आ जाता है। धर्म है आत्मस्वभाव। आत्माका स्वभाव है मात्र जानन, चेतना, और सदा उसकी वृत्ति चलती ही रहती है, चाहे उपाधिके सम्बन्धवश कुछ विभावरूप चले, पर चलना यह है ज्ञानकी परिणति। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ इनमेसे कोई भी कषाय निरन्तर नही रहती, यह बतला रहे हैं। देखो क्रोधके समय मान, माया, लोभ होता ही नही उदयमे, ऐसे ही मानके समय तीन बातें नही होती, माया और लोभमे भी शेष बातें नही होती। जिस जीवके अज्ञानभाव है और क्रोधमे लग रहा है तो उस समय उसके १६ कषायें नही हैं विपाकके अनुभवमे किन्तु चार क्रोध हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और सज्वलन क्रोध। जब वही जीव मानमे आया तो चार मान हैं, शेष १२ बातें नही हैं। तो ऐसी ये कषायें सबकी सब एक साथ नही चल पातीं। पर ज्ञान कैसा ही जाने, ज्ञानकी वृत्ति चलती ही रहती है।

(४७६) सर्व परिणमनोंका ज्ञानपरिणमनमे अन्तर्भूतता—भैया ! अन्तः निरखें तो सब कुछ ज्ञानमे भी बात आती है। ज्ञानका इस तरह प्रवर्तना यह ही दुःख है, यह ही सुख है, यह ही कषाय है मूल बीज तो वह एकरूप है। उस ज्ञानके ही इस प्रकारके परिणमन होते हैं सम्पर्कमें कि वे ही इन सब रूप कहलाते है। अभेदसे देखें उस अशुद्ध परिणतिको तो

वह ज्ञान ही इस रूप परिणम रहा है। किसी ज्ञानने सोचा कि यह मेरेको बड़ा इष्ट है तो वह समागम होनेपर वह हर्षरूप परिणमता है। इन परिणमनोंसे हुआ क्या? ज्ञानकी ही इस ढगसे परिणति हुई कि उसने सुख दुःख माना। मान लो किसीके घर कलकत्तेसे तार आया कि इस बार अमुक व्यापारमें १ लाख रुपयेका फायदा हुआ, अब यही तार पढ़नेमें मानो ऐसा आया कि १ लाख रुपयेका नुकसान हुआ तो अब उसकी हालत देख लो कैसी हो जाती है। कहां तो आया सुखद समाचार, पर उसकी समझमे आया उससे उल्टी बात तो झट वह बड़ा दुःखी हो जाता। अब देख लो बाह्य पदार्थोंके होनेसे सुख दुःख कुछ नहीं होता, किन्तु उन पर-पदार्थके विषयमे जैसा ज्ञान बनता है सुखरूप अथवा दुःखरूप, उस प्रकारकी उसकी परिणति हो जाती है। यदि बाह्यपदार्थसे सुख मिलता होता तब तो चाहे वह तार आता या न आता, पर इसे सुखी हो ही जाना चाहिये था, पर ऐसा तो नही होता।

(४७७) **विकारोत्पत्तिविधान व उसके न्यक्कारका साधन**—यहां एक बात खूब ध्यान से समझना कि हमारे विकारके व्यक्त होनेमें तीन कारण होते हैं—(१) उपादान (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। उपादान तो है यह स्वयं योग्यता वाला जीव और निमित्त कारण हुआ उस प्रकारका कर्मोदय और शेष इन्द्रिय मनके विषय ये सब आश्रयभूत कारण हैं। इनमें हम उपयोग फसायें तो विकार व्यक्त होते हैं। यदि हम उपयोगको जितनी हममें सामर्थ्य है ज्ञानबलसे, उसे अपने आत्मस्वरूपकी ओर ले जायें और उसीमे ही ध्यान लगायें तो विपाक उदय होनेपर विकार तो प्रतिफलित हो गए मगर व्यक्त रूप न बन पायगा, वह अबुद्धिपूर्वक कहलायगा। तो अपना कर्तव्य क्या होता है कि इन बाह्य आश्रयोंको उपयोगमे न लें और इन के लिए करना क्या चाहिए कि इन बाह्य आश्रयभूत पदार्थोंका परिहार करें, त्याग दें, इस ही बुनियादपर चरणानुयोगमे त्याग बताया है। न रहेगा सामने तो उसका ख्याल भी न होगा। यद्यपि यह नियम नही कि बाह्य त्यागका ख्याल ही न रहेगा। मगर प्रायः यह होता कि जब दूर रहते, त्याग दिया, अलग हैं तो उसका ख्याल नही होता। और, उपयोग दूसरी ओर चलने लगता। तो आश्रयभूत पदार्थोंमे उपयोग न जाय, यह एक बड़ा पौरुष है। इसके फल मे विकार व्यक्त नहीं होते और इस होके बलसे अपने आप सहज ही अव्यक्त विकार भी दूर होते तो विपाक भी दूर होने लगता है। तो करनेका काम एक यही है, परन्तु इस कामके करने में बाधायें बहुत आती हैं तो उन बाधाओंको दूर करें। उसका उपाय है ये ग्यारह प्रतिमा, मुनिव्रत, ये प्रक्रियायें बनें। इन प्रक्रियाओंसे उन बाधाओंको दूर करें, जिससे हम निःशल्य होकर इस सहज अंतस्तत्त्वके ध्यानमे अधिकाधिक प्रगति कर सकें। तो अपने कल्याणके अर्थ करने योग्य कार्य एक यह ही है कि निजको निज जान लें।

(४७८) परस्वविज्ञानसे वैराग्यवृद्धि होने योग्य पद्धतिका प्रयोग—भैया ! परको भी जानना भी आवश्यक है ताकि हम निजको निज भली भांति समझ सकें। मैं यह हूं और इस पर ध्यान जमे एतदर्थ अन्य ज्ञान विज्ञान भी आवश्यक बनते हैं। लोकरचना जानें। इतना बड़ा लोक जिसके समक्ष यह आपकी परिचित दुनिया समुद्रमें एक बूंद बराबर है। इतनेसे क्षेत्रमे यदि कुछ अपना रोब जमाया, शान बनायी तो बाकी क्षेत्रमे तो कुछ नही हुआ। इतने की ही तृष्णा क्यो करते ? थोडेसे लोगोमे शान, प्रभाव बनाना यह विकार व्यर्थ है। पर जीव तो सब अनन्त हैं। सबने तो आपकी महिमा नही जान पायी। उन अनन्त जीवोमेंसे कुछ १०-२० हजार या कुछ अधिक लोगोको जानकारी करायी तो यह तो बिंदु बराबर भी गिनती नहीं है। तो यह समस्त लोक काल जीवका जितना विज्ञान है वह विज्ञान हमे सहयोग देता है वैराग्यकी मुद्रामे। तो जिस तरहसे हम बाह्य पदार्थोसे, आश्रयभूतोसे हटें और अपने सहज अंतस्तत्त्वमें लगें तो यह ही हमारा एक कल्याणका उपाय है। इसके लिए चाहिये स्वाध्याय और सत्सग। मात्र स्वाध्यायसे भी हमारी वृत्ति आगे नही चलती। ससार, शरीर और भोगो से विरक्त आत्मध्यानकी धुन रखने वाले सत पुरुषोका समागम यह भी एक प्रेरक वातावरण है। तो सत्सगमे रहते हुए, स्वाध्यायमें विशेष उपयोग देते हुए आत्ममनन करें, यह ही एक ऐसा उपाय है कि हम इस ससारके संकटोसे दूर हो सकेंगे।

चत्तारिदण्डकमे जितने पद हैं वे सब एक एक रूप हैं। यदि पदके पूर्व ॐ ऐसा बीजाक्षर लिखा जाय अथवा ह्रीं साथमे लगाया जाय तो यह पूरा मन्त्रका रूप हो जाता है। (१) पहला पद है अरहंता मगल, याने अरहत भगवान मगल है। मंगलका अर्थ है जो पापोको गलाये और सुख उत्पन्न करे। अरहन्त भगवानका ध्यान करनेसे पापोका क्षय होता है और सुख उत्पन्न होता है। ध्यान उपयोगकी स्थिरताका नाम है। इस देहमे उपयोग किस जगह समाया जाय तो ध्यानमे सहयोग मिले ? इसके लिए कई साधन बताये है। जैसे दोनो नेत्रोके बीचमे चित्तको सलग्न करे और ध्यान करें। दोनो कर्णोंमे या उनकी सधियोमे ध्यान लगायें। नासिकाके अग्र भागपर दृष्टि लायें। ध्यानकी एकाग्रताके लिए ये साधन बताये जा रहे है। पूर्व मे कोई सहारा लिया जाय उसका यह कथन है। ललाटमे चित्तमे रोक कर ध्यान करें, इसी प्रकार मुख, नाभि, सिर, हृदय, तालु और इन भौंहोके बीचमे चित्तको स्थिर करें। जिसे कहते हैं कि यहा उपयोग लगायें और फिर तत्त्वका ध्यान बनायें, और बीच-बीच एक स्थान से हटाकर शरीरके अंगोमेसे दूसरे स्थानपर भी ध्यान करें।

(४७९) अरहंतध्यानपद—पहला ध्यान बना अरहंता मंगलं अरहंत भगवान मंगल हैं, दूसरा ध्यान है—अरहता लोगुत्तमा, याने अरहंत भगवान लोकमें उत्तम हैं। लोग लोक

में बड़ा आदमी तलाशते हैं तो किसीको धनी विदित होता है, किसीको नेता, किसीको कोई उच्च पदाधिकारी, पर वस्तुतः महान वह है जिसके बाद फिर उस पदसे नीचे न गिरना पड़े। मान लो आज कोई बड़ा धनिक है और इसी जिन्दगीमें वह हो गया अत्यन्त गरीब, तो काहे का बड़प्पन, और मान लो आज कोई बड़ा ऊंचा अधिकारी है और कुछ दिनोंमें वह उस पद से हट गया तो कहां रहा उसका बड़प्पन ? तो ये कुछ बड़प्पन नहीं हैं, पर जो आत्मा ज्ञानी हुए, अरहंत हुए, उनका पद अब घट नही सकता, वे सिद्ध ही होंगे। तो अरहंत भगवान लोकमे उत्तम हैं। तीसरा ध्यानपद है अरहंता सरणं याने अरहंत भगवान शरण हैं। कहां उपयोग जाय, कहां चित्त बसाया जाय कि कुछ अपनेको ऐसा महसूस हो कि मुझको कुछ शरण मिला है, कुछ परवाह नही है। अब आनन्दका विस्तार बनाया जा सकता है, ऐसा कोई शरण है क्या लोकमे ? केवल एक शुद्ध आत्मदेव। उसका ध्यान ही एक शरण है।

(४८०) सिद्धध्यान पद—चौथा पद है—सिद्धा मंगलं याने सिद्ध भगवान मंगल है। सिद्ध स्वरूप आत्माका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। बाहरी मलोंसे रहित, अतरंग दोषोंसे रहित जैसा आत्माका सहज स्वरूप है वैसा ही जहा प्रकट है वे सिद्ध भगवान मंगल हैं, उनका ध्यान करनेसे पापो का क्षय होता है और सुखकी प्राप्ति होती है। ५वां पद है सिद्धा लोगुत्तमा, याने सिद्ध भगवान लोकमें उत्तम हैं। लोक वहां तक है जहां तक सिद्ध पाये जा रहे। लोक का अंतिम प्रदेश और सिद्ध भगवानकी आत्माके आखिरी प्रदेश ये एक जगह हैं। उसके आगे लोक नही है। तो वह लोक है स्वयं। उसमे वे विराजे हैं तो वे उत्तम हैं। छठा पद है सिद्धे सरणं। सिद्ध भगवान शरण है। सिद्धभगवानका स्वरूप अत्यन्त विशुद्ध है, स्वभावके अनुरूप, परसम्पर्क भी जहां नही है ऐसे उस स्वभाव विकासपर दृष्टि देनेसे चूकि स्वभाव और स्वभावविकास ये अनुरूप है तो अभेद होकर स्वभावमे दृष्टि रहती है। तो स्वभावमे दृष्टि पहुचनेपर फिर अन्य व्यक्ति लक्ष्यमे नहीं रहता, किन्तु वह स्वयं निज स्वरूपमे अनुभूत होता है और यही दृष्टि वास्तविक शरण है, अपना परिणाम निर्मल करनेके लिए सिद्ध भगवंतोंका सदा ध्यान रखना चाहिए उससे यह बल मिलता है और आत्माको एक सन्मार्ग प्राप्त होता है।

(४८१) साधुध्यानपद—७ वां पद है साहू मंगलं याने साधु मंगल हैं, देव और गुरु इनमे देव तो होते हैं आदर्श, हमको भी यही बनना है और गुरु होते हैं तत्काल एक प्रतिबोध कर सकने वाले पुरुष। सो दोनोंके बिना बात नहीं बनती। लक्ष्य और ध्यान किसका बने और तत्काल हमें प्रेरणा कौन दे ? दोनो ही आवश्यक है, जैसे कोई संगीत कला सीखता है तो सीखने वालेके चित्तमें उसके आशानुरूप कोई पुरुष रहता है लक्ष्यमे कि मुझको तो

ऐसा बनना है । किसी भी प्रसिद्ध व्यक्तिका नाम ले लिया जो कि संगीत कलामें सर्वनिपुण है । अब वह मिलेगा कहाँ सिखानेको ? सो वह अपने ही गाँवका, मोहल्लेका कोई उस्ताद जो कि संगीत कलाका जानकार हो उसे अपना उस्ताद बनाता है । तो अब देखो उस संगीत कलाका देव तो उसे समझो जिसका जैसा बननेका लक्ष्य बनाया और गुरु वह हुआ जिसके द्वारा संगीत सीखा । तो ऐसे ही समझो कि देव मिला अरहंत सिद्ध, सो मंगलस्वरूप हैं, मगर इस समय जिससे प्रेरणा मिली आत्महितके लिए वह तो है साधु, तो साधु मगल हैं । ८ वां पद है साहू लोगुत्तमा, याने साधु लोकमें उत्तम हैं । जो आत्मदृष्टि करता है, आत्माकी साधना करता है और जिस साधनाके लिए जिसने सर्व परिग्रहोंका त्याग कर रखा है उसे आत्मतत्त्व दृष्टिगत हुआ । ऐसी भावना वाले पुरुष साधु लोकोत्तमको कहलाते हैं । ९ वां पद है साहू सरणं याने साधु शरण हैं । अपने से कोई गल्ती हो तो किससे निवेदन किया जाय कि वह गल्ती दूर हो । जो स्वयं गृहस्थ है, श्रावक है, गल्ती कर रहा है उससे निवेदन करने में तो कोई लाभ नही है याने अपने जीवनमें गुरुसे सम्बन्ध बनाना कितना आवश्यक है । अन्यथा याने गुरु न हो तो उसका उत्थान होना कठिन है । अनेक बातें जानें । केवल इतना ही न समझिये कि इस पुस्तकको पढ जाऊँ, कुछ ज्ञान सीख लूं, इतने मात्रसे किसी गृहस्थको गुरु मानकर एक अपने जीवनको निर्दोष समझकर सतोष न करें । दोष स्वय होते ही रहते हैं । तो गृहस्थोंमें तो प्रतिदिन अनेक दोष होते हैं जिनका होना उस पदमें उचित नही है तो किसी गुरुसे निवेदन करें, तो एक ध्यान रहती है, चित्त रहता है कि मुझसे इतने दोष न बनें तो गुरुकी आन, विनय, भक्ति मान्यता बिना इस जीवनमे सूनापन है, उत्थानका मार्ग नही है । तो उत्थानके लिये ये साधु शरण हैं ।

(४८२) धर्मध्यानपद—१० वाँ पद है केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल, याने केवली भगवानके द्वारा कहा गया धर्म मगल है । वह धम क्या ? तो उसके आंशिक पारमार्थिक सभी प्रकारके रूपोको लेकर चलना होगा और तब ही धर्मके लक्षण चार बताये हैं । आचार्यों ने उनमे सबसे प्रथम कहा है जीवदया । परदया भी लीजिए स्वदया भी लीजिए । दयाहीन मनुष्य व्रत तपका पालन कर ले तो भी वह स्वर्ग नही जा सकता और दयाशील मनुष्य बाह्य व्रतादिक भी चाहे न करे तो भी उसे स्वर्ग मिलना सुगम है, वह सद्गतिका पात्र होता है । दयालु पुरुष ऐसा समझता है कि किसी प्रकारका अनुचित कार्य करके अपने आपमें दया-हीनता बढ़ा लेना यह जीवदयामें बाधक है । श्रावक पदमे तो इस दयालु पुरुषकी पद-पदपर प्रतिष्ठा होती है । हाँ मुनि पदमें स्वदयाकी विशेषता है । धर्मका एक लक्षण बताया है रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र) । तीसरा लक्षण कहा है उत्तम क्षमा आदिक

दस लक्षणरूप और चौथा कहा गया है आत्माका स्वभाव वस्तुदर्शन। पद्मनंदि आचार्यने प्रथम परिच्छेदमें धर्मको इन लक्षणोंसे व्याख्या शुरू की है। मेरा धर्म मंगल है, ऐसी वृत्ति बने तो पाप दूर होता है और आनन्द उत्पन्न होता है। ११वाँ पद है धम्मो लोगुत्तमो, याने लोकमें धर्म उत्तम है। कभी किसी पुरुषके प्रति यह समझ बनती है कि यह पुरुष महान है तो उसका अर्थ क्या है कि इस पुरुषमे धर्म बिराजमान है और उस धर्मकी बदौलत महान है। वास्तवमें महान धर्म कहलाता है वह जिसके प्रतापसे यह पुरुष महान बना। तो लोकमें उत्तम धर्म है। १२ वां पद है धम्मं शरणं याने लोकमे धर्म शरण है। अपने भावोमे आयें स्वभावमे आये तो उसको सकट नही रहता। तो यह ही वास्तविक शरण है। सो ये अरहंत सिद्ध साधु और धर्म देव, मुनि, विद्याधर आदिकके द्वारा पूज्य हैं और वर्तमान नायक तीर्थंकर वीर प्रभु हैं जिससे यह धर्मप्रसार है। वे आराधनाके लायक हैं। उनका भी ध्यान करें।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविव भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥

(४८३) ज्ञानमयविमलशीतलसलिलप्राप्तिसे व्याधिजरादाहविमुक्तता—मुक्ति कैसे होती है, मुक्तिका उपाय क्या है इसका दिग्दर्शन इस गाथामे है। भव्य जीव अपने भावोंसे ज्ञानमय, निर्मल शीतल सलिलको प्राप्त होकर रोग, बुढ़ापा, मरण वेदनाकी दाहसे विमुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाते हैं। जैसे यह शान्त करनेका उपाय है शीतलता। तो देख लो—जीवो के कितनी दाह पडी है? व्याधि—शरीरमे रोग हो गया, कितने रोग हैं? उनकी गिनती करोडो तक होती। जितने रोम हैं उतने रोग। सब रोगो के नाम भी नही बताये जा सकते। लिखे भी नही जा सकते। कुछ प्रसिद्ध रोग हैं जिनके कुछ और भेदो से अनेक उपरोग हो जाते हैं, और इस दृष्टिसे देखें तो यहाँ बडासे बडा कोई पहलवान भी बैठा हो तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसको किसी प्रकारका रोग नही है। यह शरीर रोगोंका घर है। इसकी बडी दाह है। बुढापेकी दाह—बूढे हो गए, खाना पचता नही, तृष्णा लगी है, खुद खा नही पाते, दूसरोंको खूब खाते पीते देखकर मन ही मन कुढते हैं। इन्द्रियां शिथिल हो गई हैं, शरीरसे तो दुःखी हैं ही मगर बूढ़ा जानकर, बेकाम जानकर नाती पोते भी कुछ फिक्र नही करते। व्याधि और बुढ़ापाकी दाह बड़ी कठिन है और यह दाह जब तक चलती रहेगी तब तक संसार है, जन्म मरण है। तो जिन कारणोसे दुःखी होते जाते उन कारणोंको नहीं छोड़ सकते। विषय कषायोके कारण दुःखी होते, परिवारके मोहके कारण दुःखी होतेपर उन्हें छोड़ नहीं सकते। ऐसा अपने आपमे निरखें कि कैसी बड़ी निर्बलता है कि दूसरोंके दोष देखना बहुत आसान है, पर उससे आत्मलाभ कुछ नही मिलता और अपने दोषोंको अगर

निरखें तो ऐसी श्रद्धा जगेगी कि मुझसे तो ये सब भाई अच्छे हैं।

(४८४) **ज्ञानविमलशीतलसलिलप्राप्तिसे मरणवेदनादाहविमुक्तता**—एक दाह है मरण। जो जीव मरता है तो उसके किस तरहसे प्राण निकलते हैं, वह बडी विलक्षण घटना है, यह जीव एक साथ निकलता है। यद्यपि देखनेमें कुछ ऐसा लगता कि देखो पैर ठढे हो गए। फिर टटोलते हैं छाती। फिर टटोलते हैं हाथकी नाडी। उससे यह परख करते हैं कि प्राण कहां अटके हैं कहा नही। भिन्न भिन्न अगो मे देखनेसे कुछ ऐसा लगता कि यह जीव भिन्न-भिन्न अंगो से अलग-अलग निकलता मगर ऐसी बात नही है। सब अगो से जीव एक साथ निकलता। इस मरणका भी बहुत बडा कष्ट है, इसी कारण तो लोग मरणसे डरते हैं। तो मरण भी एक दाह है जहाँ वेदना होती शरीरमे। इन सब दाहो से विमुक्त होता है वह पुरुष जो ज्ञानमय निर्मल शीतल जलमे अवगाह करता है। मैं ज्ञानस्वरूप हू। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है। ज्ञानमे रहना बस यही मेरा घरमे रहना है। ज्ञानातिरिक्त अन्यसे मेरा कुछ सम्बन्ध नही। ऐसे निज सहज ज्ञानस्वभावको निरखें, उस ही मे तृप्त हो, उस ही मे रमे तो वह इन संसारसंकटोसे विमुक्त होगा। ये सब ज्ञान कैसे मिलें तो उसके लिए वस्तुका स्वरूप समझना भेदविज्ञानसे प्रत्येक पदार्थोंको जुदा जुदा जानना, फिर जो प्रयोजनभूत स्वतत्त्व है उस निजमे मग्न होना यह विधि है ज्ञानमय जलसे स्नान करनेकी। सम्यक्त्वलक्ष्मी इस जीवको सुख प्रदान करती है। संसारके अन्य विषय साधन कुछ भी इसे सुख प्रदान नही कर सकते।

जह वीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अकुरो य महिवीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाण ॥ १२६ ॥

(४८५) **कर्मबीजके दग्ध होनेपर भवांकुरकी अनुपपत्ति**—जैसे बीजके जल जानेपर पृथ्वीपर नया अकुर उत्पन्न नही होता, ऐसे ही कर्मरूपी बीजके जल जानेपर मुनिके ससार रूपी अकुर उत्पन्न नही होता। गेहूंका बीज क्या है ? गेहूंका दाना चनेका बीज है चनेका दाना तो ऐसे ही संसारका बीज है कर्मचेतना, कर्मफलचेतना। ये संसारके बीज हैं। जो बाह्य क्रियायें करके अहंकार करता कि मैं यह सब कर रहा हू तो उसे अपने अविचल सहजस्वभाव की सुध नही है और उस क्रियामे आत्मत्व जोडकर अनुभव करता। वह मानता कि इसका मैं करने वाला हू, ऐसे ही कर्मके उदयमे जो फल प्राप्त है, जो प्रतिफलित होता है उसे यह मानता है कि मैं इसका भोगने वाला हू, उसे अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी सुध नही और उस ज्ञानकी सहज शुद्धवृत्तिकी सुध नही कि शुद्धवृत्ति स्वभावका अर्थपरिणमन है। अगुरुलघुत्व गुण की षड्गुण हानि वृद्धि होती है, भगवान अरहंत सिद्धमें भी यह शुद्ध वृत्तिका परिणमन चलता

ही रहता है । उस वृत्तिकी हानि वृद्धि बिना द्रव्यकी सत्ता ही नही रह सकती । केवलज्ञानके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद है । कितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसका कोई उदाहरण जगतमें नही है । कोई कहे कि आकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं तो फिर ज्ञानके भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हो गए । जैसे बताते हैं ना कि भगवानके ज्ञानमें लोकालोकके सब पदार्थ झलकते है ऐसे ही ये लोकालोक कितने ही हो वे सब ज्ञानमें आ जाते हैं । ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद सर्वाधिक अनन्तानन्त हैं, वहाँ हानि वृद्धि होती है, पर वहाँ यह समस्या न आयगी कि इनमें कमी हो होकर कमी इतनी कमी हो जाय कि वे पदार्थ जाननेमें ही न आयें । कुछ सर्वज्ञतामें कमी आ जायगी, ऐसा नही होता । उसे यो समझिये कि जैसे मानो समस्त लोकालोक १०० सख्या प्रमाण है और केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद हजार हैं, उनमें हानि हो जाय तो १०० तो हैं ही, उनमे हानि नही हुई । उतनी हानि हुई यह अर्थ परिणमन है । और ऐसा होता ही है । तो अपने ज्ञानस्वरूप और उस ज्ञानकी सहज शुद्ध वृत्तियाँ यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मेरा काम है इस ओर दृष्टि न होना यह मोह है, अज्ञान है और यह ही संसारका बीज है ।

(४८६) ज्ञानचेतनाके द्वारा अज्ञानचेतनाका विनाश—अज्ञानचेतना, संसारका बीज है । बीज अगर जल जाय तो पृथ्वीपर उस बीजकी राख बोनेसे अकुर पैदा नही हो सकते, ऐसे ही यह अज्ञानचेतना समाप्त हो जाय, नष्ट हो जाय, ज्ञानचेतना प्रकट होवे तो फिर ससारका बीज जल गया, अज्ञान चेतना मिट गई । अब ससार अकुर कैसे पैदा हो ? भाव-मुनियोकी यहाँ महिमा बताते हुए आचार्यदेव यह कह रहे कि बीजके नष्ट होनेपर इस पृथ्वी के ऊपर उससे नवीन अंकुर उत्पन्न नही हो सकता । कर्मबीजके नष्ट होनेपर कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाके नष्ट होनेपर पूर्णतया नष्ट होनेपर सम्यक्त्वसहित दिगम्बर मुद्राके धारक भावसयमीके इस सहज परमात्मतत्त्वकी भावनासे यह बीज नष्ट होता है, फिर ससाररूपी अकुर उत्पन्न नही होता । यह अतस्तत्त्व दुर्लक्ष्य है । बड़ी निष्काम साधनासे, जैसे कोई कार्य इतना सावधानीका हो कि थोड़ा भी प्रमाद हो तो वह लाइनसे बाहर हो जानेसे कार्य बिगड़ हो जायगा ऐसे ही यह दुर्लक्ष्य सहजपरमात्मतत्त्वकी आराधनाका काम ऐसी ही सावधानीका है कि एकचित्त होकर उसी मार्गसे वहाँ तक दृष्टि ले जाय तो अपने उपयोगसे इसे प्राप्त कर सके । इसे लोग अलख निरञ्जन कहते हैं । अलखके मायने आँखसे न दिखे अथवा बड़ा प्रयोग करनेसे बड़ी कठिनाईसे लक्ष्यमे आवे, ऐसा स्वभावतः निरञ्जन अन्य समस्त पदार्थोंसे विविक्त केवल सहज निज सत्तारूप है । यह अंतस्तत्त्व है जिसकी भावनासे फिर ससार प्रकट नहीं आवे, ऐसा सहज परमात्मतत्त्वकी भावना यह ही एक उत्कृष्ट वैभव है । इस भावनाके

[illegible] होकर हमें सदा सहज परमात्मस्वरूप अरहंत सिद्ध भगवन्तोंका स्वरूप ध्यानमे रखना चाहिए।

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥१२७॥

(४८७) भावश्रमणके सहज आनन्दका लाभ—भावश्रमण सम्यग्दृष्टि मुनि सुखको प्राप्त होता है और द्रव्यश्रमण मिथ्यादृष्टि मुनि दुःखको प्राप्त होता है। तो उन दोनों गुणों व दोषोंको जानकर भावोंसे युक्त होना चाहिए। अपने आपका याने स्व आत्माका जो सहज स्वरूप है, अपने सत्त्व मात्रके कारण जो कुछ व्यवस्था है उस शाश्वत ज्ञानस्वभावरूप अपनेको मानना स्वीकार करना, ऐसी ही रुचि करना यह ही आदेय है, यह ही शरण है, इसके लेनेमें ही कल्याण है। इस तरह निर्णय कर अपने आपको ज्ञानस्वरूप मानना यह ही कल्याण है, इस तरह निर्णय कर अपने आपको ज्ञानस्वरूप मानना यह है कल्याणका बीज। प्रारम्भसे लेकर याने चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर अन्त तक जहाँ तक साधनाकी जा रही है सर्वत्र एक यही साधना मूलमे चाहिए, पर परिस्थितिवश चूँकि गृहस्थ है, घरमे रहते हैं तो उसको कुछ विवशतायें हैं जिससे राग करना होता है। आरम्भ करना होता, अनेक समागम करने होते तो उनमें यह कैसे विरक्त रह सके, उस प्रक्रियाको करता है। जिसे कहते हैं अणुव्रत पालन। तो वह एक अपने आपका बचाव है कि यह आत्मा विपत्तिमे, व्यसनोमें न पड़े, जब मुनि हो जाता है तो वहाँ सबका त्याग करके हुआ है। ताकि निज सहज स्वभावरूपसे अनुभवते रहनेमें बाधायें न आयें और ऊपर भी जहाँ जितना जितना राग है उसकी निवृत्तिके लिए जो पौरुष है वह भी स्वभावावलंबन है। सर्वत्र वहाँ भेद तो पड गया, पर मूल काम सबका एक ही रहा मोक्षमार्गका। जैसे ठंड मेटनेका साधन एक गर्मी है इसी प्रकार आत्माके विकासका साधन आत्माके सहजस्वभावका आलम्बन है। उस सहज स्वभावको देखना है यह मैं अपनी सत्ता मात्रसे जो हूं उसमे विकारका प्रसंग नहीं बसा है अर्थात् स्वभावतः मैं अविकार हूं, स्वरूप ऐसा है मगर अनादिसे उपाधिका मिलना होता है और ये सब विडम्बनायें चलती हैं तो इन विडम्बनाओंके होनेपर ही कल्याण मार्गमें चलनेके लिए भव्य जीवोंका प्रथम पौरुष होता है। स्वरूपज्ञान। इनमे भेदविज्ञान बनें और आदेय जो स्वतत्त्व है। स्वरूप है उसमें अभेद बन सके, यह प्रयास होता है।

(४८८) विकारोत्पादविधि—यहाँ यह बात जानना कि जिससे हमें हटना है वे विभाव वे विकार ये हो कैसे रहे हैं, जब कि अविकार स्वरूप है, तो इनके उत्पन्न होनेकी विधि क्या है ? तो विधि यही है कि चूँकि ये विकार मेरे स्वभाव नहीं हैं सो मैं ही निमित्त

होऊँ, मैं ही कुछ अपने आपमें परिणमूं, ऐसा वहाँ स्वरूप नहीं है, "यन्निमित्तमित्तं परत्र एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्" विकारके होनेमें निमित्त प्रसंग ही है, वह एक वस्तुस्वभाव विदित हुआ। कैसा स्वभाव कि इस अविकारस्वभावी आत्मामें पर्यायस्वभाव पाया, जिसमें ऐसी कला बसी है कि इस प्रकारके विपाकोदयके सन्निधानमें ऐसे विकाररूप परिणम जावे, ऐसा इनमें एक पर्यायस्वभाव पड़ा हुआ है। जो विकार हुए तो अन्य निमित्त कर्मविपाकके सन्निधानसे हुए हैं, मैंने नहीं किया मेरी परिणति नहीं है मगर होता इस ही ढंगसे है। अगर पर निमित्त पाये बिना विकार हो तो मोक्षमार्ग कुछ न चल सकेगा, क्योंकि फिर तो विकार स्वभाव होनेसे नित्य होता रहेगा। नैमित्तिक होनेसे कोई सदा नहीं रह सकता। और फिर स्वभावपर दृष्टि रहे तो कुछ भी गड़बड़ियाँ नहीं हो सकतीं।

(४८९) आश्रयभूत कारणके अनुपयोगका विशद प्रकाश—कर्मनिमित्तके सन्निधानमें विकार हुआ, पर वे विकार दो प्रकारके हैं—(१) अव्यक्त विकार और (२) व्यक्त विकार अबुद्धिपूर्वक, बुद्धिपूर्वक। जो अनुभवमें आया, बुद्धिमें महसूस होवे वह है व्यक्त विकार है और जो हमारी बुद्धिमें महसूस नहीं होता वह अव्यक्त विकार है। तो व्यक्त विकार होनेमें तीसरा कारण होता है आश्रयभूत। दो तो ये हैं उपादान और निमित्त मगर व्यक्त विकार जब हो तो पर पदार्थ आश्रयभूत है अर्थात् उपयोगमें परपदार्थका आश्रय किया, उसको ज्ञानमें लिया ऐसा वह बाह्य विषय आश्रयभूत कहलाता है। निमित्त नहीं कहलाता। यद्यपि ये समस्त बाह्य पदार्थ मेरे विकारमें निमित्त नहीं कहलाते, पर निमित्त कहनेकी प्रथा है, निमित्त कहकर बात की जाती है मगर वहाँ यह विवेक रखना कि ये बाह्यपदार्थ मेरे विकारके निमित्त नहीं है, किन्तु ये आश्रयभूत हैं, मैं उपयोगमें इनको ग्रहण करता हूँ और विकार व्यक्त होते हैं। ये निमित्त क्यों नहीं हैं? निमित्त वह हुआ करता है कि जिनका परस्पर अत्यन्ताभाव तो है मगर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध भी साथ है। जिसके होनेपर ही हो, जिसके न होनेपर विकार न हो उसे अन्वयव्यतिरेक संबंध कहते हैं।

(४९०) कारणमें कारणत्वके आरोपका तथ्य—इन बाह्य पदार्थोंके साथ मेरे विकार कार्यके लिए अन्वयव्यतिरेक सम्बंध नहीं है, अतः ये आश्रयभूत हैं। और यही कारण है कि इसे आरोपित कारण भी कहते हैं। पर निमित्त आरोपित कारण नहीं कहलाता। हाँ निमित्तका ज्ञान बने इतने मात्रसे आरोपित कहा तो वह ज्ञप्तिकी बात है। उत्पत्तिमें आरोपित नहीं है। जैसे अग्नि रखी है, मेरा पैर अग्निपर पड़ गया तो हम चाहे जानें चाहे न जानेपर वह पैरको जलानेका निमित्त है ही। जलना जान लिया तो वहाँ आग जानी, कार्य देखकर कारणका ज्ञान हुआ तो ऐसा इस अनुमान प्रमाणमें होता ही है। धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ

तो क्या धूमका अग्नि आरोपित कारण है ? वह तो सही कारण है यहाँ भाव है यह जानने कब पाया जब कि रसोईघरमें या जंगलमें धूम दिखा। ऐसा ज्ञप्ति रूपसे आरोपित हुआ। पर उत्पत्ति विधिमें आरोपित नहीं है। वहाँ जाने तो, न जाने तो। ऐसे ही यह कर्मविपाक निमित्तभूत है, वह बुद्धिगत बने तो न बने तो, विकार होगा ही। पर इसका परस्पर अत्यन्ताभाव है। जगतके लोग कर्मको जान नहीं पाते, इन बाहरी विषयभूत पदार्थोंमे कार्य कारण भाव लगाते रहते हैं मुझको इस मनुष्यने गुस्सा करा दिया, इसने मुझको दुःखी कर दिया, इस प्रकारका जो आश्रयभूत कारणके साथ कर्ताकर्मका व्यवहार बनाते हैं यह उनका निपट अज्ञान है। क्योंकि ये बाहरी पदार्थ तो निमित्तदृष्टिसे भी कर्ता नहीं हैं, फिर उनको बड़ी ठोस भाषामें बोलना कि इसने ही मेरेको दुःखी किया यह है अनिमित्तपर निमित्तत्वका आरोप। उसे ही निमित्त मानना यह तो अज्ञानभरी बात है। तो यह जान लीजिएगा कि बाहरी पदार्थ मेरे विकारके निमित्त कारण नहीं हैं, मैं इनपर क्यों रोष तोष करूँ ? ये तो जैसे हैं वैसे रहते हैं, न मैं इनमें आता हूं, न ये मुझमें आते हैं, न ये मुझमे कोई प्रेरणा देते हैं कि तुम शान्त क्यों बैठे हो ? तुम गुस्सा हो जावो, ऐसी कोई प्रेरणा नहीं देते, किंतु यह जीव कर्मविपाकके उदयमें आश्रयभूत पदार्थोंपर उपयोग देकर अपनी कषायोंको व्यक्त करता है। तब चाहिए क्या ? जिनका समागम निरन्तर रहता है उनके विषयमे यह जानकारी बनायें कि ये मेरे विकारके करने वाले नहीं हैं।

(४६१) निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका आत्महितमें सहयोग—अब देखिये कर्मविपाककी बात, कर्मका और विकारका निमित्तनैमित्तिक योग समझनेसे स्वभावपर दृष्टि दृढ बनती है। ये क्रोधादिक मेरे स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि ये निमित्त पाकर हुए है। मैं तो अविकार ज्ञानस्वभावी हूं और इसी विधिसे ग्रंथोमें निमित्तनैमित्तिक योगका बहुत कथन पाया जाता है। उन कथनोंसे यह शिक्षा ली जाती है कि इस क्रोधसे मेरा क्या मतलब ? ये मेरे स्वरूपमें नहीं है, मेरे स्वभावसे नहीं प्रकट हुआ है, किन्तु यह निमित्त पाकर प्रकट हुआ है, तो व्यक्त विकारको जो हटानेका पौरुष करता है उसके अव्यक्त विकार भी यथासमय दूर हो जाते हैं। बुद्धिपूर्वक पौरुष व्यक्त विकार न होने देनेके लिए बनता है, पर जो पौरुष व्यक्त विकारको दूर करनेके लिए समर्थ है वह ही पौरुष अपने समयपर अव्यक्त विकारको भी दूर करनेमें समर्थ है। एक बात यह बहुत प्रयोग रूपसे जानना कि जो हर एक पदार्थको यह निमित्त है, निमित्त है, ऐसा लोग कह देते हैं सो बात नहीं है। जीवके विकारभावमे कर्मविपाक निमित्त है और बाकी अन्य कोई पदार्थ निमित्त नहीं है, मैं ही बाह्यविषयका आश्रय करके विकार व्यक्त करता रहता हू।

(४६२) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग दोनोंका वर्णन—अब कभी कोई बात हो तो दो दृष्टिसे हम देखा करते हैं। एक तो केवल उस ही पदार्थको निरखकर बात बताना और एक सर्व ओरसे समझकर बात बताना। जैसे सामने दर्पण रखा है और पीठ पीछे दो-चार बालक मानो कुछ खेल कूद रहे, उछल फांद रहे, तो दर्पणमें वह प्रतिबिम्ब आया। अब कोई केवल दर्पणको ही देखता रहे तो जान रहा कि यह हो रहा यह हो रहा, यह दर्पणमें हुआ और दर्पणकी परिणतिसे हुआ, यह सब जान सकेगा और जब सब ओरसे बात समझेंगे तो यह जानेंगे कि दर्पण स्वयं फोटो परछाईंके स्वभाव वाला नहीं है, स्वयं अपने आप अपनेमें ही परछाईंके स्वभाव वाला नहीं है। हाँ परछाईं कर सके ऐसा योग्य दर्पण है, मगर यह जो फोटो आ रही है यह बात क्या गलत है? यह इस सब ओरसे समझी हुई बात है, मिथ्या तो नहीं है, पर जिस समय केवल हम एक ही पदार्थको देख रहे हैं तब क्या वह भी बात गलत है? एक पदार्थके देखनेके मूडकी वह बात ठीक ही तो है। अच्छा फिर हमको मार्ग कैसा सोचनेमें मिलेगा? जैसे दृष्टान्तमें ये दो बातें रखी हैं ऐसे ही दार्ष्टान्तमें यह बात समझना कि आत्मा दर्पणवत् स्वयं अपने आपमें विकार करनेका स्वभाव नहीं रखता, फिर भी यद्यपि कर्मउपाधिका सान्निध्य पाकर विकार जग रहा, लेकिन केवल एक ही आत्माको निरखकर सोचें तो यहाँ आत्मामें यह परिणमन हुआ, अब यह परिणमन हुआ, आत्माकी ही परिणतिसे हुआ, दूसरेसे नहीं आया, ये सब बातें निश्चयनयके आशयमें समझी जा रही हैं, यह बात झूठ तो नहीं है, पर साथ ही यह देखें कि जो विकार जगा है सो वह विकार जब आत्माका स्वभाव नहीं है और स्वभावसे ही नहीं हुआ करता है तो किसी पर सन्निधान को पाकर हो रहा है, वह है कर्मविपाकका सान्निध्य और यहाँ उसका प्रतिफलन है, विकार जग रहे हैं, यह बात क्या झूठ है? यह भी झूठ नहीं है।

(४६३) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग दोनोंकी उपयोगिता—जब वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक योग दोनों ही बातें सही हैं तब कौनसी बातपर अधिक भाव लाना चाहिये? यह तो एक अवसरकी बात है। कभी निमित्तनैमित्तिक योगके चिन्तनसे हमारा मार्ग स्पष्ट होता है। तो कभी हम केवल एक आत्माको ही निरखकर एक मार्ग पाते हैं। मार्ग जो मिलेगा वह एक है, वे दो नहीं हैं याने निमित्तनैमित्तिक योगके ढंगसे निरखकर हमने मार्ग पाया वह भी वही मार्ग है और निश्चयनयकी दृष्टिसे निरखकर मार्ग पाया वही पाया जो उस चिन्तनमें पाया, वह क्या है? आत्माका सहज ज्ञानस्वभाव। यह भी निमित्तनैमित्तिक योगके चिन्तनसे कैसे पाया? बड़े आरामसे, बड़ी सुगमतासे और उसका प्रयोग प्रायः करते ही रहते हैं। ये विकार, ये घटपट बातें आत्माके स्वभावसे नहीं आयीं, किन्तु पर

उपाधिका सन्निधान पाकर हुई हैं, इसलिए यह विकार मेरा स्वरूप नहीं है। अब करनेकी बात नहीं है कि ये मेरे क्रोधादिक विकार कैसे मिटें? जो औपाधिक हैं वे मिटा करते हैं और जो निरुपाधि हैं वे नहीं मिटा करते। इसमे हमें एक उमंग और उत्साह मिला कि ये विकार मिट सकने वाले हैं, ये मेरे स्वभावसे उठे हुए नहीं हैं, अच्छा जब निश्चयनयसे देखें तो उसमे कैसे यह मार्ग मिला? निश्चयनयमे केवल एक द्रव्य ही देखा जाता है। आत्मा ही देखा जा रहा। भले ही यह अभी अशुद्ध निश्चयनयके मूडमे है इस कारण इसका अशुद्ध परिणमन दिख रहा है और यह भी ज्ञात हो रहा है कि यह अशुद्ध परिणमन इस आत्माका है, आत्माकी परिणति है, यह सब दिख रहा है, मगर इसमे जो एक कैद बनती है कि दूसरे द्रव्यको न निरखना, निश्चयनयमे जो एक नियन्त्रण है तो वह इन नियंत्रणोका लाभ ले रहा। क्या? कि केवल इस अशुद्ध आत्माको देख रहा और यह इस उपादानसे प्रकट हुये दूसरे द्रव्यको देख ही नही रहा तो तुरतका लाभ तो यह है कि आश्रयभूत कारण इसकी निगाहमें नहीं है, तो व्यक्त विकार जगेगा ही क्यो? कर्मविपाक आदिक ऐसी सूक्ष्म उपाधियाँ भी इसकी दृष्टिमे नही हैं तो वह परिणमन और जहाँसे प्रकट हुआ एक वह तत्त्व मायने आत्मा, इन दो पर दृष्टि है इसलिए निश्चयनयका उल्लघन नही हो रहा है। तो अब उनका आमना सामना जो चल रहा है वह यहाँसे प्रकट हुआ, ऐसा चिन्तन करनेमे, चूंकि बाह्य पदार्थ इसके उपयोगमे नही है सो निर्बाध बैठे हैं, सो इस चिन्तनमे जिससे ये परिणमन निकले उसकी दृष्टि मुख्य हो जाती है और यह अशुद्ध निश्चयनय विलीन होकर परमशुद्ध निश्चयनयमे बदल जाता है। वहाँ स्वभावदृष्टि होती है। आगे शुद्ध परिणमन पाकर यह अपना कल्याण करता है। तो निश्चयनयसे भी हमने फायदा उठाया, निमित्तनैमित्तिक योग के चिन्तनसे भी हमने लाभ उठाया।

(४६४) एकत्वपरिणत होनेमे शुद्धनयाश्रयका अतिनिकटतम स्थान—पूर्ण लाभ तो शुद्धनयमे मिलता है। यहाँ तक पहुचनेका एक मार्ग हमने पाया। अनेक लोग झट कह उठते हैं कि देखो जैसे किसी मदिरको जाना है तो उसके अनेक रास्ते होते हैं कोई किसी रास्तेसे जाता, कोई किसी रास्तेसे पर अन्तमें सब मंदिर पहुच जाते, ऐसे ही धर्मके बारेमे समझो, कोई किसी धर्मको पाले कोई किसीको आखिर अन्तमे पहुचते सब उसी जगह हैं, उसके रास्तेमें अनेक है। तो देखिये कोई रास्ता अगर विपरीत दिशामें है वहां पहुचनेका तो कोई प्रसग ही नही, किन्तु जो एक दिशाकी ओर हो ऐसे अनेक रास्ते होते हैं। जैसे अणुव्रत महाव्रत ध्यान और और बातें, ये सब करते हो हैं, निश्चयनयका प्राधान्य, निमित्तनैमित्तिक योगका चिन्तन किन्ही भी बातोसे हम पहुंचेगे तो उसी स्वभाव मंदिरमें तो किसी भी मार्गसे

चलें पर यहां एक बात सोचें—जैसे इस मंदिरमें आनेके कई रास्ते हैं, कोई रास्ता किसी दिशासे आता कोई किसी दिशासे । अनेक पगडडियां भी हैं, कोई अपनी दुकानसे हो यों ही सीधा निकल आता तो कितने ही रास्ते हैं मंदिरमे आनेके, पर मदिरमे प्रवेश करनेके अति पूर्व निकट मार्ग तो एक ही बनता है, वहां तो दो रास्ते नही हैं । तो सही मार्ग तक पहुंचने के पहले जो अनेक मार्ग हैं, पगडडियां हैं वे उस ही एक मार्गकी ओर ले जाने वाली हैं, फिर उस एक मार्गसे हम मदिरमें प्रवेश करते हैं तो ऐसे ही चिन्तन नाना प्रकारके करलें निमित्त-नैमित्तिकयोगसे, निश्चयनयसे जो जो भी जितने भी चिन्तन चलें, पर उद्देश्य यह रखें कि इससे हमे शिक्षा लेनी है सहज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि पानेकी ।

(४६५) **समस्त उपदेशोंका लक्ष्य निज शाश्वत स्वभावका आलम्बन**—जितने भी वर्णन है उन सब वर्णनोंका प्रयोजन सहज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि पाना है । प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सभीका प्रयोजन यह है कि यह आत्मा अपने सहज-सत्यस्वरूप तक पहुच जाय और उसीको विधिसे समझानेका सर्वत्र प्रयास है, पर कोई बहुत अलग उल्टा चला गया तो उसको ठीक मार्गपर लानके लिए और ढंगके प्रयास चलते हैं । जो जरा भी भूला है उसका और ढगका प्रयास चलता है । उसमे भेद पड गया भूलके कारण । चूँकि भूला अधिक है इसलिए उसके प्रतिबोधन भी अधिक है, पर मूलमे मार्ग एक है ।

(४६६) **भावश्रमणका शाश्वत आनन्दपर अधिकार**—सहज ज्ञानस्वभावका जिसने दर्शन, श्रद्धान अनुभव किया है वह पुरुष भावश्रमण है और सुखोको प्राप्त करता है । सुख कोई अच्छी चीज नही है, मगर यह शब्द ऐसा रूढ़ है कि आनन्द और शान्तिके लिए सुख शब्दका प्रयोग सुगमतया चलता रहता है । सुख पाना अच्छी बात नही, ख मायने इन्द्रियाँ और सु मायने सुहावना लगता, इन्द्रियोको जो सुहावना लगे ऐसी परिणति पाना कोई अच्छी बात नही, शान्ति पाना उत्तम है, आनन्द पाना उत्तम है । आसमतात् नदनं आनदः चारो ओरसे जो समृद्धिशाली हो उसका नाम है आनन्द । टुनदि समृद्धौ धातुसे नन्द शब्द बना, नन्दन नन्दः उसका नाम है शान्ति तो शान्ति और आनन्दके लिए सुख शब्दका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि आचार्योंको समझाना किसे है ? गृहस्थोंको, सुखसे परिचित लोगोंको । जो यहां सुखसे परिचित है उनको समझानेके लिए उस शब्दका प्रयोग किया गया है, तो यहां सुखका अर्थ लेना है शान्ति और आनन्द । भावश्रमण आनन्दको प्राप्त होते हैं ।

(४६७) **द्रव्यश्रमणकी दुःखपात्रता**—जो द्रव्यश्रमण हैं, मिथ्यादृष्टि मुनि वे अपनी करतूतसे दुःख ही पाते हैं । द्रव्यलिङ्गी मुनि अनेक प्रकारके होते हैं उनमें से यहा मिथ्या-दृष्टि मुनिको लीजिए । जिसके ६ वें गुणस्थानका भाव है वह मुनि भी द्रव्यलिङ्गी है ।

जिसके चौथे, तीसरे, दूसरेका भाव है वह भी द्रव्यलिंगी मुनि, जिसके पहले गुणस्थानका भाव है वह भी द्रव्यलिङ्गी मुनि। प्राय: द्रव्यलिङ्गी मुनि कह कर जो सम्बोधा जाता है वह मिथ्या-दृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनिको ही समझाया जाता है। रहा अब चौथे पाँचवें गुणस्थान वाला द्रव्य-लिङ्गी मुनि। वह सब समझ चूंकि कभी इसमे आयगी अभी क्षयोपशम कम है, कभी विशेष होगा। व्रतोंके भाव कभी कम रहे, कभी अल्प रहे तो चौथे पांचवें गुणस्थानमें आ गया, वहाँ कोई खास ऐसी त्रुटि नहीं है. जो है वह स्वय ठीक हो जाती। वहाँ कुछ अधिक पौरुष नहीं करना होता इसलिए द्रव्यलिङ्गी मुनि कहकर मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनिको सम्बोधा है। सो जो द्रव्यश्रमण है वह दु खको पाता है, तुरन्त दु:खी है, आगे भी दु:खी रहेगा। तो क्या दु:ख है कि कुछ ज्ञान प्रकाश ही नही मिल रहा। जिसे कहते घबडाहट। अब समझमे ही नहीं आ रहा तथ्य। जो कुछ समझमे आ रहा उल्टा सीधा, वह कर रहा तुरन्त दु.खी और दु:खमे खोटा बंध बनता है, सो उस बंधके फलमे यह आगामी कालमे भी दु:खी रहेगा।

(४६८) भावसहित व भावरहित वृत्तिके गुण दोष जानकर गुणके आश्रयसे गुण विकासमें आनेका अनुरोध—भावसहित व भावरहित वृत्तिके गुणदोष जानकर, भावविकास के ये गुण हैं और भावरहितके ये दोष हैं, ये प्रचेतन हैं ऐसा जानकर हे मुनिवरो! तुम सुभावोसे सयुक्त होवो। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य इस भावपाहुड ग्रथमे सम्बोध रहे है, क्योंकि अनेक कीचड़ोंमें गृहस्थाश्रम भी एक पंक है। जैसे हाथी सरोवरमे स्नान करके बिलकुल साफ हो गया, पर उसकी एक ऐसी आदत होती कि पानीसे बाहर आकर कुछ धूल सूंडसे उठा उठाकर अपने शरीरपर फेंक लेता, तो इसे कहते हैं हस्तिस्नान ऐसे ही गृहस्थका वातावरण ऐसा है कि थोड़े समयको उपदेश सुन रहे, मंदिरमे आकर पूजा पाठ कर रहे, अच्छे भाव बना रहे आत्मके अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय, इस प्रकारकी खूब भावनायें आते हैं, पर यह बात आगे नहीं टिक पाती। यहाँसे चलकर घर पहुचे कि ऐसे प्रसग मिलते कि जिससे वे सब बातें भूल जाते। क्या करें? गृहस्थीका प्रसग ही ऐसा है। तो यहा मुनि-वरोंको आचार्यदेव समझा रहे कि हे मुनिवरो तुमने जब इस गृहस्थीके पकका त्याग कर दिया तो अब एक अपने स्थूल भावको सुधारो, वास्तविक भावोसे सहित होवो तो तुम्हारे इस कर्तव्य का फल मिल जायगा। इसलिए भावोंसे शुद्ध हो, सम्यक्त्वसे सहित हो और अंतस्तत्त्वकी धुन मे रहो, जिससे कि यह आत्मध्यान सुगमतया बनता रहे।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं।
पावंति भावसहिया सखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥१२८॥

(४६६) भावसहित मुनियोंके अभ्युदयपरम्परापूर्वक मोक्षलाभ—भावसहित मुनि

तीर्थंकर गणधर आदिक अभ्युदय परम्परासे प्राप्त करके इस शाश्वत शान्तिको प्राप्त करते हैं। भावसहित अर्थात् जो जो ध्रुव है, शाश्वत सहज शुद्ध भाव है, वस्तुके सत्त्वके कारण जो अनादि निश्चत है उसकी दृष्टि जिन्हें प्राप्त हुई वे भव्य जीव मुनि व्रत धारण करके, नाना अभ्युदयको प्राप्त होते हुए तीर्थंकर गणधर देव जैसे सुखोंको प्राप्त करते हैं। प्राय. करके जो जीव मोक्ष जाते हैं वे अभ्युदयके साथ जाते हैं। ऐसे मुनि कम हैं जो उपसर्गसे सिद्ध हुए या जिन्हें कोई जानता भी न था वे सिद्ध हुए, ऐसोंकी संख्या कम है और जो देवी देवोंसे पूजित होकर, गधकुटी आदि बड़े समारोह मनाये जा कर पूज्य हुए और ऐसे अभ्युदयोमे से गुजरकर मुक्त हुए ऐसों की सख्या अधिक होती है। जब घरमेसे कोई बड़ा बालक पढ़ने या सर्विस करनेको विदेश जाता है, बहुत दूर जाता है वहाँसे आने जानेमे हजारो रुपये खर्च होते हैं। और वह जा रहा हो पहली बार तो उसे कितना ठाठसे भेजते हैं उसके परिवारके लोग, मित्र लोग। उसके जानेका मुहूर्त निकालते, लोग जुडते, प्रीतिभोज करते और बड़ी मगल शुभ कामनायें करते और बड़े ठाठ से भेजते। तो भला जो इस ससारमेंसे सदाके लिए विदेश जा रहा हो (यह ससार देश है तो मोक्ष विदेश है) और जो कभी लौटकर आयगा भी नही उसे देवगण, मनुष्यगण, विद्याधर और ये पशुपक्षी भी बड़ा ठाठ मनाकर, बड़ी भक्ति करके और बड़े मंगल वातावरणमें उसे भेजते है। वह जा रहा है अपने ही कर्मक्षयसे मगर जा रहा है, पवित्र है, अच्छी जगह पहुच रहा है तो यहाके प्राणी भी तो उसकी याद रखते हैं। तो वहाँ जमघट हो जाता है। जो मोक्ष गया वह बड़े अभ्युदयको पाकर मोक्ष गया। चुपचाप मोक्ष जाने वाले तो कम होने चाहिए। वे किसी उपसर्ग आदिक कारणसे हुए हैं, मगर सीधे सादे जो मोक्ष गए उपसर्ग आदिकके बिना तो लोकपूजित होकर मोक्ष गए।

(५००) तीर्थंकरोंका अभ्युदय—भावश्रमण मुनि अरहत भगवान हो गए और वे ठाठ तो नहीं चाह रहे फिर भी उनका जैसा ठाठ किसीका हो सकता है क्या? जिस समवशरणमे विराजें उसकी रचना अद्भुत होती है, वह समवशरणकी रचना मनुष्योंके द्वारा नही बन सकती। इसके रचने वाले देव होते हैं। इस विषयमे दो बातें सुनी जाती है। कोई लोग तो कहते है कि देव स्वयं मायारूपसे समवशरणरूप बन जाते है, पर एक यह कहते हैं कि देवोंमे ऐसी कलायें हैं, ऐसी ऋद्धियां हैं कि यहाँके ढेला पत्थर रत्न आदिकसे ही क्षणभर में समवशरण बना देते हैं। ऐसा उनकी ऋद्धिका माहात्म्य है। यहाँ भी तो कोई कलाकार जिस कामको १० दिनमे करता है उसी कामको कोई दूसरा कलाकार एक दिनमें कर देता है, फिर देव तो अत्यन्त चतुर कलाकार हैं। वे यहांके ही पदार्थोंको इस इस तरहसे परिणमा कर बनाकर कुछ ऋद्धिका योग कि समवशरण रच देते है। उसकी रचनाके विषयमें आप

लोगोने सुना होगा कि कितनी अद्भुत होती है, कैसे कोट, कैसे उपवन, कैसी ध्वजा, कैसे मंदिर, नाट्यशालायें सब तरहकी बातें । देखो कोरा रूखा वीतराग धर्म, वहाँ भी वातावरण नहीं रखा क्या क्या ? सरोवर है, बैठने उठने आराम करनेकी जगह हैं, मनोविनोदके साधन हैं, नाट्यशालायें हैं मगर वे सब धर्मके प्रसंगको लेकर हैं । उनमे से गुजरते हुए समवशरण भूमिमें पहुचते हैं । सभायें होती हैं, वहाँ धर्मोपदेश होता है । कितने ही लोग वहाँ विरक्त हो जाते हैं, कितने ही वहीं ध्यानस्थ हो जाते हैं । कितनो ने भी वही केवलज्ञान पाया । न जाने कैसे कैसे वहाँ ठाठ है । ऐसा अभ्युदय यह तीर्थंकर प्रकृतिके उदयका अभ्युदय है । तीर्थंकर प्रकृतिके बारेमें जो आदेय समझते हैं उनकी दृष्टि ससारविषयक नहीं है, किन्तु मुख्य दृष्टि यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिका बध करने वाला तो नियमसे मोक्ष ही जायगा अधिकसे अधिक तीन भवोमे ? समस्त पुण्य प्रकृतियोंमे सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट पुण्य पकृति है तीर्थंकर प्रकृति । उसके सुखोको, आनन्दको, पवित्रताको भावमुनि प्राप्त करते है ।

(५०१) प्रभु अरहंत देवकी धर्मसभाका अभ्युदय—सभा प्रभुके चारो ओर होती है और वहाँ यह गडबडी नहीं बनती कि तुम क्यो उनके सामने बैठ गए, यहाँ तो हम बैठेंगे । हम तो उनके मुखके सामने बैठकर सुनेंगे, ऐसी गडबडी वहाँ नही मचती । अरे ऐसा ही वहाँ देवकृत अतिशय है कि चाहे जिस दिशामे बैठो भगवानका मुख चारो ओर दिखेगा । बहुतसे लोग तो ऐसा सोचते हैं कि वे सब बातें बढ़ा चढाकर लिखी गई है, पर यह बात नही है । यहाके मनुष्योकी कलासे ही अदाज करलो, अनेको जगह ऐसा देखनेको मिलता कि कोई प्रतिमा तो एक है मगर काच वहा ऐसा लगा होता कि उस प्रतिमाका मुख चारो ओर दिखाई देता । जब मनुष्योमे ही ऐसी कला देखने का मिलती तब फिर देवोकी कलाका तो कहना ही क्या ? लोग इसपर बडा भारी आश्चर्य करते कि भगवानका उपदेश होता अर्द्ध-मागधी भाषामे और लोग सब अपनी-अपनी भाषामे समझ लेते हैं । देखो हमने देखा तो नही, पर सुना है कि सयुक्त राष्ट्रसघके पास एक ऐसी मशीन है कि जिसमे किसी भी एक भाषा मे बोला जाय तो उसका रूपान्तर विभिन्न भाषावोमे तुरन्त होता जाता है । मानलो इगलिश मे व्याख्यान दिया जा रहा तो वहाँ बैठे सभी भाषावोके लोग अपनी अपनी भाषामे उसका अर्थ समझ लेते हैं । जब यहीं इस प्रकारकी कलायें देखी जाती तब फिर देवोकी कलावोंका तो कहना ही क्या ? यहां पर और और भी आश्चर्यजनक कलायें देखनेमे आती जैसी टेली-विजन, बेतारका तार, रेडियो, टेलीप्रिन्टर आदि, फिर देवता लोगोकी कलावोंका तो कहना ही क्या ? वे अगर किसी काममे जुट गए तो न जाने क्या क्या करके दिखायेंगे ?

(५०२) प्रभुके निवासधामके निकट अतिशय—प्रभु जहा विराजे होते वहां अशोक

वृक्षकी छाया रहती है, पुष्पवर्षा होती है। वे ऐसे पुष्प नहीं जैसे कि यहांके विकलत्रय जीवों से युक्त पुष्प है। वहांके पुष्पोंमें कीडे मकोडे नहीं होते। कीडे मकोडे तो स्वर्गपुष्पोंमें भी नहीं होते, ऐसे निर्जन्तु पुष्पोंकी वहां वर्षा होती है और वहांके गीत वादित्रका तो कुछ ठिकाना ही क्या? वहां बाजोंके प्रकार करोडो तरहके बताये गए हैं। अब यही देख लो—कमसे कम ५० तरहके बाजे तो यहा भी मिलेंगे। एक बांसुरीको ही ले लो, बांसुरी करीब ५० तरह की मिलेंगी। बैन्ड बाजे दूसरी प्रकारके है, ढप ढप बाजे दूसरी प्रकारके है। कितनी ही तरहके बाजे हैं। और फिर उनके बजाने वालोकी कलाका तो कहना ही क्या? उनके नृत्य तो अजीब ढगके, क्षण भरमे यहा और क्षण भरमें दूर, छिनमे अदृश्य और छिनमें दृश्य और वे देव देवियाँ ठलुवा हैं क्योकि उनके पास कोई कमाने धमानेका काम नहीं, खाना भी नहीं पडता तो वे इन कलाओमे बडा अभ्यास रखते, बडे निपुण होते। जब और कोई काम नहीं है तो वे इन कलाओमे बड़े कलावान हो जाते, कैसे कैसे नृत्य, गीत, वादित्र, उनकी शोभा उनकी स्तुतियाँ ये सब बड़े अनोखे ढगके होते। संस्कृत भाषाको देववाणी बताया है, सुर भाषा जब बताया है तो होती होगी, कुछ तो मुखसे बोलते ही होंगे। एक दूसरेको समझाते होगे। तो सस्कृत तो सबकी मूल जननी है। आप हिन्दी अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती, मराठी पजाबी बगाली आदि सभी भाषाओमे देख लो, सबमें सस्कृत भाषासे मेल खाता है। उन देवोकी वाणी है वह सस्कृत भाषा। भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है, वह एक योजन तक भव्य जीवोके द्वारा सुन ली जाती है।

(५०३) प्रभुके चरण निकट चमर ढुलने व दिव्यपुष्पवृष्टि होनेके अतिशय—प्रभुके निकट ६४ चमर ढुर रहे भक्तिसे, यहाँ चमर ढोरनेके लिए कोई सर्वेन्ट नही नियुक्त होते, जैसे किन्हीके यहाँ विवाहके समय दूल्हेके ऊपर चमर ढोरनेका रिवाज है तो उसमें चमर ढोरने के लिए नौकर रहता, वह गायकी पूछका बना चमर ढोरता, पर समवशरणमे भगवानके ऊपर शुद्ध चमर ढोरे जाते हैं भक्ति और अनुरागवश। प्रभुकी सेवा करके वे अपनेको बडा भाग्यशाली समझते। किसके स्तवनमे बताया कि जब फूल बरसाये जाते हैं तो ऊपर डठल करके छोडे जाते हैं मगर कुछ दूर गिरकर डंठल नीचे हो जाता और उसकी पखुडी ऊपर हो जाती है। वह मानो दुनियाको यह बता रही कि भगवानके चरणोमे जो गिरेगा सो उसका डंठल नीचे हो जायगा याने बधन खतम हो जायगा। ये ढुरते हुए चमर मानो दुनियाके लोगोंको यह बता रहे कि जो भगवानके चरणोमे आयगा वह नियमसे ऊपर उठेगा। इन सब शोभावो को विस्तारने वाले कितने ही समारोह होते हैं।

(५०४) प्रभुदेहतेज और लक्ष्मीसमृद्धिसे विरक्तता—भगवानके शरीरका तेज ऐसा है

कि करोड़ों सूर्योंके एक साथ फैले हुए प्रकाशके समान है। वह तेज ऐसा और ढंगका है कि सुखद है, किसीको बाधा पहुंचाने वाला नहीं है। जिसके शरीरके चारों ओर भामण्डल बना है वह नेत्रों को अत्यन्त प्रिय है। जिसको छूनेके लिए लक्ष्मी दौड़ी नीचेसे कि मैं सिंहासन बनकर भगवानको छू लूं, रत्नजड़ित सिंहासन हैं मगर भगवान उससे भी चार अंगुल ऊपर हैं, तो मानो लक्ष्मीने यह सोचा कि ये भगवान ऊपर उठे जाते तो मैं इनके ऊपरसे लदू। सो छत्रके बहानेसे वह लक्ष्मी ऊपरसे भगवानपर आयी मगर वह भी ऊपर लटकी रह गई छू न सकी। ऐसी बड़ी-बड़ी शोभा, बड़े-बड़े अतिशयों से सहित पंच कल्याणक आदिक ये सब बाह्य सुख, किसको सुख? भगवानको सुख, देखने वाले मानते हैं सो देखने वालों की ओरसे ही कहा जा रहा है कि ऐसे सुखोंको प्राप्त हैं भगवान। अरे प्रभु तो अनन्त सहज शाश्वत आनंदको प्राप्त हैं, अनन्त चतुष्टयके धनिक हैं।

(५०५) भावश्रमणके गणधराभ्युदयका लाभ व प्रभुनामोंमें प्रभुगुणोंका वर्णन— भाव श्रमण मुनि गणधरों के सुखको भी प्राप्त होते हैं। अरहंत भगवानके बादका पद है तो किसका? गणधरोंका। जितने नाम रखे गए हैं भगवानके वाचक उन सबसे भगवानकी शोभा जानी जाती है। आखिर भगवान पशुपति हैं, मामूली नहीं हैं। जितने जगतमें जीव है उन जीवोंका नाम है पशु। कहीं यह न समझना कि सिर्फ गाय, बैल, भैंस आदि जानवरोंका नाम है पशु। अरे पश्यति इति पशुः, जो द्रष्टा हो, देखे उसे पशु कहते हैं। भगवान पशुपति हैं। शिव शंकर जो ज्ञानस्वरूप सो शिव, जो शं सुखको करे सो शंकर, शिवमार्गकी जो विधि बताये सो ब्रह्मा जो सर्व व्यापक सो विष्णु, ये सब भगवानके नाम हैं और आत्माके भी नाम हैं, क्योंकि ऐसी योग्यता दोनोंमें है, ये ही आत्माके नाम हैं। जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु, बुद्ध हरि जिसके नाम। कुछ लोग तो यहां जिसके की जगह जिनके बोलते, पर यहाँ जिसके शब्द ठीक है, क्योंकि उसका अर्थ है कि जिस आत्माके ये सब नाम हैं, उस धाममें मैं, राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम? देखिये यह छंद आत्मकीर्तनमें कुछ कठिन सा लगता तभी तो बहुतसे लोग जिसके की जगह जिनके बोलते। जिस अंतस्तत्त्वके ये सब नाम हैं। जिन—जो रागद्वेषको जीते सो जिन। शिव जो कल्याणमय हो सो शिव, ईश्वर—जो अपने ऐश्वर्यमे स्वतन्त्र हो। ब्रह्मा—जो सृष्टिको रचे सो ब्रह्मा। राम—रमन्ते योगिन अस्मिन् इति रामः, जिसमे योगीजन रमण करें सो राम। अब किसमे रमण करते? इस ही अंतस्तत्त्वमे। विष्णु जो व्यापक हो सो विष्णु, बुद्ध— जो ज्ञानमय हो सो बुद्ध, हरि जो पापोंको हरे सो हरि, कौन? यह आत्मा, सो ये सब जिस अंतस्तत्त्वके नाम है सो राग छोड़कर मैं निज धाममें पहुचूं तो आकुलताका फिर कोई काम नहीं रहता। तो यह सब है परमात्मस्वरूप

और उनके निकट हैं गणधर देव । जैसे राजा और युवराजा ऐसे ही अरहंत और गणधर देव। और ऐसे अनेक अभ्युदय हैं, इन्द्रादिक पद हैं, जिनको भावश्रमण मुनि प्राप्त करते हैं। उनका लक्ष्य नहीं है कि मैं इन्द्र बनूं मगर अपने भाव साधनामें बढ़ रहे हैं तो ऐसे पुण्य विशेष बँधते ही रहते हैं और उनके विपाकका ऐसा अभ्युदय प्राप्त होता है।

ते धण्णा ताणं णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।

भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥१२६॥

(५०६) दर्शनज्ञानचारित्रशुद्ध भावसहित श्रमणोंको नमस्कार—वे भावश्रमण धन्य हैं जो दर्शन ज्ञान और चारित्रसे शुद्ध हैं और मायाचारसे रहित हैं, उन भावमुनियोंको मेरा मन, वचन, कायसे नमस्कार हो। कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ऐसा कह रहे हैं। दो बातें यहाँ बतायीं है कि दर्शन ज्ञान चारित्रसे शुद्ध होना, गुण निर्दोष विकसित होना, जिसके लिए उनका दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार तपाचार और वीर्याचारका पालन होता है। तो कितना विरक्त और स्वभावके अभिमुख कि इन आचरणोंके प्रति यह श्रद्धा है कि हे आचरणो! मैं तुम को तब तक पाल रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे इन आचरणोंसे भी परे निष्कंप ज्ञानस्वरूप न हो जाऊँ। कहते हैं ना, विरक्त गृहस्थ घरके पाये हुए समागमोंसे विरक्त है तो मुनि संप्राप्त समागमोंसे विरक्त है और जिन आचरणोंका पालन करता है सो जानता तो है कि इन आचरणोंके पाले बिना गति नहीं है किन्तु स्वभावदृष्टि अभिमुख होनेसे जानता है कि अंततोगत्वा प्राप्त करना है यह निष्कम्प ज्ञानस्वभाव।

(५०७) निर्माय भावश्रमणोंको नमस्कार—भावश्रमण दर्शन ज्ञान चारित्रसे विशुद्ध है, सम्यक्त्व सहित है और मायासे रहित है। मायाचार जैसे किसी गृहस्थमें पाया जाता है, धर्मकी जगह भी मायाचार। जाप करने बैठे तो कमर झुकाये सीधे सादे जैसे चाहे अटपट टेढ़े मेढ़े बैठे हुए जाप दे रहे हैं और अगर कोई दो चार लोग दर्शन करने वाले पासमें आकर खड़े हो गए तो झट अटेन्सन हो गए मायने खूब तनकर ध्यान करने बैठ गए। दूसरी बात जैसे कोई मंदिरमें भगवानके समक्ष स्तुति पाठ कर रहा था तो जब तक उसे कोई देख नहीं रहा था तब तक तो वह जैसा चाहे बेतुक बेढंगे स्वरमें स्तुति कर रहा था, पर जब देखा कि कोई दो चार लोग दर्शन करने वाले आ गए तो झट उस स्तुति पाठके लयमें परिवर्तन हो गया मायने बड़े रागसे आलाप कर स्तुति करने लगे, तो यह मायाचारी नहीं है तो क्या है? गृहस्थों की तो बात छोड़ो, साधुजन भी बड़ी बड़ी मायाचारी करते हैं। पुराणोंमें एक घटना आयी है कि किसी मुनिराजने किसी नगरमें चातुर्मास किया सो बराबर चार महीनेका उपवास ठान लिया, उनकी बड़ी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। और वह तो चातुर्मास व्यतीत होते ही

निहार कर रहा। आगमें क्या हुआ कि उसी जगहसे कोई मुनिराज निकले तो श्रावकोंने उनकी तपस्याकी प्रशंसा कर दी, धन्य है इन महाराजको जिन्होंने चार माहका उपवास किया। तो इस प्रशंसाको सुनकर वह मुनि बड़ा खुश हुआ और मौन ले लिया, इसलिए कि कहीं बोलनेसे हमारा भेद न खुल जाय। उस मायाचारीके फलमें वह मरकर हाथी बना। शायद त्रिलोकमंडल हाथीकी यह कहानी है। माने जो अपना मान चाहता है उसकी यह दशा होती है कि हाथी जैसा जानवर बनना पड़ता। मान नाकको भी कहते, बोलते ना इसने हमारी नाक रख ली। तो मानो मान रखने वालेको ऐसी नाक मिलती जो कि जमीनपर लटकती याने सूंड। तो जहाँ यह मान मायाचार है वहाँ कहाँसे सरल भाव होंगे ? किसके लिए यहाँ मायाचारी करना ? तो जो मायासे रहित हैं, सम्यक्त्वसे सहित हैं, दर्शन ज्ञान चारित्रसे विशुद्ध हैं उन मुनिजनोंको, उन आत्माओंको मन, वचन, कायसे नमस्कार हो।

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१३०॥

(५०८) भावश्रमण मुनिके अतुल ऋद्धिका लाभ—भावश्रमण मुनिवरोंके तपके महत्त्वसे अतुल ऋद्धियाँ स्वयं प्राप्त होती है। उन्हे ऋद्धियोंका पता भी नही रहता कि मुझमें हुई है। जैसे विष्णुकुमार मुनिको अपनी विक्रिया ऋद्धिका पता न था, उन्हे पता कब पड़ा, जब एक क्षुल्लकने वहाँ जाकर निवेदन किया कि महाराज हस्तिनापुरमे ७०० मुनिसघ पर भारी उपसर्ग हो रहा है, उन्हे भेडकर आग लगायी जा रही है ? धुवासे कठ रुँध गया है। सो मुनिराजने पूछा कि मैं क्या करूँ ? तो उस क्षुल्लकने बताया कि आपको विक्रिया प्राप्त हुई। अच्छा जब उन्होने परीक्षा की, हाथ फैलाया तो लवण समुद्रपर्यन्त फैलता चला गया। तो उन्होने जाकर उनकी रक्षा की थी। ऐसी ऋद्धियोका मुनिवरोंको पता ही नही रहता। जिनको मोक्ष मिलना है उनको ऋद्धियाँ होना कौन सी बडी बात है ? तो एक तो मुनिवरोंको अतुल ऋद्धिया स्वयं प्राप्त होती हैं, दूसरी ओर यह भी देखिये कि स्वर्गके देव, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, विद्याधर लोग अपनी-अपनी कलायें दिखाते हैं, अनेक ऋद्धियाँ दिखाते हैं, उनको देखकर वे मुनीश्वर कभी मोहको प्राप्त नही होते। वे नही सोचते कि ऐसी ऋद्धियाँ मुझे क्यो न मिली ? ऋद्धियोका पता नहीं और जिनके ऋद्धियोका पता नही उनको ऋद्धियोंका निरोध नही, क्योकि ये सब जिनभावनासे वासित हैं। आत्माका दर्शन सहज स्वरूप शाश्वत अहेतुक मात्र चैतन्यस्वरूप है। इतना ही मात्र मैं हूं, इतनेमें ही मेरा व्यापार है; इतने मे ही मेरा उपभोग है। इतनी ही मेरी सारी दुनिया है। इससे बाहर मेरा कुछ नही। ऐसा निर्णय रखने वाले भावश्रमण मुनिके बाह्य चमत्कारोंमे मोह कैसे हो सकता है

सो धन्य है उन मुनियोंको जिनको अपनी ऋद्धियोंका भी पता नही और जिनके ऋद्धियाँ न हुई थीं वे दूसरेके चमत्कारको देखकर मोहित नही होते। जो अपना ज्ञानस्वभाव है उसमें ही सदा निःशंक रहते हैं, उनके जगतके वैभवके निरखनेसे कभी व्यामोह नहीं होता।

किं पुण गच्छइ मोहं नरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्खमुणिधवलो ॥१३१॥

(५०६) भावश्रमणके मोहकी असंभवता—जिस भावश्रमण मुनिको मोक्षका स्वरूप निर्णीत है, केवल स्वभाव मात्र रह जाना, उपाधिरहित हो जाना, जो है सो ही अकेला रह जाय उसे कहते हैं मोक्ष और इस स्थितिमे अतुल सहज आनन्द रहता है, ज्ञानके द्वारा तीनों लोकको जान रहे हैं, यह महत्त्वकी बात नहीं है, वह तो होता ही है, पर सिद्धमें महत्त्वकी बात यह है कि वे शाश्वत सहज आनन्दका निरन्तर अनन्तकाल तक निष्कम्पतया अनुभव कर रहे है। यह बात महत्त्वकी है। लोगोंको चाहिये क्या ? सुख शान्ति। वह सुख शान्ति ज्ञान बिना कभी नही मिलता यह बात अवश्य है, पर किसीको कहा जाय कि तुमको ज्ञान तो खूब देंगे मगर सुख न मिलेगा, दुःख ही दुःख रहेगा तो वह उस ज्ञानको भी पसंद न करेगा। वह तो यही कहेगा कि मुझे ऐसा ज्ञान न चाहिए कि जिसमें कष्ट हो। हालांकि शुद्ध ज्ञानके साथ आनन्दका ही अन्वय है पर प्रयोजनकी बात देखो, जीवोंका प्रयोजन है शान्ति आनन्द। तो आनन्दमयमे केवल आत्मस्वरूपको जिन्होंने देखा, निरखा, उन पुरुषोंका मन कैसे मोहित हो सकता है ? जिनके निरन्तर कैवल्यका चिन्तन है—मैं हूं, एक हूं, अकेला हूं, यह ही मात्र जिनके चिन्तनमे है वे श्रेष्ठ मुनि किन्ही मनुष्यो देवोके तुच्छ सुखोंको निरखकर, चमत्कारको निरखकर कैसे विमुग्ध हो सकते हैं ? मोक्ष ही अनन्त सुखको देने वाला है। किसी बाह्य पदार्थका समागम शान्तिका देने वाला नही। उस समागममे उपयोग फसनेसे कष्ट ही है, वहाँ आनद नही, यह बात जिनके विश्वासमे पडी है निरंतर, ऐसी ही जिनकी दृष्टि रहती है उनको ससारके चमत्कार कैसे पतित कर सकते हैं ? ये तो संसारी जीवोंके स्वाद हैं, वे मस्त होते हैं ऋद्धि वैभवमे, पर मोक्ष स्वरूपका ज्ञान रखने वाले साधु जनोंकी इन बाहरी समागमोमें कदापि बुद्धि मोहित नही होती। सम्यग्दृष्टि साधु सदैव निःशंक रहते हैं, जो मेरा स्वरूप है अमूर्त चैतन्यमात्र उसमे परसे कभी विपत्ति आ ही नही सकती। यह खुदमे ही गड़बड़ होकर विपत्ति पाता है। बाहरी पदार्थोंसे इसमे विपत्ति आ ही नही सकती। स्वरूप ही नही है ऐसा कि किसी बाहरी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रभाव कुछ भी स्वमें आ जाय, प्रभाव भी एक का दूसरेपर नहीं होता किन्तु जो प्रभावी होता है उसमें स्वयं ऐसी योग्यता है कि वह अनुरूप निमित्त आश्रयभूत पदार्थको पाकर अपनी कषायके अनुरूप वह अपनेमें प्रभाव पैदा कर

होता है। प्रभाव और भावमें कुछ अन्तर नही है। जैसे आप कहते हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो भावका ही नाम है प्रभाव, उत्कृष्ट भाव। पहले जो परिणमन न था वह परिणमन हो रहा, एकदम नई बात हो रही, उसका नाम है प्रभाव। एक आश्चर्य करने वाली, चमत्कार करने वाली, एकदम नवीनता जाहिर करने वाली जो परिणति है उसे कहते हैं प्रभाव। तो प्रभाव उपादानका है, उपादानमे होने वाला जो कार्य है वह निमित्तका प्रभाव नही, मगर निमित्तके सन्निधान बिना उपादान अपने मे वह प्रभाव नही पैदा कर सकता। विकार रूप प्रभावकी बात कह रहे, जो सहज स्वभावरूप प्रभाव है वह तो होता ही है। वहाँ तो मात्र कालद्रव्य निमित्त है। तो जो सर्वद्रव्योंके परिणमनमें साधारण निमित्त है, उसकी कोई चर्चा नही की जाती, वह तो होता ही रहता है, वहाँ अन्वयव्यतिरेक कुछ नही चलता। जहाँ अन्वयव्यतिरेक हो चर्चा वहाँ की हुआ करती है। तो ये भावश्रमण सम्यग्दृष्टि मुनि सांसारिक सुखोंसे सदा विरक्त हैं और अपने आत्माके निर्णयमे, स्वरूपमे, मार्गमे निःशंक रहते हैं। शान्ति मिलेगी तो इस ही उपायसे मिलेगी। शान्तिका और कोई दूसरा उपाय नही है।

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडि।

इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३२॥

(५१०) वृद्धत्व आनेसे पहिले ही आत्महित करनेका आदेश—हे आत्मन्! जब तक बुढापा आक्रमण नही करता है तब तक तू आत्महित करले। बुढापा आना तो निश्चित है, कोई ऐसा न समझे कि जब बुढापामे हम आत्महित नही कर सकते तब पहलेसे ही क्यो आत्महितकी भावना बनायें, क्योंकि बुढापा आनेपर सब भूल जायगा, तो यो भूलता नही है। छहढालामे तो लिखा है—बालपनेमे ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो। अर्द्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखे आपनो? कोई अगर बचपनमे ज्ञान न बनाये तो वह अपना स्वरूप कैसे लख सकता है? तरुण समयमें तरुणीमे रह रहा तो वहाँ अपने स्वरूपका दर्शन कैसे हो सकता है। और बुढापा अधमरेकी तरह है। वहाँ तो कुछ कर ही नही सकता। जब ये तीन बातें सुन लीं तो कोई यह शंका कर सकता है कि जब बुढापेमे सब भूल जायेंगे तो फिर अभी से क्यों आत्महितकी बात करें? तो बुढापेमे यो नही भूला करता। यह कथा उस एक जीवकी है जिसने बालपनेमे तो ज्ञान नही पाया और वही मनुष्य सारी जवानी भर तरुणीमे रत रहा, वही मनुष्य बूढा बना तो अब वह करेगा क्या? पर जिसने बालापनमें ज्ञानसम्पादन किया, तरुण समयमें वैराग्य धारण किया वह तो सावधान है। बुढापा आनेपर वह विचलित नही होता। फिर भी बुढापा एक ऐसी दयनीय स्थिति है कि इसमे शिथिलता आती है। कुछ भावोंमे भी गिरावट हो सकती है। नियम नही है, पर यह सम्भावना है। तो जो तरुण

समय तक कुछ भी कल्याण न करें उनके लिए बुढ़ापा बड़ा कठिन है, इस कारण जितना समय अभी मिला है उसमें तरुण समय तक आत्महित करनेका प्रयोग बना लें। जवानीके समय तो युवक लोग मजाक करते हैं कि अभी हमारे धर्म करनेके दिन हैं क्या? बुढ़ापा आने दो फिर धर्म करेंगे। अरे उन्हें यह विदित नहीं है कि बुढ़ापा आनेपर धर्म नहीं कर सकते। इसलिए जब जिनवाणीकी प्रेरणा मिले तभीसे आत्महितमें अपनेको लगा लें।

(५११) वृद्धत्वके चित्रणमें वैराग्यकी प्रेरकता—हे आत्मन्! जब तक बुढ़ापाका आक्रमण नहीं होता तब तक हित कर लो। पद्मपुराणमें एक जगह चित्रण मिलता है, शायद राजा दशरथकी रानीकी बात है। राजा दशरथके घर प्रतिदिन मंदिरसे गंधोदक आता था उनकी सभी रानियोंके लिए? सो सभी रानियोंको उनकी दासियां गंधोदक लाती थी एक दिन जो सबसे प्रिय रानी थी उसके लिए एक वृद्ध पुरुषको गंधोदक लानेके लिए भेजा। अब दासियां तो थी जवान हट्टी कट्टी सो फौरन दौड़कर गंधोदक ले आईं पर जो वृद्धपुरुष था उसको गंधोदक लानेमें काफी देर हो गई। देर हो जानेसे वह रानी काफी झुँझला गई? मैं ऐसी फाल्तू हूं, मेरा कोई आदर नही, मेरेको गंधोदक अब तक नहीं आया और हमारे पति भी हमारी उपेक्षा रखते हैं। तो ये जो बड़े आदमी होते ठलुवा लोग, जिन्हें कोई अधिक काम नही पड़ता तो वे बैठे बैठे ऐसा गुन्तारा बनाते कि कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। तो वह रानी अपनेको बड़ा दु:खी महसूस कर रही थी इसकी सूचना मिली दशरथको सो झट उस रानीके पास आये और उदासीका कारण पूछा, तो उसने स्पष्ट रूपसे अपने मनकी सारी बात बता दिया। इतनेमे ही वह वृद्ध भी गंधोदक लेकर आया। दशरथने उसे डाटना शुरू किया, तो उस वृद्ध पुरुषने जो एक वृद्धावस्थाका चित्रण उस समय किया वह बड़ा रोमाञ्चकारी है। उस वृद्धावस्थाका चित्रण सुनकर वैराग्यकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा मिलती है। तो ऐसी चीज है वृद्धावस्था। यह वृद्धावस्था देवोंके नही होती, मगर देवोंमें बुढ़ापा जैसी ठोकर तो अन्तमे लगती ही है। जब ६ महीने शेष रहते हैं, मालायें मुर्झाती हैं, उनका उसी ढंगका बुढ़ापा समझ लीजिए। तो यह बुढ़ापा एक ऐसी व्याधि है कि इसमें कुछ बात बनती नही, इसलिए जब तक बुढ़ापा नही आया तब तक आत्महित करलें।

(५१२) रोगग्रस्त होनेसे पहिले ही आत्महित करनेकी प्रेरणा—हे आत्मन्! जब तक रोगरूपी अग्नि शरीररूपी झोपड़ीको नही जलाती तब तक तू आत्महित करले। कोई बता सकता क्या कि कौनसा रोग भला है कि जिससे अपनेको कष्ट न हो। तो अपेक्षामें तो भले ही बता देते हैं, थोड़ा भी दर्द हुआ शरीरके किसी अंगमे तो कहने लगते कि इससे तो बुखार आ जाता तो वह भला था, यह पीड़ा तो सही नही जाती। जिसके जो रोग आता

उसको वह कठिन लगता है। और कितने ही रोग हैं इस शरीरपर। करोड़ों, यह रोग आग इस शरीररूपी झोंपडीको जला देती है। हे आत्मन्! जब तक तू निरोग है, कुछ बल है तब तक आत्महित कर लो। अपने परिणामोंको इतना उज्ज्वल बनावो कि किसी भी बाह्यपदार्थमें तेरे मोह न जगे। यह ही तो आत्महित है। निजको निज परको पर जान यह बात दृढ़तासे बनी रहे। और इसके लिए जिन-जिन साधनोंकी जरूरत है उन्हें भी कर। सत्संग कर, स्वाध्याय कर। जब तक रोग न घेरे तब तक तू आत्महित कर ले।

(५१२) **रोगग्रस्त होनेसे पहिले ही आत्महित करनेकी प्रेरणा**—हे आत्मन! जब तक रोगरूपी अग्नि शरीररूपी झोंपडीको नहीं जलाती तब तक तू आत्महित कर ले। रोग सभी कष्टकारी हैं कोई बता सकता क्या कि कौनसा रोग भला है कि जिससे अपनेको कष्ट न हो? तो भले ही बता देते हैं, थोड़ा भी दर्द हुआ शरीरके किसी अंगमें तो कहने लगते कि इससे तो बुखार आ जाता तो वह भला था, यह पीडा तो सही नहीं जाती। जिसके जो रोग आता उस को वह कठिन लगता है। और, कितने ही रोग हैं इस शरीरपर करोडों। यह रोग आग इस शरीररूपी झोंपडीको जला देती है। हे आत्मन्! जब तक तू निरोग है, कुछ बल है तब तक आत्महित कर ले। अपने परिणामोंको इतना उज्ज्वल बनावो कि किसी भी बाह्य पदार्थमें तेरे मोह न जगे। यह ही तो आत्महित है। निजको निज परको पर जान यह बात दृढतासे बनी रहे। और, इसके लिए जिन-जिन साधनोकी जरूरत है उन्हे भी कर। सत्संग कर, स्वाध्याय कर। जब तक रोग न घेरे तब तक तू आत्महित कर ले।

(५१३) **इन्द्रियबल क्षीण होनेसे पहिले ही आत्महित करनेका उपदेश**—हे आत्मन्! जब तक इन्द्रियका बल क्षीण नहीं हो जाता तब तक तू आत्महित करले। जब बुढापा आया और कोई बुद्धिगत रोग आया अथवा मन और इन्द्रियका बल मानो क्षीण हो गया तो वह फिर क्या करेगा? तू मैत्री आदि चार भावनाओंको चित्तमे उतार ले। करनेके नामपर कुछ न करें तो खाली गप्पकी बातोंसे तो उत्थानका काम न बनेगा। इसलिए स्थूल बात है—सर्वेषु मैत्री। सर्व प्राणियोंमें मित्रताका बर्ताव रहे। मेरे समान सब हैं, ऐसा ध्यानमे लाये। देखिये यह सब अपने कल्याणके लिए बात है, यह अपने आपपर दया है, यदि ऐसी सद्भावना बन सके तो। गुणी जनोंको देखकर प्रमोद हो, हर्षभाव हो। कैसा मोहका भयंकर नृत्य है कि लोग यह सोच बैठते हैं कि गुणी तो मैं हू जितना जानकार मैं हू उतने जानकार और कहाँ पाये जाते कैसा मोहजालका नाच है? जगतमे अनन्त जीव हैं, अनेकों मोक्ष जाने वाले जीव हैं, ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि है, हमसे बडे बडे बहुत है, जो ससार शरीर भोगोंसे विरक्त हैं, जो अपने आत्माकी आराधनामे धुन रखा करते हैं, विधि अनुसार चारित्र पालते हैं वे गुणीजन

हैं। उन सुखी जनोंको देखकर हर्षसे भर जाना चाहिए जिनके कुलमें रहता हूं, उनकी मूर्ति मुझको मिल गई। कोई दुःखी जीव दीखे तो दयावंतताका भाव आये। मेरे समान स्वरूप वाले ये प्राणी जब किसी उपयोगसे दुःखी हो रहे तो तत्काल अन्न पान देना, वस्त्रादिक देना, उससे उन्हें तत्काल शान्त करें और ज्ञान शिक्षा देकर उनकी हिम्मत बँधायें, यह ही दयापरताका भाव है, और जो विपरीतवृत्ति है, समझदार हो तो भी जिसके विषयमे यह बात सुनिश्चितसी हो कि यह हमारे समझायें समझने वाला नहीं, अपनी कषाय छोड़ने वाला नहीं तो उससे मध्यस्थभाव रखें। ये चार भावनायें जीवनमें उतरें तो आत्माका उसमें हित है।

(५१४) सर्व स्थितियोंमें विवेक बलसे आत्महितमें लगनेका उपदेश—इस गाथामें तीन प्रकारसे सम्बोधा है कि बुढ़ापेसे पहले ही आत्महितमे लग जावो। लोग कहते हैं कि ६० वर्षका हो जानेसे बुद्धि सठिया गई तो यह कोई नियम नही है, पर प्रायः ऐसा होता है। बुढ़ापे मे जो सफेद बाल हो जाते तो उनके लिए कवि जन कहते हैं कि जो इसमें सफेदी थी, स्वच्छता थी, शुद्धता थी वह अब इसमे नहीं रही, बालोंमें आ गई। अब यह बुढ़ापेमें परलोकके प्रयोजनका कैसे स्मरण रख सकेगा। इसी तरह रोग। भोग भी रोग। इस रोगसे भी बुरा रोग है भोग रोग। यह रोगमे तो भगवानकी सुध भी करता है, पर भोगमे पड़कर तो यह भगवान की सुध भी भूल जाता है। तो जो पुरुष ऐसे दुर्लभ जन्ममें रागसे शोकसे भोगसे, मोहसे इस मानव जीवनको नष्ट करता है तो वह मोहसे मलिन है, मानो वह भस्मकी इच्छासे रत्नराशि को जलाता है। कोई चदनके वृक्षको जला दे इस ख्यालसे कि राख होगी, उससे मैं बर्तन मलूंगा सो चंदन जलाकर राखसे बर्तन माजे तो वह लोकमे भला तो नहीं माना जाता। यहाँ कह रहे रत्नराशिकी बात। रत्न जलाना कठिन है फिर भी उन्हे कोई जला दे और उसकी राखसे बर्तन माजे तो यह कोई भली बात नही. इसी तरहसे इस मनुष्य जीवनको भोग, शोक, आदिकके लिए गमा देना कोई भली बात नही। यों समझो कि उसने धर्मको जला दिया। धर्मका घात करके भोग भोगना मूर्खता है। ऐसी शरीरकी दुर्दशा होनेसे पहले ही चेत लें। एक कवि ने बुढ़ापेका चित्रण किया है, बुढ़ापामें कान बहरे हो जाते तो यहाँ शरीरकी और इन्द्रियोंको जरा भेदसे निरखकर वार्तालाप सा है। बुढ़ापेमे दूसरोंके द्वारा तिरस्कारके शब्द अधिक मिलते हैं, सो तिरस्कारके ये शब्द न सुनाई दें मानों इसलिए ये कान बहरे हो गए। और नेत्रोंने यह सोचा कि मैंने तो इसका जिन्दगी भर साथ निभाया, अब इसकी ऐसी दशा देखकर मेरेसे देखा नही जा रहा मानों यह सोच कर नेत्र भी अंधे बन गए। कविके शब्दोंमें ये नेत्र भी मानो बड़े सज्जन निकले। ऐसी दशामें जो शरीर कांप रहा है सो मानो सामने खड़े हुए यमराजके डरसे कांप रहा है। ऐसे अजरमें निःशंक होकर बैठे हैं बाह्य पदार्थोंमें

ममता बढ़ाकर, यह कितने आश्चर्यकी बात है। तो जब तक यह शरीर समर्थ है तब तक सद्भाव भरें और उस सद्भावनाके प्रतापसे अपना उद्धार करें।

छज्जीवछडायदरां रिगच्चं मणवयणकायजोएहि।
कुरु दय परिहर मुरिगवर भावि अपुव्वं महासत्त ॥१३३॥

(५१५) षट्जीवनिकायपर दया करनेका आदेश—यह भावपाहुड ग्रन्थ है, इसकी मूल रचना गाथाओमे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने की। इसमे मुनिवरोको समझाया गया है और यो कल्पना कोजिए कि उनके सत्सगमे जो मुनिराज थे उनकी शिथिलतायें देखकर उनके दोष दूर करनेके लिए एक आचार्य होनेके नातेसे उन्हें सम्बोधन किया। अथवा आगे प्रगति करने के लिए सम्बोधा। इस गाथामे कह रहे कि हे मुनिवर, मन, वचन, कायसे ६ कायके जीवों पर दया करो। ६ काय हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। षट्काय संज्ञामें एकेन्द्रियके तो अलगसे नाम दिये और दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियमें आये सब नारकी, सब मनुष्य, सब देव, पशु, पक्षी आदिक, इन सबको एक त्रसमें ही कह दिया। तो देखो अन्य लोगोंने भी पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, इन चारको अलग अलग माना है और वनस्पतिको पृथ्वीकायमे ही शामिल कर लिया। जो काठ पत्थर आदि दिख रहे वे सब पृथ्वी हैं, यह अन्य दार्शनिकोका लक्षरण है और त्रसकी वे कुछ सुध भी नही लेते। यहाँ इस प्रकारसे ६ काय बताये हैं कि जो उपयोगमे आ रहे बहुत वे ५ अलग कहे। पृथ्वी कितना सबके उपयोगमे आ रही, मकान बनाते तो पृथ्वीकायसे बनाते, ईंट है, सीमेन्ट है, गारा है, और पृथ्वीपर चल रहे। जलके बिना प्राण रहना कठिन है। जलका भी उपयोग है और अग्निके बिना सब भूखे घरे रहेंगे, कहाँसे भोजन बनाया जा सकेगा और वायुके बिना भी किसीका काम नही चलता। आजकल गर्मीके दिन हैं, सभीको पूरा पता है कि जब हवा नही चलती तो गर्मीके मारे घबडा जाते। वायुका भी खूब उपयोग होता है और वनस्पति-कायकी बात देखो फल, गेहू, लकडी काठ आदिक ये सब वनस्पति है, ये सब बहुत बहुत काममे आते। इनकी संख्या भी नाना प्रकारकी है। इस तरह ५ स्थावरोंको अलग अलग कायमें गिना, और बाकी सब ससारी जीव त्रसमें आ गए। तो ऐसे ६ कायके जीवोंपर दया करें। यह गृहस्थो से पूरा नही बनता क्यो कि वनस्पति साग भाजी तो रोज लाते ही हैं, हवा बिना भी नहीं बनता। हवा बद हो गई तो पखा चालू हो गया, साइकिल मोटर आदिके पहियो से हवा निकल गई तो उसमे हवा पुनः भरी गई। गृहस्थ अग्निकायकी हिंसासे भी नही बच सकते, क्योंकि रोटियाँ तो पकाना ही हैं। आग कल तो गैसके रूपमें अग्निको एक टंकीमें बद कर रखा है। तो आगकी हिंसासे भी नही बच सकते। जल भी बहुत उपयोगमें

जाता। पृथ्वी भी उपयोगमें आती, किन्तु मुनिराज इन सबकी हिंसासे बचे हुए हैं। कभी यह बात कोई पूछ सकता है कि मुनिजन श्वांस तो लेते, उसमें तो अनेकों जीव मर जाते होंगे, तो कैसे हिंसा नहीं हुई, तो इसका समाधान यह है कि वे इच्छा करके ये कुछ काम नहीं करते। न करते, न कराते और न उनकी अनुमोदना करते, इस कारण उनको वहां हिंसाका दोष नहीं लगता। गृहस्थोंको इन हिंसावोंसे बचना अत्यन्त कठिन है। हां त्रस जीवोंकी हिंसा बचा सकते हैं।

(५१६) छह अनायतनोंके परिहारका उपदेश—यहां मुनिवरोंको उपदेश है कि हे मुनिवर तू मन, वचन, कायसे ६ कायके जीवों पर दया कर। और, ६ अनायतनों का परित्याग कर। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और इनके सेवक ये ६ धर्मके अनायतन हैं, धर्मके विरुद्ध ठिकाने हैं। धर्म नाम है अपने आपके सहज स्वरूपमे अपना अनुभव करना। जैसे लोगोंका चित्त नाम में है ना—फलाने लाल, फलाने चंद, जिसका जो नाम है सो नाम बोला जानेपर वे कितना अपने नामपर लगाव रखे हैं कि झट समझ जाते कि मेरे लिए कहा, मुझको कहा। तो जैसे यहां पर्यायके नाममें लगाव है तो वह लगाव न रहे और आत्माके स्वभावमे लगाव बने कि मैं यह हू अविकार ज्ञानस्वभाव, तो अपने स्वभावसे लगाव करना सो धर्म है। तो धर्मके विपरीत जो साधन हैं वे अनायतन हैं। कुगुरुको इस धर्मका क्या पता? यदि धर्मविधिका पता होता तो धर्मरूप वृत्ति उनकी रहती संन्यासमें। लक्कड जल रहे हैं, नाम धर रहे पंचाग्नि तप। कंदमूलका भक्षण करना धर्म समझते हैं। आत्मस्वभाव क्या है यह उनके परिचयमें नहीं है तो उसमे प्रवेश कैसे बने? कुगुरुवो की जो सेवा करते वे भी अनायतन हैं, धर्मके ठिकाने नही हैं। कुदेव—तो कोई होता ही नही—या देव हो या अदेव हो, दो ही बातें हैं। या तो वीतराग सर्वज्ञ है या देव नही है। कुदेव कहांसे आये? तो कुदेव उसे कहते हैं कि जो देव तो नही है पर अपनी देवताके रूपमे प्रसिद्धि कराये तो वह कुदेव कहलाता है। वे धर्मके स्थान नही हैं। कुशास्त्र—जिनमे पापोंका पोषण किया गया हो वे कुशास्त्र हैं। और जो इनकी उपासना करें सो वे भी अनायतन हैं। तो इन ६ अनायतनोंका परित्याग करें।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण।

भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३४॥

(५१७) मोहमें अज्ञानमें अनन्त भवसागरमें भ्रमते हुए जीवोंकी भोगसुखनिमित्त दशविधप्राणाहार प्रवृत्ति—हे जीव अनन्त भवसागरमें भ्रमण करते हुए तू ने भोगसुखके निमित्त मन, वचन, कायसे समस्त जीवोंके १० प्राणों का आहार किया है याने जो दूसरे जीवका वध करे, खावे तो उसने कितनेके प्राणोंको अपने मुखमे कवलित किया है। ये दशों प्राणी है

संसारमें भ्रमण करते हुएमें। यह जीव अनादिकालसे अनन्त भव धारण कर चुका। वहां क्या किया? दूसरेको आहार बना डाला। जैसे लोग कहते हैं कि ये जीव खानेके लिए ही तो बनाये गए हैं। जो अज्ञानी मोही जीव हैं मांसलोलुपी हैं वे इतना तक कह डालते हैं, और फिर उनसे पूछो कि मनुष्य किस लिए बनाये गए? तो वे कहते हैं कि मौजके लिए, सबको खाने के लिए। उनकी दृष्टि यह नहीं कि जीव ने होते हैं जिनके दर्शन, ज्ञान प्राप्त हो। और वह सब जीवोंमे समान है यह ज्ञान न होनेसे १० प्रकारके प्राणोका आहार किया और अनंत संसार सागरमें भ्रमण किया। यह सब कुछ किया भोगसुखके लिए। और नारकियो का शरीर तो किसीके खानेके काम आता ही नही। नारकी मिलते ही नही। उनका वैक्रियक शरीर है, अब खानेके जो मिले सो खायेंगे कौन? तिर्यञ्च। कोई देश ऐसे भी हैं कि जो मनुष्यो को मार कर खा जाते। कोई अकालकी जैसी कठिन परिस्थिति आये तो यह बात हो भी सकती है। और पशु पक्षी, इनका तो मारना लोग अत्यन्त सुगम समझते है, इसीके फलमे ससारमे अब तक जन्म मरण पाता रहा। अब समझ लीजिए कि गोभीका फूल कोई खाये तो उसमे साक्षात् मांसका दोष है। अतिचार नहीं, साक्षात् मांसका दोष है। अतिचार तो उसमे बताया कि जैसे मानो आटेकी म्याद ५ दिनकी है और खा ले १० दिनका तो उसको कहते कि अतिचारका दोष लग गया। पर गोभीके फूलमे भक्षणका अतिचार नही, साक्षात् मास भक्षणका दोष है। उसमे छोटे बड़े सभी प्रकारके कीड़े बहुत हैं। उनको बिनारनेमे, उनको पतेलीमे पकाने में, छौंकनेमें बड़े दोष हैं। वहां यो समझलो कि मासका कलेवर साथ है। इससे यह जानें कि गोभीका फूल मांसकी तरह, अडेकी तरहका भोजन है। जैसे वे चीजें अयोग्य हैं ऐसे ही गोभी का फूल भी अयोग्य चीज है। सो दशविध प्राणघातसे इस जीवने अनन्त ससारमे भ्रमण किया।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पज्जंतमरंतो पत्तोसि णिरतर दुक्ख॥ १३५॥

(५१८) प्राणिवधका फल कुयोनियोंमे जन्म मरण करके निरंतर दुःखोकी प्राप्ति— हे महायश, हे मुनिवर प्राणिवधके द्वारा यह जीव ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करता रहा और निरन्तर दुःख प्राप्त किया। सबसे बड़ा दुःख क्या है जीवोको? सबसे बड़ा दुःख है जन्म मरण, पर जिन्दगी तो चल ही रहा है, इसकी ओर किसीका ध्यान नही है तो दुःख मान लिया, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग। मोहका ऐसा ही प्रताप है। क्या अटक है कि दूसरेको मानले कि यह मेरा है? कुछ इससे अटका है क्या? आप कहे कि गृहस्थीमें रहकर तो राग किया ही जाता है, सो तो ठीक है, पर वह मिथ्यात्व नही है। मिथ्यात्व वहां है कि जहा ममता लगी कि यह मेरा है, इसके बिना मेरा जीवन कुछ नही है। वह है मिथ्यात्व, और घरमें सब जीवो

के प्रति शुद्ध ज्ञान बना रहे कि ये सब स्वतंत्र स्वतंत्र जीव हैं। इनके बँधे हुए कर्मोंके अनुसार संसारमें इनको फल मिलता है। ऐसा ठीक जानते रहें और आपसमें बोलें प्रीतिकी वाणी तब तो यह गृहस्थीमें चलेगा, पर मोह जो भी करेगा बस वह अपना घात करेगा? विचार करें अपने अन्दर। देह भी न्यारा, जीव उससे न्यारा फिर अन्य जीवोंसे सम्बन्ध क्या? गृहस्थ अगर घरमें सुखसे रहना चाहता है तो उसको यह पौरुष करना होगा कि मेरा तो मेरे स्वरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं है। एक पूर्ण निर्णय बनायें। न बनायें तो दुःखी होते रहेंगे। स्पष्ट निर्णय हो कि जब यह देह भी मेरा नहीं है तब फिर अन्य भाई भतीजे पुत्र स्त्री आदिक ये जीव मेरे कैसे हो सकते हैं? घरमें रहते हैं, तो प्रीति करके रहना होगा तब बात बनेगी, यह तो ठीक बात है, मगर वे मेरे हैं, ऐसा झूठा ख्याल न बनायें। जो ऐसा झूठा ख्याल बनायेगा उसे नियमसे बहुत कष्ट होगा। बिल्कुल बिछुड़ते समय, मरते समय यह सोचना चाहिए कि बहुत दिनोंसे मैं जान रहा था कि यह काम अवश्य होगा। जितना भी संयोग है उसका वियोग नियमसे होगा। ये जीव सब अपनी अपनी आयुके क्षयके समय मरण कर जाते हैं, यह सब जाना था, स्वाध्यायमें सीखा था और रोज रोज सुनते हैं उपदेश मे ग्रन्थो मे और अपने आपकी अनुभूतिसे यह बात सोचते भी हैं तो इसी पर ही डटे रहना कि मेरा मेरे स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नहीं है, तो उसे जीवनमें कभी आकुलता नही हो सकती।

जीवाणमभयदाणं देह मुणी पाणभूदसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परपरा तिविहसुद्धीए॥१३६॥

(५१९) कल्याणलाभके लिये अहिंसापालनका उपदेश—हे मुने तू कल्याणक-सम्बन्धी सुखकी परम्पर के लिए मन, वचन, कायकी शुद्धिसे जीव, प्राणी, भूत और सत्वोंको अभयदान दे, मायने जीवोंको अभयदान दे। उन सब जीवोंको यहाँ चार भागोंमें विभक्त किया है—जीव, प्राणी, भूत और सत्व। वैसे ये सभी जीवोके ही वाचक हैं मगर कुछ रूढ़िसे, कुछ इस वाच्यार्थका प्रधानतया कथन होनेसे ये अलग अलग जीवके लिए शब्द रखे गए हैं। जीवोंमें तो पञ्चेन्द्रियको जीव कहा है। रूढ़िके अनुसार बातकी जा रही है और दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रियको प्राणी कहा और वृक्षोंको भूत कहा और उपलक्षणमें पृथ्वी जल, अग्नि वायु भी ले लो और बाकी जो जीव बचे वे सब सत्त्व कहे गए हैं। इन सब जीवोंकी हिंसासे दूर रहो।

(५२०) तीर्थंकरके गर्भकल्याणकका सुख—पञ्चकल्याणक कहलाता है गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण। जहाँ विशेष समारोह होता है वह कल्याण है। भगवान गर्भमें आये

मायने जो जीव भगवान हो वह गर्भमे नही आता, पर जो भगवान बनेगा उसका नाम धर कर कहते ही हैं कि जो भगवान बनेगा, अरहंत बनेगा, तीर्थंकर बनेगा वह गर्भमें आया, जो जो तीर्थंकर बनेगा वह गर्भमें आता है । कोई उल्टा ही लटका रहता है पेटमें याने पेटमें गर्भ होता है तो वह बच्चा उल्टा लटका रहता है, तब हो बताते हैं कि जब वह निकलता है तो सबसे पहले तो सिर निकलता है । बादमें पैर निकलते । सो वह उल्टा लटका हुआ है । किन्तु तीर्थंकर उल्टे नही रहते गर्भमे । वे सीधे रहते हैं । और पद्मासन जैसे ढगमे रहते हैं । भैया ! कुछ कुछ तो छोटे बच्चोंको देखा होगा कि उनकी टाग सीधी नहीं रहती वे अगर बैठा दिए जाते तो उनका अर्धपद्मासन जैसा लगने लगता, और जब भगवान जन्मते हैं तो ऐसे ही सीधे निकलते हैं । और और भी अनेक अतिशय मिलते हैं । भगवानकी माताको कष्ट नहीं होता और बताया है कि जैसे यहा जब बच्चा गर्भमे होता है तो उसकी माँ का पेट बढ़ जाता है तो उस पेटपर फिर कुछ झुरियां सी पड़ जाती हैं ? जैसे भूखमे, पेटमे बहुत सी झुरिया आ जाती हैं सो अगर गर्भ होता तो फिर वे धारें नही रहती । पेट तन जाता है, मगर तीर्थंकर की माताका पेट तनता नही, ज्योका त्यो बराबर रहता है, ये सब गर्भके समयके अतिशय हैं । गर्भके समय माताकी सेवा करनेके लिए देवियां महा देवियां आती हैं और सभी सेवायें करती हैं । और मिष्ट वचन कह कर माताको खुश रखती, यह भी तो सेवा है । तो सभी प्रकारकी सेवायें ये देविया करती हैं । गर्भ कल्याणकके अतिशय कह रहे हैं । गर्भ रहता है ६ महीने । उससे ६ महीना पहलेसे ही रत्नवर्षा होती है । इस तरह सब मिलाकर ९ + ६ = १५ महीने स्वर्ग जैसी शोभा उस नगरकी देव करते हैं, ये सब गर्भ कल्याणकके अतिशय है, लोग समझते हैं कि उसने इसमें सुख पाया है, ऐसा सुख मिलना चाहिए । ये कल्याणसम्बन्धी सुख हैं ।

(५२१) तीर्थंकरके जन्मकल्याणकका सुख—अब जन्मकल्याणकका सुख देखिये—जन्म तो वास्तवमे तब कहलाता कि जब गर्भमे आया हो शुरू शुरूके दिन, पर रूढ़ि ऐसी है कि बाहर निकलनेको जन्म कहते हैं वस्तुतः आयुके उदयसे जन्म होता है । जैसे किसीने पूछा कि बताओ आपकी आयु कितनी है ? तो मान लो उसने बताया कि मेरी आयु इस समय ६२ वर्षकी है, पर इसमे अभी गर्भके ९ महीने छूट गए, इसलिए कुल मिलाकर ६२ वर्ष ९ महीने कहना चाहिए, गर्भकी आयु भी उसीमे शामिल है । तो प्रकरण यह चल रहा था कि जन्मके समयमें तीर्थंकरको कष्ट नहीं, तीर्थंकरकी माताको कष्ट नही । उन्हें असाताका नही आना पड़ता । देवियां सेवा करती । गर्भसे बाहर निकलनेपर जन्मकल्याण मनानेको स्वर्गसे देवेन्द्र आते हैं यहाँ भी तो कुछ गांवो से आप लोगो की बुवा, नानी, मौसी आदिक आती हैं,

वहाँ भगवानका जन्म-कल्याणक मनानेको देवगण आते हैं सो वे अपनी ऋद्धि शक्तिके मुताबिक समारोह मनाते हैं। उस बालक प्रभुमें इतना अतुल बल है कि मेरुपर्वत जैसे ऊँचे स्थानो पर देव देवेन्द्र ले जाते और वहाँ बड़े बड़े कलशोंसे उनका अभिषेक करते, नृत्य करते, परन्तु प्रभु रंच भी नहीं घबड़ाते। ऐसा जन्मकल्याणक, देव मनाते हैं। तपकल्याण, ज्ञानकल्याणक, और निर्वाणकल्याणकके भी ऐसे ही विशाल समारोह होते हैं। उनमें महासुख है। उन सुखों के निमित्त हे मुनिवर तू सभी जीवोंको अभयदान दे।

(५२२) अभयदानके बिना मृत्युक्लेशसहन—आत्मन्! भयभीत जीवोंको तू ने अभयदान नही दिया यही कारण है कि तू मरणसे बराबर डरता है, और फिर दीर्घायु कैसे हो सकता है? जैसा भाव किया जाता है वैसा ही कर्मबन्ध बनता है और उसके उदयमे उस प्रकार का फल मिलता है। यह एक साधारण रीति है। कभी कोई सम्यग्दर्शन पावे, ज्ञानबल बढ़ावे और मोक्षमार्गमे बढे तो अन्य कर्मोंकी तो बात ही क्या, निधत्ति और निकाचित जैसे कर्म भी टूट जाते हैं, पर बांधे हुए कर्मोंको तोडना आसान नही, किन्तु वे विशिष्ट ज्ञानबलसे ही टूटते हैं, अतएव साधारण रीति यह है कि जैसे भावकर्म वहाँ बांधे वैसे जन्म मरण आदिकके दुःख पाये। तो हे जीव तू ने अभयदान नही दिया। अपने ही गर्जके लिए नाना चेष्टायें की। अपना जैसा स्वरूप दूसरेका नही जाना और उनको अभयदानका पौरुष भी नही किया। यही इसका फल है कि जन्म मरण करता फिर रहा, मरणसे डरता फिर रहा। और दीर्घायु भी नही हो पाता। दया, अभयदान ये एक ऐसे विशुद्ध भाव हैं कि अगर विवेकके तराजूपर तौलें तो एक पलड़ेपर दया रख दीजिए और दूसरेपर व्रत, तप आदिक कठिन क्रियायें रख दीजिए तो भी दयाका पलडा भारी रहेगा। दया बिना बडे बडे व्रत तप करके भी स्वर्ग पाना कठिन है। और दयासहित होकर जीव अगर व्रत भी नही पाल सक रहा तो भी उसको स्वर्ग पाना सरल है। यह एक फल बतला रहे हैं। इससे कहीं यह न समझना कि स्वर्ग कोई बहुत बहुत बड़ी चीज है। उत्कृष्ट चीज तो है अपने ज्ञानका निर्विकार बनना, निर्विकार हो जाना, केवल शुद्ध आत्मा ही आत्मा रह जाना, यह है सर्वोत्कृष्ट वैभव, मगर संसारमे चूँकि अभी रहता है तो दुर्गतिमे रहनेकी अपेक्षा सुगतिमें रहना भला है, जहाँ धर्मसाधन प्रसग भी मिला करते हैं। यह अहिंसा व्रतका ही माहात्म्य है कि मनुष्य दीर्घायु बने, भाग्यशाली बने, समृद्धिशाली बने, कीर्तिवान हो। सो हे मुने जब तक एक छोटा सदाचार भी न बन सके तो बड़े सदाचारकी तो आशा ही क्या करना? तो चित्तमें दया आये, अहिंसा व्रतका सही पालन हो, सर्व जीवों के स्वरूपको अपने स्वरूपकी तरह समझा जाय तो इसमे आत्माका उत्थान है।

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।

सत्तट्ठी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा ॥१३७॥

(५२३) क्रियावादियोंके भेद—आत्माके सहज सत्य स्वरूपको जाने बिना यह मनुष्य किस किस तरहके मिथ्यादर्शनमे बढ बढकर कैसे कैसे सिद्धान्तोकी रचना करता है, इसका संकेत इस गाथामे किया है। कुछ लोग होते हैं क्रिया वाले, याने क्रियासे मोक्ष मानने वाले। क्रियासे तिर जायेंगे और वह क्रिया श्राद्धादिक है। जब तक जिन्दा हैं तब तक गोदान करना, पृथ्वीदान करना, वस्त्रादिक दान करना, इन क्रियावोको करके मानते कि इनसे मोक्ष मिल जायगा। कोई मर गया तो उसके लिए कुछ श्राद्ध करे, उसके नामपर कुछ त्याग करे। किसे दे? पंडोको दे। जैसे देखा होगा कि बडी बडी नदियोके किनारे कुछ पडा लोग बैठते हैं जहां कि श्राद्ध करने वाले पहुचते हैं तो वहा श्राद्ध कैसा होता कि पंडोको जो भी चीज चाहिए जैसे खाट, वस्त्र, गाय रुपया पैसा आदिक वे सब चीजें उन पडो को देता श्राद्ध करने वाला, ऐसा श्राद्ध कहलाता है और इन क्रियावो को करके जो मोक्ष माने वे कहलाते हैं क्रियावादी। क्रिया का एकान्त, ज्ञानका भावका कोई सम्बध नही, क्रियासे ही वे मोक्ष माननेकी मान्यता होनेपर भावोंमें कोई फर्क नहीं आता। भाव हो सही सम्यक्त्वके और फिर जैसे मेरा आत्मामे रमण हो उस प्रकारकी क्रिया करे तो वह एक बाह्य साधन है। पर यहा तो मोक्षमार्गकी क्रिया की बात नही कह रहे। श्राद्धादिक अटपट क्रियावोकी बात कही जा रही है। क्रियायें करें, मगर जानें यह कि इन क्रियावोसे मोक्ष नही मिलता, ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। फिर क्रियायें करनी क्यो पडती है? यो कि यह ज्ञान अपना स्थिर नही रहता, भागता है अनेक जगह पापो मे तो उसकी रोकथामके लिए हमारी ये व्यवहार क्रियायें हैं, इन शुभ चेष्टावो मे यदि हमारा चित्त लगा रहेगा तो अटपट भाव तो न बनेंगे। जैसे मदिरमे आते तो यद्यपि मदिर मे आने मात्रसे मोक्ष नही मिलता, मोक्ष मिलता है ज्ञानसे, मगर वह ज्ञानकी साधना हमको मदिरमे बैठकर मिलती है, घरके बाहरकी अटपट बातें यहाँ नही कर पाते है इसलिए मदिर आना कर्तव्य है, पर मदिरमे बैठनेसे ही मोक्ष मिलता है इतना ही जानकर कोई आलस्य करे, संतुष्ट हो, बस हमने तो सब कुछ कर लिया तो यो मोक्ष नही मिलता। मोक्ष मिलता है ज्ञानसे और ज्ञानकी साधना होती मदिरमे व अन्यत्र सामायिकसे, ध्यानसे भक्तिसे स्वाध्यायसे, सत्संगसे। तो जो क्रियावोका एकान्त करता है, अपने ज्ञानस्वरूपको भूला है वह पुरुष क्रियावादी कहलाता है। इन क्रियावादियोके १८० भेद है।

(५२४) अक्रियावादियोंके भेद—कोई किस ही ढगसे मोक्ष माने कोई किस ही ढग से, आचरण पौरुष कुछ न माने वे अक्रियावादी कहलाते है। जिनकी क्रिया शुद्ध नही और कहते कि क्रियावोसे क्या लाभ? जैसा चाहे खावो, पियो, रहो और जैसा सन्यासमे बताया

वैसी प्रवृत्ति करो तो मोक्ष मिलेगा ऐसा कहने वाले कहलाते है, अक्रियावादी। जैसे जैनश्वेताम्बर सम्प्रदायमे उद्दिष्ट भोजनके त्यागको बहुत महत्व देते हैं और इतना महत्व देते कि कहींसे भी खा लो, सभी लोग बनाते हैं, हलवाईकी दुकान हो, किसी धोबी आदिकका घर हो, कहींसे भी भोजन ले लो हमारे लिए तो कुछ बात नही। मगर वे यह नहीं देखते कि वह भोजन हिंसायुक्त भोजन है, अमर्यादित भोजन है। सो ऐसा जो अधःकर्म नामका मूल दोष है उस दोषको तो कुछ नही गिनते और एक जैसा चल गया रिवाज उसे महत्त्व देते, ये सब अक्रियावादीकी ही बातें होती है, यहाँ क्रियाका भी महत्त्व थोड़ा देना चाहिए, क्यो कि अशुद्धतासे बना हुआ भोजन खानेपर बडा दोष आता है। तो ऐसे अनेक पुरुष होते हैं जो अक्रियावादमे विश्वास रखते हैं। उनके मत हैं ८४।

(५२५) **अज्ञानवादी और वैनयिकके भेद**—कुछ लोग हैं ऐसे जो अज्ञानसे मोक्ष मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानसे क्या लाभ? जो जानता है उसे अधिक पाप है, जो नही जानता उसे क्या पाप? इसलिए कुछ जानना ही न चाहिए, अज्ञानी बने रहना चाहिए। उससे कल्याण हो जायगा, भला हो जायगा, ऐसा सिद्धान्त है अज्ञानवादियोका और ऐसे ही अज्ञानसे मोक्ष होना मानते हैं, ये अज्ञानवादी ६७ प्रकारके होते हैं। वैनयिक मिथ्यादृष्टि—जिनका इतना ही सिद्धान्त है कि माता पिताकी आज्ञामे रहो तो मोक्ष मिल जायगा या जो विनय विनयमे ही काम चल जायगा, ज्ञानकी आवश्यकता नही, ज्ञानमार्गपर चलनेकी आवश्यकता नही, विनय करें, उस विनयसे ही मोक्ष मिलेगा, ऐसे वैनयिकवादी ३२ प्रकारके है। ये ३६३ भेद मिथ्यादृष्टिके हैं इनसे दूर होकर अपने आत्माके अन्तः स्वरूपमे आपा अनुभव करते हुए तृप्त रहना चाहिए।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिबता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३८॥

(५२६) **मिथ्यात्ववासित होनेसे अनेक शास्त्रोके अध्ययनसे भी अभव्योकी प्रकृतिमें सुधारका अभाव**—अभव्य जीव जिनधर्मको भले प्रकार सुनकर भी अपनेमे विकारके राग वाले स्वभावको नही छोडते, सो ठीक ही है। जैसे कि दूध पीकर भी साँप निर्विष नही हो सकता! जिसकी जो प्रकृति है वह अपनी प्रकृति नही छोडता। ऐसे ही अभव्य जीवकी प्रकृति है विकारमे आपा अनुभव करना। सो अनेक शास्त्र भी पढ़ले वह तो भी अपनी प्रकृति को नही छोडता और जो निकट भव्य हैं, पर अभी मिथ्यादृष्टि है तो भी उनकी यह प्रकृति छूट सकती है और वे यह अनुभव कर लेंगे कि ये रागद्वेषादिक विकार मेरे स्वभावमें नही, अभव्य अनुभव नही कर सकते और जिनके यह ज्ञान बनता कि विकार मेरे स्वभावमे नहीं

उसको मुक्तिका मार्ग मिलेगा और जो विकारको ही अपने स्वभावमे माने हुए है उसको मोक्ष का मार्ग न मिलेगा। इस कारण हे भव्यपुरुष तू अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टि तो कुछ कर जिससे कि विकारका लगाव अत्यन्त दूर हो जाय। चारित्रमोहके उदयमें विकार आते हैं, पर विकार आनेके समय यह प्रतीति रहे कि विकार मेरे स्वरूपमे नही। ये औपाधिक हैं, मैं तो अविकार स्वभाव हूं। तो इतनी प्रतीतिके बलसे संसारबंधन नही चलता। जो बंध चलता है वह साधारण है, क्योंकि अपनी सुध बनी है, अपनी सभाल चल रही है।

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धी रागगहगहियचित्तेहि।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥१३९॥

(५२७) **अभव्यके जिनप्रज्ञप्त धर्मकी अरुचिकी संततता**—जिनकी दृष्टि मिथ्यात्वसे आच्छादित है ऐसे दुर्बुद्धि अभव्य जीव राग पिशाचसे ग्रह जानेके कारण जिनप्रणीतधर्मकी श्रद्धा नही करते, और जो कुवाद हैं, एकान्त है उनकी रुचि बनाते हैं। जैसे एक दोहा है। "साँप डसा तब जानियो, रुचि सो नीम चबाय। मोह डसा तब जानियो, जिनवाणी न सुहाय॥ जैसे साँपसे डसा हुआ मनुष्य बडी रुचिसे नीम चबाता है ऐसे ही समझिये कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव जिनवाणीसे विरुद्ध बातोमें बडी रुचि रखते हैं, जिनवाणी उन्हे नही सुहाती। जिनवाणी क्या? जैन धर्म क्या? रागद्वेषको जिसने जीता वह पुरुष कहलाता है जिन और उस जिनेन्द्रदेव ने जो धर्म बताया उसे कहते हैं जैन धर्म। क्या बताया? आत्मा का स्वभाव आत्माका धर्म है। जो शाश्वत है, आनन्दमय है, स्वरूप है, सहजसिद्ध है, उस धर्मकी जो दृष्टि करता है, उस धर्मरूप अपनेको जो मानता है वह कर रहा है धर्मका पालन सो यह धर्मकी बात अभव्य जीवको नही सुहाती। चाहे वह कितने ही शास्त्र पढ़ लो। जैसे उल्लूको दिनमें न दीखेगा चाहे करोडो सूर्योदय आ जायें। एकका तो कहना क्या? यद्यपि एक ही सूर्य उदयमे है मगर उसकी प्रकृति बदला रहे है कि कितने ही सूर्य एक साथ उदयमे हों, मगर उल्लूको दिनमें नही दिखता ऐसे ही कितने ही शास्त्र पढ़ लिए जायें, जिनको भीतर में उस कर्मविपाकमे रुचि लगी है, इतना ही अपना सर्वस्व जानता है उसको यह जैनधर्म रुचता नहीं है।

(५२८) **अभव्यकी अभव्यताका निर्देशन**—अभव्य उसे कहते हैं जिसमे रत्नत्रयके प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं होती। जैसे एक कुडरू मूँग होती है तो मूँग होकर भी उसे कितना ही पकाया जाय, पर नही पकती। अब देखिये मूगका रूप तो उसमें पाया जाता है मगर योग्यता नहीं है पकनेकी ऐसे ही अभव्य जीव हैं। जाति तो जीव है, जैसे भव्य है वैसे ही अभव्य हैं, जीव दोनों समान है और इसी जातिके कारण, केवलज्ञानका स्वभाव तो होता है,

मगर केवलज्ञान व्यक्त करनेकी योग्यता नही होती । तो सदा मिथ्यात्वसे आच्छादित रहनेके कारण अभव्यकी बुद्धि, विचारकी शक्ति दूषित रहती है और सदा रागरूपी पिशाचमें उसका चित्त ग्रस्त रहता है यही कारण है कि जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट जैन धर्मकी श्रद्धा उसे नही हो पाती । मैं हूं, दर्शन ज्ञान स्वरूप हूं, मेरेमें आनन्द सहज स्वभावसे है, मेरेको बाहरसे कुछ नही मिलता, मेरेमें से बाहर कुछ टूट कर नहीं गिरता, मैं सदा पूरा हू, अपने स्वभाव मात्र हूँ । इस पूर्ण मुझको कर्तव्य ही क्या है बाहर ? हूँ, पूरा हूँ, निष्पन्न हूँ । कुछ करना ही नही है बाहर । यही एक करना है, यही एक होना है कि मैं अपने आपमें शुद्धज्ञान वृत्तियाँ करता रहूँ और निराकुल बना रहू, यह ही मात्र एक बात होनेकी है यहाँ । इसके बाद अन्य कुछ चाहिये ही नही । यह बात अभव्यकी, अज्ञानीकी बुद्धिमे नहीं आती ।

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो ।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होई ॥१४०॥

(४२९) कुत्सित धर्मरत पुरुषकी कुगतिभाजनता—जो खोटे धर्मका अनुरागी है वह खोटी गतिका पात्र होता है । खोटा धर्म मायने जो जीवको अहिंसा भावसे अलग करे, जो आत्मस्वभावके विपरीत बाह्य विषयोमे अनुरक्ति बढानेका उपदेश करे ऐसा शास्त्र भी खोटा धर्म है । उन खोटे धर्ममे जो अनुराग करे, जैसे भगवानका नाम ले लेकर चोरी सीखे, ऐसे मक्खन चुराया जाता या अन्य कुशील सीखे उनका उदाहरण ले लेकर विषयवासनामे बढ़े तो वह खोटे धर्मको ही तो बढाता है । तो जो खोटे धर्मोंका अनुरागी है वह खोटी गतिको ही प्राप्त करता है क्योकि खोटे धर्मके अनुरागीको अपने आत्माके सहज निज स्वरूपकी सुध नहीं रहती । वस्तुत क्या हू मैं, यह उसके विचारमे नही चलता है, इस कारण खोटे धर्मके अनुरागी पुरुष नियमसे खोटी गति ही प्राप्त करते हैं ।

(४३०) कुत्सित पाखण्डिभक्तियुक्त पुरुषोंकी कुगतिभाजनता—जो खोटे पाखंडियो की भक्तिसे सहित हैं वे खोटी गतिके पात्र होते हैं, क्योकि जो आत्मज्ञानसे परोचित नही, गांजा, चर्स, भांग अफीम आदिक घोट पीकर और शिवका नाम लेकर एक विषयोका ही पोषण करें, एक दुनियाका आकर्षण करनेके लिए कमरमे रस्सी बांधकर भभूत लगाकर, बड़े बड़े बाल रखाकर किसी भी ढंगसे अपनी सेवा चाहे, ऐसे अनात्मतत्त्वके अनुरागी, आत्मज्ञान से शून्य खोटे साधुवोकी जो भक्तिमें रहते हैं जो उन्हे हुक्का चिलम लगाकर देते हैं और अपने को उनका बडा सेवक समझते हैं ऐसे पुरुष खोटी गतिमें जन्म लेते हैं, क्योकि आत्माकी सुध से रहित पुरुष जो जो भी बाह्यमे धर्मके नामपर क्रियायें करते वे पुरुष बाहर ही बाहर डोलते हैं और खोटी श्रद्धा पुष्ट कर करके अपनेको पतित करते हैं । तो जो खोटे पाखंडियोकी भक्ति से

सहित हैं वे खोटी गतिके पात्र होते हैं,

(५३१) **कुत्सित तप करनेवालोंकी कुगतिभाजनता**—जो खोटे तप करते हैं जैसे अग्नि तपना, उल्टे खडा हो जाना, समाधि ले लेना, एक पैरसे खडा होना आदिक, ऐसे अनेक प्रकारके कुतप हैं उन तपोंको तप करके कोई संतुष्ट रहे कि मैं साधु हू, गुरु हू, मुझे मोक्ष मिलेगा, मोक्ष मिलनेका यह ही उपाय है, यहाँ ही बाहर बाहर जो बने रहते हैं और आत्माका जो विशुद्ध ज्ञानस्वभाव है उसका अनुभव नही कर पाते हैं ऐसे पुरुष भी मिथ्यादर्शनकी प्रेरणासे खोटी गतिको प्राप्त होते हैं। वह खोटी गति कौन सी है जिसमे ऐसे संन्यासीजन उत्पन्न हैं ? नरकगति। यह तो प्रकट है। तिर्यञ्च हो जाना भी खोटी गति हैं। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी हो जाना ये भी खोटी दशायें हैं। और स्वर्गोंमे भी उत्पन्न तो हो गए, मगर किल्विषिक, बाहन आदि जातिके देव बन गए तो ये भी खोटी दशायें है। तो ऐसे खोटे धर्मके अनुरागी, खोटे पाखडियोके सेवक, खोटे तप करने वाले ऐसे इन तुच्छ गतियोमे उत्पन्न होते हैं, परिणाम यह होता कि फिर आगे खोटी गतियाँ मिलती हैं, जन्म मरण करते हैं और अनन्त संसारी जीव बनकर रहा करते है। इससे जिनेश्वर देवके द्वारा जो मार्ग बताया गया है उस मार्गकी ही श्रद्धा करना, उस मार्गपर शक्ति अनुसार चलना, यह है ससारके सकटोसे छूटनेका उपाय।

> इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहि मोहिओ जीवो।
> भमिओ अणाइकाल ससारे धीर चिंतेहि ॥१४१॥

(५३२) **कुनय कुशास्त्रोसे मोहित जीवका अनन्त ससारभ्रमण**—गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व दोनो तरहके मिथ्यात्वके स्थानभूत इस ससारमे कुनय और कुशास्त्रसे मोहित होकर यह जीव अनादिकालसे भ्रमण कर रहा। सो हे धीर ! इसका विचार कर। यह काल यहाँपर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके रूपमे घूमता ही रहता है। इस समय यह अवसर्पिणी काल चल रहा है, मायने घटता समय, यह पचम काल है, इसके बाद छठा काल आयगा। छठे कालके अन्तमे प्रलय मचेगा सो जो जीव बचे रहेंगे उनसे फिर सृष्टि चलेगी। फिर छठा काल आयगा, फिर ५ वाँ फिर चौथा, प्रत्येक चौथे कालमे तीर्थंकर हुआ करते हैं, फिर तीसरा, दूसरा, पहला इनमे भोगभूमि चलती है, फिर घटती होगी, फिर बढती होगी, ऐसे कालोमें यह जीव अनंतकाल तक भ्रमण करता रहा। सो हे धीर वीर ! तू विचार कर कि तुझे मिथ्यात्वमें ही पगना है या ससारके सकटोसे छूटना है। गृहीत मिथ्यात्व तो कहलाया कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म, इनकी सेवा करना और अगृहीत मिथ्यात्व कहलाया देहमें आपाबुद्धि करना कि यह देह मैं हूँ, कषाय हो तो मैं हू, उनमे एकत्व बुद्धि करना, यह

अगृहीत मिथ्यात्व है । सो दोनों मिथ्यात्वके वश होकर इस जीवने अनन्तकाल तक संसारमें भ्रमण किया । अब भवभ्रमण मत कर, ऐसी इसमें शिक्षा दी गई है ।

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥१४२॥

(५३३) कुमार्गोंको छोड़कर जिनमार्गमें प्रवर्तनेका उपदेश—हे मुनि ! पाखंडियोंके ३६३ उन्मार्ग हैं उन कुमार्गोंको छोडकर तू जैनमार्गमे अपना मन रख । बहुत बोलनेसे क्या लाभ ? तू एक ही निर्णय रख कि जिनेन्द्र भगवानने जो मार्ग बताया है हमे उस मार्गसे ही चलकर शान्ति मिलेगी । विषयोमे आसक्ति और कषायोके आधीन होना ये ही दो कुमार्ग हैं । विषयोमे आसक्तिके मायने विषय उपभोग तो कभी करने पडते हैं, किन्तु उनमें आसक्त होना तीव्र मोह होना और उससे ही अपना महत्त्व मानना यह आसक्ति कहलाता है । जैसे एक सनीमा देखनेकी ही बात ले लो, बहुतसे लोग ऐसे मिलेंगे जो कि अत्यन्त वृद्ध हो गए, मरनेके दिन निकट आ गए फिर भी उनसे सनीमा देखे बिना नही रहा जाता । प्राय: करके ऐसे लोग रईस घरानोंमे मिलते हैं, तो यह उनकी विषयोंमे आसक्ति हुई । भोजनकी आसक्ति तरह तरहके भोजन बनाना, तरह तरहसे तैयार करके रखना, यह शौक क्यों लगा ? यह इच्छा क्यों है कि उसमे आसक्ति है । तो ऐसे ही पञ्चेन्द्रियके विषयोमे आसक्त होना यह कुमार्ग है । क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयोंमें लीन रहना कुमार्ग है । इन कुमार्गोंको छोड और जिनमार्गको ज्ञान और वैराग्यसे ग्रहण कर ।

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चल सवओ ॥१४३॥

(५३४) जीवविमुक्त मुर्दा और चलता फिरता मुर्दा—जिस शरीरमेसे जीव निकल जाता है उस शरीरको बोलते हैं मुर्दा । वह मुर्दा चलता फिरता तो नही है । जहांका तहां पडा रहता है । और जिस जीवको सम्यग्दर्शन नहीं है, जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह है चलता फिरता मुर्दा । जो जीव निकल गया वह तो है मुर्दा और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं वह है चलता हुआ मुर्दा । तो बताओ ऐसे चलते फिरते मुर्दे क्या आप लोगोंने कभी देखे ? हाँ देखे, ये सब जो सम्यक्त्वरहित प्राणी इस संसारमे दिख रहे वे सब चलते फिरते मुर्दे ही तो हैं । अब जिनको सम्यग्दर्शन नहीं है, भीतरमें ज्ञानप्रकाश नही है वे संसारमे जिन्दगीसे जीते तो हैं, पर उन्हें पता ही नही कुछ कि कहां जाना है, क्या करना है, कहां शान्ति है, हम किस लिए जी रहे हैं ? बस मौज उडानेके लिए अपनी जिन्दगी समझते हैं । तो जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है उनको ये आचार्यदेव बतलाते हैं कि वे तो चलते फिरते मुर्दे हैं । अच्छा

अब एक बात और समझें। जिसमेंसे जीव निकल गया वह मुर्दा देह पूज्य है या अपूज्य ? अपूज्य। ठीक है वह तो एक इसी भवमें अपूज्य है, पर चलते फिरते मुर्दे तो भव भवमें अपूज्य रहेंगे। सो यदि अपने जीवनको सफल करना है, तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। यह सम्यग्दर्शन ८ वर्षकी उम्रके बालकमें भी हो सकता है, इसके बाद भी हो सकता। ८ वर्षसे कम वालेके सम्भव नहीं। किसी बालकको अपने आत्माका ज्ञान जग गया—मैं आत्मा ज्ञान-स्वरूप हूं। तो वह पवित्र हो गया, और बडी उम्र तक भी सम्यग्दर्शन न हो तो यह अंधेरेमें है। सम्यग्दर्शनरहित ये चलते फिरते मुर्दे इस भवमें भी अपूज्य हैं और आगे खोटी गति ही तो मिलेगी, सो वहाँ भी ये अपूज्य रह गए।

(५३५) गुरुनिन्दक मिथ्यादृष्टियोंकी भयावह दुर्गति—अच्छा एक तो है मिथ्यादृष्टि और फिर दूसरे वह करता हो गुरुवोंकी निन्दा तो अब उसमे डबल ऐब आ गए। एक तो मिथ्यात्व नहीं छोडा, मिथ्यादृष्टि हैं और फिर हैं गुरुनिन्दक, तो उनका होनहार क्या होगा ? बहुत कठिन दुर्गति। और, यह होता ही आया है, क्योंकि संसार कभी खाली नहीं होता। जो आज त्रस पर्यायमें है वह आगे न चेता तो वह भी निगोदमें आ जायगा और छह माह आठ समयमें निगोदसे निकलते हैं ६०८ जीव सो इतने ही मोक्ष जाते हैं, संसार खाली नही होता। निगोद जीव अनन्तानन्त हैं, तो ऐसे ही मिथ्यादृष्टियोंसे भरा हुए यह संसार है। और गुरुवोंकी निन्दा मिथ्यादृष्टि जीव ही तो करेंगे, सम्यग्दृष्टि जीव नही कर सकते। आज कल तो बहु संख्यामें ऐसे जैनी मिलेंगे जो कि गुरुनिन्दा करनेको ही अपना धर्म मान रहे और उसीकी एक पार्टी बन गई जो कि गुरुवोंकी निन्दा करते और कहते कि उन्हे पानी मत पिलाओ, खाना मत दो, ऐसा भी प्रकट कहने लगे तो वे यह बतावें कि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं क्या ? अरे सम्यग्दृष्टियोंकी इतनी अधिक संख्या तो नही बतायी गई। उनमेसे कोई एक आध हो हो सकते हैं। तो एक तो हो मिथ्यात्वका उदय और दूसरे अपनेको सबसे बडा समझें तो बताओ ऐसी हालतमें उनकी क्या गति होगी ? वे तो चलते फिरते मुर्दा हैं। जैसे सनीमाके पर्देमे चलते फिरते बोलते चित्र दिखते हैं मगर वे सब हैं अजीव, अज्ञानी। तो ऐसे ही जो मिथ्यादृष्टि पुरुष हैं वे चलते फिरते मुर्दे हैं और अज्ञानी हैं। फर्क इतना है कि उन फोटोमें तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि संज्ञायें नही हैं और इन चलते फिरते मुर्दोंमे ये संज्ञायें लगी हैं सो ये फोटोसे भी खोटे हैं।

(५३६) भावरहित जीवनकी व्यर्थता—आचार्यदेव समझाते हैं कि सम्यक्त्वके बिना जो जिन्दगी है उसे बेकार समझें। वह सब मायामय खटपट है। एक बार कोई पुरुष अपने किसी रिस्तेदारके घर गया तो वह रिस्तेदार था कुछ कंजूस टाइपका। सो उस पुरुषके लिए

आ जानेपर उस कंजूस व्यक्तिने विचारा कि कोई ऐसा उपाय रचें जिससे यह हमारे घर अधिक दिन न टिक सके। सो क्या किया कि अपने घरके रसोइयाको समझा दिया कि देखो एक काम करना है, हम लकडीसे खटपटकी आवाज करेंगे और तुम रोना। बस यह काम करना है। ठीक है। अब रातके समयमें वह कंजूस पुरुष आंगनमे खडा होकर किसी लकड़ी से खटपट की आवाज कर रहा था और वह रसोइया रो रहा था, यह घटना देखकर वह पुरुष घरसे बाहर भग गया यह सोचकर कि ऐसी हालतमें इस घरमे क्या रहना जहाँ मार पिटैया रोना धोना चल रहा हो, मगर कुछ दूर जाकर विचार किया कि ऐसे तो हमारा घर से भागकर आना ठीक नही रहा। कमसे कम घरके मालिकसे बताकर आना चाहिए था. सो वह पुन: वापिस आ गया। सो जब वह आँगनमे आ गया उस समय उस मालिक और नौकरमे बातचीत चल रही थी। मालिक बोला—देखो मैंने तुम्हे पीटा तो नहीं। तो रसोइया बोला—और मैं भी रोया तो नही, झूठ मूठ ही तो रोया था, सो वह तीसरा पुरुष पीछेसे बोला—मैं भी गया तो नही, झूठ मूठ ही तो गया। तो ऐसे ही समझो कि ये संसार के सब जीव अपने अपने विषयोके खातिर चतुर बन रहे। कोई कैसी ही प्रवृत्ति करता कोई कैसी ही? तो यहाँ यह बतला रहे कि जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव हैं और जैन शासनकी निन्दा करते हैं ऐसे निन्दक पुरुष तो सहवासके भी योग्य नही हैं। सो हे मुने, अपने सम्यक्त्व से शुद्ध होकर व्रतोको पालो और किसी भी समय किसीकी निन्दाके शब्द कानोसे मत सुनो—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माण ॥१४४॥

(५३७) मुनिधर्म व श्रावकधर्म दोनोंमे सम्यक्त्वकी महनीयता—जैसे समस्त तारावो मे चद्रमा मुख्य है ऐसे ही सब धर्मोंमे सम्यक्त्व प्रधान है। सम्यक्त्व तो मूल है और चारित्र उसके ऊपरकी शाखायें जैसी हैं। जैसे जड़के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता ऐसे ही सम्यक्त्वके बिना चारित्र नही ठहर सकता। सम्यक्त्वमे तो मार्ग दिख गया और चारित्रमें वह उस मार्गपर चल रहा। इसलिए सम्यक्त्व उपादेय है और सम्यक्त्वके बाद जब तक चारित्र धारण न करे तब तक मुक्ति नही प्राप्त होती। अतएव चारित्र बहुत उपादेय है। तो जैसे समस्त तारावोमें चद्रमा प्रधान है ऐसे ही सम्यग्दर्शन प्रधान है। जैसे वनके पशुओ में सिंह प्रधान है ऐसे ही मुनिधर्म श्रावक धर्म इन दोनो धर्मोंमे सम्यक्त्व प्रधान है। सम्यग्दृष्टि मुनि मोक्षका पात्र है, सम्यग्दृष्टि श्रावक भी मोक्षमार्गमें चल रहा है, इस कारण सम्यक्त्वको सर्व प्रथम प्राप्त करना चाहिए।

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्क किरण विप्फुरिओ।

तह विमलदंसणधरो जिणभत्तीपवयणो जीवो ॥१४५॥

(५३८) जिनभक्तिप्रसन्न जीवको शोभायमानता—जैसे हजार फणावोंपर स्थित मणियोंके बीच विद्यमान मणिकी किरणोंसे शेष नाग शोभित होता है इसी तरह जिनभक्तिके श्रद्धानसे युक्त निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक जन शोभित होते हैं। बताते है कि जो कोई खास जातिका नाग होता है नागराज उसके फणमें मणि होती है। गजमोती तो बहुत प्रसिद्ध है, हाथीके मस्तकमे मोती होता है, यह बात तो बहुत प्रसिद्ध है और कोई असम्भव नहीं है। सीपमें भी तो मोती होते। जो जलमे सीप होती, जिसे सूतो भी बोलते, जिससे आम वगैरह छीलते, वह सीपका ऊपरका खोल है उसमे किसी किसीमे कैसा योग है, कैसा नक्षत्र का पानी है, बूंद है ऊपरका कि वह मोती रूप परिणम जाता। ऐसे ही गजके मस्तकमे भी मोती परिणम जाता, सब हाथियोंके मस्तकमे नही होता। तो किसी नागराजके फणमे मणि होता होगा वह सब नागोके फणमे नहीं होता। तो जैसे उस माणिक्यकी प्रभासे वह नाग शोभित है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और जिनभक्तिसे युक्त यह जीव भी शोभित होता है। अभी देखो चाहे यथार्थमे धर्म हो या न हो रहा हो मगर शृङ्गार शोभा सब धर्मकी क्रियासे ही होता है। कोई भी उत्सव मनावे उसमे कोई न कोई धर्मकी क्रिया हर एक कोई रखता है। विवाह शादीमे यदि मदिर न आवे, दर्शन न करे तो सब सूना सूनासा रहता। बाकी काम तो चाहे सब करे पर धर्मके नामपर थोडा भी काम न करे तो उस समारोहकी शोभा नही रहती। पहले समयमे तो शादी विवाहके अवसरमे भी पूरा एक दिन विधान बाँचनेका पक्का नियम रहता था। जब बरात आती थी तो दो तीन दिन रुकती थी। उसमे एक दिन का पूरा प्रोग्राम मदिरके अन्दर विधान बाँचनेका रहा करता था, आज कल तो वह सब रिवाज हट गया फिर भी कुछ न कुछ तो धार्मिक प्रसग रहना ही है। धार्मिक प्रसगके बिना किसी भी समारोहकी शोभा नही होती। तो समझलो जिन्दगीकी बात। धर्मके सग बिना जीवनकी भी शोभा नही होती। देखो जब कमठकृत उपसर्गका निवारण किया तो धरणेन्द्र पद्मावतीने नाग बनकर किया। हजारो फण कर लिये, आखिर ऋद्धि ही तो है, उनकी विक्रिया है और प्रत्येक फणपर मणिकी शोभा बनी होगी, तो दृष्टान्त दिया है कि जैसे वह शोभित होता ऐसे ही जिनभक्तिपरायण ज्ञानी पुरुष भी शोभित होता है। बताया है समतभद्राचार्यने कि सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न पुरुष चाण्डालके देहसे उत्पन्न हो तो भी देव उसको देव कहते, मायने उसको समर्थ ज्ञानी मानते और सम्यग्दर्शन होनेके कारण आदरणीय मानते हैं। जैसे कि राखके भीतरे यदि आग ढकी है तो वह राखसे ढकी है मगर आग तो आज्वल्यमान है। तो ऐसे ही कोई तिर्यंच हो या चाडाल हो और उस जीवको हो गया है

सम्यग्दर्शन तो वह इस तरह मानो जैसे राखसे ढकी मूदी आग। यहाँ यह ध्यान दिलाया है कि सम्यग्दर्शनसे शोभा है, सम्यग्दर्शनसे विजय है।

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४६॥

(५३६) दर्शनविशुद्ध व्रतविमल जिनलिङ्गकी शोभायमानता व कार्यकारिता—जैसे ताराओंके समूहसे सहित चन्द्रमाका बिम्ब शोभायमान होता है इस आकाशमडलमें ऐसे ही सर्व प्राणियोंमे जिसका व्रत निर्मल है, सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है, ऐसा यह जिनलिङ्ग, यह मुनि पद सबमे सुशोभित होता है। जिनको स्याद्वादपर श्रद्धा है उनको किसी भी बातमें विवाद नहीं उपस्थित होता, क्योंकि वस्तुके स्वरूपकी समझ स्याद्वादसे ही बनती है जिसने जो कुछ जाना वह किसी नयकी दृष्टिसे ही तो जाना। अब यह समझ बनायें कि ये इस नयसे कह रहे हैं, साथ ही यह भी समझ बना सकते हैं कि दूसरे नयको नहीं मान रहा इसलिए एकान्ती है, पर समझ मे तो आया कि जो कुछ यह कह रहा है यों ठीक कह रहा है। अब एक बात सोचो, हम अन्य दर्शनकी बात कह रहे कि लोगोंमें यह प्रचार बहुत अधिक है कि कोई एक ईश्वर होता है और वह संसारके जीव अजीव सब पदार्थोंको रचता है। अच्छा तो उनका कहना भी किसी किसी ढगसे चल चलकर हुआ ही तो है। कैसे हुआ कि बात तो असलमे यह है कि प्रत्येक जीवके अपने भावोके अनुसार कर्म बध होता और उनके उदयसे ये सब रचनायें चलती हैं। मनुष्य हैं, पशु हैं, पक्षी हैं ये सब रचनायें बनीं और जो पत्थर है, ईंट है, काठ है ये भी तो जीवके शरीर थे। जीव निकल गया शरीर रह गया। त्रस जीवोंका शरीर तो बिगड जाता है जीवके निकलनेके बाद, पर ये पृथ्वी, वनस्पति, इनका शरीर बिगडता नहीं है जीव निकलने के बाद, और देखो कैसा बढिया यह फर्श बना है तो यह जीवका ही तो शरीर है पत्थर। यह एकेन्द्रिय जीव था। तो यह भी रचना उस जीवकी अपने कर्मके अनुसार हुई थी। तो जो भी रचनायें हो रही हैं वे सब अलग अलग एक एक जीवके विचारसे, भावनासे चल रही हैं, इस लिए यह तो मान लिया जायगा कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि कर रहे हैं। जीवकायको छोडकर यह है क्या? तो सब जीवोंने अपनी अपनी सृष्टि रची। इतनी बात तो सही है। अब आगे और बढ़े, सब जीवोने सृष्टि की, पर वे सब जीव स्वरूपसे एक समान हैं, यह भी ज्ञान जगा। जब स्वरूपसे एक समान हैं तो यह एक भ्रम बन गया कि जीव एक ही है। वहाँ बोलने का रिवाज भी है ऐसा। जैसे गेहूंका कोई ढेर पडा है तो सारे दाने एक तरहके हैं सो उनको लोग यह कहते कि यह गेहूं किस भावमें दोगे। रिवाज भी है ऐसा कहनेका। तो सब जीव जब एक समान हैं तो उनको एक वचनमें बोला जायगा। और तीसरी बात क्या कि जीव सब

ईश्वरके रूप हैं। सभी ईश्वर स्वरूपसे सम्पन्न हैं। तो धीरे धीरे जैसे कहते था—अंगुली पकड़कर पोंचा पकड़ना, तो ऐसे ही पहले यह जाना कि ये सब जीव सृष्टि कर रहे हैं, फिर यह जाना कि सब जीव एक समान है, सो एक ही है। यों तनिक अन्तर आया फिर यह जाना कि सब जीव ईश्वर स्वरूप ही हैं। तो यो बात फैल गई कि कोई एक ईश्वर इस सारे जगतकी रचना करता है। अब बतलावो यह जो कहना है यह तो बहुत उल्टा कहना है मगर इन उल्टे भी तथ्योंको नयोसे और थोड़े किनारोसे भी ठीक बना सकते हैं तब फिर कौन सा विषय ऐसा है कि जिसको हम ठीक न बना सकें? अन्तर इतना पड़ेगा कि दूसरे प्रतिपक्ष नयको न माननेसे एकान्ती बन गया, मगर कुछ जाना सो कुछ अंश थे तब ही तो जाना। और जो स्याद्वादका आलम्बन ले उसने सब बातको पूरी तरहसे जान लिया। तो यो दर्शनविशुद्ध व व्रतसे निर्मल इस जिनलिङ्गको बताया है आगममे कि ये हैं साधु परमेष्ठी, सो हे मुने शुद्ध सम्यक्त्वसे सहित होकर आत्मस्वभावकी भावना करके अपने आपको आचरणमे लावो क्योंकि जीवका शरण अपने आपका सम्यक्त्व अपने आपका ज्ञान और अपने आपको अपने स्वभावमे स्थिर करना यह जो आत्मपुरुषार्थ है यह ही इस जीवको शरण है। इस कारण पूर्ण शक्तिके साथ आत्माका दर्शन, आत्माका ज्ञान और आत्माका आचरण पालन करें।

इय गाउ गुणदोस दसणरयण धरेह भावेण।
सार गुणरयणाण सोबाण पढम मोक्खस्स ॥१४७॥

(५४०) **गुण व दोषका स्वरूप जानकर सम्यक्त्वरमणका आदेश**—आत्माका गुण और आत्माका दोष दोनोको ही जानना आवश्यक है। दोष न जाने तो उससे छूटनेका उमग कैसे बने? गुण न जाने तो उसमे लगनेका उमग कैसे बने? दोष क्या है? मिथ्यात्व और कषाय। सक्षेपमे कहा जाय तो इन दो बातोको कह लीजिए। अविरत भी कषायका रूप है और केवल योग तो आस्रवका हेतु है, बधका कारण नही। तो देखिये—बात दो हैं दोषकी, मिथ्यात्व और कषाय। मिथ्यात्व नाम है उसका जो अपना स्वरूप नही उसे अपना स्वरूप समझे। जो अपना वास्तविक सहजस्वरूप है उसका बोध न होना यह बहुत बडा दोष है। सब पापोका राजा है मिथ्यात्व और कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ, ये तो होते हैं दोष। सो इन दोषोकी भी उत्पत्ति कैसे है सो भी समझना। ये स्वभावसे दोष नही होते किन्तु कर्मोंका उदय होनेपर ये आत्मामे दोष बनते हैं, दोष नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं। आत्माके स्वभाव नही हैं इस वजहसे हम दोषोंसे हट सकते हैं। यदि मेरे स्वभावसे ही दोष होते तब तो दोषोसे छुटकारा न हो सकता था। अब गुण क्या है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र ये पर्यायरूप गुण हैं, शुद्ध पर्याय है, ये स्वभावसे होते हैं। जैसे कहते ना कि सम्यग्दर्शन ७ प्रकृतियोंके नाशसे होता है। तो नाशके मायने क्या है? अभाव। तो उसका अर्थ यों लगेगा कि ७ प्रकृतियोंके होनेसे मिथ्यात्व होता है। जब ७ प्रकृतियाँ नष्ट हो गई तो मिथ्यात्व न हो सकेगा? मिथ्यात्व न हो सकेगा तो अपने आप सम्यक्त्व हुआ। सम्यग्ज्ञान—आत्माका स्वरूप जाननेका है, जैसा है वैसा जाननेका है। उल्टा जाननेका स्वरूप आत्माका नही है। उल्टा जानना किसी उपाधिके कारण होता है, पर स्वभाव नही है ऐसा कि यह उल्टा जानता फिरे। जो यथार्थ है सो ही ज्ञानमे आया। यह है आत्माका गुण। और सम्यक्चारित्र—अपने स्वभावमें रमण करना। यह तो आत्माका सत्तासिद्ध अधिकार है कि वह अपने आपमे रमे, मगर कर्मविपाकके आक्रमणमे यह अधिकार होते हुए भी प्राप्त नहीं हुआ। जैसे जैसे आत्माके स्वरूपकी दृष्टि प्रबल होती जाती है, बाह्य विषयोमे विमुखता होती जाती है वैसे ही वैसे अपने आपमे इसका रमण होता है। अपने आपके स्वरूपमें रम जाना, समा जाना यह है स्वभाव। तो गुण और दोष दोनोंको जानकर हे मुने, हे भव्य जीव गुण को तो धारण कर और दोषोंसे मुक्त हो।

(५४१) सम्यक्त्वकी गुणप्रधानता—गुणोंमे सर्वप्रथम गुण है सम्यक्त्व। सम्यक्त्व है तो समस्त गुणोके विकास होते जायेंगे और सम्यक्त्व नही है तो गुणविकास न हो सकेगा, जैसे नीचे यदि सीधी पतेली रख दी जाय तो ऊपर सब सीधी पतेली होती जायेंगी और नीचे ही उल्टी पतेली रखे तो उसकी लाइन उल्टी ही चलेगी। जिसके भीतरमे यह प्रकाश जगा है कि मैं आत्मा समस्त पदार्थोंसे परभावोंसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दमय हू, इसमे किसी अन्यका प्रवेश नही। इसमे से कुछ बाहर जाता नही। तो ऐसे अव्याबाध मौलिक इस आत्मस्वरूपको जिसने जाना और उसमें ही रुचि जगी है उनको अब संसारके सकट नही रहे, क्योकि सकट मायने बाह्यवस्तुमे कुछ बनना बिगडना। अब बाह्यको बाह्य जानें उससे कुछ लगाव न रखें तो सकट कैसे आ सकते। यह सम्यक्त्व गुण समस्त गुणोंमे प्रधान गुण है और मिथ्यात्व दोष समस्त पापोंमे प्रधान पाप है, सो इस मोहबुद्धिको छोडकर आत्मामे विशुद्ध स्वरूपके अनुभवका प्रयास करें। जो आज बडे हैं उनका बडप्पन इसीमें है कि वे आत्महितका कार्य बना लें। जो अनन्त कालमें अब तक नहीं बन पाया ऐसा अपूर्व अपना पौरुष बना लें इसीमें बडप्पन है। बाकी धन वैभवसे, लौकिक इज्जत प्रतिष्ठा आदिक से जो बडप्पन है उसका कुछ मूल्य नही। इस लोकमें भी नष्ट हो सकता है और मरण होने पर तो आगे जीवके साथ रहनेका नही, पर आत्माके निज सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव बना स्पर्श हुआ, उसके एक अनुभवनका स्वाद आया, शान्ति यहाँ ही है। ऐसी अनुभूति बने तो

उनके संकट दूर हुए। मोक्ष महलकी प्रथम सीढ़ी। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महलकी पहली सीढ़ी है। जो पहली सीढ़ीमे न पहुंचे वह आगेकी सीढ़ीपर कैसे जायगा? तो सम्यग्दर्शनको धारण करें।

(५५३) निमित्तनैमित्तिकयोगके कुछ उदाहरण— ट्रेन चल रही है, मान लो १२ डिब्बे उसमें लगे हैं। अब पूछते कि बताओ इस गाडीको कौन चला रहा? तो किसीका उत्तर है कि इञ्जन चला रहा, किसीका उत्तर है गार्ड चला रहा, किसीका उत्तर है कंट्रोलर चला रहा। यों कितने ही उत्तर आते हैं उसके। और, वस्तुतः देखा जाय तो प्रत्येक पुर्जेमें उस ही में काम हो रहा। कोई पुर्जा अपनेसे बाहर कोई क्रिया नहीं कर रहा। अब निमित्त नैमित्तिक योगसे देखो तो जो सबसे पीछेका १२ वाँ डिब्बा है उसका निमित्त ११ वाँ डिब्बा है, ११वें का १० वाँ, यों क्रम क्रमसे चलते जाइये, सभी डिब्बेके निमित्तसे चल रहे। इञ्जनके निमित्तसे सभी डिब्बे नहीं चल रहे। उस १२वें डिब्बेके सीधे निमित्तकी बात यहाँ कह रहे, फिर निमित्तनैमित्तिक बताकर मूल निमित्त बतायेंगे। हाँ तो बताया कि १२ वें डिब्बेके चलने का निमित्त ११ वां है, इस तरह क्रम क्रमसे चलते जाइये—दूसरे डिब्बेका निमित्त पहला डिब्बा है और वह पहला डिब्बा उस चलते हुए इञ्जनका निमित्त पाकर चला। और इञ्जन चलनेका निमित्त तो जो उनके पेंच पुर्जोंके जानकार लोग होंगे वे उसका भली भांति विश्लेषण करके बता सकेंगे। स्टीम चली, उसका निमित्त पाकर उसमे लगा हुआ सीधा डडा चला, फिर उसके निमित्तसे चक्रको चलनेकी प्रेरणा मिली। यो ही अब लगाते जावो ऊपर तक। आखिर सभी पेंच पुर्जोंके चलनेका एक मूल निमित्त मिलेगा कोई एक छोटा पुर्जा। अब उस पुर्जेको चलाया ड्राइवरने, सो यहा भी देखो ड्राइवरके हाथके चलनेका निमित्त क्या रहा? शरीरकी वायुका स्फुरण होना, और शरीरकी वायुके स्फुरणका निमित्त क्या रहा? जीवके योगका परिस्पद। और उसका कारण क्या रहा? उसकी इच्छा एक ड्राइवरकी इच्छा। समर्थ ड्राइवरका जो भाव है वह सबका मूल निमित्त रहा। एक सडक पर खडा होकर दोपहरमे कोई बच्चा ऐना (दर्पण) को इस तरह करे कि इस मदिरके अदर भी सूर्यकी धूप आ जाय, सो मदिरमे जो ज्यादह प्रकाश आया तो बताओ उसका निमित्त कौन रहा? सूर्य? सूर्य नहीं रहा वह दर्पण। और, इस तरहका चमकदार दर्पण बन जाय इसका निमित्त रहा वह सूर्य। तो यहांके उजेलेका मूल निमित्त सूर्य है इसलिए सीधा ही यहां कह देते कि इस उजेलेका निमित्त सूर्य है।

(५५४) कर्मास्रवमें होने वाले निमित्तनैमित्तिक योगका परिचयन—अब जरा यही बात कर्मोंमें घटाओ। जो नये कर्म आते है, बँधते हैं। कर्म क्या कहलाते हैं? इस जीवके

साथ बहुत सूक्ष्म पुद्गल लगे हैं संगमे । वे आंखोंसे नही दिखते । अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे कार्माण वर्गणायें । तो जीवके जब खोटा भाव होता है तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि वे सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं । कर्म क्या हैं ? इसका उत्तर जैनशासनमे स्पष्ट है कार्माणवर्गणायें बहुत सूक्ष्म पौद्गलिक मैटर हैं, वे आंखों नही दिखती । अनेक बातें ऐसी होती हैं कि जिनका आप कोई उत्तर ठीक ठीक नही दे सकते । यह ही कह देंगे कि ऐसा ही प्राकृतिक योग है । जैसे नीम कडवी क्यों होती ? तो कह देते कि ऐसी ही प्रकृति चल रही है जीवके साथ कि जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बँध गई वे भी जीवके साथ चल रही, और जो कार्माण वर्गणायें कर्म न बनी, कभी कर्म बन गया वह भी जीवके साथ मरण होनेपर जाता है । तो जीव है सारे शरीरमें और उतनी ही जगह कार्माण वर्गणायें भी खूब भरी पडी भई है वे कर्मरूप बँध गईं । तो जो कर्म बँधे हैं उनका निमित्त क्या है ? तो झट कह देते हैं ना रागद्वेष, मगर सीधा निमित्त नही है रागद्वेष । यहां दर्पण और सूर्यकी तरहकी बात मिलेगी । जो नये कर्म बँधे हैं उनका निमित्त है उदयमे आने वाले कर्म । याने जो कर्म पहलेसे बँधे पडे है वे कर्म जब निकलते हैं फल देनेके लिए, अपना फल खिला कर जो कर्म दूर होते हैं उसे कहते है उदय । तो ऐसा जो उदय है मायने उदयमे आने वाले जो कर्म है, निकलते हुए जो कर्म है वे हैं नवीन कर्मोंके आश्रवके निमित्तभूत कारण । जैसे—कोई ट्रेनमें बैठा हुआ व्यक्ति स्टेशनपर आते ही अपने खुदके उतरते समय याने उस ट्रेनको छोडते समय किसी दूसरे भाई को सीट देकर उतर जाता है ऐसे ही समझो कि जो कर्म निकल रहा उसका निमित्त पाकर दूसरे कर्म आ गए तो नवीन कर्म आनेका निमित्त है उदयमे आये हुए कर्म । मगर एक बात और है खास कि उदयमे आये हुए कर्ममें ऐसा निमित्तपना आ जाय कि नवीन कर्मका निमित्त बन जाय उसका निमित्त है रागद्वेष । इसलिए ठोस कारण हुआ रागद्वेष । जैसे इस कमरेके अन्दर सूर्यका प्रकाश आनेका ठोस निमित्त हुआ सूर्य, न सूर्य होता दर्पणके सामने तो यहाँ कमरेमे उजाला कैसे हो सकता था ? और भी एक दृष्टान्त लो । कोई आदमी किसी अपने ही कुत्तेके साथ कही जा रहा था तो रास्तेमे किसी आदमीको देखकर उसने छू भर कह दिया बस उस कुत्तेने उस दूसरे पुरुषपर आक्रमण कर दिया । काट लिया । अब बताओ कचहरी में मुकदमा किस पर चलेगा ? उस आदमीपर, न कि कुत्तेपर । तो मूल तो मालिक रहा, ऐसे ही नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्त तो मूलमे रागद्वेष रहा । तो ये रागद्वेष भाव कर्मोंके आस्रवके मूल कारण है ।

(५५५) **निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयसे प्राप्त स्वभावदृष्टिका निर्देश**—जो ज्ञानी रागद्वेष भावोंको स्वरूपसे अलग समझ रहा है, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं, ये औपाधिक भाव हैं

मेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है। तो उसके ये रागद्वेष भी हीन हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं। बंधमें भी अन्तर हो जाता है। तो यह कार्य होता है सम्यक्त्वगुणके प्रतापसे। जब यह ज्ञात बना कि मेरा आत्मा ऐसा सहज अविकार स्वरूप है बस इसी हो मे ज्ञान रखो तो मोक्षमार्ग बेखटके चल रहा। सो हे कल्याणार्थी पुरुष तू जीवको इस इस स्वरूपसे समझ। यह जीव कर्ता है निश्चयसे अपने ज्ञान परिणमनका। व्यवहारसे कर्ता है अपने पुण्य पापभाव का और निमित्तसे कर्ता है कर्मबंधका। सब ध्यानमे लावो वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग। इन दोनोंका स्वरूप जानें और दोनोंके परिचयका प्रभाव भी जानें और दोनोका परिचय होने पर विभावसे हटकर स्वभावमे आना है। इसमे कोई एकान्त कर ले कि जीवमें तो जीवकी योग्यतासे अपने आप अपने समयपर रागद्वेष हुआ। अब उस रागद्वेषसे अलग हटनेका कोई उपाय नहीं रहा। उसमें उसके स्वभावसे हुआ। यदि कोई यह कहे कि हटने का उपाय कैसे न बनेगा ? यह जानेगा कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप नही है, हट जायगा तो कैसे जानेगा कि रागद्वेष मेरे स्वरूप नहीं हैं ? उसका उपाय है निमित्तनैमित्तिक योगका परिचय। चूँकि ये रागद्वेष कर्म उपाधिका सन्निधान पानेपर हुए है इस कारण मेरे स्वरूप नहीं है। विकार मेरे स्वरूप नही है, इसे कौन समझायेगा ? चाहे किसी भी बातसे समझो अन्तमें जब तक यह बात चित्तमे न आयगी कि ये उपाधिका सन्निधान पाकर हुए तब तक ठीक समझमें न आयगा कि ये विकार मेरे स्वरूप नही। तो जीव निश्चयसे कर्ता है अपने आपके परिणमनका और निमित्तसे कर्ता है कर्मबंधका कर्मास्रवका दोनों ही बातोकी समझ हमको स्वभावकी ओर ले जाती है।

(५५६) जीवके भोक्तृत्व अमूर्तत्वका निर्देश—जीव भोक्ता है अपने आपके भावोका। सुख दुःख आकुलता, विचार आदि जो कुछ भी यहाँ परिणमन चल रहे हैं, जीव भोक्ता है अपने भावोंका। और चूंकि ये सुख दुःख आदिक भाव स्वभावसे नही हुए क्योकि जीवका स्वभाव सुख दुःख आदिक भोगनेका नही है, सुख दुःखादिक हुए हैं कर्म उपाधिका निमित्त पाकर तो ये भाव भी नैमित्तिक हैं, औपाधिक है। इस कारण मेरे स्वरूप नही हैं, यह बात समझमें आयगी। तो यह जीव निश्चयसे भोक्ता है अपने भावोका, व्यवहारसे भोक्ता है अपने सुख दुःख आदिक कर्मोंका। यह जीव अमूर्त है और अमूर्त होनेके कारण यह अपने ही भावो का कर्ता भोक्ता बन पाता है। पर एक प्रश्न हो जाता कि जब यह जीव अमूर्त है तो यह शरीरमें ही बँध कर क्या रह गया ? यह इससे हटकर जाता क्यो नही है। तो इसे ही कहते हैं निमित्तनैमित्तिक योगवश परतंत्रता या मूर्तपना। कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण यह जीव मूर्त बन गया है। यह अन्य प्रकारसे मूर्त बना है, कही रूप, रस, गंध, स्पर्श आया

हो जीवके स्वरूपमें, उस ढंगसे मूर्त बना हो सो नहीं है, किन्तु परतंत्रता रूपसे मूर्त बना है वह। इस समय आप कितना ही चाहें कि शरीर तो वहीं धरा रहने दो जहाँ आपका शरीर है और यह आत्मा जरा दो चार हाथ इधर आ जाय तो नहीं आ पाता, तो सिद्ध होता है कि मूर्त पदार्थसे यह रुक गया। नियंत्रित हो गया। सो यह मानो मूर्त बन गया, पर स्वरूप मूर्त नहीं है। स्वरूप अमूर्त है और संसार दशामें भी स्वरूप अमूर्त है और मुक्त होनेपर तो अमूर्त बेदाग प्रकट हो गया।

(५५७) जीवका शरीरमात्रपना अनादिनिधनता, दर्शनज्ञानोपयोगमयपना—आधार के पारतन्त्र्यके कारण यह जीव शरीरप्रमाण है, शरीरसे बाहर नहीं, शरीरसे कम नहीं। कभी कोई पुरुष शंका करते कि लकवा मार गया तो इस हाथमें अब जीव नहीं रहा, पर ऐसा नहीं है। जीव सर्वत्र रहा शरीरमें, पर कोई अंग बिगड जाय तो अब यह जीव उस अंगके निमित्त से कुछ ज्ञान नहीं कर सकता। आँख बिगड जाय तो आँख द्वारा ज्ञान नहीं कर सकता, हाथ बिगड जाय तो हाथके द्वारा ज्ञान नहीं कर सकता। रह रहा है शरीरप्रमाण, पर इन्द्रियका कोई अंग बिगडनेसे अब वह ज्ञान नहीं कर सकता। यह जीव कितना बडा है, स्वतंत्र कुछ नहीं बता सकते। अनादिसे शरीरप्रमाण है और मोक्ष होगा तो जिस शरीरसे मोक्ष होगा उस शरीरके प्रमाण है। तो जीव स्वयं अपने आप किसी आकारमें नहीं रहा, इसी कारण इस को निराकार कहते हैं। ऐसा अनादि अनन्त है यह जीव, जिसका न आदि है न अन्त है। ज्ञान और दर्शन उपयोगसे सदा उपयुक्त चलता है। जानना देखना यह क्रिया जहाँ बनी रहती है ऐसे इस आत्मस्वरूपको जानों और समझिये कि यह ही मेरा निजी स्वभाव है, इतनी ही मेरी सारी दुनिया है। इससे आगे मेरा कहीं कुछ नहीं है। यों इस आत्मतत्त्वपर दृष्टि जगने से सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है।

दसणणाणावरणं मोहणिय अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४६॥

(५५८) जिनभावनायुक्त भव्य द्वारा नष्ट किये जाने वाले चार घातिया कर्मोंमें ज्ञानावरणप्रकृतियोंका निर्देश—जिन भावनासे सहित भव्य जीव, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रसे युक्त भव्य जीव दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंको नष्ट करता है। कर्म होते हैं अनगिनते मगर उनके नाम तो नहीं बताये जा सकते। तो उन अनगिनते कर्मों को कुल संक्षेपमें किया गया तो १४८ हुए। उन १४८ का संक्षेप किया गया है ८ कर्मोंमें, जो ४ तो हैं घातिया कर्म और ४ हैं अघातिया कर्म। जो कर्म आत्माके गुणोंको नष्ट करें उनको कहते हैं घातिया कर्म और जो कुछ आत्माके गुणोंको तो नष्ट करता नहीं किन्तु उन घातिया

कर्मोंके मददगार रहते हैं वे अघातिया कर्म हैं। तो घातिया कर्मोंका नाश करके अरहंत भगवान होते हैं। जैसे ज्ञानावरण ५ प्रकारका होता है—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानवरण। जो इन ५ प्रकारके ज्ञानोंको घातते हैं वे ५ ज्ञानावरण हैं।

(५५६) **दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोंका निर्देश—** दर्शनावरण क्या कहलाते ? जो दर्शनका आवरण कर दे, दर्शन न होने दे, आत्माका दर्शन, परपदार्थोंका भी दर्शन न होने दे वह दर्शनावरण है। दर्शनावरण कर्मके ९ भेद हैं। (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण ये ४ तो आवरण है याने आँखसे दर्शन न होने देना चक्षुदर्शनावरण है, आँखके सिवाय बाकी इन्द्रिय और मनसे दर्शन न होने दे सो अचक्षुदर्शनावरण है, अवधिज्ञानसे पहले अवधिदर्शन हुआ करता है, उसको जो न होने दो वह अवधि दर्शनावरण है, केवलज्ञानके साथ केवलदर्शन चलता ही रहता है। उस केवलदर्शनको न होने दे, केवल दर्शनावरण है। दर्शनावरणका काम है कि दर्शन न होने दे। शेष ५ और बचे, वे ५ हैं (१) निद्रा, (२) निद्रा निद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला और (५) स्त्यानगृद्धि। निद्रानाम है नीद आनेका नीद आ गई तो देखना तो नही बनता तो दर्शनका आवरण हो गया। नीद आना दर्शनावरणका उदय है और निद्रानिद्रा मायने खूब तेज नीद जैसे किसी बच्चेको यहाँ शास्त्रसभामे नीद आ रही और शास्त्रसभा पूरी होनेपर घर ले जानेके लिए उस बच्चेको उठाते है वह उठकर कुछ चला देता, मगर फिर वह नीचे पड कर सो जाता है। तो नीदके बाद और नीद आती रहे वह कहलाती है निद्रानिद्रा। प्रचल—नीद आनेमे कुछ अगोपाग भी चलते है, जिसमे कुछ कुछ सुध भी रहे। जैसे प्रचला आता है श्रोतावोंको। जैसे किसी श्रोताको शास्त्रसभामे नीद आ रही कुछ कुछ नीद भी लेता जाता और कुछ शास्त्र भी सुनता जाता। अब उससे कोई पूछे—क्यो जी, सो रहे क्या ? तो झट वह बोल उठता—नही, सो नही रहे शास्त्र सुन रहे है। भाई क्या सुना ? तो शायद कुछ कुछ बता भी सके या न भी, बता सके, ऐसी नीदको प्रचला कहते है जिसमे कुछ अग भी चलें। बताते है कि घोडोंके प्रचला चलती है। वे चलते भी जाते और नींद भी लेते जाते। प्रचलाप्रचला उसे कहते हैं कि जिसमे ऐसा तेज सोवे कि जिसमें दात भी किटकिटाये, मुखसे लार भी बहे, यह दर्शनावरण है। ये नीदके भेद हैं, ऐसी निद्रा आनेमे दर्शन नही होता। और आखिरी है स्त्यानगृद्धि, स्त्यानगृद्धिमें ऐसा होता कि सोते हुएके बीचमे कुछ काम भी कर दिया, पर उसकी सुध भी नही रहती। ऐसी नींद आप लोगोमें से किसीको आयी हो तो आप लोग जानो। हमें तो एक बार पता मिला कि हम जब विद्यार्थी अवस्थामें थे तो एक

कार ऐसी नींद आयी कि रात्रिको उठकर मंदिरका ताला भी खटखटा आये और कहींसे आकर अपने कमरेमें फिर सो गए। सबेरा होनेपर दूसरे विद्यार्थियोंने हमसे कहा कि तुम इतनी रातको मंदिरके द्वारपर पहुंचकर ताला क्यों खटखटा रहे थे ? तो हमने यही कहा कि हम तो नहीं गए थे मंदिरके द्वारपर। आखिर उन्होंने बताया कि तुम सोकर उठे और मंदिरके द्वार तक गए और फिर सो गए। अब देखो यह काम हमने कर लिया, पर हमें पता नहीं। तो ऐसे भी कोई काम कर डाले नींदमें और फिर नींद आ गई और उसे पता ही न पड़े कि क्या किया। इसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं। ये दर्शनावरणके ६ भेद हैं।

(५६०) कर्मराज मोहनीयकर्मकी प्रकृतियां—मोहनीयके २८ भेद हैं ३ दर्शनमोहनीय, २५ चारित्रमोहनीय। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्वके उदय से सम्यक्त्व नहीं हो सकता। सम्यग्मिथ्यात्वमें कुछ सम्यग्दर्शन कुछ मिथ्यात्व मिला जुला, न केवल सम्यक्त्व न केवल मिथ्यात्व, ऐसा परिणाम बनता है। सम्यक्प्रकृतिके उदयमें सम्यक्त्व तो नहीं मिट पाता, पर थोड़ेसे दोष लगते रहते हैं, जिन्हें कहते हैं चल मलिन अगाढ़। ये हैं तीन दर्शनमोहनीय। चारित्रमोहनीयमें मुख्य है अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। मिथ्यात्वका बंध कराने वाली कई भवों तक बैर रखने वाली अनन्तानुबंधी कषाय है। सुकुमालके बहुत पहले भवोंकी बात है। कोई घटना हुई ऐसी कि सुकुमालके जीवने अपने बड़े भाईकी स्त्रीका याने अपनी भाभीका अनादर किया। शायद एक लात मार दिया था तो उस स्त्रीने ऐसा निदान बाँधा कि मैं इस लातका बदला लूंगी। आखिर कुछ भवों तक वह बदला न चुका सकी। जब वह पुरुष तो हुआ सुकुमाल और यह भाभी हुई गीदड़ी (स्यालिनी) तो सुकुमाल जब विरक्त होकर वनमें तपस्या कर रहे थे तो इस स्यालिनीने उसे देखा और पूर्वभवका बैर उमड़ आया सो स्यालनी और उसके दोनों बच्चों ने सुकुमालकी जंघाका मांस खाया था। बड़ा लहूलुहान कर डाला था। पैरसे ही तो मारा था सो पैरकी जंघाका ही भक्षण किया। उस समय भी सुकुमालने धीरता रखी और आत्मध्यानमें बराबर लीन रहे। उसके प्रतापसे वह सर्वार्थसिद्धि गए। ठीक है अभी वह मुक्त न हुए, कुछ थोड़ी सी कसर रह गई थी, मगर होगा सर्वार्थसिद्धिका स्थान कहाँ है ? स्वर्गोंसे ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, फिर ५ अनुत्तरमें बीचका सर्वार्थसिद्धि है। कि तैंतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के सुख भोगकर बादमें मनुष्य होकर मोक्ष चले जायेंगे। तो ऐसी कषाय अनन्तानुबंधी होती है जो कि भव भव तक साथ चलती है। इससे किसी भी जीवसे कषाय न बढ़ाना चाहिए, खुद गम खा लें, धीरता धारण कर लें, ऐंठ न बगरायें, क्योंकि यह तो संसार है। कहाँ ऐंठ चल सकती इस जीवकी ? तो जो सम्पत्तिके गर्वमें आकर ऐंठ चला करती है वह बुरी चीज

है। इसके मायने यह नहीं है कि वह कायर बनकर रहे, किन्तु अन्याय न करे, इतनी ऐंठ न बनाये कि जिससे दूसरे जीव निरपराध दुःखी होवें। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, जिस कषायमे श्रावकका व्रत न हो सके, इस कषायसे मिथ्यात्वका बंध नहीं होता, पर श्रावकका व्रत न हो सके, इस प्रकारकी कषायका उदय है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इस कषायके उदयमे महाव्रत नही हो सकता। उससे तो कम रही कषाय फिर भी तेज है। सकलव्रतके भाव नही बनते। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—जो संयमका घात तो न करे, मगर उसके साथ चलती रहे कषाय जिससे कि यथाख्यात चारित्र न बनेगा। पूरा संयम न हो पायगा वह है संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। ये कर्मोंके नाम बोले जा रहे, यह जीव कर्म बाँधता है, तो उनके उदयमे ऐसा फल प्राप्त होता है। हास्य—हँसना, दूसरेका मजाक करना यह हास्य कषायके उदयसे होता है। रति— इष्ट वस्तुमे प्रेम करना, अरति— अनिष्ट वस्तुसे द्वेष जगना, शोक— रंज होना, भय— डर, जुगुप्सा— ग्लानि और पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद याने कामवासना होना, ये सब मोहनीयके भेद हैं।

(५६१) **जिनभावनायुक्त भव्य जीव द्वारा उच्छेद्य घातिया कर्मोमे अन्तराय कर्मकी प्रकृतियां**—अंतराय ५ प्रकारके हैं— (१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय, दानके भाव न हो सकें वह दानान्तराय है, या दान देनेमे विघ्न बन जाय वह दानान्तराय है एक भाईकी बात है कि वह बड़ा धनिक था मगर अपने हाथसे वह दान न कर पाता था और उसका भाव यही रहता था कि मेरा धन किसी अच्छे काममे खर्च हो। यदि कोई घरका व्यक्ति दान देना चाहे तो उसे वह रोकता न था। और वह खुद कहता था कि भाई हमारा धन अगर कोई किसी धर्म स्थानमे खर्च करे तो हमें उसमे कष्ट नही होता, बल्कि खुशी होती, पर हम अपने हाथो दान नही दे पाते। तो भी किसी किसीके अन्तरायका उदय होता है कि दान देनेका भाव होते हुए भी खुद किसीको दान नही देता। तो इस प्रकारकी बात दानान्तरायके उदयमे बनती है। दान करते हुए कोई विघ्न आ जाय सो दानान्तराय है। लाभान्तराय—किसी चीजकी प्राप्तिमे विघ्न आये, भोगान्तराय—पदार्थोंके भोगनेमे विघ्न आये सो भोगान्तराय। उपभोगान्तराय—जो बार बार भोगे हुए पदार्थोंके उपयोगमे अन्तराय आये सो उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय—आत्मशक्तिमें अगर कोई विघ्न आये तो वह वीर्यान्तराय है। तो ये चार घातिया कर्म हैं उनको जिन भगवान आदिक पुरुषोंने नष्ट किया।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥ १५० ॥

(५६२) **धर्म और अधर्म जिसके कि आश्रयसे मोक्षमार्ग व संसारमार्ग होता है**—जब चार घातियाकर्म नष्ट हो गए तब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हो गया। जब तक जीवके मोह है तब तक शांतिकी कल्पना मत करो। शान्ति से हाथ धोये बैठे रहो। मोहपर विजय हो तब मोक्षमार्गका प्रारम्भ है। घरमें मोह बनाये रहे और धर्म भी करता रहे ये दोनो बातें एक साथ नहीं होतीं। मोह अधर्म है। जहाँ मोह है वहाँ धर्म नही हो सकता। फिर आप कहेंगे कि तो क्या घर छोड दें? क्या घरमे रहकर धर्म न बनेगा? घरमें रहकर भी धर्म बनेगा। घरमें प्रेम किए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि परस्पर सहयोगका नाम घर है, सो राग किए बिना नहीं रह सकते, पर मोह बिना तो रह सकते। इनका अन्तर जान लो। मोह न रखे और बने रहें घरमें, तो भी धर्म हो जायगा, मगर मोह है तो धर्म नहीं हो सकता। मोह और रागमें अन्तर क्या है? मोहमें तो यह भाव रहता है कि अनन्त काल तक मुझे ऐसा ही सुख मिले, कुटुम्ब मिले, धन मिले, यह ही सार है, ऐसा भीतरमे भाव रहता है मोहमें, और रागमें—जो मोह रहित राग है वहाँ यह चेत रहती है कि ये सब जीव जुदे हैं, स्वतंत्र हैं, ये अपने कर्मसे सुख दुःख पाते हैं, मेरे ये कुछ नहीं लगते। इतना जानकर भी घरमें अगर राग न रखे तो फिर खाना भी न मिलेगा, घरमें रहना दुस्वार हो जायगा। सो राग रखना भी पड़ता है। तो मोह न होकर राग रहे वह है निर्मोह-राग। और मोह रहे तो अज्ञान है।

(५६३) **मोह व रागके अन्तरका एक दृष्टान्त**—राग व मोहके अन्तरका परिचय आप एक बीमारीसे ले सकते हैं। जब आप कभी बीमार होते, बुखार होता तो उस बुखारमें आप बडा आराम भी तो चाहते। डाक्टर भी बुलवाते, अच्छा गद्देदार पलंग भी चाहते, और और भी सब प्रकारके आराम चाहते है। दवा समयपर मिले, तो बीमार अवस्थामें बताओ आपको दवासे राग है कि नही? राग है पर उस दवासे मोह भी है क्या? नही है मोह। मोह तो तब कहलाता जब आपका यह आशय रहता कि बडा आनन्द आ रहा है। खूब दवा मिल रही है। ऐसी दवा मुझे जिन्दगी भर मिले ऐसा भीतरमें भाव हो तो समझो कि आपको दवा से मोह है। पर ऐसा भाव तो किसीका नही रहता, तो समझो कि दवासे आपको मोह नहीं रहता। बल्कि वहाँ आपका यह भाव रहता है कि जल्दी ही दवा पीना मेरा छूट जाय, इसी लिए समय समयपर दवाई लेनेका बड़ा ध्यान रखते। यदि दवासे आपको मोह होता तो आप का यह भाव रहता कि दवा मेरी कभी न छूटे, दवा छूटनेकी कभी कल्पना तक न होती। तो इससे आप यह जान लें कि मोह और रागमें क्या अन्तर है। आप डाक्टरसे बड़े प्रेमसे बोलते और उसे रुपये भी देते, इतना प्रेम है आपको डाक्टरसे, मगर यह तो बताओ कि उस डाक्टर

से आपको मोह है क्या ? नहीं है मोह। मोह तो तब कहलाता जब यह भाव रहता कि यह डाक्टर मेरेको बहुत प्यारा है, यह रोज रोज मेरी दवा करता रहे, मेरेसे यह कभी न छूटे। पर इस प्रकारका भाव तो कोई नही रखता, बल्कि मनमे यह बात सदा बनी रहती कि कब मेरा यह झंझट छूटे, कब मेरा यह दवा लेना बन्द हो और मैं प्रति दिन मील दो मील जगह घूम आया करूँ। तो मोह नही है डाक्टरसे। मगर राग है। मोहमे और रागमें क्या अन्तर है सो बतला रहे हैं।

(५६४) मोहरहित राग—जैसे किसी लडकीका विवाह हुए मानो कुछ दिन बीत गए, दो चार बार ससुराल हो आयी फिर भी जब वह ससुराल जायगी तो रोकर जायगी। और, भीतरमें यह भाव भरा है कि मैं जल्दी अपने घर पहुचू, बरसातके दिन है, कही पानी चू या न रहा हो, कोई चीज खराब न हो जाय, सो भीतरसे तो ससुराल जानेकी उमंग है पर उसे रोना पड़ता है, क्या करें, परिस्थिति ही कुछ ऐसी है। तो अब वह जो रोया घर छोड़नेके लिए तो उसमें क्या मोह काम कर रहा ? अरे उसमे मोह नही काम कर रहा, उस में तो राग है। काहेका राग ? लोकलाजका राग। लोग क्या कहेगे कि देखो इसको अपना घर छोड़नेपर जरा भी दुःख नही हो रहा, इस लोकलाजके कारण उसे रोना पडता है, पर अन्दरसे उसे मोह नही है। तो मोह और रागमें अन्तर बताया जा रहा है। अनेक घटनायें आपको ऐसी मिलेंगी कि राग तो है पर मोह नही। और भी देखिये—जब किसी बारातकी निकासी होती है तो उसमे दूल्हा घोडेपर चढ़कर चलता है, उसे घुडचढी भी बोलते। तो वहां क्या होता कि उस दूल्हेके साथ साथ पास पड़ोसकी बहुत सी स्त्रिया गीत गाती हुई चलती हैं—मेरा दूल्हा बना सरदार, राम लखन सी जोडी आदि, वे स्त्रियां उस दूल्हेको बहुत मेरा मेरा करती हैं मगर यह तो बताओ कि उनको उस दूल्हेसे जरा भी मोह है क्या ? मोह बिल्कुल नही है, हां राग अवश्य है। राग भी किस चीजका ? सम्भव है कि जो छटाक आध-पाव बतासे मिलेंगे उनका राग हो। उन्हे उससे मोह नही रहता। मोह रहता उस दूल्हेकी मां को, जिसको कि उस दूल्हेके पास खडे होनेकी भी फुरसत नही, उससे बोलनेकी भी फुर-सत नही। उसके सामने इतने काम रहते कि वह उन्हीको निपटानेमे पडी रहती है। अब आप इस बातपर विचार करें कि मान लो कदाचित् वह दूल्हा घोड़ेसे गिर जाय और उसकी टांग टूट जाय तो कौन रोवेगा ? उसकी मां या वे पास पड़ोसकी स्त्रियां ? अरे उसकी मां ही रोवेगी, पास पड़ोसकी स्त्रियां न रोवेंगी। तो समझमे आया कि उन पास पड़ोसकी स्त्रियोंको उस दूल्हेसे मोह नहीं है, किन्तु राग है। राग और मोहमे इस प्रकारका अन्तर है।

(५६५) प्रभुके अनंत ज्ञान दर्शन, बल व आनंद—यहां यह बात कह रहे कि या [illegible]

कर्मोंका नाश होनेपर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत शक्ति और अनन्त आनंद प्रकट होता है। ज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जान लिया लोक मायने जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्य रह रहे और जहां सिर्फ आकाश ही आकाश है, अन्य द्रव्य नहीं है वह तो है अलोकाकाश। तो भगवान लोकको भी जानते, और अलोकको भी जानते। इतना ही उनका दर्शन है और ऐसी ही अनन्त शक्तिया हैं, और ऐसा ही अनन्त आनन्द है। घातिया कर्मके नष्ट होनेपर ये चार अनन्त गुण प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जानता है और ऐसा ही जाननेके लिए खुदका दर्शन किया तो उतना ही दर्शन बन गया। और ये ज्ञान दर्शन अनन्त चल रहे, नही थके, एक समान चल रहे यह है अनन्त बल और अनन्त आनन्द है जिसमें आकुलता रंच नहीं।

(५६६) प्रभुके आनन्दका साधारण अनुमान—सिद्ध भगवानके कितना सुख होता है ? अनन्त सुख। एक इस तरह भी सोच सकते कि चक्रवर्तीके जितना सुख होता है उससे अधिक होता है भोगभूमियामें पैदा हुए मनुष्यके। कुछ ध्यानमें लावो, जिसका छह खण्डका राज्य है, चक्रवर्ती है, उसको तो लोग बडा सुख मानते हैं, उस सुखसे भी अधिक सुख है भोगभूमिया मनुष्यमे। भोगभूमिया मनुष्य वह कहलाता कि जहाँ जुगुलिया तो पैदा हों, याने लडका लडकी ये दो एक साथ पैदा हों और जैसे ही वे पैदा हुए वैसे हो माता पिता मर गए। यह भोगभूमियाके सुखकी बात बतला रहे हैं। अगर माता पिता उन बच्चोका मुख देख लें तो उनको दुःख रहेगा। और उन बच्चोकी स्वयं ही परवरिस होती है अपने आप। भोगभूमिका क्षेत्र ऐसा है, वहाँ सांसारिक दृष्टिसे बहुत सुख है, और उनसे अधिक सुख है देवों के। और इन सब सुखोको जोड लें। तीनो कालोंमे जितना सुख भोगा होगा हो ऐसे जीवों ने, उस सुखसे भी अनन्तगुणा सुख है भगवानके। उस सुखकी जाति ही निराली है। यहांके सुख तो हैं दुःखसे भरे हुए। भगवानका सुख है दुःखसे अत्यन्त रहित, ऐसा उनका अनन्त सुख है। यह सब जो प्रताप बतला रहे हैं यह सम्यक्त्व सहित चारित्रका प्रताप है।

(५६७) मिथ्यात्व, अव्रत, दुराचारके योगमें विशेष दुर्गति— मिथ्यात्वके मायने है कि आत्माकि स्वरूपकी सुध न हो और देहको और कषायको ही माने कि यह ही मैं हू तो ऐसा जिसके मिथ्याभाव लगा है उसको मोक्षमार्ग नहीं मिल पाता। पहले मोक्षमार्गका दर्शन तो हो फिर कषायोंको ढीला करके जो करने चलेगा तो जब तक मिथ्याभाव है, मोह है। अज्ञान है तब तक मोक्षमार्ग नहीं। धर्मकी प्रवृत्ति नही, शान्ति नहीं। भले ही मिथ्यात्व भी है। उसे कौन जानता फिर भी अगर व्रत धारण करे, कुछ थोडा तपश्चरण करे, स्वाध्याय आदिक करे तो उसके पुण्य बंध तो होगा ही होगा जिससे आगे सद्गति मिलेगी। बाकी

फल नहीं मिलेगा । अगर सम्यक्त्व भी नहीं है और उससे इन पुण्यकी क्रियावोंसे शून्य करे तो उसकी तो दुर्गति निश्चित है । अन मिथ्यात्व हो तो करे न हो तो करे, अज्ञानी है तो भी संयम धारण करे, न होगा वह भावमयम, न मिलेगा मोक्ष मार्ग पर संयम धारण करनेसे गति तो आगे सुधरेगी और मान लो पापसे, हिंसासे, असतसे दुर्गतिमें गए तो फिर क्या कर सकते । तो व्रतोंका पालन इस दुर्लभ मनुष्यजन्ममें बहुत आवश्यक है ।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो विय परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुड ।।१५१।।

(५५८) ज्ञानी शिव परमेष्ठी—उस सहज ज्ञानानन्द स्वभावके आलम्बनसे जो भीतर पवित्रता बनी है उस पवित्रताके कारण चार घातिया कर्मोंका नाश होने पर प्रभु भगवान बन जाते हैं । इसका नाम है सकल परमात्मा । स मायने सहित, कल मायने शरीर शरीरसहित परमात्मा । ये कई नामोंसे पुकारे गए । १००८ नाम सहस्र नाममे प्रसिद्ध ही हैं । यहाँ भी ये कुछ नाम कह रहे हैं । प्रभु ज्ञानी हैं, मायने ज्ञान ज्ञान ही है, ज्ञानसिवाय अन्य कुछ नही रहा । जैसे संसार अवस्थामें उस ज्ञानमे कुछ कमियाँ थीं, दोष था, राग-सहित थे, अब वे कोई विरोध न रहे, सिर्फ ज्ञानमय ही हैं । ये प्रभु शिव हैं । शिव कहते हैं कल्याणको अथवा शिवति गच्छति जो सबसे ऊपर गया है उसको कहते हैं शिव । कल्याण-मय है । आत्मा अपने सही स्वरूपमें रहे वहाँ सब कल्याण ही कल्याण है । प्रभु परमेष्ठी हैं, परम पदमें स्थित हैं । अरहतसे बडा पद इस लोकमे कोई नही है । प्रभु हैं, भगवान हैं, सिद्ध भगवान ये अपनी इस दुनियामे नही हैं । ये लोकके अग्रभागपर स्थित हैं । ये अपनेको दिखते हैं, हैं वे लोकमें ही, पर यहां मनुष्योको किसीको मिल जायें, दिख जायें ऐसा न ी है । तो लोकका उत्तम पद है अरहत भगवानका । हम आप स्वय यह आत्मा अपने सहज स्वरूपको देखें तो यही ही बात समझमे आयगी कि ये अरहन सिद्ध होना योग्य है । यहाँ हम आप स्वरूपमें सिद्धस्वरूप हैं, पर आवरण होनेसे ससारमे रुलते हैं । प्रभु अरहत देव परमपदमें स्थित होनेसे परमेष्ठी हैं ।

(५५९) सर्वज्ञ विष्णु चतुर्मुख—अरहत भगवान सर्वज्ञ हैं, जो भी सत् है सबके जाननहार हैं । ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि जो है सो ज्ञानमे आ जाय और ये सभी पदार्थ प्रमेय कहलाते । चूंकि सत् हैं इसलिए नियमसे भगवानके ज्ञानमें ज्ञेय हैं । जो भगवान के ज्ञानमें ज्ञेय ही नहीं वह है ही नही । जो है वह नियमसे भगवानके ज्ञानमें ज्ञेय है, इस कारण प्रभु सर्वज्ञ हैं । अरहंतको विष्णु कहते हैं । जो ज्ञान द्वारा समस्त लोकालोकको व्याप जाये उसे कहते हैं विष्णु सो प्रभुका ज्ञान सारे लोकको जानता, अलोकको जानता, ज्ञान-

मुखेन इतना बड़ा विस्तार है प्रभुका । इसी कारण प्रभु विष्णु हैं । प्रभुका नाम है चतुर्मुख । समवशरणमें चारों ओर श्रोतागण बैठते हैं । उनके बारह सभायें गोल गोल बनी हुई हैं, जो किसी भी ओर श्रोता हो उसे भी भगवानका मुख दिखेगा । सामने हो उसे भी दिखेगा, पीठ पीछे हो उसे भी दिखेगा, भगवानके चारों ओर बैठे हुए जीवोंको भगवानका मुख दिखता है । इसी कारण भगवान चतुर्मुखी कहलाते हैं । चारों ओर उनका मुख है अथवा उनके ज्ञानका मुख चारों ओर है । सब ओरके पदार्थोंको वे जानते हैं ।

(५७०) बुद्ध, कर्मविमुक्त परमात्मा—निज सहज स्वभावके आलम्बनके प्रसादसे आत्मामे बसा हुआ अतुल वैभव प्रकट हो जाता है और बाह्य पदार्थोंमें लगाव और आशा रखनेके कारण उपयोग मलिन रहता है, कर्मबन्ध करता है और संसारमें रुलता है । तो जिन भव्य जीवोने निज सहज स्वभावका आलम्बन लिया वे पुरुष परमेष्ठी हुए, वे बुद्ध हैं । पूर्ण बोध है उन्हें । केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकके जाननहार हैं । ऐसे ये परमात्मा कर्म-विमुक्त होते हैं । जो शेष रहे अघातिया कर्म हैं वे भी यहाँ दूर हो जाते हैं, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय यह है पूज्य आत्मा । जिसका स्वभाव अपराधका नहीं है और वह देहके जालमें पडा हुआ है, कर्मकी कैदमें बसा हुआ है । जिस क्षण यह देहकी कैदसे छूटता है, कर्मकी कैदसे छूटता है तो उसे अतुल वैभव प्रकट हो जाता है । ऐसे चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर ये आत्मा प्रभु होते हैं ।

इय घाइकम्मुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवणभवणपईवो देउ मम उत्तमं बोहं ॥१५२॥

(५७१) सकलपरमात्माकी अष्टादश दोषवर्जितताके प्रकरणमें जन्मदोषरहितताका वर्णन—इस प्रकार ये चार घातियाकर्मसे रहित हुए और १८ दोषोंसे रहित हुए ये तीनों लोकके प्रदीप हो जाते हैं । तो ऐसे सकलपरमात्मा मुझको उत्तम ज्ञान प्रदान करें । वे १८ दोष कौनसे हैं, इसका वर्णन समंतभद्राचार्यने किया है और हिन्दीमें भी इससे सम्बंधित जो निम्नलिखित दोहे हैं—जन्म जरा तिरषा क्षुधा विस्मय आरति खेद रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिन्ता स्वेद । राग द्वेष अरु मरणजुत ये अष्टादश दोष । नाहि होत अरहंतके सो छवि लायक मोष । जन्म नहीं, जन्म होना बहुत बडा दोष है । मूलसे देखो तो इस जीवको अपना जन्म पसंद नहीं, कोई उमंग नहीं । जन्म समय उसे बडा दुःख होता है । उसे तो कुछ खबर ही नहीं । जो जन्मता है उस मनुष्यकी जन्म समयमें खुशी बिल्कुल नहीं होती, यह खुशी तो आप लोग ही मनाते हैं । पुत्रके जन्मका एक बडा समारोह करते हैं और उस जन्म लेने वाले बेचारे बच्चेको कुछ भी सुध बुध नहीं । उसमें तो कुछ भी उमंग नहीं होती, किन्तु वह जीव

दुःख मानता है और दूसरेके जन्मको सुनकर वह सुख मानता है। जन्म तो दोष है, पर यह सब मोहकी लीला है। आत्माका सिवाय आत्मस्वरूपके अन्य कुछ नहीं है। कौन किसके कैसे हैं? ये मोहसे। न जाने किन किनको यह जीव अपना मानता है, यही तो मेरे खास हैं ऐसा समझता है। जहाँ ऐसी श्रद्धा बिगडी हो वहां कष्ट है। गुजारा करनेके लिए राग करना और बात है और भीतरमे उनको अपना समझना यह बडा कलंक है। यह जीव पक्षीकी भाँति आज यहां है, कल कहीं है, इसका क्या रखा है बाहर? हाँ गुजारा करने के लिए व्यवहार और राग किया जाता है किन्तु उनको अपना सर्वस्व मान लेना—यह एक कलंक है, जिसके कारण इस जीवको अज्ञान अधेरा छाया है, ससारमें जन्म मरणके दुःख पाता है। तो जन्म एक बड़ा दोष है। जन्मके बाद किसीका कल्याण नही होता, बल्कि मरणके बाद कल्याण होता है। अरहंत भगवानके मरणको लोग निर्वाण कहते हैं। वह शरीरसहित परमात्मा हैं। उनके आयुका उदय है। जिस समय आयु पूरी होती है अरहत भगवानकी तो उनको मोक्ष मिलता है। तो मरेके बाद कल्याण तो मिल गया, मगर जन्मके बाद तुरन्त कल्याण किसको मिला? तीर्थंकर भी जन्मे, पर जन्मके बाद वे पवित्र तो नही हुए, अष्ट कर्म रहित तो नही हुए, बच्चे हैं रहते हैं, तीर्थंकरोकी शादी भी होती है, तीर्थंकरोके पुत्र भी होते हैं, राज्य भी होता है तो यह कोई कल्याणकी बात नही। भले ही वे मोक्ष जायेंगे, भगवान बनेंगे, सो हम उनके जन्मके भी गुण गाते हैं, पर यदि आगे ये भगवान न बनते तो जन्मके गुण कैसे गाये जाते? जैसे अनेक जीव जन्म लेते वैसे ही उन्होने भी जन्म ले लिया। तो जन्मके बाद कल्याण किसीका नही होता, मरणके बाद कल्याण हो सकता है। एक बात, दूसरी बात यह कि जन्मके समय समतापरिणाम किसीने भी नही रखा है, और कोई ज्ञानी हो तो मरणके समय समतापरिणाम रख सकता है, समाधिमरण कर सकता है। पर समाधिजन्म किसीका नही होता। तो जब जन्मके समय समतापरिणाम होता नही किसीके तो समताका ही तो नाम कल्याण है। रागद्वेष न रहना इसे कल्याण कहते हैं। जन्मके समय रागद्वेषका अभाव किसीके नही होता। मरण समयमे रागद्वेष न करें, इस पर कुछ बल चलता हैं, गुरुजन भी उपदेश करते है, उससे वह अपना ज्ञानबल सभालता है। तो यहाँ यह बात बतला रहे हैं कि मरणसे जन्म बुरा है। यह बात उसकी कह रहे जो अपना कल्याण करेगा। हाँ इस जिन्दगीमे जीकर वह अपने कल्याणका उपाय बना सकता, मगर कल्याण अभी नही हो पाया। मोक्ष मिलेगा उसे आयुक्षयके बाद। जब तक आयुका उदय है तब तक जीवको मोक्ष नहीं मिलता। तो यहाँ यह बतला रहे कि जन्म एक दोष है।

(५७२) जरा तृषा क्षुधा विस्मयका प्रभुमें अभाव—जरा (बुढ़ापा) यह बड़ा दुःखमय है। शरीर शिथिल हो गया, इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, कोई परवाह नहीं करता, तो यह एक दोष है, तृषा-प्यास लगना दोष है। प्यास लगे बाद जब पानी मिलता तो आनन्द तो मानता यह जीव, मगर वह आनन्द कहाँ? उस दुःखकी थोड़े समयको शान्ति है, फिर दुःख हो जायगा। और, ऐसा पानी मिलनेसे क्या लाभ कि पहले फड़के फिर पानी मिले, फिर कल्पना करे, सुख मिले, फिर प्यास हो जाय, फिर पानी ढूँढे तो यह दोष है। सिद्ध भगवान के शरीर नही है। सारे दोष उनके दूर हो गए, भूख-क्षुधा, खानेकी इच्छा यह भी दोष है। अरहंत भगवानके १८ दोष नही हैं, यह बात बतला रहे हैं। अरहंत भगवान न प्यासे होते, न भूखे होते, कितनी एक विलक्षण बात है कि शरीर बना हुआ है और करोड़ों वर्षों तक अरहंत भगवान बिना खाये पिये विहार करते हैं, दिव्यध्वनि खिरती है, उपदेश होता है। तो बात यह जानें कि खानेसे ही जीवन टिकता है यह नियम न रहा। आयुका उदय बना रहने से जीवन टिकता है। अब इसे लोग अपने ऊपर घटाते हैं, सो ऐसा लगता है कि खाये बिना कोई शरीरमे कैसे रहेगा? तो यह अपनी निगाहसे परखनेकी बात है, किन्तु अरहंत भगवान जिनका शरीर निर्दोष हो गया उनके क्षुधा तृषाकी पीड़ा नही होती। विस्मय-आश्चर्य भी नही होता। आश्चर्य उन्हें होगा जो जानते नहीं है, और कोई बात विलक्षण दिख गई तो आश्चर्य होता है। भगवान तो सब जान रहे हैं। जब सब ज्ञात हो गया है तो किसी बातपर उसे आश्चर्य नही हो सकता।

(५७३) प्रभुके पीड़ा, खेद, शोक, मद मोह भयका अभाव—प्रभुको किसी प्रकारकी खेद पीड़ा नही। अनिष्टसे अप्रीति नहीं है, अनिष्ट ही कुछ नही है। सबके ज्ञाता द्रष्टा हैं, रोग नही, शोक नही, घमंड नही, मोह नहीं, ऐसा जो यह चारित्र सम्बंधी दोष है वह भी नहीं, शरीरसम्बन्धी दोष है वह भी नही। देखो मुनि अवस्थामे शरीरमें निगोदिया जीव बहुत रहते थे। जैसे कहते हैं ना कि आलू शकरकंदीमें निगोदिया जीव हैं और हम आपके शरीरमें भी अनन्त निगोदिया जीव हैं। तो जो मुनि हैं उनके शरीरमे भी निगोदिया जीव हैं। पर उन मुनियोंके जब समाधि साधनाके बलसे मोहनीय कर्म दूर हो जाते हैं, १२ वें गुणस्थानमें आ जाते हैं तो उनके शरीरमें निगोदिया जीवोंका जन्म होना बंद हो जाता है। जो रहे हैं वे सब चले जाते हैं। और इसीलिए बतलाया कि भगवानका शरीर पवित्र है स्फटिक मणिकी तरह। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। जैसे—स्फटिक मूर्तिकी छाया नहीं पड़ती, कांचकी भी छाया नहीं पड़ती। दोनों ओरसे साफ कांच हो और धूपमें रख दिया जाय तो कहाँ छाया पड़ेगी? मानो थोड़ीसी छाया पड़ भी गई हो, मगर भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती,

उनका देह स्फटिक मणिकी तरह हो जाता है। निगोदिया जीव समाप्त हो जाते, धातु उप-धातु भी सही शुद्ध रूपमें हो जाते।

(५७४) प्रभुके निद्रा चिन्ता स्वेद राग द्वेष मरणका अभाव—प्रभुके नींद नहीं, पलक नहीं भपती करोड़ों वर्ष भी वे अरहंत अवस्थामें रहते हैं, मगर निश्चल होती उनकी पलक, जैसा कि अर्द्ध उठा हुआ सूर्य रहता है। कितना उनका अनन्त बल है? अब यहीं देख लो, किसीसे कहे कि तुम अपनी आँखोंकी पलक न भांजो, न उठावो, न गिरावो, ज्योंकी त्यों रखो तो भले ही कोई इस तरहसे करनेकी कोशिश करे मगर वह सफल नहीं हो सकता। हाँ कोई समर्थ पुरुष हो तो वह जरा देर तक एक पलकसे देख सकेगा, मगर फिर ज्योंका त्यों, और कमजोर पुरुष तो तुरन्त ही पलक भांज लेगा। पर भगवानके नेत्र अर्द्धमीलित निश्चल रहते हैं। भगवानके निद्राका दोष भी नहीं होता, पसेव (पसीना) भी उनके शरीर से नहीं निकलता। उनके मोहनीय कर्म नष्ट हो गए इसलिए रागद्वेष भी उनमें नहीं होता और उनके मरण भी नहीं। यद्यपि आयु कर्मके क्षयका नाम मरण है और उसे कहते हैं पंडितपंडितमरण। अरहंत भगवान मोक्ष जाते हैं तो उसे चाहे यह कहो कि उनका निर्वाण हो गया, चाहे कहो पंडित-पंडितमरण हो गया, दोनोंका एक ही अर्थ है, पर चूंकि हम आप लोग मरण शब्दको बुरा समझते हैं, सो अरहंत भगवानके नाममें मरण शब्द नहीं जोड़ना चाहते। उसे निर्वाण शब्दसे कहते हैं, पर मरण लोकव्यवहारमे उसे कहते हैं कि जिसके बाद जन्म हो वह मरण। प्रभुका आगे जन्म तो होगा नहीं, इसलिए उनके इस मरणको निर्वाण कहते हैं अथवा जो मरणके बाद जन्म हो ऐसा मरण नामका दोष अरहंत भगवानके नहीं होता। इस प्रकार १८ दोषोंसे रहित ये अरहंत भगवान तीनों लोकके भवनके प्रदीप हैं अर्थात् तीनों लोकके ज्ञाता हैं, सो उनके गुणोंके स्मरणके प्रसादसे मेरेको उत्तम बोधि प्राप्त हो। मेरेको वह कुञ्जी रूप बोध मिले जिसके प्रसादसे यह केवलज्ञान अवस्था प्रकट होती है। वह क्या है? आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका बोध होना।

जिणवर चरण बुरुह णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

(५७५) परमभक्तिसे जिनवरचरणाम्बुरुहमें नमने वालेके जन्मलताका छेद—जो भव्य पुरुष उत्कृष्ट भक्ति अनुरागसे जिनेन्द्र भगवानके चरणकमलको नमस्कार करते हैं वे उत्तम भावरूपी शस्त्रके द्वारा संसाररूपी लताको मूलसे उखाड़ फेंक देते हैं। जिनेन्द्र [illegible] में भक्ति कब होती है जब खुदको वैराग्य प्यारा हो। जिसको जगतके वैभवोंमें राग [illegible] है,

मोहमें जिसकी धुन है उसके चित्तमें जिनेन्द्र भगवानके प्रति भक्ति नहीं उमड़ सकती और ऐसे लोग जो कोई भक्ति करने आते हैं तो उनकी वह भक्ति नहीं है, किन्तु अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए आते हैं। मेरा यह काम बने, मेरे घरके सब लोग सुखी रहें, ऐसी ही कुछ अभिलाषाओंको लिए हुए मिथ्यात्वको पुष्ट करने आते हैं। मिथ्यात्वको पुष्ट करनेका अर्थ क्या है ? भगवान तो वीतराग हैं, अपने ज्ञानानन्दमें लीन हैं, किसीसे कुछ लेन देन नहीं है, "सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन।" समस्त ज्ञेयोंके जाननहार हैं फिर भी अपने आनन्दरसमें लीन हैं। प्रभुका स्वरूप तो यह है और ये उनसे कुछ मांगते हैं, ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि भगवान मुझको कुछ रोजिगार देंगे, हमारा अमुक काम करा देंगे, तो ऐसी जो मान्यता बनी है वह सब मिथ्याभाव है, वह तो अपना मिथ्यात्व ही पुष्ट करना है। जिसको निजको निज परको पर जाननेकी बुद्धि नहीं जगी उससे जिनेन्द्रभक्ति कहाँसे बनेगी ? जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति उसी पुरुषके है जिसने अपने सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय पाया है और उस ही स्वरूपकी प्राप्तिकी उमंग है, सो जो जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करते हैं वे इस जन्मरूपी लताको मूलसे, जड़से काटकर फेंक देते हैं। उनका फिर जन्म नहीं होता।

(५७६) जन्मोच्छेदके पौरुषका एक उदाहरण—देखो जन्म न होवे इसकी औषधि बड़ी सुगम है, मगर मोहका ऐसा आतंक छाया है कि ऐसे सुगम उपायोंको भी हम कर नहीं पाते। वह सुगम उपाय क्या है ? जन्म जैसे कठिन पदको नष्ट करनेका ? वह उपाय है देहसे अत्यन्त निराला मात्र ज्ञानस्वरूप। इस रूपमें अपनेको निहारना, अनुभवना, समझना यह है जन्म जरा मरणमय ससारसे मुक्ति पानेका उपाय कितना सुगम है ? अपने भीतर ही निहारना है—यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हू। देह अचेतन है यह अत्यन्त पृथक् है, कर्म भी अचेतन हैं। जो रागद्वेष जगते हैं वे औपाधिक भाव हैं, छाया माया हैं। मैं तो मात्र चैतन्य-स्वरूप हू, इसपर कोई डट जाय, और दृढ़ हो जाय तो मोक्ष क्यों न मिलेगा, मिलकर ही रहेगा और जो डट गए हैं इस बातपर उन्होंने मोक्ष पाया। सुकौशल मुनि जो छोटी आयुमें ही मुनि हो गए थे और कैसी स्थितिमें मुनि हुए थे कि सुकौशलका विवाह ही गया था, उनकी स्त्रीके गर्भ था और कारण पाकर वह विरक्त हो रहे थे, तो उस समय उनके मंत्रियों ने बहुत समझाया कि तुम्हारा पहली संतान होनी है उसको हो जाने दो और उसे कुछ समर्थ कर दो, बादमें दीक्षा धारण करना परन्तु जिसने निज सहजज्ञानस्वरूपका अनुभव किया, आनन्द पा था उसको दूसरी बात रुच नहीं सकती। जब बहुत जोर दिया तो सुकौशलने कहा अच्छा जो गर्भमें संतान है उसीको राजतिलक मैंने कर दिया। ऐसा कह कर जाकर दीक्षा ले ली। वह सुकौशल मुनि ध्यानस्थ बैठे थे। सुकौशलकी माताको बहुत रंज हुआ कि मेरा

पति भी मुनि हो गया और मेरा पुत्र भी। तो उसको इस सम्बन्धमें बड़ा आर्तध्यान रहा। उस आर्तध्यानके क्रममें मरकर वह सिहनी हुई। और इस सुकौशलको ध्यानस्थ अवस्थामें देखा तो पूर्वभवका वैर उमड़ आया और शेरनीने सुकौशलकी छाती और सिरको चोंथ डाला। उस समय भी सुकौशल अत्यन्त धीर रहे, शुक्लध्यानमें आये और उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। तो देखो सुकौशलकी माताने एक ही भव बदलने पर शेरनी बनकर उनको कष्ट दिया और सुकौशल अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहे, उसके प्रसादसे उन्होंने इस जन्मलताको छेद डाला। तो सुख पानेके लिए एक ही उपाय है—अपने ज्ञानस्वभावको निरखना कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलणिपत्त सहावपयडीए।

तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहि सप्पुरिसो ॥१५४॥

(५७७) रत्नत्रयभावके कारण सत्पुरुषके कषायोंसे विविक्तता—जैसे कमलिनीका पत्ता स्वभावत: जलसे लिप्त नही होता, जलमे पडा हुआ भी जलसे गीला नही होता, जलसे निकालकर बाहर देखो तो उसपर एक भी बूंद कही भी न दिखेगी, ऐसा सूखा निकलता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य स्वभावत. कषाय और विषयोंसे लिप्त नही होता। अन्य पत्तोंसे कमलिनीके पत्तोंमे बहुत खासियत है। वैसे अरबी (घुइयाँ) का पत्ता भी कमलके पत्तेकी तरह का होता है मगर उसमे वह गुण नही पाया जाता। कमलिनीका पत्ता जलमे रहकर भी जैसे जलसे अलिप्त रहता है इसी प्रकार स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इनके विषयोंमे प्रवर्तन करते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव उनमे लिप्त नही होता। वह क्या कारण है कि लिप्त नही होता? तो उसने निज सहज ज्ञानस्वभावका आनन्द पाया है और ज्ञानानुभूतिको छोड़कर अन्य कुछ भी उसे सुहाता ही नही है। फिर भी कर्मविपाकवश कुछ भोगोपभोगके साधन मिले उनमें प्रवृत्ति होती तो भी उनसे लिप्त नही होता। यह भावपाहुड ग्रथमे भावोंकी विशेषता बतायी जा रही है। जिसका उपयोग ज्ञानस्वरूपकी ओर लगा है उसकी यह चर्चा है। गप्प करने वालोंकी चर्चा नही है।

ते च्चिय भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहि।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५५॥

(५७८) दोषावास मलिनचित्तको संबोधन—ये कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे कि मैं सत्पुरुषोंको, उन्हीं कलावोंको कहूंगा जिन कलावोंके कारण यह भव्य जीव विषयकषायोंमें लिप्त नहीं होता। वे कलायें क्या हैं? शील और संयम। शील कहलाता है आत्मस्वभाव। चेतना मात्र अविकार और उस ही स्वभावमें अपने उपयोगको जुटाना, यह है संयम। तो इन शील

कंचन गुणोंके द्वारा यह पूर्ण कला प्रकट होती है। जैसे कि स्वर्णकी परीक्षा ४ बातोंसे होती है, (१) निघर्षण—याने कसौटीमें कसना, उसमें भी यदि संदेह रहा तो (२) दूसरा उपाय है छेदन—उसको थोड़ा छेद करके, काट करके देखा जाय और इतनेपर भी शंका रहे तो (३) तीसरा काम है तपन—उसको आगमें तपाकर देखा जाय और उसके बाद (४) चौथा है ताड़न। इन चार प्रकारोंसे स्वर्णकी स्वर्णमयिताकी परीक्षा होती है। ऐसे ही धर्मकी परीक्षा चार प्रकारसे है—श्रुत, ज्ञान, तर्क, और युक्तियाँ इनसे धर्म की परीक्षा होती है। शील, स्वभाव, शान्ति, ब्रह्मचर्य, अपने आपकी ओर झुकना, इन बातोंसे धर्मकी परीक्षा होती है। तीसरी बात है तपश्चरण। तपश्चरणसे धर्मकी परीक्षा होती है। और चौथी चीज है दया गुण। चित्तमें दयाका भाव है। उससे धर्मकी परीक्षा होती है। दयाशून्य हृदयमें धर्म नहीं बसता। तो इन चार उपायोंसे धर्मकी परीक्षा होती है। धर्मकी परीक्षा कहो या धर्मात्माकी परीक्षा कहो, एक ही बात है। क्योंकि धर्मात्मावोंको छोड़कर धर्म और क्या चीज है? कोई अलग पड़ी हुई चीज तो नहीं है कि यह रखा है धर्म। यह गिर गया धर्म। जो पुरुष निज सहज ज्ञानस्वभावकी आराधनामें रत रहता है वह स्वभावविकासरूप बनता है, वही धर्म कहलाता है।

ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥१९६॥

(५७९) क्षमा और इन्द्रियविजयसे आत्माका महत्त्व—वह पुरुष धीर वीर है जिसने क्षमा और इन्द्रियविजयरूपी चमकती हुई तलवारसे दुर्जेय कषायरूपी योद्धावोंको जीत लिया है, विषय और कषाय—इन दो का ही तो युद्ध है। जहाँ ज्ञानबल है वहाँ कषाय हट जाती है। जहाँ कषाय उत्कृष्ट है वहाँ ज्ञान तप जाता है। तो जिसने ऐसा ज्ञान उत्पन्न किया कि कषाय बैरियोंको जीत डाला वह पुरुष धन्य है। जो कषायके वश है वह काहेका बड़ा और जिसने कषायोंको जीत लिया उसका भाव है बड़ा। ऐसे पुरुषपर चाहे कितने ही उपद्रव आयें, उपसर्ग आवें फिर भी वह किसीका अहित नहीं विचारता। और न वह किसीके साथ छल कपट का प्रयोग करता है, क्योंकि इसका सीधा उपाय तत्त्वज्ञानका मिल गया है। बड़ा नाम धरा न उसका, जो उड़दकी दालका बनाया जाता। अब उसका बड़ा नाम क्यों धरा सो सुनो—तो बड़ा नाम उसका इसलिए रखा गया कि जब बहुत चोटें झेल लेता है वह उड़द तब उसका नाम बड़ा पड़ता है। खेतमें बूब गया, फिर काटा गया, फिर उसपर बैलोंसे दांय की गई, फिर चाकसे उसके दो टूक किए गए, फिर उन टूक किए गये दोनोंको शामको पानी में भिगोया गया, रात भर पड़ा रहा, फिर सुबह हाथसे रगड़-रगड़कर उसका छिलका उतारा

गया, तब वह साफ बना। फिर इसके बाद सिलबट्टेपर उसे रगड़ा गया, फिर उसमें नमक मिर्च बुरका गया, फिर उसकी गोल गोल लोई बनाकर उसकी शक्ल बिगाडी गई, फिर उस को जलती हुई तेज तेलकी कडाहीमें पटका गया, वह बेचारा बडा उस तेलमें पककर खूब फूल गया, इतने पर भी लोग नहीं मानते, उसके पेटमें एक लकडी घुसेडते, यह देखनेके लिए कि वह पका या नहीं, इसके बाद भी उसे मट्ठेमे भिगोया तब उसको खाया। इतने इतने कष्ट उठानेके बाद वह 'बडा' कहलाया। यहाँ लोग बडा तो कहलवाना चाहते, मगर किस तरह कि खूब आराममें रहकर विषयोके साधनोमें रहकर बडा बनना चाहते हैं। अरे बडा बनना है तो उस बडेकी तरह बडी-बडी चोटें तो आने दो अपने ऊपर तब कही बडा कहला सकोगे। सो जिनके ज्ञानबल है उनके धीरता है और वीरता है। भोगना भोग बडा आसान, भोग तजना शूरोका काम। सो यह विषय विरक्ति उसीके हो बन सकती है जिसको अविकार ज्ञानस्वभावका अनुभव बना, स्वाद आया और एक ही निर्णय है कि यह ही ज्ञानस्वभावकी अनुभूति श्रेष्ठ उपाय है, कर्तव्य है कि जिसके प्रसादसे हम उत्कृष्ट पदमे पहुच सकते हैं। तो क्षमा और इन्द्रियविजय—इन दो गुणोंका निर्देश किया है इस गाथामे।

(५८०) क्षमा और इन्द्रियविजयसे सर्वजीतपना—अब समझ लीजिए खुदमें कि दूसरे छोटे लोग बडे लोग कुछ भी हमपर जुल्म ढाते हों या कटुक व्यवहार करते हो तो उनके प्रति क्षमाका भाव जगता या नही। दूसरे इन्द्रियविजयकी बात देख लो, सर्वप्रकारकी घटनाओमे इन्द्रियविजय होता है या नही अर्थात् ज्ञानस्वभावकी सुध बनी रहे और उस ही में लीन होनेका पौरुष करे, ऐसी उसकी दृष्टि बनो या नहीं। जिसके क्षमा और इन्द्रिय-विजय बनता है वह धीर वीर है, जिसने ज्ञानबलसे दुर्जेय क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी प्रबल शत्रुओको नष्ट कर दिया। जीवका प्रबल शत्रु कषाय है, कषायसे यह जल भुन रहा है और पता नही करता अपना कि इन कषायोसे मेरी बरबादी हो रही, सो कषायको क्षमा और इन्द्रियविजय—इन दो उपायोंसे जीता जा सकता है। जिसका इतना बडा ध्येय होता है वही पुरुष इन घटनाओंको क्षमा कर सकता है। जैसे इस लोकमें किसी पुरुषका बहुत बडा काम है। जैसे वोटिंगका काम और ऊँची बात, तो छोटी-मोटी बातोंकी उपेक्षा कर लेना, उनका ध्यान न देना, क्योंकि बहुत बड़े कामकी जिम्मेदारी ले रखी, तो ऐसे ही आत्माका बहुत बडा काम है—अपने स्वभावमे रमना। इसकी जिसे धुन लगी है सो वह छोटी मोटी बातोंका कोई ध्यान नही करता, अपने ही इस महान ध्येयका ध्यान करता है। सो पंचेन्द्रिय विजय द्वारा ज्ञानके बलके द्वारा जिसने कषायोको जीत लिया वह पुरुष धीर वीर है। कोई एक बडा प्रचंड राजा था तो उसने सब राजावोंको जीत लिया और उसने अपना नाम रखे-

जीत रखा लिया। अब उसे सभी लोग सर्वजीत कहने लगे पर उसकी मां उसे सर्वजीत न कहती थी। तो एक दिन वह पूछ बैठा—मां जी सभी लोग मुझे सर्वजीत कहते हैं, पर तुम क्यों नहीं कहती हो? तो वह मां बोली—बेटा अभी तुमने सबको जीत नहीं पाया इसलिए तुम्हें सर्वजीत नहीं कहती? ...अरे अभी कौनसा राजा जीतनेको बाकी रह गया? ...अरे राजाओंको तो तुमने जीत लिया पर तुमने अभी अपनी कषायोंको नही जीता, अपने आत्माको नहीं जीता इसलिए मैं तुम्हें सर्वजीत नहीं कहती हूं। तो सर्वजीत वही है जिसने विषय कषायोंको जीत लिया।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५५॥

(५८१) दर्शनज्ञानसमग्र भवोत्तारक भगवंतोंको धन्यवाद—वे भगवान धन्य हैं जिन्होने ज्ञान दर्शन रूपी श्रेष्ठ हाथोंके द्वारा विषयरूपी समुद्रमें पड़े हुए भव्य जीवोंको उतार कर पार लगाया। भगवान अरहंतदेव समस्त लोकालोकको जानते हैं, फिर भी वे अपने ही विशुद्ध आनन्दरसमे लीन हैं। वे परमार्थतः किसी जीवमें राग नहीं करते, न किसीका हाथ पकड कर मोक्षमे ले जाते, किन्तु जो भगवानकी शरणमें आता है, निर्मल भावोंसे उनका ध्यान करता है, जिसके प्रसादसे अपने स्वभावमें लीनता बनती है, तो यह भव्य जीव स्वयं पार हो जाता है। तो जिसका आश्रय करके, जिसका ध्यान करके यह स्वभावदृष्टिमें आया पार उन्होने किया, ऐसी कृतज्ञताकी भाषामें कहना उचित ही है। प्रभुदर्शन ज्ञानसे समृद्ध हैं। आत्माका स्वरूप दर्शन ज्ञान है। चैतन्य प्रतिभास वही दर्शन और ज्ञान दो रूपोंमें प्रकट हुआ है। इसके लिए एक उदाहरण लीजिए आइनाका। आइनामे खुदकी चमक है, खुदकी झलक है और उसी खुदकी झलक होनेके कारण बाहरी कोई पदार्थ सामने आये तो उसकी भी झलक बनती है। आइनामे दो झलकें हैं—स्वयकी झलक और बाह्य पदार्थोंकी झलक। जिसमें स्वयं की झलक नही चलती उसमे बाह्यपदार्थोंकी झलक भी नही बनती। जैसे भींत है, घट है, दरी है, इनमें स्वयंमे झलक नहीं है तो दूसरे पदार्थोंकी झलक भी इनमे नहीं आती। आइनामें स्वयकी झलक है, वहां फोटो भी आती और जो बाह्यका फोटो है वह है ज्ञान। तो आत्मा दर्शन ज्ञानसे युक्त है। उनके स्वरूपका ध्यान करनेसे भव्य जीव इस संसारसमुद्रसे पार हो जाते हैं।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५६॥

(५८२) ज्ञानशस्त्रसे मायावेलका छेदन—मोहरूपी महावृक्षपर चढ़ी घोर विषयरूपी

विष पुष्पोंसे फूली हुई इस मायारूपी लताको मुनिगण ज्ञानरूपी शस्त्रके द्वारा छेद डालते हैं। यह मायालता भीतरी माया, ऊपरी माया दो प्रकारकी है। भीतरी माया तो है छल, कपट, कुविचार और ऊपरी माया है धन वैभव आदिक पुद्गलोंका ढेर, सो इस लताको मुनिजन ज्ञानशस्त्रके द्वारा छेद डालते हैं। सो लता कैसी है कि विषयरूपी फूलोंसे तो फूली है और मोहरूपी महावृक्षपर चढ़ी है, इसको मुनिजन मूलसे उखाड देते हैं। यह मनुष्य स्त्री पुत्रादिकके स्नेहमें पड़कर नाना प्रकारकी माया करता है। मायाका स्वभाव है प्रतारण, दूसरेको ठगना। सो यह माया कषाय इस संसारभ्रमणका कारण है। यह मोहरूपी महान वृक्ष चढ़ा है माया कुटुम्बके स्नेहरूपी मोहके वृक्षसे उपमा दी और मायाको लता बताया और विषयको विषपुष्प बताया। कोई लता होती है तो उसमे फूल भी निकलते हैं। तो फूल क्या हैं? विष पुष्प। विषयइच्छाको ज्ञानशस्त्र बलसे ज्ञानियोंने मूलतः दूर किया है।

मोहमयगारवेहि य मुक्का जो करुणाभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरिमखंभ हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५६॥

(५८३) मोहमदरहित भव्य जीवों द्वारा दुरितखंडन—जो पुरुष मोहमद और घमडसे रहित है, मोहका मद याने शराबका जैसा नशा होता वैसा ही मोहका नशा होता है। मोहके नशेमें यह जीव न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनता और जैसा इसे रुचा वैसा अटपट काम करता है। तो मोहका नशा न हो और गारव न हो। गारव कहते हैं घमडको। मुझे खूब खाना पीना मिलता। ये लोग मेरा बहुत बड़ा आदर करते। मेरेको ऐसी-ऐसी ऋद्धियाँ प्राप्त हुई है, मेरेमें बड़ा चमत्कार उत्पन्न हुआ है, ऐसा घमड करना यह गारव कहलाता है। तो मोह न हो, गारव न हो और करुणाभावसे हृदय भर गया हो, ऐसे मुनि श्रेष्ठ चारित्ररूपी खड्गके द्वारा समस्त पापरूपी स्तम्भको नष्ट कर देते है। मोह मायने क्या हैं? परको आपा मानना। जैसे ये स्त्री, पुत्र, धन वैभव आदिक मेरे नही हैं पर इन्हें अपना मानना, इनमें आसक्तिपूर्वक स्नेह जगना मोह कहलाता है। और मद क्या कहलाता है? घमड। सम्यक्त्वके ८ मदोमे बताया है—(१) ज्ञानका मद, (२) पूजाका मद, (३) जातिका मद, (४) बलका मद, (५) ऋद्धि ऐश्वर्यका मद, (६) तपका मद, (७) रूपका मद याने शरीरकी सुदरताका मद (८) ख्यातिमद। इन ८ प्रकारके मदोंसे रहित हो वही पापके स्तम्भको नष्ट कर सकता है।

(५८४) गारवमुक्त भव्य जीवों द्वारा दुरितखंडन—गारव कितने होते? तो पहला तो यह ही गर्व कि मैं बहुत शुद्ध बोलता हूं, मेरे वर्णोंका उच्चारण बहुत सुन्दर होता है, इस प्रकार अपनी शब्दकलापर मद करना यह वर्णोच्चार गारव है। मेरे अनेक शिष्य हैं, मेरे पास इतनी पुस्तकोंका संग्रह है। मेरा कमण्डल कैसा छोटा सुहावना है, मेरी पिछी बहुत सुन्दर है, इस

प्रकारका अपना महत्त्व प्रकट करना ऋद्धिगारव है। और, भोजन पान आदिकसे उत्पन्न हुए सुखका गर्व होना सातगारव है। लोग बहुत सोचते कि मेरा बडा पुण्यका उदय है, जो अपनी चाहा वही चीज मिल जाती है, इस प्रकारका गारव होता है, घमंड होता है यह है सातगारव। इसीमें अन्य और भी गारव आ जाते हैं। जैसे मेरी राजकुलमें बडी मान्यता है आदिक बहुत सी मदपूर्ण बातें हैं, यह सब कहलाता है ऋद्धिगारव। तो जो मुनि इन गारवों से मुक्त है, मोहमद कषायोंसे दूर रहता है, दयाभावसे सयुक्त है वह पापोंको याने अपनी वृत्तिमे आने वाली शिथिलताको चारित्ररूपी खड्गके द्वारा नष्ट कर देता है। सब उपयोगका प्रभाव है। उपयोग कहाँ लगाना, कैसे लगाना, इसमें ही दुर्गति और सद्गतिके पानेका रूप बसा है। जब उपयोगसे ही, भावोंसे ही हम बुरे बनते हैं, भले, बनते हैं तो बुरे बनकर हमने अपना ही घात किया। इसलिए भावोमें कभी बुराई न आये। सद्भावना हो, अपने ज्ञान स्वरूपकी आराधना हो, ऐसी भीतरमे तीक्ष्ण दृष्टि बन जाय तो इस आत्माके कल्याणमें कोई विलम्ब नही है। तो जो मुनिवर इन गारवोसे दूर रहते, घमंडोसे अलग रहते वे चारित्र-रूपी खड्गके द्वारा समस्त पाप अतिचार दोषोंको नष्ट कर देते हैं। अपना बल है ज्ञानबल। इस ज्ञानबलसे सच्ची समझ बने तो वहाँ अशान्तिका काम नही रहता और जहाँ केवल मोहमद ही आक्रमण कर रहा है तो ऐसा पुरुष स्वयं कायर होता है और अपने आत्माका वह बल नही प्रकट कर पाता कि जिससे अनेक भव-भवके बाँधे हुए कर्म भस्म हो जाया करते हैं। कोई भीतर निहारे तो सही, उसको विदित होगा कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानकी परिणति हुए बिना ज्ञान जगता नही। सो मति, श्रुत, अवधि आदिक जैसे स्थूलकी बात नही कह रहे, किन्तु ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया हो तो उसमें वह बल प्रकट होता है कि जिससे भव-भवके बाँधे हुए कर्म भी निर्जीर्ण हो जाते हैं। इससे हे मुने! सम्यक्त्व सहित बनो, अपने भावोकी संभाल करो। यदि भाव संभाले रहे तो आगे भविष्य सब अच्छा ही अच्छा रहेगा।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे ॥१६०॥

(३८६) गुणपूरित मुनिवरकी शोभायमानता—जिस मुनिका ध्यान ऐसे निज सहज चैतन्यस्वरूपमें लगा है, इस रूप ही अपनेको अनुभव करता हुआ आनन्द पा रहा, उसकी ऐसी शोभा है कि जैसे गगनमें चन्द्रकी शोभा हो। ऐसे ही इस गगनमें हम आपकी इस उपासनामें ऐसे मुनिराज मिलें, उनका दर्शन प्राप्त हो तो वे कैसा जन जनके हृदयमें शोभित होते हैं। मुनिका खास वैभव है अपने सहजज्ञानस्वरूपकी आराधनामें रहना। प्रत्येक वस्तुकी किसी शाश्व-

सतके कारण कुछ है। तो मुनिकी कीर्ति और मुनिका महत्त्व आत्मस्वभावकी आराधनामें है। सो जैसे आकाशमें तारोंकी पंक्तिसे सहित पूर्ण चन्द्रमा शोभायमान होता है ऐसे ही जैन सिद्धान्तके आकाशमें गुणसमूहरूप मणियोंकी मालासे युक्त यह मुनिरूपी चन्द्रमा शोभित होता है। जैन शासनका परिणाम क्या है? किस बातके लक्ष्यमें जैन शासनका उपदेश सफल होता है, वह है अविकार ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा। विकार मेरे स्वरूपमें नहीं। मेरे स्वरूपमें केवल शुद्ध ज्ञानस्वभाव है। जो मैं सत् हू तो अपने ही सत्त्वके कारण ज्ञानमात्र हू, जानन, इतनी ही मेरेमे तरंग चलती है, इसमे अन्य दोष नही है। अन्य दोष विकार ये उपाधिका सान्निध्य पाकर हुए हैं। उपाधिका सान्निध्य पाकर हुए फिर भी उपाधिकी परिणतिसे नही हुए। देखना यहाँ बात दोनों हैं, उसमे किसको कमजोर बताया जाय? एकान्तवादका निर्णय न ठीक बनेगा।

(५८७) आत्मामे विकार आनेका विधान—आत्मामे विकार आत्माकी परिणतिसे चल रहा है। यह एक द्रव्यको देखकर समझमे आ रहा, इसे कहते हैं निश्चयनय। जैसे सामने एक दर्पण है और पीछे मानो दो चार लडके खेल रहे हैं तो वह सारा खेल उस दर्पणमें दिख रहा फोटो रूपमे आकर। तो वह खेल जो दर्पणमे झलक रहा वह दर्पणके प्रदेशोमे झलक रहा, उस दर्पणकी उस उस परिणतिसे झलक रहा। यह केवल एक दर्पणको देखकर हम कह रहे हैं। यह झलक, यह परिणमन बच्चोकी परिणतिसे नही हो रहा। यह एक द्रव्यको देखकर जाना। यह कहलायी निश्चयकी दृष्टि। पर साथमे यदि यह निर्णय नही है कि यह उन ४–५ बच्चोकी उपस्थितिके सान्निध्यमे खेल बन रहा तो पहले सोची हुई बात गलत हो जाती है। यदि इतना प्रत्यय रखें चित्तमे कि उस उपाधिके सान्निध्यमे इस दर्पणमे यह प्रतिबिम्ब चल रहा है, चल रहा है दर्पणकी परिणतिसे और बच्चोमे चल रहा है बच्चोकी परिणतिसे। दोनो जगह दोनोकी परिणति से चल रहा, पर कोई श्रद्धा रखे यह कि दर्पणका काम है दर्पण मे अपने समयमें अपनी योग्यासे यहाँ आ गया, इसमे कोई एकान्त करे, जिसमे यह बात मिटा दी जावे कि उन चार लडकोंके सामने होनेपर यह दर्पणमे चित्र आया है, यह बात मिट जाने पर पहली बात एकान्तमे मिथ्या हो जाती है। और, यह दर्पणकी परिणतिसे यह चित्र चल रहा है, इसको न मानकर और यह माना जाय कि ये ४ लडके इस दर्पणकी फोटो बना रहे हैं तो उसने दर्पणकी शक्ति नही समझी। तो उनकी बात गलत हो जाती है। इस स्याद्वाद शासनमें द्रव्यदृष्टिकी बात मना करने पर पर्यायकी कोई बात कहे तो गलत हो जाती है। पर्यायदृष्टिकी बात मना करने पर द्रव्यदृष्टिकी कोई बात कहे तो गलत हो जाती है। क्योंकि पदार्थ ध्रुव है और उत्पादव्ययमय है। इस कारण वस्तुका पूरा स्वरूप सर्व दृष्टियोंसे ज्ञात

होता है। तो इसी तरह आत्मामें रागद्वेष बनना, यह एक ज्ञानकी कोई परिणति है। ज्ञानमें ऐसा माने कि यह बड़ा अच्छा है, मेरा मित्र है, मेरा सब कुछ है, इस तरहकी ज्ञानमें जो कल्पनाकी धारा चल रही है वहीं तो राग है। तो रागद्वेष जीवकी परिणति है कर्मकी परिणति नहीं। जीवने किया, जीवमें हुआ, जीवकी परिणतिसे हुआ, किन्तु साथमें यह विश्वास हो कि कर्मविपाकके सान्निध्यमें ही जीवमें ये रागद्वेष हो सके तो वह बात सत्य कहीं जायगी।

(५८८) वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक भाव इनमें से एकको असत्य माननेपर दूसरेका भी असत्यपना—वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक भाव, इनमें किसीको मना कर दिया जाय कि कर्म क्या करता ? कर्मकी क्या जरूरत ? इस कर्मका तो केवल नाम ही ले लिया जाता। जो सामने पड़ा सो निमित्तका नाम कर देते। उसकी यहाँ कुछ सान्निध्यकी बात नहीं तो पहली बात भी गलत हो जाती है। और यदि कोई ऐसा माने कि कर्म ही रागद्वेष कराता है, जीवका वहाँ कुछ परिणमन नहीं तो जो कर्मको कर्मत्व थोपते हैं वह बात गलत हो जाती है। तो स्याद्वाद शासनमें यह समझिये कि कर्मके सान्निध्यमें कर्मके विकार का फोटो यहाँ झलकता है और उसे यह ज्ञान अपनाता है और रागद्वेष बनता है तो निश्चय से तो जीवने ही रागद्वेष बनाया, पर व्यवहारनयसे कर्मका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष परिणमन बना। अब इन दोनोंमें किसको मना करेंगे ? एकको मना करेंगे तो दूसरा गलत। अब कल्याणके लिए मुख्यतया क्या देखना चाहिए ? यहाँ दो बातें सामने आयीं—जीवके परिणमनसे जीवमें राग हुआ, कर्मका निमित्त पाकर जीवमें राग हुआ, इन दो बातोंमेंसे कौन सा चिन्तन ठीक है कि जिससे हम निर्विकल्प समाधिमें पहुंच सकें ? तो साक्षात् और परम्परया इन दो का भेद है। साक्षात् दृष्टिसे देखें तो ये दोनो ही बातें छोड़ने योग्य हैं। न तो यह निश्चयकी बात चित्तमें रखनी चाहिए कि जीवकी परिणतिसे राग हुआ है और न यह व्यवहारकी बात चित्तमे रखनी चाहिए कि कर्मका निमित्त पाकर जीवमें राग हुआ है। तो साक्षात्के लिए कौनसी बात चित्तमें रखना ? शुद्धनय अवक्तव्य, अखण्ड चैतन्यमात्र स्वरूप। पर वह शुद्धनय पायें कैसे ? तो आप निश्चयनयके मार्गसे चलकर शुद्धनय पा सकेंगे और व्यवहारनयके मार्गसे भी चलकर शुद्धनय पा सकेंगे।

(५८९) शुद्धनय तक पहुंचने पहिलेके प्रयास—निश्चयके मार्गसे कैसे शुद्धनय मिला ? यहाँ यह ही दिख रहा कि जीवमें जीवकी परिणतिसे राग हो रहा वहाँ अन्यका ध्यान न रहा। निमित्तका ध्यान नहीं है वहाँ। राग हो रहा और जीवमें हो रहा। दो दृष्टियोंमें आयी बात। तो अब मुकाबला करते हैं, रागपरिणमन इस जीवसे निकल रहा तो ऐसा देखनेपर

रागपरिणमन तो लुप्त हो जाता और जीवद्रव्यकी दृष्टि मुख्य हो जाती है और इस मुख्यता होनेसे वह शुद्धनय प्राप्त होता है जिससे कि आत्महित हुआ। अब व्यवहारकी बात देखिये— जब यह राग निरखा गया कि जीवमें यह राग कर्मका निमित्त पाकर हुआ है, जीवके स्वभाव में नहीं है तो वह विकारसे उपेक्षा करेगा। यह मेरी चीज ही नहीं। यह तो कर्मोपाधिका निमित्त पाकर हुआ है, तो उसको निज अविकारस्वभाकी दृष्टि जग जायगी, शुद्धनयमें पहुंच गया, आत्महित हो गया। एक दृष्टान्तसे समझिये। इस मदिरमे आनेके आपके दो तीन रास्ते हैं, दक्षिणसे भी आनेका रास्ता है, उत्तरसे भी आनेका रास्ता है और पूरबकी ओरसे भी आने का रास्ता है। तो मन्दिरमे आनेके ये सब रास्ते हुए, मगर साक्षात् रास्ता एक है। चाहे पूरब दिशासे आवे, चाहे उत्तर दिशासे और चाहे दक्षिण दिशासे, मगर इस मंदिरका दरवाजा तो एक ही है जिससे मंदिरके अन्दर प्रवेश करते हैं। तो साक्षात् मार्ग एक है, मगर उस साक्षात् मार्गमे आनेके लिए दो तीन मार्ग हो गए। ऐसे ही मुक्तिका साक्षात् मार्ग तो शुद्धनयका आलम्बन है, मगर उस मार्ग तक पहुचनेके लिए आपको निश्चयनयसे भी जानना, व्यवहारसे भी जानना, अनेक प्रकारसे जानना, कथा पुराणोसे भी जानना, सब प्रकारसे आपको प्रयोग उपयोग करना पड़ता है। तो ऐसा ही ज्ञान सब करना है और एक आदत बनाना है कि हम कुछ भी ज्ञान करें, हमे उस ज्ञानसे अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनी है, यह शिक्षा लेनी है। जिन्होने एक यह निर्णय बनाया कि मुझे तो अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाना है, तो न व्यवहारनयसे घृणा होगी, न निश्चयनयसे घृणा होगी, न कथा कहानीसे घृणा होगी, न सयमसे घृणा होगी और जिसने यह लक्ष्य नही बनाया उसको सर्वत्र दोष ही दिखेंगे। चरणानुयोगमें दोष दिखेंगे, व्यवहारनयमे दोष दिखेंगे, निश्चयनयमे दोष दिखेंगे। सर्वत्र दोष ही दोष नजर आयेंगे।

(५६०) आत्मस्वभावदृष्टिका प्रताप—भैया! अपना यह लक्ष्य बनावें कि मुझे अविकार ज्ञानस्वभाव तक पहुचना है। मैं अपनेको यह समझ लू कि मैं अविकारस्वभावी हू। ज्ञान मेरा सर्वस्व स्वरूप है। और इसको समझनेके लिए प्रेक्टिकल और अधिकाधिक सहायक आपको यह निमित्तनैमित्तिक योगका परिचय मिलता है। एकदम जल्दी स्वभावमे पहुच जायेंगे इस परिचयसे। जैसे जहाँ यह जाना कि रागद्वेष सुख दुःख ये कर्मउपाधिके प्रभावसे हुए, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। इनसे मेरा मतलब नही, ये तो झलकते भर हैं, इनको मैं क्यो देखूं, ये मेरे स्वरूप नहीं, मैं अविकार स्वरूप हू, ये नैमित्तिक हैं। इस ज्ञानमे वह स्फूर्ति है कि हम जल्दी ही स्वभाव तक पहुंच जाते हैं और यह बड़ा आसान काम रहता है। तो जिनको आत्महितकी भावना नहीं उन्हे तो विवाद है और जिन्हें आत्महितकी भावना है वे जिनवाणीके प्र[illegible]

कथनसे अपने स्वभावकी दृष्टि कर लेते हैं। उसके लिए व्यवहारनयसे भी सहयोग मिला, निश्चय-नयसे भी सहयोग मिला, कथा पुराणोंसे भी सहयोग मिला और स्वभावदृत्तिसे भी, क्योंकि उसने एक लक्ष्य बनाया है कि आखिर सबका निष्कर्ष यह है, प्रयोजन यह है, अपनेको यह जान लूं, समझ लूं, अनुभव लूं कि मैं तो अविकार ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानमें एक ऐसी दृष्टि होती है कि विकार भाव निरन्तर चलता रहे हम आपमें। जिस समय हम अविकार ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि कर रहे हैं उस समय भी विकार चल रहे हैं। ये विकार एक क्षणको भी खतम नहीं होते। फर्क रहता है अव्यक्त और व्यक्तका। जब हम ज्ञानस्वभावकी आराधनामें चलते हैं तो विकार अव्यक्त रहते हैं, जब हम स्वभाकी आराधनाका ध्यान देते हैं तो विकार व्यक्त हो जाते हैं। तो निरन्तर विकार चलते रहनेपर भी ज्ञानमें ऐसी कला है कि वह विकारसे न छिडकर अपने आपके स्वभावमें पहुंचा देता है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र होता है। उस यंत्रके सामने रोम, चमडी, खून, मांस, मज्जा आदिक सब चीजें आती हैं मगर इनमेंसे किसीको भी न छूकर केवल हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही यह ज्ञान दृष्टि वाला है। इस समय शरीरके साथ कर्म भी हैं, विकार भी हैं, विकार भी निरन्तर चल रहे हैं, पर इन सबसे न छिडकर अपने ध्रुव ज्ञानस्वभाव तक पहुंचा देता है। तो बात दोनों समझनी हैं—(१) वस्तुस्वातंत्र्य और (२) निमित्तनैमित्तिक भाव और दोनोंको समझ बनने पर हम विकल्पसे रहित होकर अविकारस्वभावमे आ सकते हैं। तो वे मुनि जो इस अविकारस्वरूपकी धुनमे रहा करते हैं वे पूर्ण चन्द्रकी तरह इस जैनसिद्धान्तरूप आकाशमे शोभायमान होते है।

चक्कहररामकेसवसुरवर जिणगणहराइसोक्खाइ।
चारणमुणिरद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥

(५६१) सम्यग्दृष्टिके ही विशिष्ट पुण्यसम्पदाका लाभ—विशुद्ध भावोंके धारण करने वाले भव्य पुरुष जब तक उनका मोक्ष नहीं हुआ तब तक वे बडे वैभवको प्राप्त होते हैं। और यह भी समय बहुत कम होता है जिसके बाद वे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे ही जगतमें वैभव क्या है ? चक्रवर्तीका वैभव। जो दुनियाके सबसे ऊँचे वैभव हैं वे मिथ्यादृष्टियो को प्राप्त नही होते। हां इतनी बात जरूर है कि जब सम्यग्दृष्टि थे, विशिष्ट पुण्यबंध हुआ, बडा वैभव प्राप्त हुआ और अब मिथ्यादृष्टि हो गए, यह बात तो हो सकती है, मगर जो ऊँचेसे ऊँचा वैभव है वह वैभव सम्यग्दर्शन हुआ हो तब ही प्राप्त हो पाता है। मिथ्यात्वके साथ इतना विशुद्ध भाव किसीके नहीं जग सकता है, जिसमे ऊँचा पुण्यका बंध हो सके। पुण्य बंध मिथ्यादृष्टि भी करते, मगर उत्कृष्ट पुण्यबंध मिथ्यादृष्टि नही करते। तो जो जिनभावना से सहित हैं ऐसे पुरुष उत्कृष्ट वैभवको प्राप्त करते हैं, चक्रवर्तीका वैभव प्राप्त करते हैं। अ

ही कोई चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि हुआ है और नरक तक भी गया, मगर चक्रवर्तीने जो कुछ कमायी की है वह चक्रवर्तीके भवमें कमायी नही की। जैसे आपको जो कुछ वैभव प्राप्त है वह आपके इस भवके पुरुषार्थका फल नही है, वह पूर्वभवके पुरुषार्थका फल है। तो चक्री को जो वैभव प्राप्त हुआ है सो उसके पूर्वभवमें कमाये हुए पुण्यका फल है। बलभद्र हुए, नारायण हुए, इनके भी ऊँचे वैभव होते हैं। यह भी सम्यग्दर्शनके बिना इनका पुण्यबंध नही होता जैसा कि इनको वैभव मिला। बताया है कि नारायण अपने भवके बाद पाताल लोककी यात्रा करता है, अधोलोकमे जाता है और मिथ्यादृष्टि भी हो गया, लेकिन यह सम्यग्दृष्टि जब था तब इसके ऐसा सातिशय बडा पुण्यबंध था कि जिसके कारण ये पद प्राप्त हुए। बलभद्र और नारायण ऊँचे स्वर्गोंसे अवतार लेकर यहाँ नारायण और बलभद्र बनते हैं। बात यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके साथ ही वह निर्मलभाव, विशुद्धभाव बनता है कि जिससे विशिष्ट पुण्यका बंध होता है।

(५६२) सम्यक्त्वका प्रताप—सम्यक्त्वका फल मोक्ष है, मगर जब तक मोक्ष नही मिला तब तक वह गरीबीसे न रहेगा। सम्यक्त्वके साथ विशिष्ट पुण्यबंध होता है। देवेन्द्र तीर्थंकर गणधर आदिकके जो आनन्द हैं उन आनन्दोंको और मुनिपदमे जो बडी-बडी ऋद्धियां प्राप्त होती हैं उन सबको ये सम्यग्दृष्टिजन प्राप्त करते है। ऋद्धिया ऐसा उत्कृष्ट फल बताने वाली हैं कि जिनको सुनकर लोग आश्चर्य करते हैं। उन सबमे प्रधान तो है केवलज्ञान ऋद्धि, जिसके समान अन्य कोई नही है। पर अन्य ऋद्धि भी तो देखो—जहाँ मुनि आहार कर जायें उस चौकेसे हजारो, लाखो, करोडो, चक्रीकी सेना भी भोजन कर जाय तो भी वहाँ आहार खतम नही होता। न जाने कैसी कैसी आकाशगामी ऋद्धियां उनके जगती ? ये सब बातें सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव हो पाती हैं। तो यहा भावपाहुड ग्रंथमे सम्यक्त्वकी महिमा बतायी है कि इसके पाये बिना मुक्ति नही और जब तक मुक्ति नही हो पा रही है और सम्यक्त्व मौजूद है तब तक इस लोकमे वह अनेक वैभवोसे सम्पन्न होकर रहेगा, कातर कायर बनकर न रहेगा। तो ऐसा सम्यक्त्वका प्रभाव जानकर और अपना पक्का साथी जानकर सम्यक्त्वको भावना भायें और अपने आपमें यह मनन बनायें कि जो विकार हो रहा, जो गडबड हो रही, क्षोभ हो रहा, सुख दुःख हो रहा, यह सब कर्मउपाधिकी छाया माया है, यह मेरा स्वरूप नही है। मैं तो अविकार ज्ञानस्वभाव मात्र हूं। मोक्षमें यह ज्ञानस्वरूप ही रह जाता है और अन्य सब उपाधियाँ दूर हो जाती हैं, ऐसा परभावोंसे निराला यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं, इस चिन्तनमे ज्ञानानुभूति बनेगी, अलौकिक आनन्द बनेगा और मोक्षमार्गके दर्शन प्राप्त होंगे।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमंपरमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

(५६३) जिनभावनाभावित मुनिवरोंको अतुल आनन्दका लाभ—जो सम्यक्त्वसे सहित हैं वे जीव सिद्ध भगवानके सुखको प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शनका अर्थ है अपने आत्मा का सच्चा दर्शन, श्रद्धान होना। यह आत्मा इस शरीरसे निराला है या एकमेक है ? जब यह जीव शरीरसे निराला है, लोग सब समझते हैं, शरीरको जला डालते हैं, जानते हैं कि शरीर में जीव नहीं है, जीव शरीरसे निकल गया। तो जो निकल गया वह जीव, जो निकल जायगा वह जीव। अभी भी जीव इस शरीरसे अलग स्वरूप रखता है, पर दोनोका एक जगह बंधन है, इस कारणसे मेल हो गया कि यह मैं हूं। वस्तुतः तो यह शरीर मैं नही, और जिसको यह भेदविज्ञान दृढ़ हो जाता उसको चाहे गीदड़ी खा रही, सिंहनी खा रही फिर भी वह अपना यह जान रहा है कि मैं तो अमूर्त हूं। मेरा तो कोई दखल नहीं दे सकता, उनको वेदनाका भी अनुभव न था। किसीको हो वेदनाका अनुभव तो उसको अभी राग है। जिसके राग नहीं रहा और बिल्कुल निराला अपना आत्मतत्त्व ध्यानमें आ गया उसको शरीरके जलनेसे भी वेदनाका अनुभव नही होता। भेदविज्ञानकी दृढ़ताका कितना माहात्म्य है, और यहां तो खट-मल भी बर्दाश्त नही कर सकते। तो यह जानना चाहिए कि हमको शरीरमें राग भी है, मोह भी है और जब तक राग मोह है तब तक सब आपत्ति है। तो जिन जीवोने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वे आसन्न भव्य जीव जन्म जरा मरणसे रहित हो जाते हैं, मायने शुद्ध हो जाते है। आत्मध्यान और बढ़ायेंगे, मुनिपद पायेंगे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर रहकर आत्माकी उपासना रखेंगे तो वे भी उत्कृष्ट शुद्ध सुखको प्राप्त होते हैं। वह भगवानका सुख कैसा है ? अनुपम। प्रभुके सुखकी उपमा यहांके किसीके सुखसे नहीं दे सकते। भले ही बतलाते हैं ऐसा कि तीनो लोकके जो सबसे बड़े जीव हैं, इन्द्र हैं, चक्रवर्ती हैं उन सबके सुखोंको जोड लें, उससे भी अनन्तगुणा सुख भगवानके है। मगर यहांके सुख तो इन्द्रियजन्य सुख हैं। उनके जोड़नेसे क्या होता ? उनके तो अलौकिक अतीन्द्रिय सुख है, सर्वोत्तम आनन्द प्रभुका आन-न्द है। जहां आकुलता रंच नहीं है वही वास्तविक आनन्द है। उस आनन्दमें किसी भी प्रकार की मलिनता नहीं। यहांके इन्द्रियजन्य सुखमें मलिनता बसी हुई है, पवित्रता नही है, किन्तु भगवानका आनन्द पवित्र है, उसके साथ मल रंचमात्र भी नहीं है। ऐसा अनन्त उत्कृष्ट सिद्ध का सुख ये सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र धारण करके प्राप्त करते हैं।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥१६३॥

(२६४) सिद्धोंके ध्यानसे निर्मलताके आशीषकी अभ्यर्थना—सर्व जीवोंके सर्वोत्कृष्ट आत्मा सिद्ध भगवान हैं। तो सिद्ध भगवानके ध्यानसे आत्मा निर्मल होता है। ॐ नमः सिद्धेभ्यः, इस मंत्र पदोंके सहारे सिद्धका ध्यान करना, वे विकाररहित है, केवल आत्मा ही आत्मा रह गए हैं, उनका अतुल आनन्द है, जिसमे अब कोई तरंग नही, जो कभी लौटकर संसारमें नही आते, वे सदाके लिए पवित्र हो गए हैं। उन सिद्ध भगवानका ध्यान हम आप के लिए बहुत बड़ा शरण है। कैसी भी विपत्ति आयी हो, सिद्ध प्रभुका ध्यान करें। मोह छूटेगा, राग गलेगा, संसार टल जायगा। सकट कुछ भी नहीं है हम आपपर बुलाये हुए संकट हैं। परवस्तुका मोह किया, परवस्तुमे राग बसाया और वह परवस्तु हमारे आधीन है नहीं, वह तो जैसा परिणमन है, परिणति है तो उसके परिणमनको निरखकर यहा मोही जीव मानते कि हाय ऐसा क्यो हो गया ? यों सोच सोचकर दु खी होते है और अगर यह जानें कि ये सब तो बाहरी परिणमन है, जो परिणमन होना था सो हो गया जगतके जीवोका समागम मिला है। जितना आयुका उदय है उतनी देरका समागम है। न रही आयु तो अब यहांसे बिदा हो गए, वे बिल्कुल भिन्न जीव हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है। सब के अपने-अपने जुदे जुदे कर्म हैं, जुदा जुदा सत्त्व है। अपने सत्त्वमे सब रहते हैं। सकट किस बातका आया ? तो सकट हुआ करता है मोह और रागका। तो जहाँ मोह और राग नही है वहां सकट नही। तो यह स्थिति बनेगी सिद्ध भगवानके ध्यानसे, अपने आत्मस्वरूपके ध्यान से। तो इस गाथामे सिद्ध भगवानका ध्यान करके अपने लिए उत्कृष्ट भावशुद्धि प्राप्त हो, यह भावना की। ये प्रभु तीनो लोकके द्वारा पूजित हैं। कैसे तीनो लोकके द्वारा पूजित हैं ? स्वर्गके देव और इन्द्र भी इनका ध्यान करते हैं। मध्य लोकमे मनुष्य उनका ध्यान करते हैं। ऊर्द्धलोकके देवेन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं और नीचे अधोलोकके भवनवासी व्यन्तरदेव तथा नारकी ये सब सिद्धके स्वरूपका ध्यान करते है। जिन्होंने केवल आत्माके चैतन्यस्वरूप का ध्यान किया उन्होने सिद्धका ध्यान कर लिया। नरकोंमे भी सम्यग्दृष्टि नारकी आत्माके स्वरूपका ध्यान बना लेते हैं। तो ऐसे ये सिद्ध प्रभु तीनो लोकोंके द्वारा पूजित हैं, शुद्ध हैं। न कर्म इनके साथ हैं, न कोई विकार है। निरञ्जन हैं, कोई अञ्जन नही रहा, सदा रहने वाले हैं। ऐसे ये सिद्ध भगवान हमारे दर्शन, ज्ञान और चारित्रमे उत्कृष्ट भावशुद्धिको प्रदान करें। कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थकी समाप्तिके समय सिद्ध भगवानका ध्यान करते हुए भावशुद्धि की प्रार्थना कर रहे है।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥१६४॥

(५१५) सर्व अभ्युदयोंकी भावपरिनिष्ठितता—अधिक कहनेसे क्या लाभ ? अर्थात् अधिक क्या कहना ? जितने भी लोकमें अभ्युदय हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष और अन्य जितने भी व्यापार हैं वे सब भावोंमें ही याने परिणामोंकी विशुद्धतामें ही स्थित हैं । जगतका सुख कैसे प्राप्त होता ? उसका कारण है कि जीवने भाव विशुद्ध बनाया, पुण्यबंध हुआ, उसके उदयमे ये सब बातें प्राप्त होती है, और मोक्ष भी कैसे प्राप्त होता है ? भाव अत्यन्त निर्मल हो गए, रागद्वेष रंच न रहे । शुक्लध्यान होता है, केवलज्ञान बनता है । अरहत हुए तो शेष कर्मोंके नष्ट होनेपर सिद्ध हो जाते हैं । तो लौकिक सुख कहे तो वह भी भावोंकी विशुद्धिपर निर्भर है, और परमात्मपदकी प्राप्ति कहे तो वह भी भावोंकी अत्यन्त विशुद्धिपर निर्भर है । इसलिए अपना सदा एक काम है कि भाव गंदे न हो । भावोमे निर्मलता रहे, और निर्मलता है भावोमे । इसकी पहिचान यह है कि सिद्ध भगवानकी सुध बनी रहे, अपने आत्माके अविकारस्वरूपकी सुध बनी रहे तो समझिये कि सिद्ध भगवानका ध्यान है, परिणामोंमें विशुद्धि है । जितना भी जो कुछ चमत्कार है वह सब भावोंकी विशुद्धिका है ।

जैसे एक देव, प्रभु । हम मंदिरमें आते हैं, प्रभुके दर्शन करते हैं, बतलावो प्रभु काठ के हैं कि पाषाणके हैं कि धातुके हैं ? हमने मूर्तिकी स्थापना की, किन्तु आपके भाव काम तो कर रहे हैं कि मूर्तिको निरखकर आप भगवानका ध्यान बना लें । तो भगवान आपके भावोंसे हुआ या यहाँ मंदिरमे भगवान बैठे हैं ? आपके भावोमे भगवानका स्वरूप आया आपका भगवान मिला । यहाँ की भी बात छोडो, समवशरणमे भी कोई जाय तो वहाँ भगवान कहा मिलते है ? जो उस अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्दमय अरहंत परमात्माका, शुद्ध आत्माका ध्यान करता है उसको भगवानका दर्शन होता, और जो आंखोसे दिखता ही नही है तो जैसे यहां मनुष्य दिखे वैसे ही वहां भी भगवानका शरीर दिख गया, पर भगवानके दर्शन वहा भी नही हुए । भावोमे भगवान बसा है, भावोंमें भगवत् स्वरूप आया है तो भगवानके दर्शन होते हैं । तो भगवान कहो, देवता कहो, वह कहां है ? हमारे भावोमे स्थित है, और भगवान जो है वह स्वयं अपने स्वरूपमे स्थित है । जिसको भी भगवान के दर्शन हुए उसको अपने ही भावोंमें हुए ।

(५१६) भावरहितकी चेष्टावोंसे धर्मलाभकी असंभवता—हे जीव ! यदि तू भावोंसे रहित होकर अपने सिरको नवाकर जिनभगवानको धारण कर रहा है या सिरके ऊपर अमृत रखकर मानो भगवानको धारण कर रहा है तो तेरे भाव जब नहीं हैं प्रभुके स्वरूपके तो इस से क्या होने वाला है ? क्या अमृतको सींचनेसे पत्थरपर कमल उग सकता है ? पत्थरपर कितना ही जल सींचा जाय और बहुत अच्छा अमृत जैसा जल भी सींचा जाय तो क्या कमल उग सकते हैं ? नही । तो ऐसे ही ही भावरहित इस जीवपर प्रतिमा भी धारण करा दें,

समवशरणमें भी चला जाय और स्वयंके भाव ठीक नहीं बनाता है तो उससे प्रभु दर्शन नहीं होता। सो भावोंकी बात बतला रहे। इस ग्रंथका नाम भावपाहुड है, भावने भावोंसे आत्माकी विजय है। भावरहित कोई पुरुष मुनि जैसा व्रत धारण करले तो भी उसको मोक्ष मार्ग या शान्तिमार्ग मिलनेका नही। भावसहित हो तो सिद्धि है। जिसका अभिप्राय खोटा है उसको सिर झुकानेसे कौनसा लाभ होने वाला है ? तब क्या करना कि भगवानके दर्शन, भगवानकी भक्ति या आत्मध्यान उपासनामे लगते हैं तो भाव विशुद्ध होने चाहिए और आत्माका जो वास्तविक स्वरूप है ज्ञानमात्र वह दृष्टिमे रहना चाहिए। सब कुछ अपने भावो पर निर्भर है। जैसे हिंसा और अहिंसा। जिसमे हिंसाके भाव किये उसको हिंसा लग गई चाहे वह जीव मरे या न मरे और जिसका अहिंसारूप भाव रहता है सदा, चाहे किसी प्रकार उसके शरीरसे कोई छोटा जीव दब जाय, मर भी जाय तो भी उसके हिंसा नही लगती। जैसे कोई शिकारी लोग मच्छियोको पकडनेके लिए पानीमे जाल डालते हैं या पक्षियोको पकडनेके लिए जाल बाहरमे बिछाते हैं, तो भले ही उसमे एक भी मच्छी या एक भी पक्षी न फसे, फिर भी उनको हिंसाको हिंसाका पाप लग गया और मुनि महाराज जो अहिंसा व्रतकी निरन्तर भावना रखते हैं, सब जीवोंमे दया रखते हैं, चले जा रहे है ईर्यासमितिसे और उनके पग तले कोई छोटा जतु आ जाय, कदाचित् मर जाय तो भी मुनि महाराजको हिंसा नहीं है। इससे जानना कि जो कुछ है वह सब भावोंसे होता है। अपनेको सुख शान्ति चाहिए तो यह बहुत ध्यान रखना चाहिए कि हमारे भाव निर्मल रहे। किसी पडोसीसे ईर्ष्या न हो, किसीसे वैर न हो, द्वेष न हो, सबका भला चाहे तो शान्ति सुख मिलेगा और यदि दूसरेके प्रति वैरो हो, क्षमा न हो, बिगाडका भाव हो तो उसको शांति नहीं प्राप्त हो सकती।

इय भावपाहुडमिरा सव्व बुद्धेहि देसिय सम्म।
जो पढइ भावइ सो पावइ अविचल ठाण ॥१६५॥

(५१७) भावपाहुडका भावसे पठनका फल अविचल स्थानकी प्राप्ति—सर्वज्ञदेव द्वारा कथित इस समस्त भावपाहुड का जो पढता है, सुनता है, भावना करता है वह अविचल स्थानको प्राप्त होता है। जो भावोंसे बढता है अर्थात् भावोंकी परीक्षा करते हुए बढता है देखिये—विकारभाव आये, चाहे वह क्रोध हो, मान हो, माया हो, लोभ हो, बस उसी क्षण इस आत्माने इसे बीच डाला और क्षण भरको आया, वह मिट गया, मगर क्षणभर आये हुए विकारोंका सागरो पर्यन्तके लिए ऐसे खोटे कर्मका बंध कराया कि अब संसारमें रुलते ही रहे। ये रागद्वेष भाव तुरन्त तो सुहावने लगते हैं, किसीसे राग किया जा रहा है,

बहुत सुहावना लगता, किसीसे द्वेष किया जा रहा है तो वहाँ भी बहुत भला लग रहा, मगर वह विकारपरिणाम इनको लाखों करोड़ों भव तक परेशान करेगा और एक क्षणको विशुद्ध भावसे रह ले कोई, अपने आत्माके अविकारस्वरूपका ध्यान कर ले कोई तो उसको फिर यह परेशानी नहीं होती। वह मोक्ष मार्गमे लगता है। मोक्षका साक्षात् अधिकारी मुनि है। इस कारण भावपाहुड ग्रन्थमें मुनियोंको सम्बोध करके शिक्षा दिया है कि हे मुनिश्रेष्ठ ! सर्वज्ञ देवके द्वारा कहा हुआ भावपाहुड ग्रंथ बड़े भावोंसे सुनो और जो जो तत्त्व बताये हैं उनका अंतरंगमें मनन करिये। मैं जीव हू, देह नहीं, मैं ज्ञानस्वरूप हू अज्ञानमय नहीं। मेरेमें मुझके स्वरूपमें कोई विकार नही है। ये विकार कर्मकी छाया हैं। इन विकारोंमे मैं क्यों फसूँ ? अपने विकारस्वरूपका चिन्तन करता हुआ ध्यानमे बढ़े, ऐसा मुनियोको सम्बोधन है।

(५६८) सप्ततत्त्वका परिचय—मुख्य परिचय कीजिये ७ तत्त्वका, जो मोक्षमार्गकी एक आधारशिला बनाता है जीव अजीव, जीवको दो तरहसे देखा गया है। अपने स्वरूपको देखा तो यह अविकार है, ज्ञानस्वरूप है। तो इस रूपसे जीवको देखा तो उससे ७ तत्त्व नहीं बनते। वह तो एक परमार्थ स्वरूप है। तब पर्यायरूपमे जीवको देखिये—जो औपशमिक भावमे है, क्षायोपशमिक भावमें है, कोई औदयिक भावमे है तो औदयिक भावोके रूपमें निरखा गया यह जीव आखिर जीव ही तो है। वह तो तत्त्व लिया जहाँ ७ तत्त्व बने हैं और क्रमसे ये तत्त्व थोपे जायेंगे और अजीव है कर्म जो जीवके साथ लगे हुए हैं। जीवमे अजीव-कर्मका आस्रव है, कर्म कैसे आते ? बाहरसे नही आते, इस जीवके साथ ही कार्माणवर्गणायें लगी हैं। जैसे यह पुद्गलदेह लगा है वैसे ही कार्माणवर्गणायें लगी हैं, तो जैसे ही जीवने कषायभाव किया कि वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। और जैसी कषाय रखा तेज मद उसके अनुसार उन कर्मोंमें स्थिति पड जाती है कि ये कर्म इतने वर्षों तक हजारों पर्यन्त जीवके साथ बँधे रहेगे। उनका जब उदय आयगा तो यह जीव उनका फल भी पायगा। यह बध हुआ। अब जीव अपने भावोको सभाले, जीवका जो असली स्वरूप है ज्ञान, उस ज्ञान रूपमे ही अपनेको देखे तो कर्म न बधेगे और इसी उपायसे पहले बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा हो जायगी। निर्जरा होते जब सब कर्मोंकी निर्जरा हो चुकेगी तब उसको मोक्ष कहेंगे। तो इस संसारमे रहनेसे, जन्म मरण करनेसे आपको क्या लाभ होने का ? और यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा तो एक ही लक्ष्य है कि इस ससारके जालसे हमको निकलना है, हमें इस जालमे नहीं फसना है। अगर यह लक्ष्य बन जाय संसारके सारे दुःख जानकर तो आप को गृहस्थीमें रहते हुए भी चाहे कैसी ही घटनायें घटें, आपको कभी आकुलता नही हो सकती।

(५६९) सप्ततत्त्वका परिचय करके सप्ततत्त्वविकल्परहित शाश्वत स्वभावकी आरा-

भावनाका फल उत्तमधामका लाभ—७ तत्त्वोका ज्ञान करके भावना भाइये ऐसे जीवस्वरूपकी कि जो अपनी सत्तासे स्वयं सहज सिद्ध है ऐसे अपने सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनासे यह जीव इन कर्मोंसे छूटता है। तो यह जानकर कि सब कुछ लाभ हमको भावोकी विशुद्धिमें ही है, अन्य कामोंमें नहीं है, इसलिए अपने भाव शुद्ध करके यह जीवन बिताना चाहिए। कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह कैसे खड़ा है, कैसे बैठा है, कैसे रह रहा है तो हम बँधें। कर्म देखते हैं भावोंको। चाहे वह किसी धर्मस्थानमे बैठा हो, चाहे शौचालय जैसी अशुद्ध जगहमे बैठा हो, यदि इसकी दृष्टि आत्मस्वरूपमे हो जाय तो वहाँ कर्म न बँधेंगे। तो सर्वत्र भावोकी ही प्रधानता है, और जीव भावमय ही है। यह जीव पुद्गलकी तरह ढेला पत्थर रूप नही है। यह जीव किसी भी इन्द्रियसे डिग सकने वाला नही है। यह तो केवल चैतन्य भावस्वरूप है, तो ऐसा ध्यान बने। मैं ज्ञानमात्र हू, मेरे स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश नही है। तब मेरे पर भार क्या? मैं ज्ञानघन हू, ज्ञानसे भरा हुआ हू, पूर्ण हूँ, मेरेमे अधूरापन है ही नही, फिर घबड़ाहट किस बातकी? कुछ करनेका काम है ही नही। अपने स्वरूपको ही अनुभव लूँ। मेरेमे सहज ही आनन्द है, स्वरूप ही आनन्द है, मेरेमे कष्ट नही, फिर क्यो बाहरी पदार्थोंमे उपयोग फँसाकर कष्ट मानू? तो इस तरह इस समस्त जगजालसे उपेक्षा रखना और एक ही लक्ष्य रखना अपना कि मुझको तो संसारजालसे छूटना है, मुक्त होना है। दूसरी बात मुझे न चाहिए। जो होता है सो हो, उसका मैं जाननहार रहूगा। उसमे मेरेको रागद्वेष मोह न होना चाहिए। ऐसा निर्णय बने और फिर प्रभुध्यान करें, आत्मध्यान करें, ज्ञानमे बढे, इस आनन्दका लाभ चाहिए। सांसारिक सुखोमे, इन्द्रियविषयोमे उलझकर मौज मानना, इसमे बड़ा धोखा है। आज इस भावपाहुड ग्रन्थकी समाप्तिके समय एक दृढ निश्चय बनायें कि मुझे तो वह भाव चाहिए जिससे मुक्ति मिलती है। इस संसारजालका रुलना हमे इष्ट नही है।

॥ भावपाहुड प्रवचन समाप्त ॥

अपनी बातचीत

"अयि आत्मन् ! तू क्या है ? विचार । ज्ञानमय पदार्थ !! तेरा इन पदार्थोंके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ ? नही, नही, कुछ भी सम्बन्ध नही ! क्यों नही ? यों कि "कोई किसीका कुछ भी परिणमन कर नहीं सकता ।"

मैं ज्ञानमय आत्मा हू, हूँ, स्वयं हूँ, इसी कारण अनादिसे हूँ, मैं किस दिन हुआ होऊँ, पहिले न था, यह बात नही । न था तो फिर हो भी नही सकता ।

फिर ध्यान दे, इस नर जन्मसे पहिले तू था ही । क्या था ? अनंतकाल तो निगोदिया था । वहाँ क्या बता ? एक सैकिण्डमें २३ बार पैदा हुआ और मरा । जीभ, नाक, आँख, कान, मन तो था ही नही और था शरीर । ज्ञानकी ओरसे देख तो जडसा रहा; महासंक्लेश ! न कुछसे बुरी दशा । सुयोग हुआ तब उस दुर्दशासे निकला ।

पृथ्वी हुआ तो खोदा गया, कूटा गया, ताडा गया, सुरंग फोडा गया । जल भी तो तू हुआ, तब औटाया गया, विलोरा गया, गर्म आगपर डाला गया । अग्नि हुआ, तब पानीसे, राखसे, धूलसे बुझाया गया, खुदेरा गया । वायु हुआ तब पखोसे, बिजलियोंसे ताडा गया, रबर आदिमे रोका गया । पेड, फल, पत्र जब हुआ, तब काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया ।

कीडे भी तुम्ही बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी । बताओ कौन रक्षा कर सका ? रक्षा तो दूर रही, दवाइयाँ डाल-डालकर मारा गया, पत्थरोंसे, जूतोसे, खुरोंसे दबोचा व मारा गया ।

बैल, घोडे, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ । कैसे दु.ख भोगे ? भूखे प्यासे रहे, ठडो मरे, गर्मियो मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये । सूकर मारे जाते हैं चलते फिरतोको छुरी भोक कर । कही तो जिन्दा ही आगमें भूने जाते हैं ।

यह दूसरोकी कथा नही, तेरी है । यह दशा क्यो हुई ? मोह बढाये, कषाय किये; खाने-पीने, विषयोंकी धुन रही, नाना कर्म बाँधे; मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यसेवन किये । बडी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला, तब यहाँ भी मोह राग द्वेष विषयकषायकी ही बात रही । तब जैसे मनुष्य हुए, न हुए बराबर है ।

कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट, महान् धनपति होकर अनेक संपदा पाई, परन्तु वह सभी सपदायें थी तो असार और क्लेशकी कारण ! इतनेपर भी उन्हे छोड़कर मरना ही तो पडा । अब तो पाया ही क्या ? न कुछ । न कुछमें व्यर्थ लालसा रखकर क्यों अपनी सर्व हानि कर रहे हो ?

आत्मन् ! तू स्वभावसे ज्ञानमय है, प्रभु है, स्वतन्त्र है, सिद्ध परमात्माकी जातिका है । क्या कर रहा ? उठ, चल, अपने स्वरूपमें बस । तू अकेला है, अकेला ही पुण्य-पाप

करता, अकेला ही पुण्य-पाप भोगता, अकेला ही शुद्ध स्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता।

देख! चेत! पर पर ही है, परमें निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयंमें आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है। वह तू ही तो स्वयं है। परकी आशा तज, अपनेमें मग्न होनेकी धुन रख।

सोच तो यही सोच—परमात्माका स्वरूप, उसकी भक्तिमें रह। लोगोंको सोच, तो उनका जैसे हित हो उस तरह सोच। बोल तो यही बोल—शुद्धात्माका गुणगान····इसकी स्तुतिमें रह। लोगोंसे बोल, तो हित, मित, प्रिय वचन बोल। कर तो ऐसा कर जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बनाओ।

तू शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, सहजभावका अनुभव कर। जप, जप 'ॐ शुद्धं चिदस्मि।'

—•—

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे।
तेरी भक्तीमे क्षण जांय सारे ॥टेक॥
ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥१॥
सर्व गतियोंमें रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमे रह उनसे न्यारे।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाही विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥२॥
सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमे सहाई।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥३॥
देह कर्मादि सब जालसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोंसे पारे।
नित्य अंतः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥४॥
आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोंमें नित श्रेय तू है।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥५॥